आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमल ग्रन्थमाला, पुष्प २.

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा

शंका-समाधान १ से ५ तक

पुस्तक 1

सम्पादक
सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, वाराणसी

प्रकाशक
आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमल ग्रन्थमाला
गांधीरोड, बापूनगर, जयपुर (राजस्थान)

प्रकाशक
आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमल ग्रंथमाला
गांधी रोड, बापूनगर जयपुर, राजस्थान

प्रथमावृत्ति
फरवरी १९६७
मूल्य आठ रुपये

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस,
बी० २०/४४ भेलूपुर, वाराणसी



आचार्यकल्प श्रद्धेय पं० टोडरमलजी

अर्थ — ज्ञानावरण और दर्शनावरण के क्षय से होने के कारण केवलज्ञान और केवलदर्शन क्षायिक भाव हैं। यही भाव उक्त वार्तिक की निम्नांकित पंक्तियों में भी प्रकट किया गया है।

'ज्ञानावरणस्य कर्मणः दर्शनावरणस्य च कृत्स्नस्य क्षयात् केवले ज्ञान-दर्शने क्षायिके भवतः।'

अर्थ — पूर्ववत् स्पष्ट है।

वंशीधर जैन
25/10/63

मक्खनलाल शास्त्री
25/10/63

प्रथम तथा द्वितीय दौरके पत्रकों पर मध्यस्थके साथ प्रथम पक्षके पाँचों प्रतिनिधियोंके हस्ताक्षर

●

पुनश्च --- 'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्' तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 10 सूत्र 1 का मंडन करते हुए आपने यह युक्ति दी थी कि 'मोहनीय कर्म का क्षय दसवें गुणस्थान के अन्त में होता है और ज्ञानावरणादि तीन कर्मों का क्षय बारहवें गुणस्थान के अन्त में होता है फिर भी केवलज्ञान की उत्पत्ति के कथन के प्रसंग में मोहनीय कर्म के क्षय को हेतुरूप से निर्दिष्ट किया गया है।' इसका उत्तर सर्वार्थसिद्धि का उल्लेख करते हुए श्री पूज्यपाद आचार्य के वचनों द्वारा दिया जा चुका है। किन्तु इस आपत्ति के विरुद्ध श्री पं० फूलचन्द्र जी स्वयं इस प्रकार लिखते हैं -- 'इस कैवल्य प्राप्ति के लिये उस के प्रतिबन्धक कर्मों का दूर किया जाना आवश्यक है, क्योंकि उन को दूर किये बिना इसकी प्राप्ति सम्भव नहीं। वे प्रतिबंधक कर्म चार हैं। जिन में से पहले मोहनीय कर्म का क्षय होता है। यद्यपि मोहनीय कर्म कैवल्य अवस्था का सीधा प्रतिबन्धक नहीं करता है तथापि इसका अभाव हुए बिना शेष कर्मों का अभाव नहीं होता, इसलिये यहाँ इसे भी कैवल्य अवस्था का प्रतिबन्धक माना है। इस प्रकार मोहनीय का अभाव हो जाने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त में तीनों कर्मों का नाश होता है और तब जाकर कैवल्य अवस्था प्राप्त होती है।' [त. सू. पृ ...]

वंशीधर
22.3.64

तृतीय दौर के पत्रकों पर प्रथम पक्षके अन्यतम प्रतिनिधि पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य बीनाके हस्ताक्षर

इस प्रकार विचार करने पर प्रतीत होता है कि जिनागम में सर्वत्र भावचारित्र या निश्चय चारित्र की ही प्रधानता है, क्योंकि वह मोक्ष का साक्षात् हेतु है। उसके होने पर साथ में ~~[illegible]~~ गुणस्थान परिपाटी के अनुसार व्यवहार चारित्र ~~[illegible]~~ होता ही है। उसका निषेध नहीं है, परन्तु ज्ञानी की सदा स्वरूप रमण की दृष्टि बनी रहती है, इसलिये मोक्ष मार्ग में उसकी मुख्यता है। मोक्ष मार्ग का तात्पर्य ही यह है। इस प्रतिशंका में प्रसंगवश इसी प्रकार की सम्बन्धित और भी अनेक चर्चाएं आई हैं ~~[illegible]~~ परन्तु उन सब का समाधान उक्त कथन से हो जाता है, अत: यहाँ और विस्तार नहीं किया गया है।

वंशीधर जैन १/११/६३ [illegible]

जगन्मोहनलाल
नेमीचन्द पाटनी
१-११-६३

तीनों दौरोंके पत्रकों पर मध्यस्थके साथ द्वितीय पक्षके तीनों प्रतिनिधियोंके हस्ताक्षर

(K) उपादान की कार्यरूप परिणति में [illegible] होता है या नहीं?

मंत्री वंशीधर [illegible]
प्रश्नकर्ता मक्खनलाल शास्त्री [illegible] दिनांक २२-१०-६३

प्रश्नकर्ता और मध्यस्थके हस्ताक्षरोंके साथ ता० २२-१०-६३ की बैठकके अध्यक्षके हस्ताक्षर

प्रकाशकीय वक्तव्य

लगभग २०० वर्षकी अवधिमें जितने भी पुण्यपुरुष हुए हैं उनमें आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमलजी का नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। वे अपने कालके मनीषियोंमें तो अग्रणी थे ही, आजका विद्वत्समाज भी उनकी अनुपम प्रतिभा और विद्वत्ताका लोहा मानता है। अभी तकके इतिहासमें इनके सिवाय शायद ही कोई ऐसा भाग्यवान गृहस्थ विद्वान् हुआ होगा जो 'आचार्यकल्प' जैसे प्रख्यात विशेषणसे अलंकृत किया गया हो। इनकी परिमार्जित लेखनीसे जो कुछ भी लिखा गया है वह सब सर्वज्ञ वीतराग देवकी दिव्य-ध्वनिका अनुसरण करनेवाला होनेसे आगम ही है, ये छन्द, व्याकरण, न्याय, अलंकार, गणित और धर्म-शास्त्रके मर्मज्ञ विद्वान् होनेके साथ सदाचारकी मूर्ति थे। जिस प्रकार यह बात सच है कि यदि भगवान् वीतराग सर्वज्ञदेवकी दिव्यध्वनिको अवधारण करनेवाले उत्तरकालीन आचार्योंकी आगमरूपमें वाणीका प्रसाद हमें न मिला होता तो हमें उससे सर्वथा वंचित ही रहना पड़ता उसी प्रकार यह बात भी सच है कि सटीक गोम्मटसारादि महान् सिद्धान्त ग्रन्थोंको भाषावचनिकारूपमें यदि आपने प्रस्तुत न किया होता तो आज उनके मर्मको जानने-समझनेवाले विद्वानोंका सर्वथा अभाव ही होता।

जैनधर्मका दूसरा नाम आत्मधर्म है। प्रत्येक संसारी आत्माका प्रधान कर्तव्य है कि वह अपने स्वरूपको समझकर उसे प्राप्त करनेके मार्गमें लगे। इस तथ्यको हृदयंगम करके आपने स्वतन्त्र रूपसे तीर्थ-करोंकी वाणीके प्रसादरूपमें 'मोक्षमार्गप्रकाशक' जैसे महान् शास्त्रकी रचना द्वारा हमारे समान अगणित भव्य जीवोंका महान् उपकार किया है। जैन अध्यात्म क्या है इस विषयका सांगोपांग विवेचन करनेवाला भाषावचनिकारूप यह प्रतिनिधि ग्रन्थराज है। इसमें निश्चय-व्यवहार निमित्त-उपादान, कार्य-कारणभाव तथा सम्यग्दर्शनादिके स्वरूपको बड़ी ही मनोरम सुस्पष्ट शैलीमें समझाया गया है। स्वसमय और परसमयको ठीक तरह समझकर जिसे जैन अध्यात्ममें प्रवेश कर साक्षात् समयसार बनना है उसे मनोयोगपूर्वक इस ग्रन्थ-राजको स्वाध्याय, चिन्तन, मनन द्वारा आत्मसात् करनेकी अति आवश्यकता है। इसमें पण्डितजीकी विवेक-शालिनी प्रतिभासम्पन्न दृष्टिका दर्शन पद-पद पर होता है। यह उनके दिग्दिगन्तव्यापी निर्मल यशका उज्ज्वल प्रकाश है। वे लोकोत्तर महान् पुरुष थे यह इससे सिद्ध होता है।

जिस समय पण्डितजी इस भूतलको अलंकृत कर रहे थे उस समय शीघ्रगामी रेल, मोटरकार आदि वाहनोंका सर्वथा अभाव था। फिर भी अध्यात्म रहस्यके ज्ञाताके रूपमें पूरे देशमें उन्होंने प्रख्याति प्राप्त कर ली थी। दूर-दूर से आत्मकल्याणके इच्छुक भव्य जन उनकी पुनीत वाणीका प्रसाद पानेके लिए उनकी शरणमें आकर कृतकृत्य होते थे। जो आनेमें असमर्थ रहते वे लेख द्वारा अपनी जिज्ञासा प्रगट कर लेख द्वारा ही उसका सम्यक् समाधान प्राप्त करते थे। मुलतानकी धर्मवत्सल समाजके लिए पण्डितजी द्वारा लिखी गई 'रहस्य पूर्ण चिट्ठी' इसका जीता-जागता उदाहरण है। जैसा इसका नाम है उसीके अनुरूप यह अध्यात्मरससे ओतप्रोत है। जिसका अध्यात्ममें भले प्रकार प्रवेश हो गया है वह ही इसके मर्मको समझने का अधिकारी है। सम्यग्दृष्टि जीव आत्मानुभूतिसे किस प्रकार ओत-प्रोत होता है इसे पण्डितजीने इस चिट्ठीमें बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें समझाया है।

यह पण्डितजीके जीवनका एक पहलू है। उनके जीवनका दूसरा पहलू है समाज सुधार और

धर्मके नामपर क्रियाकाण्डमें आये हुए विकारको दूर करना। उन्होंने देखा कि सर्वज्ञदेव, वीतराग और वीतराग वाणीका अनुयायी आजका समाज पाखण्डियोंके बहकावेमें आकर अनेक विपरीत मान्यता उपासक बनता जा रहा है। सम्यग्दृष्टि जीव स्वामी समन्तभद्रके शब्दोंमें तीन मूढ़ता और छह अनाय रहित होता है। किन्तु आजका समाज इनके चक्करमें पड़ा हुआ है, अतएव उन्होंने क्रियाकाण्डमें आ विकारको न केवल दूर किया, अपितु समाजको सनातन सत्य मार्गपर ले जानेमें भी पूरी सफलता की। यह गुरुतर कार्य करते हुए उन्हें अनेक विपत्तियोंका सामना करना पड़ा पर वे इससे विचलि हुए। सम्यग्दृष्टि पुरुष बज्रपात होनेपर भी सम्यग्दर्शनसे विचलित नहीं होता यह परमागमकी आज्ञा है उनके जीवनमें अक्षरशः घटित होती है। उनको षडयन्त्रका सामना करते हुए प्राणान्त जैसी म आपत्तिका सामना करना पड़ा परन्तु वे अपने धर्म (कर्त्तव्य) से अणुमात्र भी विचलित न हुए। यह है उ जीवित कार्योंका संक्षेपमें लेखा-जोखा।

ऐसा महान् पुरुष जिस देश और जिस नगरीमें जन्म लेता है वह तो धन्य है ही, जिस परिवा और माता-पिताको अपने जन्मसे अलंकृत करता है वह भी धन्य है। जैसा कि प्राप्त तथ्योंसे ज्ञात होत कि भारतवर्ष राजस्थानके अन्तर्गत जयपुर यह नगरी उनकी कार्यक्षेत्र रही है। अभी २०० वर्षसे ही अधिक हुआ है जब उन्होंने अपने जन्मसे इस भूमण्डलको अलंकृत किया था। वे गोदीका वंशके ला लाल थे। उनके पिताका नाम जोगीदास और माताका नाम रम्भादेवी था। पं० वंशीधरजी उनके शि गुरु थे। स्वाध्याय, शास्त्रगोष्ठी और ग्रन्थ लेखन यह उनका मुख्य कार्य था। अल्प आयुमें ही यद्यपि उ अपने वर्तमान जीवनसे हाथ धोना पड़ा, परन्तु इतने स्वल्प कालमें उन्होंने जो साहित्य सेवा की है उस तुलना नहीं। उन्होंने अपने जीवनकालमें गोम्मटसार जीवकाण्ड, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणास त्रिलोकसार, आत्मानुशासन और पुरुषार्थसिद्धयुपाय इन छह ग्रन्थोंका ढूंढारी भाषामें अनुवाद किया त मोक्षमार्गप्रकाशक, अर्थसंदृष्टि अधिकार, गोम्मटसारपूजा और रहस्यपूर्ण चिट्ठी इन चार ग्रन्थोंकी स्वत रचना की। उनकी ये सभी रचनायें मौलिक होनेके साथ सिद्धान्त और अध्यात्मरससे ओत-प्रोत है गोम्मटसारादि ग्रन्थोंका अनुवाद करते समय इनके साथ उनकी संस्कृत टीकाओंका भी उन्होंने अनुवाद कि है। यह सब साहित्यिक कार्य करते हुए उनके चित्तमें अपने विशेषज्ञपनेका अहंकार छूकर भी नहीं गया था उन्होंने यह सब कार्य स्व-परकल्याणकी भावनासे ही किया है। उनके लिखे हुए किसी भी ग्रंथका अ स्वाध्याय कीजिए, पद-पदपर उनकी इस उदात्त वृत्तिके दर्शन उसमें आप करेंगे। यों तो गोम्मटसारादि म ग्रन्थोंमें गणितका भरपूर उपयोग हुआ है। किन्तु त्रिलोकसार और उसकी टीकामें और भी बारीकीके सा इसका उपयोग किया गया है। वहाँ लोक और उसके अवान्तरभेदोंका क्षेत्रफल, घनफल बतलाते समय अध लोकको यवमध्य, यवमुरज और पिर्नाष्ट आदि अनेक आकाररूपसे प्रस्तुत कर विविध प्रकारसे उसके घनफ निकालनेकी विधि बतलाई गई है। पण्डितजी गणितके विशेषज्ञ तो थे ही, इसलिए उन सब विधियोंको स्प करनेमें उन्होंने किसी प्रकारकी कोर-कसर नहीं रहने दी। पिर्नाष्टके आकारमें अधोलोककी रचना कर पर उसके घनफलके लानेकी क्या विधि है और ठीक अधोलोकका जो घनफल है वह इस विधिसे भी कै प्राप्त किया जा सकता है यह सब स्पष्टीकरण भी पण्डितजीने किया है। फिर भी अपनी लघुता दिखला हुए वहाँ उन्होंने लिखा है—'याका भाव मेरे ठीक समझमें नहीं आया।' यह एक उदाहरण है जो उनक उदात्तवृत्ति और महानताको प्रकट करनेके लिए पर्याप्त है। ऐसे विपुल उदाहरण उनकी सभी रचनाओं पद-पद पर मिलेंगे जो उनकी निरभिमानवृत्तिके सूचक हैं।

ऐसे महान् मनीषीको स्मृतिको चिरस्थायी बनाये रखनेके लिए उनके नाम और व्यक्तित्वके अनुरूप एक स्मारक होना चाहिए इसे पूरा समाज चिरकालसे अनुभव करता आ रहा था। इसे योगायोग ही समझना चाहिए कि सोनगढ़के महान् सन्त पूज्य श्रीकानजी स्वामीका इस कमीको ओर सर्वप्रथम ध्यान गया। उन्होंने अपने प्रवचनके मध्य इसका अनेक बार संकेत भी किया।

एक तो जयपुर निवासी श्रीमान् सेठ पूरणचन्दजी गोदीका पण्डितजीके वंशज हैं, लक्ष्मीकी उन्हें सब प्रकारसे अनुकूलता मिली हुई है, स्वभावके भद्र और आत्मकल्याणके इच्छुक हैं, अपनी गाढ़ी कमाईका उपयोग धर्मकार्योंके प्रवर्तनमें विशेषरूपसे हो यह उनकी भीतरी भावना है, साथ ही उनका पूरा परिवार ऐसे धार्मिक कार्योंमें उनके साथ है।

दूसरे आत्मकल्याणके इच्छुक और स्वाध्यायप्रेमी होनेके कारण पूज्य श्रीकानजी स्वामीके प्रति उनकी अनन्य श्रद्धा है। इसलिए वे अपने व्यापारादि कार्योंको गौणकर बीच-बीचमें पूज्य स्वामीजीका सानिध्य प्राप्त करने और उनके अध्यात्मरससे ओत-प्रोत मार्मिक प्रवचनोंसे लाभान्वित होनेके अभिप्रायवश सोनगढ़ जाते रहते हैं और महीनों वहाँ रहते हैं।

आचार्यकल्प पं० श्रीटोडरमल भवनका शिलान्यास

जब किसी महान् कार्य होनेकी वेला आ जाती है तब भीतरी और बाहरी सब प्रकारकी अनुकूलताएँ सहज सुलभ हो जाती हैं यह प्रकृतिका अकाट्य नियम है। एक तो पूज्य स्वामीजीका पण्डितजीकी स्मृतिस्वरूप स्मारककी कमीकी ओर ध्यान जाना और दूसरे गोदीकाजीका पण्डितजीका वंशज होना यह ऐसा अपूर्व योग मिला कि गोदीकाजीने सहज ही इस कमीको पूरा करनेके लिए अपने परिवारकी ओरसे स्वीकारता दे दी। यतः पण्डितजीका मुख्य कार्यक्षेत्र जयपुर नगर रहा है, अतः निश्चय हुआ कि जयपुरमें ही योग्य स्थानकी तजवीज करके शीघ्रातिशीघ्र पण्डितजीके व्यक्तित्व और साधनाके अनुरूप स्मारक निर्माणका कार्य प्रारम्भ किया जाय।

गोदीकाजी और उनके समस्त सहयोगी चाहते थे कि स्मारककी शिलान्यास विधि स्वयं पूज्य स्वामीजीके करकमलों द्वारा सम्पन्न हो। इसके लिए पूज्य स्वामीजीसे निवेदन भी किया गया। किन्तु इस कार्यको सम्पन्न करनेके लिए स्वयं स्वामीजी तो नहीं पधार सके। फिर भी उनकी आज्ञासे उनके अनन्य शिष्य श्रीमान् पं० खेमचन्द्रजी जेठालालजी सेठ शिलान्यास विधिके समय सपरिवार जयपुर पधारे और बड़े समारोहके साथ उनके हाथसे धार्मिक विधिपूर्वक शिलान्यास विधि सम्पन्न की गई।

पं० श्री खेमचन्द्रजी जहाँ अध्यात्मके प्रगाढ़ विद्वान् और सुयोग्य वक्ता हैं वहाँ वे उदार दानी भी हैं। उनका परिवार बहुत बड़ा है। परिवारमें सबसे बड़े तो वे स्वयं हैं। किन्तु उनकी व्यापार आदि लौकिक कार्योंमें रुचि न होनेके कारण वे स्वयं पूज्य स्वामीजीके सानिध्यमें सोनगढ़ ही रहकर स्वाध्याय आदि में अपना समय यापन करते रहते हैं। इस दृष्टिसे वे बड़े भाग्यवान हैं। इस कार्यमें उन्हें उनके पूरे परिवार का सहयोग प्राप्त है।

उनके भाइयोंमें दूसरे भाई श्री मणिलाल जेठालालजी सेठ हैं। बम्बईमें मुम्बादेवीके मन्दिरके पास जो श्री १००८ सीमंधर भगवान्‌के विशाल जिनालयका निर्माण हुआ है और दादरमें विशाल जिनालय व समवसरण मन्दिर तथा मानस्तम्भके साथ कान्ह नगर की स्थापना हुई है यह सब विशेषकर इनके दीर्घ

परिश्रम और त्यागभावनाका सुपरिणाम है। इस समय बम्बईमें जो दिगम्बर धर्मका विशेष प्रचार दृष्टि होता है इसमें भी इनका बड़ा हाथ है। इनके अन्य दो भाई और हैं। वे भी बड़े योग्य हैं। इनके में सब भाइयोंके जितने पुत्र, पुत्री आदि हैं वे सब अपने बड़ोंका अनुवर्तन करते हैं। इनकी कौटु व्यवस्था बड़ी सुन्दर है। मुझे प्रसंगवश इतना संकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है कि इस सम मणिलाल जेठालालजी सेठका स्वास्थ्य कई कारणोंसे कुछ अधिक कमजोर प्रतीत होता है। वे पूरा स्‍ लाभकर पूर्ववत् धर्मकार्योंके सम्पन्न करनेमें दत्तावधान बनें यह मेरी अन्तःकरण पूर्वक भावना है।

आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमल ग्रन्थमालाका श्रीगणेश

जब श्री पं० खेमचन्दजी जेठालालजी सेठके हाथसे जयपुरमें शिलान्यास विधिका मंगल कार्य हो रहा था उस समय वहाँ उपस्थित सभी विद्वानोंके मनमें यह विचार आया कि पण्डितजीके जीवित व उनकी साहित्य सेवा मुख्य है, इसलिए उसकी स्मृतिस्वरूप भवन निर्माणके साथ उनके नामसे एक ग्रन्थ की स्थापना भी अवश्य होनी चाहिए। विचार प्रशंसायोग्य और करणीय था, अतः जैसे ही पं० श्री खे जी जेठालालजी सेठको इसकी जानकारी मिली, तत्काल उन्होंने इसके लिए ५००१) रुपयों के उदार की घोषणा करदी। फिर क्या था, स्वयं श्री सेठ पूरणचन्दजी गोदोका जी भी आगे आये और उन्होंने लिए अपनी और अपने परिवारकी ओरसे २१००१) रुपयोंके दान की उदार घोषणा कर इस मंगल को आगे बढ़ाया। जैन समाजकी उदारता सुप्रसिद्ध है। यदि किसी परमार्थके अनुरूप कार्यकी योजना ब वह तत्काल उसकी पूर्तिमें सहायक होती है। मुझे यह संकेत करते हुए प्रसन्नता होती है कि जैसे ही उपस्थित पूरी समाजको इसकी जानकारी हुई, तत्काल उसकी ओरसे भी लगभग १००००) दस ह रुपयोंकी स्वीकृति मिल गई। इस प्रकार जहाँ भवननिर्माणका कार्य प्रारम्भ हुआ वहाँ उसके सा **'आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमल ग्रन्थमाला'** का श्रीगणेश भी उसके साथ कर दिया गया।

ग्रन्थमालासे प्रथम पुष्पके रूपमें मोक्षमार्ग प्रकाशकके प्रकाशनका निश्चय

आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमलजीकी मातृभाषा ढूंढारी हिन्दी थी। उन्होंने अपने पूरे साहि साथ मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थका निर्माण इसी भाषामें किया है। यद्यपि यह भाषा बहुत ही सुगम और सु मधुर है फिर भी पूरे देशका ख्याल कर आधुनिक हिन्दीमें मोक्षमार्गप्रकाशकका एक प्रामाणिक संस्क तैयार कराया जाय यह विचार कर ग्रन्थमालाकी ओरसे सर्व प्रथम इस कार्यको हाथमें लिया गया। कार्यको सम्पन्न करनेके लिए जयपुरके भण्डारोंसे प्राप्त अनेक हस्तलिखित प्राचीन प्रतियोंके आधारसे ग्रन्थकी आधुनिक हिन्दीमें एक प्रति तैयार कराई गई। जहाँ तक सम्भव हुआ इसे प्रामाणिक बनानेका प्रयत्न किया गया है। मुझे प्रसन्नता है कि आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमलजीकी स्मृतिमें इस ग्रन्थमालाकी स्था की गई और इतनी अल्प अवधिमें उन्हींके द्वारा रचित इस महान् ग्रन्थका इसकी ओरसे प्रथम पुष्पके रू प्रकाशन हो रहा है। जितना भव्य इसका श्रीगणेश है उतनी ही भव्यताको लिए हुए यह संस्था अ कार्य सम्पन्न करती रहेगी ऐसा मुझे विश्वास है।

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाका संक्षिप्त इतिहास

चिरकालसे जयपुर तत्त्वचर्चाका केन्द्र रहा है। इसके लिए यह पूरे भारतवर्ष में प्रसिद्ध है। अ पूरे जैन समाजमें जो तत्त्वज्ञानकी जागृति दृष्टिगोचर होती है उसमें यहाँके मनीषियोंका बड़ा योगदान है

आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमलजी तो यहाँकी विभूति थे ही। श्री शाह पं० दीपचन्दजी कासलीवाल, श्री पं० गुमानीरामजी, श्री पं० जयचन्दजी छावड़ा, श्री पं० सदासुखजी और श्री पं० दौलतरामजी आदि गण्य-मान्य समर्थ विद्वान् भी जयपुरकी ही देन है। इन सब विद्वानोंने अपने जीवनकालमें जो साहित्यकी सृष्टि की है उससे पूरा जैन समाज अनुप्राणित हुआ है। इसलिए इस नगरका वातावरण तत्त्वचर्चाके लिए उपयुक्त रहा है।

इसे तो विधिकी विडम्बना ही कहनी चाहिए कि दिगम्बर परम्परामें पूज्य श्री कानजी स्वामीके दीक्षित होनेके बाद समाजमें मतभेदका प्राबल्य दृष्टिगोचर होने लगा। पूज्य श्री कानजी स्वामीका त्याग अपूर्व है। **दिगम्बर परम्परा ही मोक्षमार्गके अनुरूप सनातन समीचीन परम्परा है इसकी व्यापक घोषणा इस कालमें यदि किसीके त्यागने की है तो वे एकमात्र पूज्य श्री कानजी स्वामी ही हैं।** उनके व्यक्तित्व, त्याग, विद्वत्ता और वक्तृत्व आदि गुणोंके विषयमें जितना भी लिखा जाय थोड़ा है। मोक्षमार्गके अनुरूप अध्यात्मका आत्मानुभवी ऐसा अपूर्व वक्ता इस कालमें हम सबके लिए सुलभ है इसे मैं हम सबका महान् पुण्योदय ही मानता हूँ। उनके पवित्र सानिध्यकी छाया चिर कालतक हम सबके ऊपर बनी रहे यह मेरी मंगल कामना है।

यों तो स्वपरके कल्याणके लिए जिन मंगल कार्योंका प्रारम्भ किया जाता है उनके मध्य कुछ न कुछ बाधाएँ उपस्थित हुआ ही करती हैं यह संसारका नियम है। पर उन बाधाओंको बाधा न गिनकर जो महान् पुरुष होते हैं वे अपने उद्दिष्ट कार्योंमें ही लगे रहते हैं यही उनके जीवन की सर्वोपरि विशेषता होती है। इस कसौटीपर जब हम पूज्य श्री कानजी स्वामीको कसकर देखते-परखते हैं तो वे महान्से महान्तर ही सिद्ध होते हैं। उनके इस लोकोत्तर गुणका पूरा समाज अनुवर्ती बने यह मेरी अन्तःकरणकी पवित्र भावना है। विश्वास है कि पूरा समाज कालान्तरमें उनकी इस महत्ताको अनुभव करेगा।

जैसा कि मैं पूर्वमें निर्देश कर आया हूँ जयपुर सदासे तत्त्वचर्चाका केन्द्र रहा है। जब इस कालमें अध्यात्मको लेकर विद्वानोंमें मतभेद बढ़ने लगा और इसकी जानकारी पूज्य श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज और उनके संघको हुई तब (उनके निकटवर्ती साधर्मी भाइयोंसे ज्ञात हुआ है) पूज्य श्री आचार्य महाराजने अपने संघमें यह भावना व्यक्त की कि यदि दोनों ओरके सभी प्रमुख विद्वान् एक स्थानपर बैठकर तत्त्वचर्चा द्वारा आपसी मतभेदको दूर कर लें तो सर्वोत्तम हो। उनके संघमें श्री ब्र० सेठ हीरालालजी पाटनी (निवाई) और श्री ब्र० लाडमलजी जयपुर शान्तपरिणामी और सेवाभावी महानुभाव हैं। इन्होंने पूज्य श्री महाराजकी सद्भावनाको जानकर दोनों ओरके विद्वानोंका एक सम्मेलन बुलानेका संकल्प किया। साथ ही इस सम्मेलनके करनेमें जो अर्थव्यय होगा उसका उत्तरदायित्व श्री ब्र० सेठ हीरालालजी (निवाई) ने लिया। यह सम्मेलन २०-९-१९६३ से उक्त दोनों ब्रह्मचारियोंके आमन्त्रणपर बुलाया गया था जिसकी सानन्द समाप्ति १-१०-१९६३ के दिन हुई थी। प्रसन्नता है कि इसे सभी विद्वानोंने साभार स्वीकार कर लिया और यथासम्भव अधिकतर प्रमुख विद्वान् प्रसन्नता पूर्वक सम्मेलनमें सम्मिलित भी हुए। यद्यपि यह सम्मेलन २० ता० से प्रारम्भ होना था, परन्तु प्रथम दिन होनेके कारण उसका प्रारम्भ २१ ता० से हो सका जो १-१०-१९६३ तक निर्बाधगतिसे चलता रहा। सम्मेलन की पूरी कार्यवाही लिखितरूपमें होती थी, इससे किसीको किसी प्रकार शिकायत करनेका अवसर ही नहीं आया। इस सम्मेलनकी समस्त कार्यवाही पूज्य श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज और उनके संघके सानिध्यमें होनेके कारण बड़ी शान्ति बनी रही। इसका विशेष स्पष्टीकरण सम्पादकीय वक्तव्यमें पढ़नेको मिलेगा।

जैसा कि सम्मेलनके नियमोंसे ज्ञात होगा, यह निश्चय हुआ था कि शंका-समाधानपद्धतिसे लि रूपमें पूरी चर्चाके तीन दौर रखे जायँ। तदनुसार दो दौर तो श्री १०८ आचार्य महाराजके सानिध्य सम्पन्न हो गये थे। दोनों ओरसे तीसरा दौर वहाँ सम्पन्न न हो सका। अतएव उसकी व्यवस्था रूपमें करनेकी योजना स्वीकार की गई। प्रसन्नता है कि पिछले वर्षके जून माहमें तीसरा दौर भी हो गया है।

शंका-समाधानपद्धतिसे लिखितरूपमें इस तत्त्वचर्चाका ऐतिहासिक बड़ा महत्त्व है। वस्तुतः जाय तो यह तत्त्वचर्चा स्वयं अपनेमें एक जीवित इतिहास बन गया है।

वर्तमान विद्वानोंमें आपसमें मतभेदका मूल कारण क्या है इस तथ्यको समझनेके लिए भी यह चर्चा बड़ी उपयोगी है। शंका-समाधानके प्रसंगसे यत्र-तत्र बीच-बीचमें दोनों ओरसे जो विचार व्यक्त गये हैं उनसे आपसी मतभेदके मूल कारण पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। मैंने स्वयं तत्त्वचर्चामें सक्रिय लिया है, इसलिए मैं इस विषयमें तत्काल इससे और अधिक लिखना वांछनीय नहीं मानता। अस्तु।

ग्रन्थमालासे जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाके प्रकाशनका निश्चय

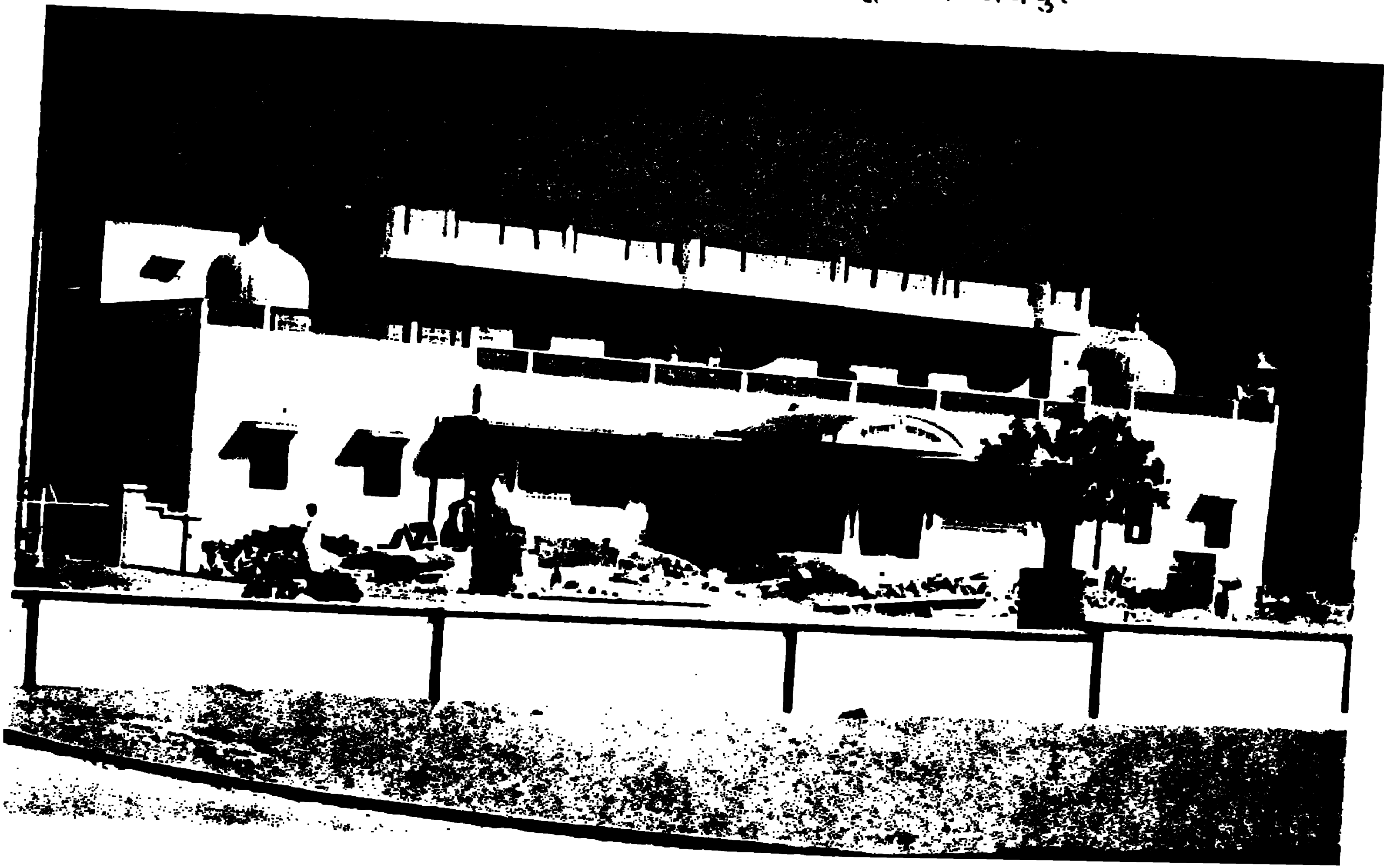
इस प्रकार सविधि तत्त्वचर्चाके सम्पन्न होनेके बाद उसके मुद्रण-प्रकाशनकी ओर ध्यान जाना भाविक था, क्योंकि इतनी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तत्त्वचर्चा बिना मुद्रण-प्रकाशनके रह जाय यह उचि होता। पूरी समाज उसकी ओर उत्कण्ठापूर्वक देख रही थी। जब आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमल ग्रन्थ की प्रबन्ध समितिको यह ज्ञात हुआ कि दोनों ही पक्ष निर्णयानुसार मिलकर उसे प्रकाशित करानेको सि नहीं हैं तो इस दिशामें उसकी ओरसे मुद्रण-प्रकाशनका निश्चय किया गया। तदनुसार इसकी सूचना सिद्ध चार्य पं० श्री फूलचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीको दी गई क्योंकि एक तो उनका इस तत्त्वचर्चामें सक्रिय म पूर्ण योगदान रहा है। दूसरे तत्त्वचर्चाके प्रकाशनके सम्बन्धमें दोनों ओरकी लिखा-पढ़ीको ध्यानमें रहते उन्हें अपने पक्षसे मिलकर इसके प्रकाशनका निर्णय भी लेना था।। मुझे प्रसन्नता है कि प्रबन्ध समि प्रस्तावको अपने पक्षकी सम्मतिपूर्वक उन्होंने अन्तमें सहर्ष स्वीकार कर लिया और तत्त्वचर्चाकी पाण्डु सविधि ग्रन्थमालाकी प्रबन्ध समितिके अधिकारमें दे दी।

यद्यपि ग्रन्थमाला की प्रबन्ध समितिने इसके प्रकाशनका भार तो सम्हाला, परन्तु योग्य सम्पा बिना उसका प्रकाशित करना उचित न समझकर सिद्धान्ताचार्य पं० श्री फूलचन्द्रजी से ही इसके सम्पाद और प्रकाशनमें योगदान करनेकी प्रार्थना की गई। चूंकि पं० जी का वर्तमान निवास वाराणसी ही है, वहीं इसके मुद्रणका भी विचार किया गया। स्पष्ट है कि इसका योग्यतापूर्वक सम्पादन तो उन्होंने किया इसके मुद्रण और प्रकाशनमें भी उनका पूरा योगदान मिला है।

पण्डितजी इस कालमें जैन सिद्धान्तके उच्चकोटिके मर्मज्ञ विद्वान् हैं इसे सभी मनीषी यहाँ तक उनसे विचार-भेद रखनेवाले मनीषी भी एक स्वरसे स्वीकार करते हैं। उनकी प्रतिभा बहुमुखी है। जैसा कर्मठ विद्वान् आज समाजके लिए सुलभ है इसे समग्र जैन समाजका सौभाग्य ही समझना चाहि अतएव उनकी देखरेख में यह कार्य सम्पन्न हो यह ग्रन्थमाला प्रबन्ध समितिकी भावना थी। जिसे उन कार्यान्वित करके पूरी समाजका बड़ा उपकार किया।

यह जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमल ग्रन्थमालाका दूसरा और ती पुष्प है जो ग्रन्थमालासे प्रकाशित हो रहा है।

श्री टोडरमल स्मारक-भवन, बापूनगर, जयपुर



आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमल स्मारक भवनका मनोरम रूप

मैं यह तो पहले ही बतला आया हूँ कि पूज्य श्री कानजी स्वामीकी सत्प्रेरणासे जयपुरमें ही आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमलकी स्मृति स्वरूप स्मारक बनानेका निर्णय हुआ था जो अब उनकी स्मृतिके अनुरूप विशालरूपमें निर्मित हो चुका है। जयपुरमें जिस स्थान पर इसका निर्माण हुआ है वह शिक्षाका केन्द्र है। जयपुर राजस्थानका विश्वविद्यालय और दूसरी शिक्षा संस्थाओंके सन्निकट यह स्मारक भवन अति आकर्षक अपने ढंगका एक है। इसके मध्य लगभग ११० फुट लम्बा और ६४ फुट चौड़ा एक विशाल हाल है। सामनेकी ओर एक तरफ सुन्दर चैत्यालय और दूसरी तरफ स्वाध्यायशालाका निर्माण किया गया है। तथा दाएँ-बाएँ दोनों ओर स्नातकोंके निवास योग्य कमरे बनाये गये है। कमरोंके आगे छायादार दहलान है। दूसरे मंजिल पर भी हॉलके ऊपरी भागके दोनों ओर इसी प्रकार व्यवस्थित कमरोंकी पंक्ति बनी हुई है। हॉल इतना ऊँचा बनाया गया है कि उसके ऊपरकी छतमें पूरे जयपुरकी रमणीय छटाके दर्शन होते हैं। हॉलके पीछेकी ओर नीचे और ऊपरकी मंजिलमें स्नानगृह आदिकी सुन्दर व्यवस्था है। इस भव्य इमारत के पीछे अलगसे अतिथिभवनका भी निर्माण किया गया है। चारों ओर खुला मैदान पर्याप्त है जिससे इस इमारतकी शोभा द्विगुणित हो गई है। मुख्य प्रवेश द्वार भी कलात्मक बनाया गया है। इस सबके दर्शन करने मात्रसे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री सेठ पूरणचन्दजी गोदीका और उनके पूरे परिवारने अपनी प्रगाढ़ श्रद्धाको इसमें ओत दिया है। जयपुर राजस्थानमे ही नहीं पूरे देशमें यह स्मारक अपनी विशेषता रखता है।

पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा स्मारक भवनका उद्घाटन

मुझे यह सूचित करते हुए अति आनन्दका अनुभव हो रहा है कि इसी मार्च माहके मध्य सोनगढ़के आध्यात्मिक सन्त पूज्य श्री कानजी स्वामीके करकमलों द्वारा इसका उद्घाटन हो रहा है और उसी समय उन्हींके पुनीत करकमलों द्वारा ग्रन्थमालाके उक्त खिले हुए सौरभमय दो सुन्दर पुष्पोंके दर्शन भी सबके लिए सुलभ होंगे।

आभारप्रदर्शन

सर्व प्रथम श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज और उनके समस्त संघका स्मरण कर लेना अपना पुनीत कर्तव्य समझता हूँ जिनके आशीर्वाद स्वरूप तत्त्वचर्चाका आयोजन होकर उसका सम्यक् प्रकार से समापन हो सका।

मैं इस तत्त्वचर्चाके आयोजक और प्रबन्धक ब्र० श्री सेठ हीरालालजी पाटनी निवाई और श्री ब्र० लाडमलजी जयपुरका सर्व प्रथम आभार मानना अपना प्रधान कर्तव्य मानता हूँ। यह उक्त दोनों महानुभावों के परिश्रमका ही सुपरिणाम है कि जिसके कारण यह तत्त्वचर्चा एक ऐतिहासिक रूप धारण कर सकी।

मुझे यहाँ दोनों पक्षके उन नामांकित विद्वानोंके प्रति भी आभार प्रदर्शित करते हुए अपूर्व आनन्द का अनुभव हो रहा है, क्योंकि उनके मनोयोग और दीर्घ अध्यवसायका ही यह सुपरिणाम है जो विशाल ग्रन्थके रूपमें आज समाजको उपलब्ध हो रहा है। तत्त्वज्ञानकी जागृतिमें समाज और दूसरे मनीषी विद्वान् पूरा लाभ उठावेंगे ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमल ग्रन्थमालाकी प्रबन्ध समितिके सब सदस्य और उनका तत्त्व- प्रकाशनका निर्णय तो स्तुति योग्य है ही, क्योंकि उसने अपने निर्णय द्वारा पूरी समाजके समक्ष स्पष्ट कर दिया है कि जिस प्रकार उक्त तत्त्वचर्चाका ऐतिहासिक महत्त्व है उसी प्रकार उक्त तत्त्व जयपुरमें होनेके कारण जयपुरको ही उसके प्रकाशनका श्रेय मिले इसका भी अपना महत्त्व है। प्रबन्धस के इस निर्णयसे जयपुरकी ख्यातिमें वृद्धि ही हुई है ऐसा मेरा विश्वास है।

मुझे यह नहीं भूलना चाहिये कि इस तत्त्वचर्चाको जो ऐतिहासिक स्वरूप मिला है उसमें सिद्धा चार्य पण्डित श्री फूलचन्द्रजी सा० का विशिष्ट योगदान है। इतना ही नहीं, जिस रूपमें वह है उस उसका सुन्दर सम्पादन होकर वह प्रकाशित हो जाय इस महत्त्वपूर्ण कार्यका उत्तरदायित्व भी उन सम्हालना पड़ा है। एतदर्थ मैं प्रबन्ध समितिकी ओरसे उनका जितना आभार मानूं थोड़ा है। उनकी सेवा चिरकालतक समाज इसी प्रकार अनुप्राणित होती रहे यह भावना है।

कोई भी वस्तु चाहे जितनी सुन्दर क्यों न हो, पर यदि उसका बाह्य परिवेश उसके अनुरूप तो उसकी सुन्दरता छिप जाती है। मुझे प्रसन्नता है कि इस तत्त्वचर्चाका आन्तररूप जितना हृदयग्रा उतना ही हृदयग्राही उसका मुद्रण भी हुआ है। इसके लिए मैं श्रीमहावीर प्रेस, वाराणसीके मालिक बाबूलालजी फागुल्लका विशेषरूपसे आभारी हूँ। और महावीर प्रेसके उन कर्मचारियोंका भी जिन्होंने योगपूर्वक इस कार्यको समयके भीतर ही सम्पन्न किया है।

यह प्रकाशन मात्र स्व-परकल्याणकी भावनासे किया गया है। विश्वास है कि आत्मकल्याणके इच्छुक प्रत्येक प्राणीको यथार्थ तत्त्वका निर्णय करनेमें यह प्रकाशन बहुत उपयोगी सिद्ध होगा।

विनीत

नेमिचन्द पाटनी

व्यवस्थापक

आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमल ग्रन्थमाला

जयपुर

सम्पादककी ओरसे

१. भेदविज्ञानका माहात्म्य

एक ही जीवकी विविध अवस्थाओंके सूचक गुणस्थान चौदह हैं। नियम यह है कि सर्व प्रथम अनादि कालसे यह जीव मिथ्यात्व गुणस्थानमें स्थित है। मिथ्यात्व गुणस्थानका मुख्य कार्य अपने आत्मस्वरूपको भूल कर परमें निजबुद्धि कराना है। इसकी अदेवमें देवबुद्धि, अगुरुमें गुरुबुद्धि और अतत्त्वमें तत्त्वबुद्धि नियमसे होती है। कषायकी मन्दतावश कदाचित् ऐसा जीव अणुव्रतों और महाव्रतोंका भी पालन करता है। कदाचित् क्षयोपशमकी विशेषता वश ग्यारह अंग और नौ पूर्वोंका पाठी भी हो जाता है, फिर भी मिथ्यादृष्टि बना रहता है। विषय-कषायकी मन्दता या क्षयोपशमकी विशेषताका होना अन्य बात है और आत्मकार्यमें सावधान होकर भेदविज्ञानके बलसे सम्यग्दृष्टि बन मोक्षके लिए उद्यमशील होना अन्य बात है। इसी तथ्यको ध्यानमें रख कर भगवान् कुन्दकुन्ददेवने दर्शनप्राभृतमें धर्मका मूल सम्यग्दर्शनको कहा है—दंसणमूलो धम्मो। सतत जागरूक रहते हुए परमागमका अभ्यास करना, अणुव्रत–महाव्रतोंका पालन करना तथा देव, गुरु, शास्त्रकी श्रद्धा भक्ति करना इसकी जहाँ बाह्य कर्तव्यके रूपमें परमागममें स्वीकृति है वहाँ उसी परमागममें अन्तरंग कर्तव्यके रूपमें भेदविज्ञानकी कलाको सम्पादित करना सबसे बड़ा पुरुषार्थ बतलाया गया है। आचार्य अमृतचन्द्रदेवने इसी तथ्यको हृदयंगम कर समयसार-कलशमें यह वचन कहा है कि आजतक जितने भी सिद्ध हुए वे एकमात्र भेदविज्ञानके बलसे ही सिद्ध हुए और जो संसारी बने हुए हैं वे भेदविज्ञानको नहीं प्राप्त करनेके कारण ही संसारी बने हुए हैं। भेदविज्ञानकी महिमा सर्वोपरि है।

२. प्राचीन इतिहास

हमारे बुंदेलखण्डकी यह परिपाटी है कि प्रत्येक गाँव या नगरके प्रत्येक जिनालयमें रात्रिवचनिकामें दो शास्त्र अवश्य रखे जाते हैं। उसमें भी प्रथम शास्त्र तत्त्वज्ञानसे सम्बन्ध रखनेवाला होता है। इसका सर्वप्रथम वाचन किया जाता है और दूसरा शास्त्र पुण्य पुरुषोंकी जीवन चर्याका परिचायक होता है। इसका अन्तमें वाचन किया जाता है। प्रथम शास्त्रके रूपमें कभी-कभी चरणानुयोगसम्बन्धी शास्त्रका भी वाचन होता है और सबके अन्तमें शास्त्रसभामें उपस्थित महानुभावोंमेंसे कोई एक महाशय भजन बोलते हैं, जो अध्यात्मरससे ओत-प्रोत होता है। बचपनमें तो मैं इसके महत्त्वको नहीं जानता था, किन्तु अब इस पद्धतिकी विशेषता समझमें आने लगी है। यह संसारी प्राणी तत्त्वज्ञानका प्रयोजन समझकर आत्मकार्यमें सावधान बने यह इस पद्धतिका मुख्य प्रयोजन है। यह पद्धति मेरे ख्यालसे पूरे भारतवर्षमें प्रचलित होनेका भी यही कारण है। इतना अवश्य है कि किसी विशिष्ट ज्ञानीके आ जानेपर शास्त्रगोष्ठीमें तत्त्वज्ञानकी प्ररूपणा पर सदासे विशेष बल दिया जाता रहा है, जो अबाधितरूपसे आज तक प्रचलित है। स्वयं जब कोई विद्वान् किसी नगरमें जाते हैं तब वे तत्त्वज्ञानके आलम्बनसे ही शास्त्रप्ररूपणा करते हैं। अन्तमें प्रथमानुयोगका तो मंगलाचरण मात्र कर दिया जाता है। वहाँ उपस्थित श्रोताजन भी यही चाहते हैं कि पण्डितजी कुछ ऐसे तथ्योंका निर्देश करें जिन्हें समझ कर हम आत्मकल्याणमें लग सकें।

बहुत प्राचीनकालीन परिपाटीकी तो मैं चर्चा नहीं करता। अभी २-३ सौ वर्षकी पिछल पाटीकी ओर भी यदि ध्यान दिया जाय तो उससे विदित होता है कि प्रत्येक नगरमें ऐसी गोष्ठियाँ होती रही हैं जो तत्त्वज्ञानके उद्देश्यसे ही स्थापित की जाती थीं और उनमें प्रमुख रूपसे अध्यात्मके शास्त्रोंका स्वाध्याय-मनन चिन्तन कर आत्मकार्यमें सावधानता प्राप्त की जाती थी। पण्डितप्रवर ब दासजीकी जीवनीसे जैनसमाजका प्रत्येक गृहस्थ सुपरिचित है। उन्होंने नाटक समयसार की रच जैन समाजका महान् उपकार किया है। उनकी लिखी हुई अर्धकथानक पुस्तकके पढ़नेसे भी यह ि स्पष्ट हो जाता है कि एकमात्र अध्यात्मरससे ओतप्रोत अध्यात्म शास्त्रके बलसे ही वे दिगम्बर जैन पर आकृष्ट हुए थे। उनके कालमें आगरामें ऐसी एक गोष्ठी थी जिसमें समयसारादि महान् ग्रन्थोंका स्व कर यथार्थ मोक्षमार्ग क्या है इसपर विशदरूपसे ऊहापोह किया जाता था। ऐसी ही एक गोष्ठी दिल्ल थी यह छहढाला जैसे महान् ग्रन्थके निर्माता पण्डितप्रवर दौलतरामजीकी जीवनी पर सम्यक् ध्यान स्पष्ट हो जाता है।

आचार्यकल्प पण्डित श्री टोडरमलजी द्वारा लिखित 'रहस्यपूर्ण चिट्ठी'का स्वाध्याय तो सबने कि होगा। उससे भी मालूम पड़ता है कि मुलतान और जयपुरमें भी ऐसी गोष्ठियाँ सदासे चलती आई सदासे इन सब गोष्ठियोंके स्थापित करनेका एक ही उद्देश्य रहा है कि **जैसे बने वैसे तत्त्वज्ञानकी जा पूर्वक आत्मकार्यमें सावधान हुआ जाय।** इसमें मैंने मुनिजनों और त्यागी गृहस्थोंकी चर्चा ज कर नहीं की है। क्योंकि ये महानुभाव आत्मकार्यमें सावधान बने रहनेके लिए ही गृहस्थी व परि त्याग करते हैं। अणुव्रत-महाव्रतका पालना यह इनका मुख्य कार्य नहीं है, किन्तु सतत आत्मकार्यमें जा रहते हुए विज्ञानघनस्वरूप आत्माको प्राप्त करना ही इनका मुख्य कार्य है। जो आत्मकार्यमें सा होता है उसके आत्मकार्यके अनुवर्ती देव-शास्त्र गुरुकी भक्ति-श्रद्धा, अणुव्रत-महाव्रतका पालन आदि ब सावधानी तो होती है।

३. वर्तमान स्थिति

यह समग्र दिगम्बर परम्पराका प्राचीन इतिहास है। इसके प्रकाशमें हमें वर्तमानको जानन यदि विचारकर देखा जाय तो इस दृष्टिसे हम बड़े सौभाग्यशाली हैं, क्योंकि इस कालमें पुनः समस्त स का ध्यान उस शिक्षाकी ओर गया है जिससे दिगम्बर जैन धर्म ही यथार्थ धर्म कहलानेका अधिकारी धर्मका उपदेश तो अन्य पन्थोंके प्रवर्तकोंने भी दिया है। परन्तु उनका वह उपदेश बाह्य सदाचार और ि काण्ड तक ही सीमित है। इस पंचमकालमें जैनपरम्परामें भी ऐसे पन्थोंका उदय हुआ है, परन्तु उन्होंने । नामपर मोक्षमार्गकी चर्चा करके भी उसे पुनः लौकिक बनानेमें ही अपनी चरितार्थता समझी है। एव दिगम्बर परम्परा ही ऐसी धारा है जिसमें कल्याणके मार्गका यथार्थरूपमें निर्देश किया गया है।

संसारी आत्मा अपने अपराधवश अनेक प्रकारके बन्धनोंमें जकड़ा हुआ है। उसे अन्तरंग और बा उन दोनों प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिए अपने त्रिकालाबाधित निज स्वरूपकी ओर ध्यान देना ही हो यदि हमारी अध्यात्मविद्या चरितार्थ है तो इसी मायनेमें चरितार्थ है। वह ऐसी अलौकिक ज्ञान ज्योति है इन अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारके बन्धनोंके मध्य सोये हुए ज्ञानज्योतिस्वरूप उस शाश्वत आत्म दर्शन करा देती है। इसीलिए सभी आचार्योंने इस अध्यात्मज्ञानकी मुक्तकण्ठसे स्तुति की है। आ कुन्दकुन्द तो इसकी स्तुति करते हुए समयसार जैसे परमागममें यहाँतक लिख गये कि—**जिसने**

पर द्रव्य-परभावोंसे भिन्न, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त इस आत्माको अनुभव लिया उसने पूरे जैन शासनको जान लिया। उक्त प्रकारके आत्माको अनुभवना ही समग्र जैन शासनका जानना है यह आचार्यका उपदेश है जो कि भगवद्वाणीके रूपमें मान्य है। और यह बात ठीक भी है, क्योंकि चक्रवर्तीके भोग और देवेन्द्र पदका प्राप्त करना यह धर्मका उद्देश्य नहीं है। सर्व प्रकारके कलंक दोषोंसे रहित विज्ञानघनस्वरूप निज आत्माको प्राप्त करना ही धर्मका उद्देश्य है। यही परमागमस्वरूप वीतराग वाणीका सार है।

४. कुछ शंकाओंका निरसन

ऐसी अध्यात्मविद्याप्रवण वीतराग वाणी परमागमका प्रधान अंग अनादिकालसे बनी चली आरही है। हमारा परम सौभाग्य है कि वह वाणी इस कालमें पुनः मुखरित हुई है। सोनगढ़के अध्यात्म सन्त कानजी स्वामी तो उसके मुखरित होनेमें निमित्तमात्र हैं। वह उनकी वाणी नहीं है। वीतराग वाणी है, शुद्धात्माकी अपनी पुकार है। कुछ भाइयोंका कहना है कि कानजी स्वामी एकान्तकी प्ररूपणा करते है। वे व्यवहारको उड़ाते है। जब कि वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। निश्चयधर्म आत्मधर्म है, क्योंकि वह परमात्मस्वरूप है। ऐसी प्ररूपणा करते समय यदि यह कहा जाय कि यदि ऐसे आत्मधर्मको व्यवहारधर्म स्पर्श नहीं करता है, वह उससे सर्वथा भिन्न है तो ऐसी कथनीको व्यवहारधर्मका उड़ाना कैसे मान लिया जाय अर्थात् नहीं माना जा सकता है। हाँ यदि वे यह कहने लगें कि व्यवहारसे देव-गुरु-शास्त्रकी पूजा-भक्ति करना, स्वाध्याय करना, जिन वाणीका सुनना-सुनाना, अणुव्रत-महाव्रतका पालना इन सब क्रियाओं के करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। मोक्षमार्गीके ये होती भी नहीं हैं। तब तो माना जाय कि वे व्यवहारको उड़ाते हैं।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्टसे प्रकाशित प्रतिक्रमण पाठको हमने देखा है। उसमें यह भी निर्देश किया गया है कि जिसने जीवन पर्यन्तके लिए मद्य-मांस आदिका त्याग नहीं किया है वह नामका भी जैनी नहीं है। क्या यह व्यवस्थाकी प्ररूपणा नहीं है। क्या इससे हम यह नहीं समझ सकते कि वे व्यवहारको उड़ाना नहीं चाहते, बल्कि उसे प्राणवान् बनानेमें ही लगे हुए हैं। प्राणवान् व्यवहार ही मोक्षमार्गका सच्चा व्यवहार है। ऐसी परमागमकी आज्ञा है। उनकी पूरी कथनी और करनी पर बारीकीसे ध्यान दिया जाय तो उससे यही सिद्ध होता है।

उन्होंने अपनी पुरानी प्रतिष्ठाको छोड़कर दिगम्बर परम्परा स्वीकार की और इस परम्परामें आनेके बाद अपनेको अव्रती श्रावक घोषित किया। एकमात्र उनकी यह घोषणा ही यह सिद्ध करनेके लिए पर्याप्त है कि वे मोक्षमार्गके अनुरूप सम्यक् व्यवहारको जीवनमें भीतरसे स्वीकार करते हैं। यदि वे एकान्तके पक्षपाती होते तो कह सकते थे कि मैं 'पर्यायदृष्टिसे भी न गृहस्थ हूँ और न मुनि हूँ। मैं तो एकमात्र ज्ञायकस्वरूप आत्मा हूँ।' वे जिस स्थितिमें हैं उसे भीतरसे स्वीकार तो करते ही हैं और यह जीव अन्तरात्मा बन कर परमात्मा कैसे बनता है इस मार्गका भी दर्शन कराते हैं। वास्तवमें देखा जाय तो जो भी ज्ञानी मोक्षमार्गका उपदेश देता है वह दूसरेके लिए नहीं देता है। उसके अन्तरात्माकी पुकार क्या है उसे ही वह अपने को सुनाता है। दूसरे भव्य प्राणी उसे सुनकर अपना आत्महितका कार्य साध लें यह दूसरी बात है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि वे अनेकान्तके आशयको समझते हैं और जीवनमें उसे स्वीकार करते है।

उनके विषयमें एक आक्षेप यह भी है कि वे पुण्यका निषेध करते हैं पर हमें उनपर किया गया यह

आक्षेप भी उपहासास्पद प्रतीत होता है। वस्तुतः वे पुण्यका निषेध नहीं करते। किन्तु मुझे पुण्य करना है इस भावका निषेध अवश्य करते हैं। उनका कहना है कि इस संसारी प्राणीको अर्जन क यदि कोई वस्तु है तो वह आत्मनिधि ही है। किन्तु जब उसके अर्जनके उपायोंका विचार करते हैं कथा करते हैं, उसके अनुकूल क्रिया करते हैं तो पुण्यका अर्जन स्वयमेव हो जाता है। देव-शास्त्र-गुरु पूजाका तथा अणुव्रत-महाव्रतके धारणका उपदेश शास्त्रोंमें पुण्यके अर्जनकी दृष्टिसे नहीं दिया गया है। सब क्रियाएँ निश्चय मोक्षमार्गके परिकर्मस्वरूप हैं, मात्र इसीलिए इनका[1] शास्त्रोंमें उपदेश दिया ग वे अपनी आगमानुकूल वाणी द्वारा इसी तथ्यका स्पष्टीकरण करते हैं।

एक आक्षेप यह भी किया जाता है कि वे कार्य-कारण परम्परामें बाह्य निमित्त स्वीकार करते। किन्तु इसके स्थानमें स्थिति यह है कि वे भेदविज्ञानको जीवनका प्रधान अंग दृष्टिसे कार्य-कारणपरम्पराके निश्चय कार्य-कारणपरम्परा और व्यवहार (उपचरित) का ऐसे दो भेद करके निश्चय कार्य-कारणपरम्परा ही यथार्थ कार्य-कारणपरम्परा है, ऐसी अवश्य करते हैं। साथ ही वे व्यवहार कार्य-कारणपरम्पराका निषेध तो नहीं करते, पर विकल्पमूलक बतलाकर मोक्षमार्गमें वह आश्रय करने योग्य नहीं है यह भी कहते है। वे अपने प्रवच सर्वदा कहते रहते हैं कि प्रत्येक कार्य पाँचके समवायमें होता है। उनके इस कथनसे ही यह स्पष्ट है कि वे प्रत्येक कार्यके प्रति समन्वय-व्यतिरेकके आधारपर बाह्य सामग्रीमें निमित्तता (व्यवहारहेतु स्वीकार अवश्य करते हैं। किन्तु यह व्यवहारहेतुता परमार्थस्वरूप नहीं है ऐसा यदि वे कहते हैं और उनके द्वारा बाह्य निमित्तको अस्वीकृति मानता है तो उसका इलाज नहीं। इतना अवश्य है कि में मोक्षमार्गकी सम्प्राप्ति स्वाश्रित उपयोगके बलसे ही होती है, इसलिए वे सर्वप्रकार श्रितपनेका निषेधकर स्वाश्रितपनेका ज्ञान अवश्य कराते रहते हैं।

५. स्वामीजीके उपदेशोंका सुफल

यह उनके उपदेश देनेकी पद्धति है। मैंने सर्वप्रकारसे उनके उपदेशोंको समझनेका प्रयत्न कि किन्तु मुझे तो वह सर्व प्रकारसे मोक्षमार्गके अनुरूप ही प्रतीत हुआ। अभी कुछ दिन पूर्व श्री सवाई धन्यकुमारजीकी लेखमाला जैन सन्देशमें प्रकाशित हुई थी। सोनगढ़में आकर ही उन्होंने एक प्रत्यक्ष नाते उसे प्रकाशित कराया है। स० सि० धन्यकुमारजी न केवल दूसरी भाषाओंके विद्वान् हैं, वि संस्कृतके भी अच्छे ज्ञाता हैं। श्रीयुत् पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीका सान्निध्य मिलनेसे उन्होंने ध का बारीकीसे अध्ययन किया है। प्रतिदिन उनका प्रातःकालीन स्वाध्याय अध्ययनके रूपमें ही होता हजार काम छोड़कर आत्मकल्याणकी इच्छासे धर्मशास्त्रका स्वाध्याय करते रहते हैं। यह उनके जं सर्वोपरि विशेषता है। उन्होंने सोनगढ़की स्थितिका अध्ययन कर जो कुछ भी लिखा है उससे भी स्व के उपदेश देनेकी शैलीपर विशद प्रकाश पड़ता है। यह उनके उपदेशका ही माहात्म्य है कि अबतक १ हजार श्वेताम्बर बन्धुओंने दिगम्बर परम्पराको स्वीकार कर लिया है। उनके लेखसे यह भी ज्ञात कि अबतक ७-८ अजैन बन्धु भी उनके उपदेशसे दिगम्बर धर्ममें दीक्षित हो गये है।

६. सौराष्ट्रकी स्थितिमें परिवर्तन

जिस सौराष्ट्रको धरणीको भगवान् नेमिनाथने पुण्यभूमि बनानेका स्वरूप प्रदान किया। सौराष्ट्रने धरसेन आचार्यके रूपमें अंग-पूर्वज्ञानको सुरक्षित बनाये रखा और जिस सौराष्ट्रने आचार्य पु

भूतबलीको सादर आमन्त्रित कर अंग-पूर्वज्ञानकी सुरक्षाका महान् कार्य किया। वही सौराष्ट्र शताब्दियों तक अपने प्राचीन गौरवको ऐसे भुलाये हुए था मानो दिगम्बर परम्परामें उसका कभी कोई स्थान ही न रहा हो। किन्तु हर्षका विषय है कि उसी सौराष्ट्रने वर्तमान कालमें कानजी स्वामीके रूपमें पुनः अंगड़ाई ली है। आज वह दिगम्बर परम्पराका सजग प्रहरी बनकर समाजके सामने उपस्थित है। हम अपनी निधिको अपनी असावधानीके कारण खो देनेके लिए भले ही तैयार हो जांय, पर वह खोने नहीं देगा। जैसे कोई सो कर जागता है और अपनी निधिकी सँम्हालमें जुट जाता है। आज समग्र सौराष्ट्रकी वही स्थिति बन पड़ी है। **कोई कुछ भी क्यों न कहे, मैं तो कहता हूँ कि वर्तमानमें श्रीकानजी स्वामीका उदय दिगम्बर परम्पराके लिए अभ्युदयस्वरूप है।** जिसके जीवनमें दिगम्बर परम्पराका माहात्म्य समाया हुआ है वह श्रीकानजी स्वामी और समग्र सौराष्ट्रको आदरकी दृष्टिसे देखे बिना रह ही नहीं सकता। वहाँ पुनः प्रतिष्ठित हुए दिगम्बर बीसियों जिनालयोंके गगनचुम्बी शिखरोंकी लहराती हुई पताकाएँ सभी भव्य जनोंको बुला-बुला कर कह रही हैं कि आओ, इधर आओ, शुद्धस्वरूपका भान करनेका तुम्हें यह सुवर्ण अवसर प्राप्त है।

७. तत्त्वचर्चाकी पृष्ठभूमि

यह वर्तमान स्थिति है। इसके ऐसा होते हुए भी कुछ कालसे समाजमें विरोधी प्रचार चल रहा है। अतीत कालमें उसे शमन करनेके लिए अनेक उपाय किये गये। 'जैनतत्त्वमीमांसा' ग्रन्थ भी इसी अभि-प्रायसे लिखा गया। कई वर्ष पूर्व श्रीमान् पं० मक्खनलालजी सा० न्यायालंकारने जैनदर्शनमें प्रकाशित अपने वक्तव्य द्वारा चर्चाके लिए आमंत्रित किया। आमंत्रित विद्वानोंमें मेरा और श्रीयुक्त पं० जगन्मोहनलाल जी शास्त्री इन दो विद्वानोंके भी नाम थे। उसके बाद मथुरामें भी दि० जैन संघकी बैठकके समय भी श्रीयुक्त पं० राजेन्द्रकुमारजीके साथ इस सम्बन्धमें कुछ विचार विनिमय हुआ। अतएव श्रीयुक्त पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्यके साथ मिल कर तत्त्वचर्चाकी एक रूपरेखा तैयार की गई। वह तत्कालीन साप्ताहिक पत्रोंमें मुद्रित भी हो चुकी है। इस प्रकार एक ओर विरोध भी होता रहा और दूसरी ओर तत्त्वचर्चाका वातावरण भी बनता रहा।

८. तत्त्वचर्चाके लिए आमन्त्रण

श्री १०८ आचार्य शिवसागर महाराज प्रकृतिसे शान्तपरिणामी हैं। सन् १९६३ में जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चाके पूर्व श्रीयुक्त पं० जगन्मोहनलाल जी शास्त्री उनके दर्शनोंके लिए गये थे। उस समय आचार्य महाराज और पण्डितजीके मध्य इस विषय पर पर्याप्त ऊहापोह हुआ। उसी वर्ष भाद्रपदमें श्री युक्त पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य भी दशलक्षण पर्वके निमित्त जयपुर आमन्त्रित किये गये थे। उस समय भी इस विषय पर विचार विनिमय हुआ। यतः स्वयं आचार्य महाराज चाहते थे कि दोनों ओरके विद्वानोंके मध्य तत्त्वचर्चा होकर यह विरोध शान्त हो जाय, अतः उनके भावको समझ कर संघके दो विवेकी ब्रह्मचारी श्रीयुक्त सेठ हीरालालजी पाटनी और श्रीयुक्त ब्र० लाडमलजीने एक आमंत्रणपत्र द्वारा दोनों ओरके मनीषियोंको तत्त्वचर्चाके लिए आमंत्रित किया जो इस प्रकार है—

तत्त्व-चर्चाके लिए आमंत्रण

खानियां
दि० १३-

आदरणीय महानुभाव,

दर्शन विशुद्धि

जैन समाजकी वर्तमान दशासे आप परिचित हैं। वर्तमान कुछ सैद्धांतिक विवादग्रस्त वि लेकर समाजके मार्गदर्शक विद्वान् परस्पर दो मत हो रहे हैं और उनकी आपसी खींचतानसे साधारण दुविधामें पड़ रही है। कई बार सोचा गया कि हमारे प्रमुख विद्वान् किसी एक स्थान पर एकत्रि चर्चा द्वारा किसी एक निर्णीत पथ पर पहुंचनेका कष्ट करते तो समाजका बहुत कल्याण होता, पर ऐ नहीं सका। विद्वत्परिषद् किसे आमन्त्रित करे और किसे आमंत्रित न करे, इसका सामंजस्य न कारण स्वयं आयोजन करनेमें असमर्थता प्रकट करती है। साथ ही कुछ विद्वान् इसकी चर्चा स्वतं करना पसन्द करते हैं। अत: हमने विचार किया है कि खानियां जयपुरमें जहां कि परम पूज्य अ श्री १०८ शिवसागरजी महाराजका संघ सहित चतुर्मास हो रहा है, इस चर्चाका आयोजन किया यह आयोजन चतुर्मास समाप्तिके पूर्व सम्पन्न होना चाहिए। चर्चामें निम्नलिखित विद्वानोंको आमंत्रित का विचार किया है। आप तथा आमंत्रित विद्वान् समाजके प्रकाशस्तम्भ हैं। अतः चर्चामें उपस्थित आयोजनको अवश्य सफल करें। यह आयोजन दिनांक २० अक्टूबर १९६३ रविवारसे रखा गया है, अवसर पर पधारनेकी स्वीकृति प्रदान करें। विषय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और साथ ही जिनागमकी करना हमारे विद्वानोंका सबसे प्रमुख कार्य। अत: हम आशा रखते हैं कि दोनों विचारधाराओंके वि अवश्य ही एकत्रित हों। आमंत्रित विद्वानोंके ठहरने आदिकी पूर्ण व्यवस्था रहेगी। आमंत्रित विद्व सिवाय यदि आप किसी अन्य विद्वान्को भी बुलाना उचित समझते है तो उसकी सूचना देनेकी कृपा प्रत्येक विद्वानोंके नाम बुक पोस्टमें पत्रिका भेज दी है। यदि किसीको न मिली हो तो इस प्रकाशन आमंत्रण समझनेकी कृपा करें।

—:हितैषी:—

हीरालाल पाटनी पो० निवाई (राजस्थान), ब्र० लाडमल जैन, दीवानी का मंदिर, ला सांडका रास्ता, जयपुर।

आमंत्रित विद्वान्

१. श्री पं० बंशीधरजी शास्त्री, ईसरी बाजार २. श्री माणिकचंदजी न्यायाचार्य, फिरोज ३. श्री मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना ४. श्री कैलाशचंदजी शास्त्री, वाराणसी ५. श्री जीवंधरजी तीर्थ, इन्दौर ६. श्री फूलचंद्र जी सिद्धान्तशास्त्री, वाराणसी ७. श्री बंशीधर जी व्याकरणाचार्य, ८. श्री जगन्मोहनलाल जी शास्त्री, कटनी ९. श्री इन्द्रलाल जी शास्त्री, जयपुर १०. श्री नाथूलाल शास्त्री, इन्दौर ११. श्री दयाचंद जी शास्त्री सागर, १२. श्री पन्नालाल जी साहित्याचार्य, सागर १३ अजितकुमार जी शास्त्री, दिल्ली १४. श्री सुमेरचंद जी शास्त्री बी० ए०, सिवनी १५. श्री वर्धमान शास्त्री, शोलापुर १६. श्री पन्नालाल जी सोनी ब्यावर, १७. श्री रतनचंद जी मुख्तियार, सहार

१८. श्री बाबू नेमीचंद जी वकील, सहारनपुर १९. श्री ब्र० हुकमचंद जी सलावा, मेरठ २०. श्री पं० लालबहादुर जी शास्त्री, इन्दौर २१. श्री पं० चैनसुखदास जी शास्त्री, जयपुर २२. श्री कु० नेमीचंद जी पाटनी, आगरा २३. श्री ब्र० पं० श्रीलाल जी, महावीरजी २४. श्री पं० बाबूलाल जी, कलकत्ता २५. श्री रामजी भाई, सोनगढ़ २६. श्री हिम्मत भाई, सोनगढ़ २७. श्री सेठ बद्रीप्रसाद जी सरावगी, पटना २८. श्री बाबू हीराचंद जी बोहरा, कलकत्ता २९. श्री सेठ नेमीचंद जी बड़जात्या, नागौर ३०. श्री खेमचंद भाई, सोनगढ़ ३१. श्री बाबू भाई, सोनगढ़ ३२. श्री पं० मक्खनलाल जी, दिल्ली ३३. श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार, दरियागंज दिल्ली ३४. श्री मूलचंद जी किशनदास जी कापड़िया, सूरत ३५. श्री पं० राजेन्द्रकुमार जी, मथुरा ३६. श्री ब्र० चाँदमल जी चूड़ीवाल, नागौर ३७. श्री सर सेठ भागचंद जी सोनी, अजमेर।

९. तत्त्वचर्चाके आमन्त्रण की स्वीकृति

यह आमन्त्रण आमन्त्रणपत्रमें निर्दिष्ट सभी महानुभावोंके पास मुद्रित पत्रकके रूपमें ही भेजा गया था तथा इसे आमन्त्रणदाताओंने वर्तमान पत्रोंमें भी प्रकाशित करा दिया था। ऐसा करनेका उनका उद्देश्य यही था कि जिन महानुभावोंको तत्त्वगोष्ठीमें सम्मिलित करनेके लिए आमन्त्रित किया गया था उन्हें किसी न किसी रूपमें इसकी सूचना मिल जाय। मुझे यह आमन्त्रण २४-९-६३ को मिल सका, क्योंकि उस समय मैं कारंजा गया हुआ था। आमन्त्रण सद्भावना पूर्ण और अच्छे उद्देश्यको लिए हुए था, इसलिए मैंने विचार किया कि यदि तत्त्वचर्चाके अनुकूल परिस्थिति बनती है तो इसमें अवश्य ही सम्मिलित होना चाहिए। कारंजा ब्रह्मचर्याश्रमके अधिष्ठाता श्रीयुक्त पं० माणिकचन्द्र जी न्यायतीर्थ एक विचारक और सहृदय विद्वान् व्यक्ति हैं। उनकी शान्त और उदार प्रकृतिके कारण उन्हें सभी आश्रमवासी तथा सभी परिचित महानुभाव तात्याजी कहते हैं। महाराष्ट्रमें तात्या जी सम्मानित व्यक्तिको ही कहा जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि अपने सद्गुणोंके कारण वे सबके सम्मानास्पद बने हुए हैं। मैंने इस सम्बन्धमें जब उनसे परामर्श किया तो उनका भी यही कहना था कि मालूम पड़ता है कि यह सम्मेलन आचार्य श्री शिवसागर महाराजकी अनुमतिपूर्वक उनकी छत्रछायामें हो रहा है, अतएव आपको निर्भय होकर इसमें अवश्य ही भाग लेना चाहिए। मुझे उनकी यह प्रामाणिक सम्मति उचित प्रतीत हुई, अतएव जयपुरके पते पर मैंने श्रीयुक्त ब्र० लाडमल जी को लिखा कि यदि दोनों पक्षके प्रमुख विद्वान् तत्त्वगोष्ठीको सफल बनाने के लिए कतिपय नियमोंको स्वीकार कर लें तो मैं इस गोष्ठीमें सहर्ष सम्मिलित होनेके लिए तैयार हूँ और साथ ही पत्रके साथ वे नियम भी बनाकर भेज दिये।

यह तो पाठकोंने पढ़ा ही होगा कि मेरे और श्री पं० बंशीधरजी व्या० आ० के नामसे जैन सन्देश १७ अक्टूबर सन् ६३ के अंकमें 'सैद्धान्तिक चर्चाके लिए आधारभूत कुछ नियम' इस शीर्षकसे एक वक्तव्य प्रकाशित हुआ था। मैंने इन नियमोंको बनाते समय उस वक्तव्यको अपनी दृष्टिमें रखा है।

पहले तो ब्रह्मचारीजीका मेरे पास यही उत्तर आया कि कुछ पहले श्रीयुक्त पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री यहाँ आये थे। उनके साथ इस विषयमें पर्याप्त ऊहापोह हो लिया है, अतः नियमोंके विषयमें आप उनसे बातचीत कर लें और अपनी स्वीकृति भेज दें।

किन्तु इसके उत्तरमें उनसे पुनः यही निवेदन किया गया कि उक्त नियम दोनों पक्षोंको ध्यानमें रख कर बनाये गये हैं, अतः तत्त्वगोष्ठीके पूर्व दूसरे पक्षकी ओरसे उनकी स्वीकृति आवश्यक है। तत्त्वचर्चामें

सम्मिलित होनेके लिए मेरा बिस्तर बँधा रखा है। किन्तु मैं नियमोंकी स्वीकृति मिलने पर ही सम्मिलित हो सकूँगा।

जैसा कि ब्रह्मचारीजीके पत्रसे मालूम हुआ था, मेरा उत्तर पहुँचने पर उन्होंने उन नियमोंकी प्रतिलिपि दूसरे पक्षके प्रमुख विद्वानोंके पास भेज दी थी और अन्तमें श्रीमान् पं० मक्खनलाल जी न्यायालंकार तथा श्री पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यका अनुकूल उत्तर प्राप्त कर उसकी खबर मुझे दी थी। मुझे ब्रह्मचारी-जीका यह पत्र १७ अक्टूबर ६३ को डोंगरगढ़में मिला था। तत्त्वचर्चा प्रारम्भ होनेके लिए कुल ३ दिन शेष थे, इसलिए मैंने तार द्वारा अपनी स्वीकृति दे दी और लिख दिया कि यहाँसे मैं सीधा जयपुर पहुँच रहा हूँ।

१०. जयपुरके लिए प्रस्थान

डोंगरगढ़ मेरे परम स्नेही दानवीर सेठ भागचन्दजीका निवास स्थान है। इन दोनों दम्पतिका मुझपर परम स्नेह है। मेरे बाह्य सुख-दुखका वे बराबर ख्याल रखते हैं। उन्होंने मुझसे कहा कि आप इतने बड़े सम्मेलनमें अकेले जा रहे हैं यह मुझे अच्छा नहीं लगता। मैं आपके साथ चलनेके लिए तैयार हूँ। पर मैं वहाँ चल कर भी आपकी क्या सहायता कर सकूँगा यह मुझे समझमें नहीं आता। उनकी इस परेशानीको देख कर मैंने उन्हें आश्वस्त किया और कहा कि मेरे लिए पंच परमेष्ठी और धर्मकी शरण है, भय किस बातका। आप चिन्ता न करें। यह सुवर्ण अवसर है। मुझे प्रेमपूर्वक विदा कीजिए। वहाँ जो भी महानुभाव पधारेंगे वे सब अपने धर्मबन्धु हैं, अतएव चिन्ता करनेकी कोई बात नहीं। और इस प्रकार विविध वार्तालाप द्वारा उन्हें आश्वस्त कर मैं उसी दिन रात्रिकी गाड़ीसे जयपुरके लिए रवाना हो गया और ता० १९ को शामको मैं जयपुर पहुँच गया।

डोंगरगढ़से रवाना होनेके पूर्व मैंने एक जरूरी तार सोनगढ़ माननीय रामजी भाईको दिया था। उसमें लिखा था कि मैं तत्त्वगोष्ठीमें सम्मिलित होनेके लिए जयपुर जा रहा हूँ। आप किसी निजी विश्वस्त आदमीके हाथ जैन गजट और दूसरे साप्ताहिक पत्रोंकी फायल अवश्य भेज दें। क्योंकि उस समय तक यह स्पष्ट न हो सका था कि यह चर्चा किस विषय पर होगी। इसलिए मुझे इस ओर ध्यान देना आवश्यक प्रतीत हुआ।

११. श्रीमान् पं० चैनसुखदासजीके सान्निध्यमें

जैसा कि मैं पहले ही संकेत कर आया हूँ कि मैं १९ ता० को शामको ही जयपुर पहुँच गया था। मैं अपने जीवनमें जयपुर कभी नहीं गया था, इसलिए इस विचारमें पड़ गया कि कहाँ जाया जाय। मेरे पास ब्र० लाडमलजीका पता तो था ही, इसलिए मैंने रिक्सा द्वारा सर्व प्रथम वहीं पहुँचनेका निश्चय किया। किन्तु वहाँ पहुंचने पर मालूम हुआ कि यहाँ सम्मेलनकी कोई तैयारी नहीं है। यहाँ तो मात्र एक जिनालय और उसीके अन्तर्गत दो-तीन कमरोंकी एक धर्मशाला है जो सदा बन्द रहती है। क्या किया जाय यह विचार ही कर रहा था कि इतनेमें एक सद्गृहस्थ सज्जनसे मेरी भेंट हो गई। पहले तो उन्होंने मेरा नाम और स्थान पूछा। उसकी जानकारी होनेपर वे बोले कि आप अच्छे आ गये। आप नहीं आते तो सम्मेलन स्थगित हो जाता। इसके बाद उन्होंने बतलाया कि तत्त्वचर्चाका आयोजन खानियामें किया गया है। मेरे यह कहने पर कि मुझे वहाँ पहुँचानेका प्रबन्ध करा दीजिए। रिक्सा वाला जो लेगा मैं दे दूँगा। उन्होंने कहा कि खानिया शहरके बाहर बहुत दूर जंगलमें है। रात्रिमें आपको लेकर वहाँ रिक्सावाला नहीं जायगा। इस बातको सुनकर मैं पुनः विचारमें पड़ गया कि अब क्या

किया जाय। जो पता दिया था वहाँ तो ठहरनेका प्रबन्ध ही नहीं था। अन्तमें मुझे श्रीमान् पण्डित चैनसुखदासजीका स्मरण हो आया। मैंने उनसे कहा कि पण्डित जी यहाँसे कितनी दूर रहते हैं, मुझे उनके पास ही पहुँचानेका प्रबन्ध करा दीजीए। वे बोले यह ठीक है, उनका निवासस्थान यहीं नजदीक है। इसके बाद उन्होंने श्रीमन्दिरजीकी मालिनसे कहा कि इन्हें पण्डितजीके पास पहुँचा आओ ये तुम्हें चार आना पैसे दे देंगे। किन्तु मालिन तैयार नहीं हुई, वह बहुत अधिक पैसे माँगने लगी। मैं इसके लिए भी तैयार था पर ये महाशय नहीं माने और स्वयं मेरा सामान ले कर मुझे पण्डितजीके पास पहुँचा आये। मैं उनका नाम तो नहीं जानता, पर उनकी इस सहृदयताको जीवनभर नहीं भूल सकता। ऐसे उदारचरित महानुभाव आज भी अपनी समाजमें है यह गौरवकी बात है।

पण्डितजी एक उच्चकोटिके कर्मठ विद्वान् हैं। उनका पूरा समय समाज सेवा, साहित्यनिर्माण और छात्रोंके हितमें व्यतीत होता है। मेरे वहाँ पहुँचने पर उन्होंने मुझे इस प्रकारसे अपनाया जैसे मैं उनका चिरपरिचित आत्मीय जन होऊँ। प्रातःकाल किसी तरह श्रीनेमिचन्दजी पाटनीको मेरे आनेकी खबर लग गई। वे तत्काल मेरे पास आये। भेंट होने पर उन्होंने अपनी स्थिति बतलाई और साथ ही बोले कि जब आप आ ही गये तो मैं हर तरह आपके साथ हूँ।

१२. चरणरजवन्दना

आपसकी बहुत कुछ बातें होनेके बाद मैंने उनसे कहा कि सर्व प्रथम मैं उस जिनालयमें जाना चाहता हूँ जहाँ बैठ कर आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमलजी सा० परमागमकी रचना करते थे। एक तो वह जिनालय है, दूसरे वह पण्डितजीके चरणस्पर्शसे भी मेरे लिए वन्दनीय है। पाटनीजी बोले, वहाँ तो मैं प्रतिदिन जाता हूँ। प्रातःकालीन प्रवचन मैं वहीं करता हूँ। यह जान मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। मैं तत्काल उनके साथ हो लिया। श्री जिनालयमें पहुँच कर पहले तो वीतरागदेवके दर्शन किये। बादमें जहाँ पण्डित जी बैठते थे उस स्थानकी चरण रजको अपने मस्तक पर धारण किया। साथ ही यह निवेदन किया कि जिस कार्यके लिए मैं यहाँ आया हूँ यह आपका ही कार्य है, मुझे आपका बल चाहिए। पश्चात् प्रवचन करके पण्डितजीके निवासस्थान पर लौट आया।

मध्याह्नमें मैं और पाटनीजी खानियाजी गये। वहाँ आवश्यक कृतिकर्म करके आये हुए विद्वानोंसे मिले। अनेक विद्वान् आ चुके थे और कुछ आनेवाले थे। किन्तु प्रारम्भिक दिन होनेसे उस दिन कार्य प्रारम्भ न हो सका। ब्रह्मचारीजीसे मिलने पर मालूम हुआ कि अभी कुछ विद्वानोंका आना शेष है, इसलिए कल २१ ता० को दिनके १ बजेसे गोष्ठीका कार्य प्रारम्भ होगा। आप कल नियत समय पर अवश्य ही आ जावें। मैं वहाँसे लौटकर तथा पण्डितजीसे अनुज्ञा लेकर पाटनीजीके घर चला गया। वहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि श्री दि० जैन महामुमुक्षुमण्डल और मुमुक्षुमण्डल बम्बईके मंत्री श्री चिमनलालजी सोनगढ़से आवश्यक सामग्री लेकर आ गये हैं। वे मुझसे मिले। बड़ी प्रसन्नता हुई। जहाँतक मुझे स्मरण है श्री सेठ लादूलालजी भी किशनगढ़से इसी दिन आ गये थे। ये पाटनीजीके बहनोई हैं। साथमें पाटनीजीकी बहिन भी आई थीं। आते ही भीतरकी पूरी व्यवस्था पाटनीजी की बहिनने सम्हाली और बाहरकी लिखापढ़ीका पूरा भार श्री सेठ लादूलालजीने सम्हाला। मेरा काम उत्तर पत्रोंका तैयार करना रहता था और उनकी तीन कापी तैयार कर देना इनका काम रहता था। ये धर्मशास्त्र और संस्कृतके अच्छे जानकार है। साथ ही मिलनसार और बड़े सहृदय व्यक्ति हैं।

१३. अधिकृत कार्यवाहीका प्रारम्भ

ता० २१ को नियत समय पर हम सब लोग मिलकर खानियाजी पहुँच गये और आवश्यक कृतिकर्म सम्पन्न होनेके बाद बैठकमें सम्मिलित हो गये। इसके आगेकी प्रतिदिनकी पूरी कार्यवाही श्री पं० पन्नालाल-जी साहित्याचार्यने लिपिबद्ध की है। वे बड़े कर्मठ व्यक्ति हैं। लिखापढ़ीका काम आसानीसे निपटा लेते हैं। प्रत्येक दिनकी उस कार्यवाहीपर मध्यस्थके हस्ताक्षर हैं, इसलिए मैं उसी रूपमें उसे यहाँ दे रहा हूँ। इतना अवश्य है कि ता० २१ की बैठक श्री १०८ आचार्य महाराजकी संरक्षतामें सम्पन्न हुई और ता० २२ की बैठक समाजमान्य सर सेठ भागचन्दजी सोनी अजमेरकी अध्यक्षतामें सम्पन्न हुई। अतएव इन दोनों दिनोंकी कार्यवाही पर अध्यक्षके हस्ताक्षर हैं। प्रत्येक दिनकी अधिकृत कार्यवाही और उपस्थिति इस प्रकार है—

श्री सिद्धपरमेष्ठिने नमः

तत्त्वगोष्ठीका विवरण

आज दिनांक २१–१०–६३ को मध्याह्न १२॥ बजे खानिया स्थित नसियाँ में श्रीमान् १०८ पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराजके सानिध्यमें समागत विद्वानोंकी गोष्ठी हुई जिसमें निम्नांङ्कित विद्वान् उपस्थित रहे—

१. श्री पं० इन्द्रलालजी शास्त्री, जयपुर २. श्री पं० बंशीधरजी न्यायालंकार, इन्दौर ३. श्री पं० मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना ४. श्री पं० जीवन्धरजी शास्त्री, इन्दौर ५. श्री पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी ६. श्री नेमिचन्द्रजी पाटनी, जयपुर ७. श्री ब्र० श्रीलालजी काव्यतीर्थ, महावीरजी ८. श्री सेठ बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना ९. श्री सेठ ब्र० पन्नालालजी उमाभाई, अहमदाबाद १०. श्री चन्दूलाल कस्तूरचन्द्रजी, बम्बई ११. श्री पं० नरेन्द्रकुमारजी भिसीकर, कारंजा १२. श्री सेठ रामचन्द्रजी कोठयारी, जयपुर १३. ब्र० सूरजमलजी, खानिया १४. श्री भाई कोदरलाल जीवराजजी, तलोद १५. श्री पं० कपूरचन्दजी बरैया, लश्कर १६. श्री सेठ सुमेरमलजी चौधरी, अजमेर १७. श्री पं० मिश्रीलालजी शास्त्री, लाडनूं।

कार्य—

पारस्परिक ऊहापोह के बाद तत्त्वचर्चाके लिये निम्नलिखित नियम पारित किये—

(१) चर्चा वीतरागभावसे होगी।

(२) चर्चा लिखित होगी।

(३) वस्तुसिद्धिके लिये आगम ही प्रमाण होगा।

(४) पूर्वाचार्यानुसार प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी ग्रन्थ प्रमाण माने जायेंगे।

(५) चर्चा शङ्का-समाधानके रूपमें होगी।

(६) दोनों ओरसे शङ्का-समाधानके रूपमें जो लिखित पत्रोंका आदान-प्रदान होगा उनमेंसे अपने-अपने पत्रोंपर अधिकसे अधिक ५–५ विद्वानों और मध्यस्थकी सही होगी। इसके लिये दोनों पक्षोंकी ओर से ५–५ प्रतिनिधि नियत होंगे।

(७) किसी एक विषयसम्बन्धी किसी विशेष प्रश्नपर शङ्का-समाधानके रूपमें पत्रोंका आदान-प्रदान अधिकसे अधिक तीन बार तक होगा।

आजकी बैठक ४ बजे समाप्त हुई।

दिनांक २२-१०-६३

आज खानियास्थित छोटी नसियाके ऊपर दिनके १ बजेसे श्रीमान् १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराजके सन्निधान एवं रायबहादुर सर सेठ भागचन्द्रजी सोनी अजमेरकी अध्यक्षतामें दूसरी बैठक प्रारम्भ हुई। जिसमें निम्नप्रकार उपस्थिति रही—

१. श्री पं० वंशीधरजी न्यायालंकार, इन्दौर २. श्री पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, फीरोजाबाद ३. श्री पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी ४. श्री नेमिचन्द्रजी पाटनी, आगरा ५. श्री पं० अजितकुमारजी, दिल्ली ६. श्री ब्र० पन्नालालजी उमाभाई, अहमदाबाद ७. श्री पं० मिश्रीलालजी शास्त्री, लाडनूं ८. श्री पं० मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना ९. श्री पं० इन्द्रलालजी शास्त्री, जयपुर १०. श्री पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना ११. श्री पं० जीवन्धरजी न्यायतीर्थ, इन्दौर १२. श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर १३. श्री रामचन्द्रजी कोटयारी, जयपुर १४. श्री सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्द्रजी, बम्बई १५. श्री सेठ कोदरलालजी, तलोद १६. श्री सेठ बालचन्द्रजी पाटनी, सुजानगढ़ १७. श्री सेठ बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना १८. श्री कपूरचन्द्रजी बरैया एम०ए०, लश्कर १९. श्री पं० नरेन्द्रकुमारजी भिसीकर, कारंजा २०. श्री सेठ रायबहादुर भागचन्द्रजी सोनी, अजमेर २१. श्री ब्र० सूरजमलजी, खानिया २२. श्री ब्र० श्रीलालजी काव्यतीर्थ, महावीरजी २३. ब्र० श्री सेठ हीरालालजी पाटनी, निवाई २४. श्री सेठ सुमेरमलजी, अजमेर।

कार्य—

चर्चाविषयक नियमोंमें निम्नलिखित आठवाँ नियम स्वीकृत किया गया—

(८) चर्चामें सामाजिक, पन्थसम्बन्धी तथा व्यक्तिविशेषसम्बन्धी विषयोंपर चर्चा न होकर तत्त्व-सम्बन्धी ही चर्चा होगी।

मध्यस्थका चुनाव—

श्रीमान् पं० वंशीधरजी न्यायालंकार इन्दौर मध्यस्थ चुने गये। मध्यस्थका कार्य चर्चामें व्यवस्था बनाये रखना तथा दोनों ओरके लिखित पत्रोंका आदान-प्रदान करना रहेगा। मध्यस्थ निर्णायक नहीं होगा।

चर्चाके विषय—

श्री पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने चर्चाके लिये निम्नलिखित विषय प्रस्तुत किये—

(१) द्रव्यकर्मोंके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं?
(२) जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म अधर्म होता है या नहीं?
(३) जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या?
(४) व्यवहार धर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नहीं?
(५) द्रव्योंमें होने वाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं या अनियतक्रमसे भी?
(६) उपादान की कार्यरूप परिणतिमें निमित्त कारण सहायक होता है या नहीं?

तदनन्तर—

उल्लिखित प्रश्नोंकी एक प्रतिलिपि मध्यस्थ महोदयने श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी शास्त्रीको उनके हस्ताक्षर लेकर सौंपी। पं० फूलचन्द्रजी साहब इन प्रश्नोंका लिखित उत्तर दिनांक २३–१०–६३ के एक

बजे मध्यस्थ महोदयको सौंप देंगे। साथ ही अपनी ओरसे चर्चणीय विषयोंकी सूची भी प्रस्तुत कर देंगे। उभय पक्षके ५–५ प्रतिनिधियोंके नाम कलकी बैठकमें प्रस्तुत कर देंगे यह निश्चित हुआ।

आज की बैठकके अध्यक्ष श्री सेठ भागचन्द्रजी सोनीको धन्यवाद दिये जानेके बाद ४ बजे सहर्ष समाप्त हुआ।

खानिया
दि० २०–१०–६३

श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी साहब !

आज दिनांक की बैठकमें चर्चणीय विषय निम्नप्रकार हैं। इनका उत्तर लिखकर आप दिनांक २३–१०–६३ को मध्याह्न १ बजे तक हमारे पास भेजनेका कष्ट करेंगे। साथ ही आपकी ओरसे चर्चणीय विषयों की सूची भी हमें १ बजे तक प्राप्त हो जावे ऐसी व्यवस्था कीजिये।

चर्चणीय विषय

(१) द्रव्यकर्मोंके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं ?
(२) जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है या नहीं ?
(३) जीव दयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?
(४) व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नहीं ?
(५) द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं या अनियतक्रमसे भी ?
(६) उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें निमित्तकारण सहायक होता है या नहीं ?

तृतीय बैठक दिनांक २३-१०-६३

आज दिनांक २३–१०–६३ को मध्याह्नके बाद १ बजेसे श्री पूज्यवर १०८ आचार्य शिवसागरजीके सन्निधान और श्री पं० बंशीधरजी शास्त्री इन्दौरकी मध्यस्थतामें कार्य प्रारम्भ हुआ। उपस्थिति निम्न प्रकार रही—

१. श्री ब्र० सेठ पन्नालालजी उम्मेदभाई, अहमदाबाद २. श्री सेठ रायबहादुर भागचन्द्रजी सोनी, अजमेर ३. श्री पं० बंशीधरजी न्यायालंकार, इन्दौर ४. श्री पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, फीरोजाबाद ५. श्री पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी ६. श्री नेमिचन्द्रजी पाटनी, जयपुर ७. श्री पं० अजितकुमारजी, दिल्ली ८. श्री पं० मिश्रीलालजी शास्त्री, लाडनूं ९. श्री पं० मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना १०. श्री पं० इन्द्रलालजी शास्त्री, जयपुर ११. श्री पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना १२. श्री पं० जीवन्धरजी न्यायतीर्थ, इन्दौर १३. श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर १४. श्री रामचन्द्रजी कांटयारी, जयपुर १५. श्री सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्द्रजी, बम्बई १६. श्री सेठ बालचन्द्रजी पाटनी, सुजानगढ़ १७. श्री श्री सेठ बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना १८. श्री कपूरचन्द्रजी बरैया, लश्कर १९. श्री पं० नरेन्द्रकुमारजी भिसीकर, कारंजा २०. श्री ब्र० सूरजमलजी, खानिया २१. श्री० ब्र० श्रीलालजी काव्यतीर्थ, श्रीमहावीरजी २२. श्री ब्र० सेठ हीरालालजी पाटनी, निबाई २३. श्री कोदरलालजी, तलोद २४. श्री ब्र० रतनचन्द्रजी मुख्तार, सहारनपुर २५. श्री नेमिचन्द्रजी वकील, सहारनपुर २६. श्री ब्र० चाँदमलजी चूड़ीवाल, नागौद २७. श्री सेठ नेमिचन्द्रजी बड़जात्या, नागौद २८. श्री इन्द्रचन्द्रजी छाबड़ा, लश्कर।

कार्य—

पाँच-पाँच प्रतिनिधियोंका चुनाव—

प्रथम पक्षमे निम्नलिखित पाँच-पाँच प्रतिनिधियोंके नाम प्रस्तुत किये गये—

१. श्री पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य, फोरोजाबाद २. श्री पं० मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना ३. श्री पं० जीवन्धरजी न्यायाचार्य, इन्दोर ४. श्री पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना ५. पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर।

(२) द्वितीय पक्षसे निम्नलिखित दो नाम प्रस्तुत किये गये शेष नाम अगले दिन प्रस्तुत करनेकी बात तय हुई—

(१) श्री पं० फूलचन्द जी शास्त्री, (२) श्री नेमिचन्द्र जी पाटनी, आगरा।

चर्चणीय विषय प्रस्तुत करने पर विचार

निश्चित हुआ कि दोनों पक्षोंके चर्चणीय विषय कल ता० २४-१०-६३ तक प्रस्तुत किये जा सकेंगे।

तदनन्तर श्री पं० फूलचन्द्र जी शास्त्रीने कल दिये गये ६ प्रश्नोंका उत्तर मध्यस्थ महोदयको सौंपा और मध्यस्थ महोदयकी आज्ञानुसार उपस्थित जनताकी जानकारीके लिये श्री पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्यने उसे पढ़कर सुनाया।

प्रथम पक्षकी ओरसे निम्नलिखित तीन प्रश्न प्रस्तुत किये गये, जिन्हें मध्यस्थ महोदयने उत्तर देनेके लिये श्री पं० फूलचन्द्रजीको सौंपा। पण्डितजी इनका उत्तर कल १ बजे उपस्थित करेंगे।

(१) केवली भगवान्की सर्वज्ञता निश्चयसे है या व्यवहारसे? यदि व्यवहारसे है तो वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ?

(२) दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवली आत्मासे कोई सम्बन्ध है या नहीं? यदि है तो कौन सम्बन्ध है? वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ? दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक? यदि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान्की आत्माके सम्बन्धसे?

(३) सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त? यदि बद्ध है तो किससे बंधा हुआ है? और किसीसे बँधा हुआ होनेसे वह परतन्त्र है या नहीं? यदि वह बद्ध है तो उसके बन्धनसे छूटनेका उपाय क्या है?

श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री २३-१०-६३

आपकी सेवामें निम्नाङ्कित तीन प्रश्न प्रस्तुत हैं। इनका उत्तर आप कल १ बजे तक उपस्थित करनेका कष्ट करेंगे।

(१) केवली भगवान्की सर्वज्ञता निश्चयसे है या व्यवहारसे। यदि व्यवहारसे है तो वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ?

(२) दिव्यध्वनिका केवलज्ञान अथवा केवली आत्मासे कोई सम्बन्ध है या नहीं? यदि है तो कौन सम्बन्ध है? वह सत्यार्थ है या असत्यार्थ? दिव्यध्वनि प्रामाणिक है या अप्रामाणिक? यदि प्रामाणिक है तो उसकी प्रामाणिकता स्वाश्रित है या केवली भगवान्की आत्माके सम्बन्धसे?

(३) सांसारिक जीव बद्ध है या मुक्त? यदि बद्ध है तो किससे बंधा हुआ है? और किसीसे बँधा हुआ होनेसे वह परतन्त्र है या नहीं? यदि यह बद्ध है तो उसके बन्धनोंसे छूटनेका उपाय क्या है?

चौथी बैठक दिनांक २४-१०-६३

आज दिनांक २४–१०–६३ को मध्याह्नके उपरान्त १ बजेसे श्री १०८ पूज्यवर आचार्य शिवसागरजी महाराजके सन्निधान और श्री पं० बंशीधरजी न्यायालंकार इन्दौरकी मध्यस्थतामें बैठक प्रारम्भ हुई। जिसमें उपस्थिति निम्नप्रकार हुई—

१. श्री सेठ ब्र० पन्नालाल उम्मेद भाई, अहमदाबाद २. श्री बंशीधरजी न्यायालंकार इन्दौर, ३. श्री पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य ४. श्री पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री ५. श्री नेमिचन्द्रजी पाटनी, आगरा ६. श्री पं० अजितकुमारजी शास्त्री, दिल्ली ७. श्री पं० मिश्रीलालजी शास्त्री, लाडनूं ८. श्री पं० मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना ९. श्री पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना १०. श्री पं० जीवन्धरजी न्यायतीर्थ इन्दौर ११. श्री पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य, सागर १२. रामचन्द्रजी कोटयागी जयपुर, १३. श्री सेठ चन्दूलाल कस्तूरचन्द्रजी, बम्बई १४. श्री सेठ बालचन्द्रजी पाटनी, सुजानगढ़ १५. श्री सेठ बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना १६. श्री कपूरचन्द्रजी बरैया, लश्कर १७. श्री पं० नरेन्द्रकुमारजी भिसीकर, कारंजा १८. श्री ब्र० सूरजमलजी, खानिया १९. श्री सेठ हीरालालजी पाटनी, निवाई २०. श्री सेठ कोदरलालजी, तलोद २१. श्री ब्र० रतनचन्द्रजी मुख्त्यार, सहारनपुर २२. श्री नेमिचन्द्रजी वकील, सहारनपुर २३. श्री ब्र० चाँदमलजी चूड़ीवाल, नागौर २४. श्री सेठ नेमिचन्द्रजी बड़जात्या, नागौर २५. श्री इन्द्रचन्द्रजी छावड़ा, लश्कर २६. श्री पं० जुगलकिशोरजी मुख्त्यार २७. श्री पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, वाराणसी २८. श्री पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी २९. श्री पं० परमानन्दजी शास्त्री, दिल्ली ३० श्री पं० गोरेलालजी शास्त्री, माधवराजपुरा ३१. श्री पं० सीमंधरजी, जयपुर ३२. श्री पं० इन्द्रलालजी शास्त्री, जयपुर।

कार्य—

(१) श्री पं० मक्खनलालजी शास्त्रीने २ प्रतिशंकायें उपस्थित कीं, जिनका वाचन मध्यस्थकी आज्ञानुसार पं० पन्नालालजी ने किया।

(२) श्री पं० फूलचन्द्रजीकी ओरसे—श्री पं० जगन्मोहनलालजी, पं० फूलचन्द्रजी वाराणसी और नेमिचन्द्रजी पाटनी ये नाम प्रतिनिधिके रूपमें उपस्थित किये गये।

(३) श्रीमान् पं० फूलचन्द्रजीने दिनांक २३–१०–६३ के तीन प्रश्नोंका उत्तर मध्यस्थ महोदयको सौंपा जिसे उनकी आज्ञानुसार पं० पन्नालालजीने पढ़कर सुनाया। तदनन्तर दोनोंमें चर्चणीय प्रश्नोंको उपस्थित करनेके लिए कहा गया जिसके फलस्वरूप पं० मक्खनलालजीकी ओरसे निम्नलिखित प्रश्न उपस्थित किये गये—

(१) जीव तथा पुद्गलका एवं द्वयणुक आदि स्कन्धोंका बन्ध वास्तविक है या अवास्तविक? यदि अवास्तविक है तो केवली भगवान् उसे जानते हैं या नहीं?

(२) परिणमनके स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दो भेद हैं, उनमें वास्तविक अन्तर क्या है?

(३) 'कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्रकी श्रद्धाके समान सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरुकी श्रद्धा भी मिथ्याभाव है, क्या ऐसा मानना व कहना शास्त्रोक्त है?

(४) पुण्यका फल जब अर्हन्त होना तक कहा है (पुण्यफला अरहंता प्र० सा०) और जिससे यह आत्मा तीन लोकका अधिपति बनता है उसे 'सर्वातिशायी पुण्य' बतलाया है (सर्वातिशायि पुण्यं तत् त्रैलोक्याधिपतित्वकृत्) तब ऐसे पुण्यको होनोपमा देकर त्याज्य कहना और मानना क्या शास्त्रोक्त है?

(५) पुण्य अपनी चरमसीमाको पहुँचकर अथवा आत्माके शुद्ध स्वभावरूप परिणमन होने पर स्वतः छूट जाता है या उसके छुड़ानेके लिये किसी उपदेश और प्रयत्नकी जरूरत है ?

(६) भावलिङ्गी मुनि आजकल है या नहीं ? तथा भावलिङ्गकी प्रकटमें पहिचान क्या है ?

(७) बकरेको काटकर उसका मांस फकीरको धर्म मानकर धर्मबुद्धिसे खिलानेवाले तथा अरहन्तदेवकी पूजा करनेवालेमें कोई अन्तर नहीं है, ऐसा कहना और मानना क्या शास्त्रोक्त है ?

(८) जब अभाव चतुष्टय वस्तुस्वरूप है (भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मः) तो वे कार्य व कारणरूप क्यों नहीं माने जा सकते ? तदनुसार घातिया कर्मोंका ध्वंस केवलज्ञानको क्यों उत्पन्न नहीं करता ?

(९) निश्चय और व्यवहारनयका स्वरूप क्या है ? व्यवहारनयका विषय असत्य है क्या ? असत्य है तो अभावात्मक है या मिथ्यारूप है ?

(१०) उपचारका लक्षण क्या है ? निमित्तकारण और व्यवहारनयमें यदि क्रमशः कारण और नयत्वका उपचार है तो उनमें उपचारका लक्षण घटित कीजिये ।

उक्त प्रश्न पं० फूलचन्द्रजीको सौंपे जानेपर उनकी ओरसे ६ वां और ७ वां प्रश्नका उत्तर देनेमें आपत्ति प्रकट की गई जिससे प्रश्नकर्ताओंने उन्हें वापिस ले लिया । पण्डितजीने शेष ८ प्रश्नोंका उत्तर देना स्वीकृत किया ।

तदनन्तर ४॥ बजे कार्यवाही समाप्त हुई ।

५वीं बैठक दिनांक २५-१०-६३

आज पूज्यवर आचार्य श्री १०८ शिवसागरजी एवं उनके संघस्थ अन्य महाराजों के संनिधान और श्री पं० ब्र० वंशीधरजी की मध्यस्थतामें गोष्ठीकी पांचवीं बैठक हुई । उपस्थिति निम्न प्रकार रही—

कलकी उपस्थितिमें पं० राजेन्द्रकुमारजी मथुराकी उपस्थिति अधिक रही, श्री पं० सूरजमलजीने मंगलाचरण किया । तदनन्तर दोनों ओरसे अपने-अपने उत्तर मध्यस्थ महोदयको सौंपे गये । उनकी आज्ञानुसार पं० फूलचन्द्रजीकी ओरसे उत्तर श्री पं० जगन्मोहनलालजीने और पं० मक्खनलालजी आदि की ओरसे उत्तर पं० पन्नालालजीने पढ़कर सुनाए । अनन्तर बैठक समाप्त हुई ।

६वीं बैठक दिनांक २६–१०–६३

आज दिनांक २६-१०-६३ शनिवारको पूज्यवर आचार्य श्री १०८ शिवसागरजी महाराज तथा अन्य संघस्थ महाराजोंके संनिधान और श्री पं० वंशीधरजी न्यायालंकारकी अध्यक्षतामें गोष्ठीकी छठवीं बैठक हुई । उपस्थिति निम्न प्रकार रही—

(१) श्री पं० वंशीधरजी न्यायालंकार (२) श्री रायबहादुर सेठ भागचन्द्रजी सोनी, (३) ब्र० चांदमलजी चूड़ीवाल (४) पं० कैलाशचन्द्रजी (५) पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य (६) पं० जीवन्धरजी न्या० ती० (७) पं० मक्खनलालजी (८) ब्र० रतनचन्द्रजी (९) पं० अजितकुमारजी (१०) पं० हेमचन्द्रजी कौन्देय अजमेर (११) पं० राजेन्द्रकुमारजी (१२) सेठ बद्रीप्रसादजी (१३) नेमिचन्द्रजी वकील (१४) पं० सीमन्धरजी (१५) पं० पन्नालालजी (१६) पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य (१७) पं० जगन्मोहनलालजी (१८) पं० फूलचन्द्रजी (१९) नेमिचन्द्रजी पाटनी (२०) पं० नरेन्द्रकुमारजी बड़जात्या (२१) पं० इन्द्रलाल

जी (२२) सेठ रामचन्द्रजी कोटयारी, (२३) कपूरचन्द्रजी वरैया, लश्कर (२४) कोदरलालजी, तलोद (२५) इन्द्रचन्द्रजी छावड़ा, लश्कर (२६) ब्र० लाभानन्दजी, (२७) पं० मिश्रीलालजी, लाडनूं (२८) चिमन भाई, बम्बई (२९) श्री सेठ चंदूलालजी (३०) ब्र० श्रीलालजी (३१) ब्र० सूरजमलजी (३२) ब्र० लाडमल जी (३३) ब्र० सेठ हीरालालजी पाटनी (३४) पं० पन्नालालजी सोनी, ब्यावर।

मंगलाचरण श्री पं० मक्खनलालजीने किया।

कार्य—

दोनों ओरसे उत्तर प्रत्युत्तरके कागजात मध्यस्थ महोदयको सौंपे गये। उनकी आज्ञानुसार उन्हें श्री पं० जगन्मोहनलालजी और पं० पन्नालालजी ने क्रमशः पढ़कर सुनाये।

कार्यवाही २॥ बजे समाप्त हुई।

७वीं बैठक दिनांक २७-१०-६३

आज श्री १०८ पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज तथा संघस्थ अन्य महाराजोंके संनिधान और श्री पं० वंशीधरजीकी मध्यस्थतामें गोष्ठीकी सातवीं बैठक हुई। दोनों ओरके कागजात मध्यस्थ महोदय को सौंपे गये। तदनन्तर उनकी आज्ञानुसार श्री पं० जगन्मोहनलालजी और श्री पं० पन्नालालजीने पढ़कर सुनाये। उपस्थितिमें कलकी उपस्थितिके अनुसार रा० ब० सेठ भागचन्द्रजी तथा पं० हेमचन्द्रजी अजमेर अनुपस्थित रहे। ४ बजे कार्य समाप्त हुआ।

८वीं बैठक दिनांक २८-१०-६३

आज २८-१०-६३ को श्री १०८ पूज्य आचार्य शिवसागरजी तथा संघस्थ अन्य महाराजोंके संनिधान और श्री पं० वंशीधरजी न्यायालंकारकी मध्यस्थतामें गोष्ठीकी ८वीं बैठक हुई। उपस्थिति पूर्ववत् रही—

१. श्री पं० वंशीधरजी (मध्यस्थ) २. पं० माणिकचन्द्रजी ३. पं० जगन्मोहनलालजी ४. पं० राजेन्द्रकुमारजी ५. नेमिचन्द्रजी पाटनी ६. पं० नरेन्द्रकुमारजी ७. चिमन भाई ८. इन्द्रचन्द्रजी छावड़ा ९. कोदरलालजी १०. इन्द्रलालजी ११. कपूरचन्द्रजी वरैया १२. चन्दूलालजी बम्बई १३. संघपति मोतीलालजी बम्बई १४. पं० पन्नालालजी १५. पं० सीमंधरजी, जयपुर १६. नेमिचन्द्रजी वकील १७. पं० वंशीधरजी बीना १८ सेठ बद्रीप्रसादजी १९. पं० जीवन्धरजी २० पं० मक्खनलालजी २१. पं० वृन्दावन-दासजी २२. ब्र० लाडमलजी २३. सेठ रामचन्द्रजी कोटयारी २४. पं० पन्नालालजी सोनी २५. ब्र० रतनचन्द्रजी मुख्त्यार, २६. प्यारेलालजी बड़जात्या २७. पं० अजितकुमारजी दिल्ली २८. ब्र० सूरजमलजी २९. ब्र० सेठ हीरालालजी निवाई ३०. श्री मनोहरलालजी एम० ए०, अजमेर ३१. छगनलालजी पाटनी, अजमेर।

कार्य—

दोनों ओरसे कागजात पेश किये जानेपर मध्यस्थके आदेशानुसार पं० जगन्मोहनलालजी और पं० पन्नालालजीने पढ़कर सुनाये।

अनन्तर ४ बजे कार्यवाही समाप्त हुई।

९वीं बैठक दिनांक २९-१०-६३

आज दिनांक २९-१०-६३ मंगलवारको श्री १०८ पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज तथा संघस्थ अन्य महाराजोंके संनिधान और श्री पं० वंशीधरजी न्यायालंकारकी मध्यस्थामें तत्त्वगोष्ठीकी नवीं बैठक हुई। उपस्थिति निम्न प्रकार रही—

१. सर सेठ भागचन्द्रजी, सोनी २. पं० वंशीधरजी, न्यायालंकार ३. पं० माणिकचन्द्रजी ४. पं० जगन्मोहनलालजी ५. पं० फूलचन्द्रजी ६. श्री नेमिचन्द्रजी, पाटनी ७. पं० नरेन्द्रकुमारजी, भिसीकर ८. कपूरचन्द्रजी एम० ए० लश्कर, ९. पं० वृन्दावनजी, १०. चिमन, भाई ११. मास्टर मनोहरलालजी एम० ए०, १२. इन्द्रलालजी, १३. छगनलालजी पाटनी, अजमेर १४. सेठ बद्रीप्रसादजी, सरावगी १५. सेठ मोतीलालजी संघपति, बम्बई १६. पं० पन्नालालजी, १७. पं० राजेन्द्रकुमारजी, १८. पं० हेमचन्द्रजी, अजमेर १९. पं० जोवन्धरजी, २०. पं० कैलाशचन्द्रजी २१. पं० अजितकुमारजी २२. पं० पन्नालालजी, सोनी २३. पं० मक्खनलालजी, २४. नेमिचन्द्रजी, वकील २५. ब्र० रतनचन्द्रजी, मुख्त्यार २६. ब्र० सेठ हीरालालजी, निवाई २७. इन्द्रचन्द्रजी छाबड़ा, लश्कर २८. प्यारेलालजी, बड़जात्या २९. रघुवरदयाल जैन, दिल्ली ३०. महेशचन्द्र मेरठ, ३१. ब्र० लाडमलजी, खानिया।

मध्यस्थ महोदयने दोनों पक्षके कागजात पेश किये और उनकी आज्ञानुसार पं० जगन्मोहनलालजी तथा पं० पन्नालालजीने पढ़कर सुनाये।

तदनन्तर ४। बजे सभा समाप्त हुई।

१०वीं बैठक दिनांक ३०-१०-६३

आज दि० ३०-१०-६३ बुधवारको श्रीमान् पूज्यवर आचार्य शिवसागरजी महाराज और उनके संघस्थ अन्य महाराजोंके संनिधान एवं पं० वंशीधरजी न्यायालंकारकी मध्यस्थतामें गोष्ठीकी १०वीं बैठक हुई। उपस्थिति निम्न प्रकार रही—

(१) श्री पं० वंशीधरजी, न्यायालंकार (२) पं० कैलाशचन्द्रजी (३) पं० फूलचन्द्रजी (४) नेमिचन्द्र जी पाटनी (५) चिमनभाई, बम्बई (६) कपूरचन्द्रजी बरैया एम० ए (७) सेठ कोदरलालजी, तलोद (८) सेठ बद्रीप्रसादजी, पटना (९) पं० हेमचन्द्रजी एम० ए०, अजमेर (१०) पं० पन्नालालजी सा० आ० (११) पं० वंशीधरजी, बीना (१२) पं० सीमंधरजी जयपुर, (१३) पं० राजेन्द्रकुमारजी, मथुरा (१४) पं० जोवंधरजी, इन्दौर (१५) ब्र० रतनचन्द्रजी मुख्त्यार, (१६) पं० पन्नालालजी सोनी, ब्यावर (१७) पं० मक्खनलालजी, मोरेना (१८) पं० माणिकचन्द्रजी न्यायाचार्य (१९) पं० नरेन्द्रकुमारजी भिसीकर, कारंजा (२०) इन्द्रचन्द्रजी छाबड़ा, लश्कर (२१) सेठ मोतीलालजी संघपति, बम्बई (२२) सेठ ब्र० हीरालालजी पाटनी, निवाई (२३) ब्र० सूरजमलजी, खानियां (२४) पं० वृन्दावन प्रसादजी, बरैया (२५) नेमिचन्द्रजी वकील, सहारनपुर (२६) पं० जगन्मोहनलालजी, कटनी (२७) ब्र० लाडमलजी, खानियां।

कार्य—

पं० जगन्मोहनलालजी ने अपने द्वारा समर्पित सामग्री मध्यस्थ महोदय को सौंपी और उनकी आज्ञानुसार उन्होंने उनका वाचन किया। तदनन्तर पं० वंशीधरजीने उभय पक्षकी संमतिसे घोषित किया कि १।११।६३ को गोष्ठीका समारोप हो जायगा। चर्चाका तीसरा दौर स्थगित किया जायगा, फिर अन्य

किसी समय अवशिष्ट चर्चाका आयोजन किया जायगा। आगामी दिन ३१।१०।६३ को मुनिदीक्षाका समारोह होने से चर्चा बन्द रहेगी।

११वीं बैठक दिनांक १–११–६३

आज दिनांक १–११–६३ शुक्रवारको २ बजे से श्रीमान् पूज्य आचार्य शिवसागरजी महाराज तथा संघस्थ अन्य मुनियोंके संनिधान और श्री पं० वंशीधरजी न्यायालंकारको मध्यस्थतामें गोष्ठीको ११वीं बैठक सम्पन्न हुई। जिसमें उपस्थिति निम्न प्रकार रही—

१. श्री पं० पन्नालालजी, सोनी २. रायबहादुर सर सेठ भागचन्द्रजी, सोनी ३. पं० कैलाशचन्द्रजी ४. पं० वंशीधरजी, न्यायालंकार ५. पं० वंशीधरजी, व्याकरणाचार्य ६. पं० माणिकचन्द्रजी, न्यायाचार्य ७. पं० जगन्मोहनलालजी ८. पं० फूलचन्द्रजी ९. नेमिचन्द्रजी पाटनी, १०. कपूरचन्द्रजी वरैया एम० ए०, ११. कोदरलालजी तलोद, १२. पं० इन्द्रलालजी, शास्त्री १३. पं० जीवन्धरजी, न्यायतीर्थ १४. पं० सीमन्धरजी १५. संघपति मोतीलालजी, बम्बई १६. सेठ बद्रीप्रसादजी सरावगी, पटना १७. रामचन्द्रजी, कोटयारी १८. ब्र० नेमिचन्द्रजी, वकील १९. ब्र० रतनचन्द्रजी मुख्त्यार, २०. पं० गजेन्द्रकुमारजी २१. पं० अजितकुमारजी, दिल्ली २२. पं० मक्खनलालजी शास्त्री, मोरेना २३. इन्द्रचन्द्रजी छावडा, लश्कर २४. पं० घीलालजी काव्यतीर्थ, महावीरजी २५. चौ० सुमेरमलजी महामंत्री महासभा, अजमेर २६. प्यारेलालजी, बड़जात्या २७. ब्र० सेठ हीरालालजी, पाटनी २८. पं० वृन्दावनजी २९. चिमन भाई, बम्बई ३०. श्री सेठ चन्दूलालजी ,बम्बई।

८—१७ तक प्रतिशंकाओंके उत्तर समर्पित किये जाने पर मध्यस्थ महोदयकी आज्ञासे पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीने पढ़कर सुनाये। तदनन्तर आगेके लिये निम्न व्यवस्था निश्चित की गई—

(१) समय अधिक हो जानेके कारण तत्त्वचर्चाके दौर समाप्त करके आगेके लिये स्थगित की जाती है।

(२) तीसरे दौरके लिये निम्नलिखित व्यवस्था बनाई जाती है।

(क) प्रथम पक्ष समस्त प्रत्युत्तरों पर अपनी प्रतिशंकाएं आज ता० १–११–६३ से २ माह के अन्दर रजिस्ट्री द्वारा पं० फूलचन्द्रजी वाराणसीके पास भेज देगा। और जिस तारीखको यह सामग्री पं० फूलचन्द्रजीको प्राप्त होगी उससे २॥ माह होने पर यदि रविवार न हुआ न अगली तारीखको और रविवार हुआ तो दूसरी तारीखको पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्यजी बीनाके पास रजिस्ट्री द्वारा भेज देंगे।

(ख) दोनों ओरके वक्तव्य कुल मिलाकर अद्धा पुलिसकेपके १५०–१५० पृष्ठसे अधिक न हों।

(३) तीसरा दौर समाप्त होनेपर पुस्तकका प्रकाशन दोनों पक्षोंकी सम्मतिसे उनके निर्णयानुसार होगा, उसके पहले नहीं।

(४) समाचार-पत्रोंमें प्रश्नोत्तरोंका प्रकाशन तथा उनकी आलोचना प्रत्यालोचना बन्द रहेगी।

अधिकार-पत्र

हम नीचे लिखे प्रतिनिधि तत्त्वचर्चाके अन्तिम (तृतीय) दौरमें सभी प्रतिशङ्काओं व दीगर कागजातपर हस्ताक्षर करनेका अधिकार श्री पं० अजितकुमारजी शास्त्री दिल्लीको या प्रतिनिधियोंमेंसे जो भी समयपर उपस्थित रहेगा उसे यह अधिकार देते हैं कि वह हस्ताक्षर कर कागजातका आदान-प्रदान करें।

इनमेंसे किसीके भी हस्ताक्षर हमलोगोंको मान्य होंगे। कोई भी पत्रव्यवहार निम्नाङ्कित पतोंपर किया जा सकता है—

१. पं० अजितकुमारजी शास्त्री, अभय-प्रिंटिंग प्रेस, अहाता केदारा, पहाड़ीधीरज, दिल्ली।

२. पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्य, बीना (सागर), मध्यप्रदेश।

१–११–६३

आवश्यक विवरण

यह विद्वत्सम्मेलनकी प्रत्येक दिनकी अधिकृत कार्यवाहीका विवरण है। इसे प्रतिदिन श्रीयुत् पण्डित पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर तैयार करते थे। बादमें मध्यस्थके हस्ताक्षर होकर उसकी एक-एक प्रति दोनों पक्षोंको सौंप दी जाती थी और एक प्रति मध्यस्थके पास रहती थी। उसे यहाँ उसी रूपमें दे दिया गया है।

सम्मेलनकी कार्यवाही ता० २१–१०–६३ से १–११–६३ तक चली थी। इन दिनोंमें तत्त्वचर्चाके दो दौर सम्पन्न हो गये थे। तीसरा दौर होना शेष था। किन्तु सभी विद्वान् अपने-अपने घर जानेके लिए उत्सुक थे। इसलिए तीसरे दौरको सम्पन्न करनेके लिए अलगसे नियम बनाये गये। किन्तु उन नियमोंमेंसे पृष्ठसंख्या और समयकी मर्यादा निश्चित करनेवाले नियमोंका दोनों ओरसे समुचित पालन न हो सका। परन्तु इससे तीसरे दौरको सम्पन्न करनेमें कोई बाधा नहीं आई।

आगेके लिए भी व्यवस्था यह थी कि प्रत्येक सामग्री एक पक्ष दूसरेके पास मध्यस्थके माध्यमसे ही भेजेगा। परस्परके पत्र-व्यवहारमें तो इसका पूरी तरहसे पालन होना सम्भव नहीं था। हाँ तत्त्वचर्चासम्बन्धी पत्रकोंपर व्यवस्थानुसार मध्यस्थके हस्ताक्षर होना आवश्यक था। हमारी ओरसे तो इस व्यवस्थाको बराबर ध्यानमें रखा गया। परन्तु अपर पक्षने इसे विशेष महत्त्व न देकर पूरी सामग्री मेरे पास सीधी भेज दी। इतना संकेतमात्र इसलिए किया है कि अपर पक्षकी तीसरे दौरकी सामग्री पर मध्यस्थके हस्ताक्षर नहीं हैं।

अपर पक्षने अपनी प्रतिशंकाओंको जितने कालमें तैयार करके मेरे पास भेज दिया, मुझे उनके उत्तर तैयार करके अपर पक्षके सिपुर्द करनेमें उससे बहुत अधिक समय लग गया। इसका कारण एक तो मेरी कौटुम्बिक अड़चनें रहीं, दूसरे मैं महीनों बीमार पड़ा रहा। फिर भी अपर पक्षने पूरा धैर्य रखा इसकी मुझे प्रसन्नता है। अपर पक्षकी इस उदारता और सहिष्णुताके लिए मैं अपने पक्षकी ओरसे उसका जितना आभार मानूँ थोड़ा है। इसमें पं० श्री वंशीधरजी व्याकरणाचार्यका विवेक विशेष सराहनीय है।

अपर पक्षने तृतीय दौरकी पूरी सामग्री मेरे पास ता० २८–३–६४ को भेज दी थी, जो मुझे अहमदाबादमें १५–४–६४ के लगभग प्राप्त हुई। हमारी ओरसे तृतीय दौरकी पूरी सामग्री ९–६–६५ को मध्यस्थजीके पास रवाना कर दी गई थी जो अपर पक्षके अन्यतम प्रतिनिधि श्री पं० बंशीधरजी व्याकरणाचार्यको २३–६–६५ को प्राप्त हो गई।

कटनीमें तृतीय दौरके उत्तरपत्रोंका वाचन और संशोधन

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि यद्यपि तृतीय दौरके उत्तर पत्रोंकी पूरी सामग्री तैयार तो कर ली गई, पर अभी उसका संशोधन और सम्मिलित वाचन शेष था। इसके लिए कटनी और जयपुर

दोनों जगह लिखा पढ़ी की गई। बहुत कुछ ऊहापोहके बाद कटनी नगर ही इसके लिए उपयुक्त समझा गया, क्योंकि कटनी श्रीयुत् पं० जगन्मोहनलालजीका निवासस्थान है और पूरे वाचनमें उनकी उपस्थिति अपना विशेष महत्त्व रखती थी। परिश्रमपूर्वक जो भी सामग्री तैयार की गई है उसमें किसी प्रकारकी त्रुटि न रह जाय इस ओर ध्यान देना अति आवश्यक था। मैं लगभग १७ मई सन् ६६ को कटनी गया। वाचनकी पूरी व्यवस्था जैन छात्रावास भवनमें की गई थी, अतएव मुझे वहाँ ठहरा दिया गया। साथ ही उसी दिनसे वाचन और संशोधनका कार्य भी प्रारम्भ हो गया। इसमें श्रीयुत् पं० जगन्मोहनलाल सा० तो नियमितरूपसे भाग लेते ही थे, क्योंकि एकमात्र उन्हींके कारण तो कटनीमें यह व्यवस्था की गई थी। साथ ही सवाई सिंघई धन्यकुमारजी भी नियमितरूपसे भाग लेते थे। बैठक लगभग २१–२२ दिन चली थी। इसलिए इतने दिनोंके लिए सवाई सिंघई धन्यकुमारजीने अपने व्यापार आदिके सब कार्योंको गौण कर दिया था। भोजनादिसम्बन्धी अन्य सब व्यवस्था भी उन्होंने अपने यहाँ ही रखी थी। आमंत्रण नहीं स्वीकार किया जाता था, क्योंकि इसमें फालतू समय जानेका भय था। बीचमें जयपुरसे श्रीयुत् नेमिचन्द्रजी पाटनी भी आ गये थे। इसमें सन्देह नहीं कि कटनीमें इस वाचनसे बड़ा लाभ हुआ। पण्डितजीकी पैनी दृष्टि स्खलित भागपर बराबर चली जाती थी। इससे पूरे भागके संशोधनमें बड़ी सहायता मिली। बैठक प्रातः, मध्याह्न और रात्रिमें इस प्रकार तीन समय नियमितरूपसे होती रही। श्रीयुत् पाटनीजीकी पकड़ भी अच्छी है उससे भी संशोधनमें सहायता मिली है। स्वाध्याय और वाचनद्वारा उन्होंने अपने ज्ञानमें पर्याप्त वृद्धि की है। इस सम्मिलित वाचन और तत्त्वमन्थनके समय मेरा ध्यान सर्वार्थसिद्धिकी ओर चला जाता था। इसी प्रकार वहाँके देव भी निरन्तर तत्त्वमन्थनद्वारा अपना समय यापन करते होंगे यह अनुभूति पद-पदपर होती थी। इसमें सन्देह नहीं कि इस पक्षकी ओरसे जो भी सामग्री प्रस्तुत की गई वह सभी विषयोंमें एक मत होकर प्रस्तुत की गई।

सम्पादन, संशोधन और प्रकाशन

सामग्री कितनी व्यवस्थित क्यों न हो मुद्रणके लिए देते समय उसपर पर्याप्त ध्यान देना पड़ता है। दोनों ओर की तीनों दौरकी सामग्रीमें आगम प्रमाणोंकी अत्यधिक प्रचुरता है। साथ ही यह पूरी सामग्री कुछ तो बालपेनसे लिखी गई है और कुछ टाईप की हुई है। सो भी जो सामग्री हमें प्रेसमैटरके रूपमें प्राप्त थी उसमें तीसरे नम्बरकी कापीकी बहुलता थी जिससे वह बहुत अस्पष्ट थी। इसमें विभक्ति, मात्रा और अक्षरों का भी पर्याप्त व्यत्यय था। प्रायः पैराका ध्यान बहुत कम रखा गया था। गाथा और श्लोकमें जो उद्धृत वाक्य थे वे भी कहीं-कहीं रनिंगके रूपमें लिखे गये थे। कहीं-कहीं तो उन्हें वचनिकामें ही सम्मिलित कर दिया गया था। जो पत्रक टाईप किये हुए थे उनमें उद्धृत वाक्योंका अशुद्ध होना स्वाभाविक था। अनेक स्थलोंपर वाक्योंमें स्खलन भी हो गया था। सम्पादनके समय ये सब कठिनाइयाँ मेरे सामने रही हैं। मेरे पास ऐसा व्यवस्थित आदमी भी नहीं था जिसकी सहायतासे मैं अपने भारको हलका करनेमें समर्थ होता। एकमात्र कतिपय छात्र ही मेरे सहायक थे। किन्तु उनके अध्ययनमें किसी प्रकारका व्यत्यय न हो जाय इसका मुझे पूरा ध्यान रखना पड़ता था। ऐसी विकट परिस्थिति में रहते हुए तत्त्वचर्चाके इतने बड़े कलेवरका मुझे सम्पादन करना पड़ा है। मुद्रणके समय प्रूफ करेक्शनका काम भी मुझे ही करना पड़ा है। थोड़ी-बहुत जो छात्रोंकी सहायता मिल गई उसीमें सन्तोष करना पड़ा है। किन्तु इन सब अड़चनोंके बावजूद मुझे इस बातका सन्तोष है कि किसी तरह यह पार पड़ गया है। आशा है शीघ्र ही वह पाठकोंके वाचन-मननके लिए सुलभ हो जायगा।

सम्पादनके समय जब मैंने अपर पक्षके तृतीय दौरपर दृष्टि डाली तो मालूम हुआ कि कुछ स्थलोंपर प्रतिशंकाके स्थानमें लिखते समय प्रत्युत्तर या उत्तर शब्दका प्रयोग हो गया है। नियमानुसार इसका संकेत मैंने श्रीयुत् पं० वंशीधरजी व्या० आ० को किया। उन्होंने तत्काल लिखा कि लिखनेके ओघमें ऐसे शब्दोंका प्रयोग जहाँ भी हो गया हो उसे सन्दर्भको ध्यानमें रखकर आप सुधारते जायँ। सन्दर्भमें व्यत्यय न हो इसका ध्यान रखें। अतएव मैं यहाँ यह संकेत कर देना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ कि तृतीय दौरकी अपर पक्षकी सामग्रीमें जहाँ भी ऐसा व्यत्यय मुझे मालूम पड़ा वहाँ एक-दो शब्दोंमें परिवर्तन किया गया है, परन्तु वहाँ प्रतिपादित किये गये विषयके आशयमें किसी प्रकारका भी अन्तर नहीं आने दिया है।

जैसा कि मैं पहले ही सूचित कर आया हूँ, हमारी ओरसे पूरी सामग्री सन् ६५ के जूनमें ही अपर पक्षको प्राप्त हो गई थी। अब नियमानुसार उसके मुद्रण और प्रकाशनकी संयुक्त व्यवस्था करनी थी। इसके लिए मैंने उसके बाद व्याकरणाचार्यजीको कुछ दिन बाद संकेत किया। व्याकरणाचार्यजीने २४–७–६५ के पत्रद्वारा जो उत्तर दिया उसका आशय यह है कि मैं इस सम्बन्धमें अपने पक्षके विद्वानोंको तत्काल लिख चुका हूँ। परन्तु कार्यव्यस्तता अथवा स्वास्थ्यकी गड़बड़ीके कारण विद्वान् एकत्रित न हो सके। फिलहाल दो-तीन माह रुकना पड़ेगा। मैंने अपने पत्रद्वारा लिख दिया कि दो-तीन माह ठहरनेमें हमें कोई आपत्ति नहीं है।

इस प्रकार धीरे धीरे बहुत काल निकल गया। कुछ अवरोध सा मालूम हुआ। अन्तमें तय हुआ कि जब आचार्यकल्प पं० श्री टोडरमल ग्रन्थमाला इसका प्रकाशन करनेके लिए उद्यत है तो सबके स्वाध्याय लाभकी दृष्टिसे उसके सिपुर्द कर देना चाहिए। स्पष्ट है कि उसी व्यवस्थाके अनुसार इसका उक्त संस्था द्वारा प्रकाशन हो रहा है।

आपसमें पत्राचार द्वारा ऐसी एक चर्चा चल पड़ी थी कि इस तत्त्वचर्चाके पत्रकोंमें जो आक्षेपात्मक या प्रचारात्मक वाक्य या शब्द हों उन्हें दूर कर देना चाहिए। हमारे पक्षको यह विचार उचित प्रतीत हुआ, इसलिए मुद्रणके पूर्व और मुद्रणके समय हमने ऐसे शब्दोंको जो किसी न किसी रूपमें वैसे प्रतीत हुए उन्हें अलग कर दिया है और जिन शब्दोंको अलग किया गया उनकी सूची श्री युक्त पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्यके पास भेज दी है। पर ऐसा करते हुए न तो विषयके विवेचनको स्पर्श किया गया है और न ही सन्दर्भमें किसी प्रकारकी गड़बड़ी होने दी गई है। अप्रयोजनीय जानकर उस सूचीको यहाँ हम नहीं दे रहे हैं। इसकी चर्चा हमने श्री युक्त पं० वंशीधरजी व्याकरणाचार्यसे भी प्रत्यक्ष भेंटके समय कर दी है।

आभार प्रदर्शन

यह स्पष्ट है कि श्री १०८ आचार्य शिवसागरजी महाराज और उनके संघस्थ अन्य मुनिराजोंकी भावना इस तत्त्वचर्चाके अनुकूल रही है और यह भी स्पष्ट है कि उनके सानिध्यमें होनेके कारण ही तत्त्व-चर्चाके समय पूरी शान्ति बनी रही। यद्यपि अभी तक मैं आचार्य महाराजकी सन्निकटता तो नहीं प्राप्त कर सका, पर तत्त्वचर्चाके समय मैं जितना समझ सका हूँ उसके आधारसे, मैं यह सहर्ष स्वीकार करता हूँ कि वे सरल तो हैं हो, विवेकी भी हैं। मेरा विश्वास है कि उनके चित्तमें आने भरकी देर है, इस समय समाजमें जो द्वन्द्व चल रहा है उसके शान्त होनेमें देर नहीं लगेगी। यह तत्त्वचर्चा उनके सानिध्यमें सम्पन्न हुई और इसी उद्देश्यसे इसका आयोजन भी किया गया था। अतएव मेरा तो यही विश्वास है कि कभी न कभी आचार्य महाराजका इस ओर अवश्य ही ध्यान जायगा।

श्री ब्र० सेठ हीरालालजी पाटनी (निवाई) और ब्र० लाडमलजी का जितना भी आभार माना जाय थोड़ा है। ये दोनों महानुभाव इस ऐतिहासिक सम्मेलनके आयोजक थे। ये दोनों महानुभाव नहीं चाहते कि समाजमें कलहका वातावरण बना रहे। इनके द्वारा किया गया आतिथ्य सत्कार भी सराहनीय था। यह इस युगल जोड़ीका जीवन व्रत मालूम देता है। जिस उत्साह और निष्पक्षतासे इन्होंने अपने उत्तरदायित्वका निर्वाह किया उसका शब्दोंमें वर्णन करना कठिन है।

इस सम्मेलनमें जितने विद्वानोंने भाग लिया उनमेंसे कोई किसीके लिए नया नहीं था। मेरे लिए तो उनमेंसे कई विद्वान् गुरुजन थे। कई गुरुतुल्य थे। कई समान पीढ़ीके थे। ये सब तो मेरे लिए मान्य हैं ही जो मुझसे पीछेकी पीढ़ीमें आते हैं उनके प्रति भी मेरे हृदयमें सदासे स्नेहका भाव रहा है। मेरा विश्वास है कि इन सब विद्वानोंमें अखण्डभावसे उत्तरदायित्वकी भावना जागृत होनेपर वर्तमान द्वन्द्वकी स्थिति समाप्त होनेमें देर नहीं लगेगी। **सामाजिक क्षेत्रमें मतभेद होना कोई बुरी बात नहीं, द्वन्द्वका भाव नहीं होना चाहिए।**

यहाँ विशेष रूपसे मुझे श्री युक्त पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्रीका स्मरण कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। उन जैसा सहिष्णु और विवेकशील विद्वान् विरला ही होगा। मुझे तो उनका सदासे पृष्ठबल प्राप्त है। इस तत्त्वचर्चाको इतने सुन्दर ढंगसे सम्पादित करनेमें उनकी सहायता एक सहयोगीके नाते विशेष रूपसे उल्लेखनीय है। तत्त्वचर्चाको वर्तमान रूप देनेमें उनके बुद्धि कौशलकी जितनी भी प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

श्री युक्त नेमिचन्दजी पाटनी जयपुरमें थे मात्र इसीलिए इसका श्रीगणेश सुन्दर ढंगसे हो सका। जयपुरमें तत्त्वचर्चाके समय मैं और श्री युक्त पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री उनके घर पर अपने ही घरमें जैसे रह रहे हों इतने अपनत्वके साथ रहे। उनका पूरा परिवार हम लोगोंके आतिथ्यमें जुटा रहता था। तत्त्वचर्चामें वे मेरे एक सहयोगी रहे हैं यह विशेष उल्लेखनीय है।

श्री युक्त ब्र० चन्दूलालजी (सोनगढ़) स्वामीजीकी छायाके ही समान हैं। किन्तु जब उन्हें यह अनुभव हुआ कि जयपुरमें मेरी आवश्यकता है, वे तत्काल यहाँ आ गये और प्रमाणोंके संग्रह करनेमें मेरी सहायता करने लगे। वे अत्यन्त भद्रपरिणामी पुरुष हैं।

श्रीयुक्त चिमन भाई बम्बई एक कर्मठ व्यक्ति हैं। ये जिस कार्यमें जुट जाते हैं थकनेका नाम नहीं लेते। यही कारण है कि ये बम्बई मुमुक्षुमण्डलके मंत्री तो हैं ही साथ ही दिगम्बर जैन महामुमुक्षु मण्डलके भी मंत्री हैं। जब आवश्यक कागजपत्र लेकर २० ता० के मध्याह्न तक जयपुर पहुँचा देनेके लिए सोनगढ़ मेरा तार पहुँचा तब ये वहीं थे। किसे भेजा जाय यह प्रश्न उठने पर ये आ गये और बोले, जैसे बनेगा मैं इस कार्यको सम्पादित करूँगा। १९ ता० को सायंकालकी बात है, २० ता० को जयपुर पहुँचना है, फिर भी चिमन भाई हामी भर रहे हैं। इन्हें काम सौंपा गया। रात्रिकी गाड़ीसे ये अहमदाबाद आये और सीधे हवाई अड्डे पर पहुँचकर किसी तरह जयपुरका हवाई टिकट प्राप्त करनेमें ये सफल हो गये। इन्होंने जो संकल्प किया था उसे पूरा किया। इसीसे इनकी कर्मठता जानी जा सकती है। जयपुरमें रहते समय आवश्यक कागज-पत्रोंका संकलन यही करते रहे। मैं बिल्कुल निश्चिन्त था।

इस प्रकार मैं देखता हूँ कि यह जो इतने सुन्दर ढंगसे पूरा कार्य सम्पन्न हुआ वह सब श्री ब्र० सेठ हीरालालजी पाटनी और श्री ब्र० लाडमलजी प्रभृति सब महानुभावोंके सहयोगका सुपरिणाम है अतः मैं इन सबका पुनः आभारी हूँ।

यह तो सभी भुक्तभोगी जानते हैं कि प्रूफ करेक्शनके समय सावधानी रखते हुए भी स्खलन हो जाता है। अनेक अशुद्धियाँ भी रह जाती है, कहीं-कहीं शब्दोंमें उलट-फेर भी हो जाता है। अक्सर ऐसा होता है कि कभी-कभी प्रेसकापी सामने नहीं रहती और हड़बड़ीमें प्रूफ करेक्शन करना ही पड़ता है। ऐसे समयमें एक शब्दका स्थान कोई नया शब्द भी ले लेता है। दृष्टिकी मन्दता और साधनोंकी अल्पता रहते हुए भी यद्यपि मैं पर्याप्त सतर्क रहा हूँ, फिर भी यदि कहीं कोई स्खलन आदि दिखलाई दे तो सर्वप्रथम उसकी सूचना मुझे दी जाय। मुझे मेरी असावधानी मालूम पड़नेपर मैं उसे सहर्ष स्वीकार कर लूँगा यही निवेदन है। ऐसी छोटी-छोटी बातोंके लिए तूल न दिया जाय।

मेरी इच्छा तो यह रही है कि यदि दूसरा पक्ष स्वीकार कर ले तो इसके कतिपय उपयोगी परिशिष्ट बना दिये जायँ। साथ ही इसमें जो मोटी अशुद्धियाँ और स्खलन प्रतीत हों उनका भी एक शुद्धिपत्र लगा दिया जाय। किन्तु समयाभावके कारण मैं ऐसा नहीं कर सका इसके लिए मैं पाठकोंसे क्षमा चाहता हूँ इसके सम्पादन और मुद्रणमें मुझे जो श्रम करना पड़ा उसको मैं ही जानता हूँ। उसकी व्यापक चर्चा करनेसे कोई लाभ नहीं।

अन्तमें इतना लिखकर कि इसमें मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है, जो कुछ भी है वह सब भगवद्वाणीका प्रसाद है इस वक्तव्यको पूरा करता हूँ।

यदर्थमात्रापदवाक्यहीनं मया प्रमादाद्यदि किंचनोक्तम्।
तन्मे क्षमित्वा विदधातु देवी सरस्वती केवलबोधलब्धिम्॥

श्री सन्मति जैन निकेतन
नरिया–वाराणसी
१०–२–६७

विनीत
फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री

विषय-सूची

५. शंका-समाधान १५८-३७६

प्रथम दौर १५८-१५९

द्वितीय दौर १६०-१७९

तृतीय दौर १७९-३७५

जयपुर (खानिया) तत्त्वचर्चा

श्री वीतरागाय नमः

प्रथम दौर

: १ :

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका १

द्रव्य कर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकार भाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं ?

समाधान

द्रव्य कर्मके उदय और संसारी आत्माके विकार भाव तथा चतुर्गतिभ्रमणमें व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। भगवान् कुन्दकुन्द इसी विषयको स्पष्ट करते हुए समय-प्राभृतमें लिखते हैं—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥
ण वि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हं पि ॥८१॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥

अर्थ—पुद्गल जीवके परिणामके निमित्तसे कर्मरूप परिणमित होते हैं तथा जीव भी पुद्गल कर्मके निमित्तसे परिणमन करता है। जीव कर्ममें विशेषताको (पर्यायको) उत्पन्न नहीं करता। उसी प्रकार कर्म जीवमें विशेषताको (पर्याय) को उत्पन्न नहीं करता, परन्तु परस्परके निमित्तसे दोनोंका परिणाम जानो। इस कारणसे आत्मा अपने ही भावसे कर्ता है परन्तु पुद्गल कर्मके द्वारा किये गये समस्त भावोंका कर्ता नहीं है ॥८०-८२॥

दो द्रव्योंकी विविक्षित पर्यायोंमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहार नयसे है इसका स्पष्टीकरण पञ्चास्तिकायकी गाथा ८९ को श्रीमत् अमृतचन्द्राचार्यकृत टीकासे हो जाता है। टीका इस प्रकार है—

............तत एकेषामपि गति-स्थितिदर्शनादनुमीयते न तौ तयोर्मुख्यहेतू। किन्तु व्यवहार-व्यवस्थापितौ उदासीनौ।

इस कारण एकके ही गति और स्थिति देखनेमें आती है, इसलिए अनुमान होता है कि वे गति-स्थितिके मुख्य हेतु नहीं हैं। किन्तु व्यवहारनय द्वारा स्थापित उदासीन हेतु हैं।

इस प्रकार परमागमके इस उद्धरणसे यह फलित होता है कि दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध व्यवहारनयसे है, निश्चयनयसे नहीं।

दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्ता-कर्मसंबंध क्यों नहीं है इसका स्पष्टीकरण करते हुए प्रवचनसारमें कहा है—

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा॥ २–७७॥१६९॥

अर्थ—कर्मत्वके योग्य स्कन्ध जीवकी परिणतिको प्राप्त करके कर्मभावको प्राप्त होते हैं, जीव उनको परिणमाता नहीं है॥ २–७७।१६९॥

इस विषयका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए अमृतचन्द्र आचार्य उक्त गाथाकी टीकामें लिखते हैं—

यतो हि तुल्यक्षेत्रावगाहजीवपरिणाममात्रं बहिरंगसाधनमाश्रित्य जीवं परिणमयितारमन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति। ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्ता पुरुषोऽस्ति॥१६९॥

अर्थ—कर्मरूप परिणमित होनेकी शक्तिवाले पुद्गलस्कंध तुल्यक्षेत्रावगाहसे युक्त जीवके परिणाममात्रका–जो कि बहिरंग साधन है उसका-आश्रय लेकर जीव उनको परिणमानेवाला नहीं होने पर भी स्वयमेव कर्मभावसे परिणमित होते हैं। इससे निश्चित होता है कि पुद्गलपिण्डोंके कर्मपनेका कर्त्ता आत्मा नहीं है॥ १६९॥

इसीप्रकार इस उल्लेखसे यह भी फलित होता है कि कर्मरूप पुद्गलपिण्ड जीवके भावोंका कर्ता नहीं है।

इसप्रकार दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है, फिर भी आगममें जहाँ भी दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्ता-कर्मसंबंध कहा है सो वह वहाँपर उपचारमात्रसे कहा है।

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण॥१०५॥ (समयसार)

अर्थ—जीव निमित्तभूत होनेपर कर्मबन्धका परिणाम होता हुआ देखकर जीवने कर्म किया यह उपचारमात्रसे कहा जाता है॥ १०५॥

इसकी टीकामें इसी विषयको स्पष्ट करते हुए अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं—

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति सम्पद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपरायणानां परेषामस्ति विकल्पः। स तूपचार एव न तु परमार्थः॥ १०५॥

अर्थ—इस लोकमें वास्तवमें आत्मा स्वभावसे पौद्गलिक कर्मका निमित्तभूत न होने पर भी अनादि अज्ञानके कारण उसके निमित्तभूत अज्ञान भावरूप परिणमन करनेसे पुद्गल कर्मका निमित्तरूप होनेपर पुद्गल कर्मकी उत्पत्ति होती है, इसलिए आत्माने कर्मको किया ऐसा विकल्प उन जीवोंके होता है जो निर्विकल्प विज्ञानघनसे भ्रष्ट होकर विकल्पपरायण हो रहे हैं। परन्तु आत्माने कर्मको किया यह उपचार ही है, परमार्थ नहीं॥ १०५॥

द्वितीय दौर

: २ :

नमः श्रीवर्द्धमानाय निर्धूतकलिलात्मने ।
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते ॥

शंका १

द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नहीं ?

प्रतिशंका २

इस प्रश्नका उत्तर जो आपने यह दिया है कि 'व्यवहारमें निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध है, कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है' सो यह उत्तर हमारे प्रश्नका नहीं है, क्योंकि हमने द्रव्यकर्म और आत्माका निमित्त-नैमित्तिक तथा कर्तृ-कर्मसम्बन्ध नहीं पूछा है ।

इस विषयमें आपने जो समयसारकी गाथा ८०, ८१, ८२ का प्रमाण दिया है वह प्रमाण आपके उत्तरके विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि इन गाथाओंका स्पष्ट अर्थ यह है कि—

'पुद्गलोंका कर्मरूप परिणमन जीवके भावोंके निमित्तसे होता है और जीवके भावोंका परिणमन पुद्गल कर्मके निमित्तसे होता है ।' ऐसा ही अर्थ आपने भी किया है । किन्तु ८१ वीं गाथाका अर्थ करते हुए आपने जो उसमें विशेषता (पर्याय) शब्दका प्रयोग किया है वह मूल गाथासे विपरीत है, क्योंकि विशेषता (पर्याय) परिणामको छोड़कर अन्य कुछ नहीं है । इसके सिवाय आपने इन गाथाओंका जो निष्कर्ष निकाला है वह भी बाधित है । साथ ही इस सम्बन्धमें जो कर्तृ-कर्म सम्बन्धका निषेध किया है वह भ्रम उत्पादक है, क्योंकि हमारा प्रश्न निमित्त-कर्ताके उद्देश्यसे ही है उपादान कर्ताके उद्देश्यसे नहीं है । जैसा कि पञ्चास्तिकायकी ८८ वीं गाथाकी टीकामें श्री अमृतचन्द्र सूरिने स्पष्ट रूपसे ध्वजाके फहरानेमें वायु-की हेतुकर्तृता बतलाई है ।

यथा हि गतिपरिणतः प्रभञ्जनो वैजयन्तीनां गतिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते ।

इसी टीकामें—

यथा गतिपूर्वस्थितिपरिणतस्तुरङ्गो अश्ववारस्य स्थितिपरिणामस्य हेतुकर्ताऽवलोक्यते ।

वाक्य द्वारा घुड़सवारके रुकनेमें रुके हुए घोड़ेको हेतुकर्ता माना है ।

पञ्चास्तिकायकी निम्नलिखित ५५ और ५८ वीं गाथाओंमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है कि कर्म प्रकृतियाँ जीवके नर-नारकादि पर्यायरूप भावोंके सत्का नाश और असत्का उत्पाद करती हैं ।

णेरइय-तिरिय-मणुआ देवा इदि णामसंजुदा पयडी ।
कुव्वंति सदो णासं असदो भावस्स उप्पादं ॥ ५५ ॥
कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा ।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं दु कम्मकदं ॥ ५८ ॥

प्रवचनसारकी निम्नलिखित गाथामें श्री कुन्दकुन्दाचार्यने जीवको मनुष्य आदि पर्यायोंका कर्मको कर्ता माना है—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध अप्पणो सहावेण।
अभिभूय णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥ ११७ ॥

इसकी टीकामें श्री अमृतचन्द्र सूरिने भी इसकी पुष्टि की है। समयसारकी निम्नलिखित गाथाकी टीकामें श्री अमृतचन्द्र सूरिने निमित्तकर्ता स्वीकृत किया है। यथा—

अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ।

द्रव्यसंग्रहमें लिखा है—

पुद्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥ ८ ॥

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी निम्नलिखित गाथामें लिखा है कि पुद्गलमें ऐसी शक्ति है कि वह आत्माके केवलज्ञानका विनाश कर देती है—

कावि अपुव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाणसहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ॥ २११ ॥

देवागमकी—

दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात्।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥ ४ ॥

कारिका सम्बन्धी अष्टशतीमें श्री अकलङ्कदेवने लिखा है कि—

वचनसामर्थ्यादज्ञानादिर्दोषः स्वपरपरिणामहेतुः।

इसकी व्याख्यामें श्री विद्यानन्द स्वामीने अष्टसहस्रीमें अज्ञान मोह आदि दोष तथा ज्ञानावरण मोहनीय आदि पौद्गलिक कर्मोंमें परस्पर कार्य-कारणभाव विस्तारसे बतलाया है।

समयसारकी गाथा १३ की टीकामें श्री अमृतचन्द्र सूरिने लिखा है—

तत्र विकार्य-विकारकोभयं पुण्यं तथा पापं, आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः, संवार्य-संवारकोभयं संवरः ··················स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षानुपपत्तेः। तदुभयं च जीवाजीवाविति।

श्री अमृतचन्द्र सूरिने समयसारकलश १७४ में आत्माके रागादि विकारभाव केवल आत्मामात्र (उपादान) में नहीं होता। उसके लिये पर (कर्म) सम्बन्ध आवश्यक कारण बतलाया है।

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥ १७५ ॥

समयसारकी निम्नलिखित गाथामें व्यवहारसे जीवको द्रव्यकर्मोंका कर्ता बतलाया है—

ववहारस्स दु आदा पुद्गलकम्मं करेदि णेयविहं ॥ ८४ ॥

श्री विद्यानन्द स्वामीने कर्मका लक्षण करते हुए आप्तपरीक्षाके पृष्ठ २४६ पर लिखा है—

जीवं परतन्त्रीं कुर्वन्ति, स परतन्त्रीं क्रियते वा यैस्तानि कर्माणि।

अर्थात् जो आत्माको परतन्त्र करते हैं वे कर्म हैं।

समयसारको निम्नलिखित गाथामें श्री कुन्दकुन्दाचार्यने पौद्गलिक कर्मका फल आत्माको दुःख होना बतलाया है—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥ ४५ ॥

धवला पुस्तक ६ पृष्ठ ६ पर लिखा है—

तं आवरेदि त्ति णाणावरणीयं कम्मं।

अर्थात् आत्माके ज्ञानगुणका जो आवरण करता है वह ज्ञानावरण कर्म है।

धवला पुस्तक ५ पृष्ठ १८५ तथा २२३ तथा पुस्तक १६ पृष्ठ ५१२ पर रागादि विभावभावोंको कर्मजनित कहा है—

णत्थ ओधभवो णाम अट्ठकम्माणि अट्ठकम्मजणिदजीवपरिणामो वा।

इनके अतिरिक्त समस्त धवल, जयधवल, महाधवल, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, गोम्मटसार, तत्वार्थसूत्र आदि सिद्धान्त ग्रन्थोंमें आत्मा तथा द्रव्यकर्मोंका परस्पर विकार्य-विकारभाव स्पष्ट बतलाया है।

इसके आगे आपने जो पञ्चास्तिकायकी गाथा ८९ का उद्धरण दिया है, वह भी हमारे प्रश्नसे संगत नहीं है, क्योंकि यह उद्धरण उदासीन निमित्त कारणसे सम्बन्धित है। साथ ही स्वयं अमृतचन्द्र सूरिने उसी पञ्चास्तिकायकी ८७ और ९४ वीं गाथा की टीकामें उदासीनको भी अनिवार्य निमित्त कारण बतलाया है।

गाथा ८७ की टीका—

तत्र जीव-पुद्गलौ स्वरसत एव गतितत्पूर्वस्थितिपरिणामापन्नौ। तयोर्यदि गतिपरिणामं तत्पूर्वस्थितिपरिणामं वा स्वयमनुभवतोर्बहिरङ्गहेतू धर्माधर्मौ न भवेतां तदा तयोर्निरर्गलगतिस्थितिपरिणामत्वादलोकेऽपि वृत्तिः केन वार्येत ?

अर्थ—वहाँ जीव और पुद्गल स्वभावसे ही गति और स्थिति परिणामको प्राप्त हैं। सो उनके इस परिणमनको स्वयं अनुभव करते हुए यदि धर्म और अधर्म द्रव्य बहिरङ्ग कारण न हों तो उनका यह परिणमन निरर्गल—निर्बाध हो जायगा और इस दशामें उनका सद्भाव अलोकमें भी कौन रोक सकेगा ?

गाथा ९४ की टीका—

यदि गतिस्थित्योराकाशमेव निमित्तमिष्येत् तदा तस्य सर्वत्र सद्भावाज्जीवपुद्गलानां गतिस्थित्योर्निःसीमत्वात्प्रतिक्षणमलोको हीयते।

अर्थ—यदि आकाश ही गति और स्थितिका कारण माना जाय तो उसका सर्वत्र सद्भाव होनेसे जीव और पुद्गलकी गति तथा स्थिति सीमा रहित हो जायगी अर्थात् वह अलोकमें भी होने लगेगी और ऐसा होनेसे अलोकका परिमाण प्रति समय कम होता जायगा।

सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५ सूत्र २२ में काल द्रव्यकी अनिवार्य उदासीन कारणता बतलाई है—

धर्मादीनां द्रव्याणां स्वपर्यायनिर्वृत्तिं प्रति स्वात्मनैव वर्तमानानां बाह्योपग्रहाद्विना तद्वृत्त्यभावात् तत्प्रवर्तनोपलक्षितः कालः।

अर्थ—धर्मादि द्रव्य अपनी-अपनी पर्यायकी उत्पत्तिके प्रति यद्यपि स्वयं ही प्रवृत्ति करते हैं तथापि बाह्य सहायकके बिना उनकी वह प्रवृत्ति नहीं हो सकती, अतः उन्हें प्रवर्तानेवाला काल द्रव्य है।

आपने जो प्रवचनसारकी गाथा १६९ तथा उसकी भी अमृतचन्द्र सूरिकृत टीकाका उद्धरण दिया है उसमें स्वयं शब्दका अर्थ 'स्वयमेव' (अपने आप) न होकर 'अपने रूप' है। इसके अतिरिक्त उनसे जो यह फलितार्थ निकाला है कि दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्तृकर्म सम्बन्ध नहीं है उसका आशय केवल उपादान कारणकी दृष्टिसे है, निमित्त कारणकी दृष्टिसे नहीं।

समयसारकी गाथा १०५ में जो उपचार शब्द आया है वह इस अर्थका द्योतक है कि पुद्गलका कर्म रूप परिणमन पुद्गलमें ही होता है, जीव रूप नहीं होता। किन्तु जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर होता है अर्थात् जीव पुद्गल कर्मोंका उपादान कर्ता नहीं, निमित्त कर्ता है।

आशा है आप हमारे मूल प्रश्नका उत्तर देनेकी कृपा करेंगे।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका १

द्रव्य कर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारी भाव और चतुर्गति भ्रमण होता है या नहीं ?

प्रतिशंका २ का—समाधान

प्रतिशंका नं० २ में शंकारूपमें उपस्थित किये गये विषयोंका वर्गीकरण—

(१) पंचास्ति० गा० ८८ तथा ५५-५८; प्र० सार० गा० ११७; स० सार गा० १०० की टीका, द्रव्य सं० गा० ८, स्वा० कार्तिके० गा० २११; दे० स्तो० श्लो० ४; स-सार गा० १३ टीका; स-सार कलश १७५; स-सार गा० ८४; आप्तप० पृ० २४६; स-सार गा० ४५, धवला पु०६-पृ०६; और धवला पु० ५ पृ० १८५-२२३ तथा पुस्तक १६ पृष्ठ ५१२; इस प्रकार विविध ग्रन्थोंके लगभग १७ प्रमाणोंके आधारसे निमित्तमें हेतुकर्तृता सिद्ध करते हुए संसारी जीव और कर्मोदयमें जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है उसे गौण दिखानेका प्रयत्न किया गया है।

(२) पंचास्ति० गा० ८९ का उद्धरण किसी भी प्रकारके निमित्तिको व्यवहार हेतु बतानेके लिए उद्धृत किया गया है, पर उसे प्रकृतमें असंगत बतलाया गया है।

(३) पंचास्ति० गा० ८७-९४ तथा सर्वा० सि०, अ० ५ सू० २२ के उद्धरणों द्वारा उदासीन निमित्तोंकी कार्यके प्रति अनिवार्य निमित्तता सिद्ध की गई है।

(४) प्र० सार गा० १६९ में स्वयमेव पदका अर्थ प्रतिशंकामें अपने आपका निषेधकर 'अपने रूप' किया गया है।

(५) स० सार, गा० १०५ में आये हुए उपचार शब्दके अर्थको बदलनेका प्रयत्न किया गया है।

समाधान इस प्रकार है—

(१) प्रतिशंका १ में विविध प्रमाण देकर जो संसारी जीव और कर्मोदयमें हेतुकर्तृता सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है सो ऐसा करनेमें क्या उद्देश्य रहा है यह समझमें नहीं आया। यदि हेतुकर्तृता सिद्ध करते हुए निमित्तोंमें उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त ऐसा भेद करनेका अभिप्राय रहा हो तो वह इष्ट है, क्योंकि पंचास्तिकाय गाथा ८८ में यह भेद स्पष्ट शब्दोंमें दिखलाया गया है। परन्तु वहाँ ऐसे भेदको दिखलाते हुए भी उक्त वचनके आधारसे यदि यह सिद्ध करनेका अभिप्राय हो कि प्रेरक कारणके बलसे किसी द्रव्यमें कार्य आगे-पीछे कभी भी किया जा सकता है तो यह सिद्ध करना संगत न होगा, क्योंकि हेतुकर्तृ' पदका व्यपदेश निमित्तमात्र में देखा जाता है ऐसा आगम प्रमाण है। सर्वार्थसिद्धिमें कहा भी है—

यद्येवं कालस्य क्रियावत्त्वं प्राप्नोति। यथा शिष्योऽधीते, उपाध्यायोऽध्यापयतीति ? नैष दोषः, निमित्तमात्रेऽपि हेतुकर्तृव्यपदेशो दृष्टः। यथा कारीषोऽग्निरध्यापयति। एवं कालस्य हेतुकर्तृता।

अर्थ—शंका—यदि ऐसा है तो कालको क्रियावत्त्व प्राप्त होता है। यथा—शिष्य पढ़ता है, अध्यापक पढ़ाता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं, क्योंकि निमित्तमात्रमें भी हेतुकर्तृ व्यपदेश देखा गया है। यथा—कण्डेकी अग्नि पढ़ाती है। इस प्रकार कालकी हेतुकर्तृता है।

यह आगमवचन है। इसमें यह ज्ञात तो होता है कि निमित्तकारण दो प्रकारके हैं—एक वे जो अपनी क्रिया द्वारा अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त होते हैं और दूसरे वे जो चाहे क्रियावान् द्रव्य हों और चाहे अक्रियावान् द्रव्य हों; परन्तु जो क्रियाके माध्यमसे निमित्त न होकर निष्क्रिय द्रव्योंके समान अन्य द्रव्योंके कार्यमें निमित्त होते हैं। आचार्य पूज्यपाद सब निमित्तोंको समान मानते हैं इस सिद्धान्तकी पुष्टि उनके द्वारा रचित इष्टोपदेशके इस वचनसे भी होती है—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

अर्थ:—अज्ञ विज्ञपनेको प्राप्त नहीं होता और विज्ञ अज्ञपनेको प्राप्त नहीं होता। किन्तु अन्य द्रव्य अपनी विवक्षित पर्यायके द्वारा उस प्रकार निमित्त है जिस प्रकार धर्मास्तिकाय गतिका निमित्त है ॥३५॥

इसका स्पष्टीकरण करते हुए इसी श्लोककी टीकामें लिखा है—

भद्र ! अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्योऽभव्यादिर्विज्ञत्वं तत्त्वज्ञत्वं धर्माचार्याद्युपदेशसहस्रेणापि न गच्छति। तथा चोक्तम्—

स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ क्रियागुणमपेक्ष्यते।
न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते बकः ॥

तथा विज्ञस्तत्त्वज्ञानपरिणतोऽज्ञत्वं तत्त्वज्ञानात्परिभ्रंशमुपायसहस्रेणापि न गच्छति। तथा चोक्तम्—

वज्रे पतत्यपि भयद्रुतविश्वलोके मुक्ताध्वनि प्रशमिनो न चलन्ति योगात्।
बोधप्रदीपहतमोहमहान्धकाराः सम्यग्दृशः किमुत शेषपरीषहेषु ॥

नन्वेवं बाह्यनिमित्तक्षेपः प्राप्नोतीत्यत्राह—अन्यः पुनर्गुरुविपक्षादिः प्रकृतार्थसमुत्पादभ्रंशयोर्निमित्तमात्रं स्यात्, तत्र योग्यताया एव साक्षात् साधकत्वात् ।

कस्या को यथा—इत्यत्राह—गतेरित्यादि । अयमर्थो यथा युगपद्भाविगतिपरिणामोन्मुखानां भावानां स्वकीया गतिशक्तिरेव गतेः साक्षाज्जनिका । तद्वैकल्ये तस्याः केनापि कर्तुमशक्यत्वात् । धर्मास्तिकायस्तु गत्युपग्राहकद्रव्यविशेषस्तस्याः सहकारिकारणमात्रं स्यात् । एवं प्रकृतेऽपि । अतो व्यवहारादेव गुर्वादेः सुश्रूषा प्रतिपत्तव्याः ।

हे भद्र ! अज्ञ अर्थात् तत्वज्ञानकी उत्पत्तिके लिए अयोग्य अभव्य आदि विज्ञपनेको अर्थात् तत्वज्ञपनेको धर्माचार्य आदिके हजारों उपदेशोंसे भी नहीं प्राप्त होता । कहा भी है—

कार्यकी उत्पत्तिमें स्वाभाविक क्रिया गुण अपेक्षित हैं, क्योंकि सैकड़ों व्यापार करनेपर भी वक तोतेके समान नहीं पढ़ाया जा सकता ।

उसी प्रकार विज्ञ अर्थात् तत्वज्ञानरूपसे परिणत हुआ जीव अज्ञपनेको अर्थात् तत्वज्ञानसे भ्रंसको हजारों उपायोंके द्वारा भी नहीं प्राप्त होता । उसी प्रकार कहा है—

भयसे भागते हुए समस्त लोकपर वज्रके गिरनेपर भी मोक्षमार्गमें उपशमको प्राप्त हुए जीव योगसे चलायमान नहीं होते । तो फिर बोधरूपी प्रदीपसे जिनका मोहरूपी अन्धकार नष्ट हो गया है ऐसे सम्यग्दृष्टि जीव शेष परीषहोंसे चलायमान कैसे हो सकते हैं ।

किस योग्यताका कौन निमित्त है । यथा—इसलिए यहाँ कहा है—गतेरित्यादि ।

जिस प्रकार एक साथ होनेवाली गति परिणामके सम्मुख हुए पदार्थोंकी अपनी गति शक्ति ही गतिकी साक्षात् जनिका है । उसके विरुद्ध योग्यताके होनेपर उसे कोई भी करनेमें समर्थ नहीं है । धर्मास्तिकाय द्रव्य तो गतिका उपग्राहक द्रव्य विशेष होकर उस (योग्यता) का सहकारी कारणमात्र है । इसीप्रकार प्रकृतमें भी जानना चाहिये । इसलिए व्यवहारसे ही गुरु आदिकी सुश्रूषा जाननी चाहिए ।

इस प्रकार इष्टोपदेशके उक्त आगम वचन और उसकी टीकासे स्पष्ट ज्ञात होता है कि निमित्त कारणोंमें पूर्वोक्त प्रकारसे दो भेद होनेपर भी उनकी निमित्तता प्रत्येक द्रव्यके कार्यके प्रति समान है । कार्यका साक्षात् उत्पादक कार्यकालकी योग्यता ही है, निमित्त नहीं ।

यह ठीक है कि प्रश्न १ का उत्तर देते हुए समयसारकी ८१ से ८३ तककी जिन तीन गाथाओंका उद्धरण देकर निमित्त-नैमित्तिकभाव दिखलाया गया है वहाँ कर्तृ-कर्म सम्बन्धका निर्देश मात्र इसलिए किया गया है ताकि कोई ऐसे भ्रममें न पड़ जाय कि यदि आगममें निमित्तमें कर्तृपनेका व्यवहारसे व्यपदेश किया गया है तो वह यथार्थमें कर्ता बनकर कार्यको उत्पन्न करता होगा । वस्तुतः जैनागममें कर्ता तो उपादानको ही स्वीकार किया है और यही कारण है कि जिनागममें कर्ताका लक्षण 'जो परिणमन करता है वह कर्ता होता है' यह किया गया है । समयसार कलशमें कहा भी है—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥

जो परिणमन करता है वह कर्ता है, जो परिणाम होता है वह कर्म है और जो परिणति होती है वह क्रिया है । वास्तवमें ये तीनों अलग नहीं हैं ।

अतएव निमित्तकर्ताको व्यवहार (उपचार) से ही कर्ता मानना युक्ति-संगत है, क्योंकि एक द्रव्यका कर्तृधर्म दूसरे द्रव्यमें नहीं उपलब्ध होता। मात्र कार्यमें कौन द्रव्य उस समय निमित्त हेतु है यह दिखलानेके लिए ही कर्ता आदि रूपसे निमित्तका उपचारसे उल्लेख किया जाता है। स्पष्ट है कि प्रथम प्रश्नका जो उत्तर दिया गया है वह यथार्थ है।

(२) पञ्चास्तिकाय गाथा ८९ में निःसन्देहरूपसे उदासीन निमित्तकी व्यवहारहेतुता सिद्ध की गई है। पर इतने मात्रसे क्रियाके द्वारा निमित्त होनेवाले निमित्तोंको व्यवहार हेतु माननेमें कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि अभी पूर्वमें इष्टोपदेश टीकाका जो उद्धरण दे आये हैं उसमें स्पष्टरूपसे ऐसे निमित्तोंको व्यवहार हेतु बतलाकर इस दृष्टिसे दोनोंमें समानता सिद्ध की गई है।

(३) ऐसा नियत है कि प्रत्येक द्रव्यके किसी भी कार्यका पृथक् उपादान कारणके समान उसके स्वतन्त्र एक या एकसे अधिक निमित्त कारण भी होते हैं। इसीका नाम कारक-साकल्य है। और इसीलिए जिनागममें सर्वत्र यह स्वीकार किया गया है कि उभय निमित्तसे कार्यकी उत्पत्ति होती है। श्री समन्तभद्र स्वामीने इस द्रव्यगत स्वभाव इसी अभिप्रायसे कहा है। वे लिखते हैं—

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेऽयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवंद्यस्त्वमृषिर्बुधानां॥—स्वयंभू-स्तोत्र ॥ ६०॥

कार्योंमें बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता होती है, यह द्रव्यगत स्वभाव है। अन्यथा अर्थात् ऐसा स्वीकार नहीं करनेपर पुरुषोंकी मोक्ष-विधि नहीं बन सकती। यही कारण है कि ऋषि स्वरूप आप बुधजनोंके द्वारा वन्दनीय हैं।

यह तो है कि कार्योंमें बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता होती है, क्योंकि ऐसा द्रव्यगत स्वभाव है कि जब निश्चय उपादान अपना कार्य करता है तब अन्य द्रव्य पर्यायद्वारा उसका व्यवहार हेतु होता है। पर नियम यह है कि प्रत्येक समयमें निमित्तकी प्राप्ति उपादानके अनुसार होती है। तभी जीवोंकी मोक्षविधि भी बन सकती है। जैसा कि भावलिंगके होनेपर द्रव्यलिंग होता है इस नियमसे भी सिद्ध होता है। यद्यपि प्रत्येक मनुष्य भावलिंगके प्राप्त होनेके पूर्व ही द्रव्यलिंग स्वीकार कर लेता है पर उस द्वारा भावलिंगकी प्राप्ति द्रव्यलिंगको स्वीकार करते समय ही हो जाती हो ऐसा नहीं है। किन्तु जब उपादानके अनुसार भावलिंग प्राप्त होता है तब उसका निमित्त द्रव्यलिंग रहता ही है। तीर्थंकरादि किसी महान् पुरुषको दोनोंकी एक साथ प्राप्ति होती हो यह बात अलग है, इसलिए प्रत्येक कार्यमें निमित्त अनिवार्य है ऐसा मानना यद्यपि आगमविरुद्ध नहीं है, पर इस परसे यदि कोई यह फलितार्थ निकालना चाहे कि जब जैसे निमित्त मिलते हैं तब वैसा कार्य होता है आगम-संगत नहीं है। उपचारसे ऐसा कथन करना अन्य बात है और उसे यथार्थ मानना अन्य बात है।

(४) प्रवचनसार गाथा १६९ में 'स्वयमेव' पदका अर्थ स्वयं ही है अपने रूप नहीं। इसके लिए समयसार गाथा ११६ आदि तथा १६८ संख्याक गाथाओंका अवलोकन करना प्रकृतमें उपयोगी होगा। आगममें सर्वत्र 'स्वयमेव' पद 'स्वयं ही' इसी अर्थमें व्यवहृत हुआ है। यदि कहीं 'अपने रूप' अर्थ किया गया हो तो वह प्रमाण सामने आना चाहिये।

(५) समयसार गाथा १०५ में उपचारका जो अर्थ प्रथम प्रश्नके उत्तरमें किया गया है वह अर्थ संगत है। इसकी पुष्टि धवला पुस्तक ६ पृष्ठ ५९ से होती है। प्रमाण इस प्रकार है—

मुह्यत इति मोहनीयम् । एवं संते जीवस्स मोहणीयत्तं पसज्जदि त्ति णासंकणिज्जं, जीवादो अभिण्णम्हि पोग्गलदव्वे कम्मसण्णिदे उवयारेण कत्तारसमारोविय तधा उत्तीदो ।

जिसके द्वारा मोहित किया जाता है वह मोहनीय कर्म है ।

शंका—ऐसा होनेपर जीवको मोहनीय कर्मपना प्राप्त होता है ?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जीवसे अभिन्न (विशेष संयोगरूप, परस्पर विशिष्ट एक क्षेत्रावगाही) कर्मसंज्ञक पुद्गल-द्रव्यमें उपचारसे कर्तापनेका आरोप कर वैसा कहा है ।

इस आगम वचनमें 'उवयारेण' और 'आरोविय' पद ध्यान देने योग्य हैं । स्पष्ट है कि कार्यका निष्पादक वस्तुतः उपादान कर्ता ही होता है । निमित्तमें तो उपचारसे कर्तापनेका आरोप किया जाता है ।

●

तृतीय दौर

शंका

द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकार भाव और चतुर्गति प्रमाण होता है या नहीं ?

प्रतिशंका ३

इस प्रश्नका आशय यह था कि जीवमें जो क्रोध आदि विकारी भाव उत्पन्न होते हुए प्रत्यक्ष देखे जाते हैं क्या वे द्रव्य कर्मोदयके बिना होते है या द्रव्य कर्मोदयके अनुरूप होते हैं । संसारी जीवका जो जन्म-मरणरूप चतुर्गति भ्रमण प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है क्या यह भी कर्मोदयके अधीन हो रहा है या यह जीव स्वतन्त्र अपनी योग्यतानुसार चतुर्गति भ्रमण कर रहा है ?

आपके द्वारा इस प्रश्नका उत्तर न तो प्रथम वक्तव्यमें दिया गया है और न इस दूसरे वक्तव्यमें दिया गया है—यद्यपि आपके प्रथम वक्तव्यके ऊपर प्रतिशंका उपस्थित करते हुए इस ओर आपका ध्यान दिलाया गया था । आपने अपने दोनों वक्तव्य निमित्त कर्ता-कर्मकी अप्रासंगिक चर्चा प्रारम्भ करके मूल प्रश्नके उत्तरको टालनेका प्रयत्न किया है ।

यह तो सर्व सम्मत है कि जीव अनादि कालसे विकारी हो रहा है । विकारका कारण कर्मबन्ध है, क्योंकि दो पदार्थोंके परस्पर बन्ध बिना लोकमें विकार नहीं होता । कहा भी है—

द्वयकृतो लोके विकारो भवेत् । —पद्मनन्दिपंचविंशति २३-७ ।

यदि क्रोध आदि विकारी भावोंको कर्मोदय बिना मान लिया जावे तो उपयोगके समान ये भी जीवके स्वभाव भाव हो जायेंगे और ऐसा मानने पर इन विकारी भावोंका नाश न होनेसे मोक्षके अभावका प्रसंग आजावेगा, क्योंकि—

सदकारणवन्नित्यम् । —आप्तपरीक्षा कारिका २ टीका

जो सत् (मौजूद) है और अकारण है वह नित्य होता है ।

अथवा मुक्त जीवके भी विकारी भावोंका प्रसंग आ जायगा। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि किसीमें ज्ञान अधिक है और किसीमें ज्ञान हीन है। एक ही पुरुषमें ज्ञानकी हीनाधिकता देखी जाती है। यह तरतमभाव निष्कारण नहीं हो सकता है। अतः ज्ञानमें जो तर-तमभावका कारण है वह ज्ञानावरण कर्म है। कहा भी है—

एदस्स पमाणस्स वड्ढिहाणितरतमभावो ण तात्र णिक्कारणो, वड्ढि-हाणीहि विणा एगसरूवेणा-वट्ठाणप्पसंगादो। ण च एवं, तहाणुवलंभादो। तम्हा सकारणाहि ताहि होदव्वं। जं तं हाणितर-तमभाव-कारणं तमावरणमिदि सिद्धं। —जयधवल १–५६

इसका तात्पर्य भाव ऊपर दिया जा चुका है।

इस कर्मोदयसे जीवकी नाना अवस्था तथा विचित्र विकारी भाव हो रहे हैं, जिनका समयसार आदि ग्रन्थोंमें विवेचन किया है और वह इस प्रकार है—

समयसारकी बत्तीसवीं गाथामें आत्माको 'भाव्य' और फल देनेकी सामर्थ्य सहित उदय होनेवाले मोहनीय कर्मको 'भावक' बतलाया है। एकसौ-अठानवीं गाथामें कर्मोदय विपाकसे उत्पन्न होनेवाले विविध भावोंको आत्मस्वभाव नहीं बतलाया है। गाथा १९९ में—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो।

और इसकी टीकामें—

अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म, तदुदयविपाकप्रभवोऽयं रागरूपो भावः।

ये वाक्य दिये हैं, जिनमें बतलाया है कि राग पुद्गलकर्म है और पुद्गल कर्मके विपाककर उत्पन्न यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर रागरूप भाव है। और गाथा २८१ की टीकामें लिखा है कि रागादिक भाव कर्मविपाक उदयसे उत्पन्न हुए हैं।

पंचास्तिकायकी गाथा १३१ की टीकामें—

इह हि दर्शनमोहनीयविपाककलुषपरिणामता मोहः, विचित्रचारित्रमोहनीयविपाकप्रत्यये प्रीत्य-प्रीती रागद्वेषौ।

इन वाक्योंमें बतलाया है कि निश्चयसे इस जीवके जब दर्शनमोहनीय कर्मका उदय होता है तब उसके रस विपाकसे समुत्पन्न अश्रद्धानरूप भावका नाम मोह है।

गाथा १४८ की टीकामें बताया है कि जीवके राग द्वेष मोहरूप परिणाम मोहनीय कर्मके विपाकसे उत्पन्न हुए विकार हैं—

जीवभावः पुना रतिरागद्वेषमोहयुतः मोहनीयविपाकसंपादितविकार इत्यर्थः।

१५० वीं गाथाकी टीकामें बतलाया है कि वास्तवमें संसारी जीव अनादि मोहनीय कर्मके उदयका अनुसरण करनेवाली परिणतिसे अशुद्ध है। और गाथा १५६में बतलाया है कि वास्तवमें मोहनीय कर्मके उदयका अनुसरण करनेवाली परिणतिके वशसे रंजित उपयोगवाला वर्तता हुआ जीव पर द्रव्यमें शुभ या अशुभ भावको करता है।

अप्पा पगुंह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ।
भुवणत्तयहँ वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ॥१-६६॥ —परमात्मप्रकाश

अर्थ—हे जीव ! यह आत्मा पंगुके समान है। आप न कहीं जाता है, न आता है। तीन लोकमें इस जीवको कर्म ही ले जाता है, कर्म ही ले आता है ॥ १-६६ ॥

कम्मइँ दिढ-घण-चिक्कणइँ गरुवइँ वज्जसमाइँ।
णाण-वियक्खणु जीवडउ उप्पहि पाडहिँ ताइँ ॥ १-७८ ॥ —प० प्र०

अर्थ—वे ज्ञानावरण आदि कर्म बलवान् हैं, बहुत हैं, जिनका विनाश करना अशक्य है; इसलिये चिकने हैं, भारी हैं और वज्रके समान अभेद्य हैं, इस ज्ञानादि गुणसे चतुर जीवको खोटे मार्गमें पटकते हैं ॥

कम्माइं बलियाइं बलिओ कम्मादु णत्थि कोइ जगे।
सव्व बलाइं कम्मं मलेदि हत्थीव णलिणि वणं ॥ १६२१ ॥ —मूलाराधना

अर्थ—जगतमें कर्म ही अतिशय बलवान् है, उससे दूसरा कोई भी बलवान् नहीं है। जैसे हाथी कमलवनका नाश करता है, वैसे ही यह बलवान् कर्म भी सर्व बन्धु विद्या द्रव्य शरीर परिवार सामर्थ्य इत्यादिका नाश करता है ॥१६२१॥

का वि अउव्वा दीसदि पुग्गलदव्वस्स एरिसी सत्ती।
केवलणाणसहावो विणासिदो जाइ जीवस्स ॥ २११ ॥ —स्वा० का० अ०

अर्थ—पुद्गल द्रव्यकी कोई ऐसी अपूर्व शक्ति है जो जीवके केवलज्ञानस्वभावको भी नष्ट कर देती है ॥

प्रश्न नं० ५ के द्वितीय उत्तरमें स्वा० का० अ० गाथा ३१९ उद्धृत करते हुए आपने स्वयं स्वीकार किया है कि जीवका उपकार या अपकार शुभाशुभ कर्म करते हैं। तथा प्रश्न नं० १६ के प्रथम उत्तरमें भी आपने यह स्वीकार किया है कि जीवमें बहुतसे धर्म ऐसे हैं जो आगन्तुक हैं और जो संसारकी विवक्षित भूमिका तक आत्मामें दृष्टिगोचर होते हैं, उसके बाद उसमें उपलब्ध नहीं होते।

इन आगम प्रमाणोंसे सिद्ध होता है कि वास्तवमें विकारी भाव द्रव्यकर्मोदयके अनुरूप होते हैं। समयसार गाथा ८९ व २७८-२७९ में स्फटिक मणिका दृष्टान्त देकर यह सिद्ध किया गया है कि यद्यपि जीवका परिणमन स्वभाव है तथापि उसके भाव कर्मोदयके द्वारा किये जाते हैं, इसीलिये ५० से ५६ तक की गाथाओं में यह बतलाया है कि ये रागादिक भाव पौद्गलिक हैं और व्यवहार नयसे जीवके हैं। समयसार गाथा ६८ की टीकामें यह कहा गया है कि जिस प्रकार जौसे जौ उत्पन्न होता है उसी प्रकार रागादि पुद्गल कर्मोंसे रागादि उत्पन्न होते हैं, इसी कारण निश्चय नयसे रागादिक (भाव) पौद्गलिक हैं। समयसार गाथा ११३-११६ में कहा है कि जिस प्रकार उपयोग जीवसे अनन्य है उस प्रकार क्रोध जीवसे अनन्य नहीं है।

अन्य कारणों और कर्मोदयरूप कारणोंमें मौलिक अन्तर है, क्योंकि बाह्य सामग्री और अन्तरंगकी योग्यता मिलने पर कार्य होता है। किन्तु घातिया कर्मोदयके साथ ऐसी बात नहीं है, वह तो अन्तरंग योग्यता का सूचक है। जैसा कि स्वयं श्रीमान् पं० फूलचन्द्र जी ने कर्मग्रन्थ पुस्तक ६ की प्रस्तावना पृ० ४४ पर लिखा है—

अन्तरंगमें वैसी योग्यताके अभावमें बाह्य सामग्री कुछ भी नहीं कर सकती है। जिस योगीके राग भाव नष्ट हो गये हैं, उसके सामने प्रबल रागकी सामग्री उपस्थित होने पर भी राग पैदा नहीं होता। इससे मालूम पड़ता है कि अन्तरंग योग्यताके बिना बाह्य सामग्रीका मूल्य नहीं है। यद्यपि कर्मके विषयमें भी ऐसा ही कहा जा सकता है पर कर्म और बाह्य सामग्री इनमें मौलिक अन्तर है। कर्म वैसी

योग्यताका सूचक है, पर बाह्य सामग्रीका वैसी योग्यतासे कोई सम्बन्ध नहीं। कभी वैसी योग्यताके सद्भावमें भी बाह्य सामग्री नहीं मिलती और उसके अभावमें भी बाह्य सामग्रीका संयोग देखा जाता है, किन्तु कर्मके विषयमें ऐसी बात नहीं है। उसका सम्बन्ध तभी तक आत्मामें रहता है जब तक उसमें तदनुकूल योग्यता पाई जाती है। अतः कर्मका स्थान बाह्य सामग्री नहीं ले सकती। अतः कर्मके निमित्तसे जीवकी विविध प्रकारकी अवस्था होती है और जीवमें ऐसी योग्यता आती है।

इसी बातको इष्टोपदेश पद्य ७ की टीका में कहा है —

मलविद्धमणेर्व्यक्तिर्यथा नैकप्रकारतः।
कर्मविद्धात्मविज्ञप्तिस्तथा नैकप्रकारतः ॥

अर्थ—जिस तरह मलके सम्बन्धसे मणिके अनेक रूप दीखने लगते हैं उसी तरह कर्मके सम्बन्धसे आत्माकी भी अनेक अवस्थाएँ दीखने लगती हैं ॥

इसी प्रकार पद्य ७ की टीकामें भी मदिराका दृष्टान्त देकर यह सिद्ध किया है कि जीव मोहनीय कर्मोदयके कारण पदार्थोंका वास्तविक स्वरूप नहीं जान सकता। इष्टोपदेशका वह पद्य इस प्रकार है—

मोहेन संवृतं ज्ञानं स्वभावं लभते न हि।
मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥ ७ ॥

अर्थ—जिस तरह मादक कोदोंके खानेसे उन्मत्त हुआ पुरुष पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप नहीं जानता, उसी प्रकार मोहनीय कर्मके द्वारा आच्छादित ज्ञान भी पदार्थोंके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता ॥७॥

कर्म बलवान् है, उदयमें आकर नवीन कर्मोंका बन्ध जीवके साथ कर देता है। ऐसा ही श्री अमृतचन्द्र सूरिने कहा है—

किंत्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत् कर्म बंधाय तत् ॥११०॥ —कलश

अर्थ—किन्तु आत्मामें अवशपने जो कर्म प्रगट होता है वह बंधका कारण है ॥११०॥

श्री पं० फूलचन्द्रजी भी कर्मकी बलवत्ताको इन शब्दोंमें स्वीकार करते हैं—

कर्म तो आत्माकी विविध अवस्थाओंके होनेमें निमित्त है और उसमें ऐसी योग्यता उत्पन्न करता है जिससे वह अवस्थानुसार शरीर वचन मन और श्वासोच्छ्वासके योग्य पुद्गलोंको योग द्वारा ग्रहण करके तद्रूप परिणमाता है। —पंचाध्यायी पृ० १५९ विशेषार्थ (वर्णी ग्रन्थमाला)

कर्मोंकी सदा एकसी दशा नहीं रहती। कभी कर्म बलवान् होता है और कभी जीव बलवान् हो जाता है। जब जीव बलवान् होता है तो वह अपना कल्याण कर सकता है। कहा भी है—

कत्थ वि बलिओ जीवो कत्थ वि कम्माइ हुंति बलियाइ।
जीवस्स य कम्मस्स य पुव्वविरुद्धाइ वइराइ ॥ —इष्टोपदेश गाथा ३१ की टीका

अर्थ—कभी यह जीव बलवान् हो जाता है और कभी कर्म बलवान् होता है। इस तरह जीव और कर्मोंका अनादि कालसे परस्पर विरुद्ध वैर है ॥

इस कर्मकी बलवत्ताके कारण यह जीव अनादि कालसे चतुर्गति भ्रमण कर रहा है इस बातको श्री अकलंकदेव राजवार्तिक पृ० २ में कहते हैं—

यथा बलीवर्दपरिभ्रमणापादितारगतभ्रान्तिं घटीयन्त्रभ्रान्तिजनिकां बलीवर्दपरिभ्रमणाभावे चारगत-भ्रान्त्यभावाद् घटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिं च प्रत्यक्षत उपलभ्य सामान्यतो दृष्टादनुमानाद् बलीवर्दतुल्यकर्मोदयापादितां चतुर्गत्यरगतभ्रान्तिं शारीर-मानसविविधवेदनाघटीयन्त्रभ्रान्तिजनिकां प्रत्यक्षत उपलभ्य ज्ञान-दर्शनचारित्राग्निनिर्दग्धस्य कर्मण उदयाभावे चतुर्गत्यरगतभ्रान्त्यभावात् संसारघटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्त्या भवितव्यमित्यनुमीयते यासौ संसारघटीयन्त्रभ्रान्तिनिवृत्तिः स एव मोक्ष इति ।

अर्थात्—जैसे घटीयंत्र (रेंहट) का घूमना उसके धुरेके घूमनेसे होता है और धुरेका घूमना उसमें जुते हुए बैलके घूमने पर। यदि बैलका घूमना बन्द हो जाय तो धुरेका घूमना रुक जाता है और धुरेके रुक जाने पर घटीयन्त्रका घूमना बन्द हो जाता है। उसी तरह कर्मोदयरूपी बैलके चलनेपर ही चार गतिरूपी धुरेका चक्र चलता है और चतुर्गतिरूपी धुरा ही अनेक प्रकारको शारीरिक मानसिक आदि वेदनारूपी घटी-यन्त्रको घुमाता रहता है। कर्मोदयकी निवृत्ति होने पर चतुर्गतिका चक्र रुक जाता है और उसके रुकनेसे संसार रूपी घटीयंत्रका परिचलन समाप्त हो जाता है, इसीका नाम मोक्ष है।

इसी सम्बन्धमें निम्न प्रमाण भी दृष्टव्य हैं—

प्रेर्यते कर्म जीवेन जीवः प्रेर्यत कर्मणा ।
एतयोः प्रेरको नान्यो नौनाविकसमानयोः ॥१०६॥ —उपासकाध्ययन पृ० २९

अर्थ—जीव कर्मको प्रेरित करता है और कर्म जीवको प्रेरित करता है। इन दोनोंका सम्बन्ध नौका और नाविकके समान है, कोई तीसरा इन दोनोंका प्रेरक नहीं है ॥१०६॥

क्लेशाय कारणं कर्म विशुद्धे स्वयमात्मनि ।
नोष्णमम्बु स्वतः किन्तु तदौष्ण्यं वह्निसंश्रयम् ॥ २४७ ॥ —उपासकाध्ययन पृ० १२०

अर्थ—आत्मा स्वयं विशुद्ध है और कर्म उसके क्लेशका कारण है। जैसे जल स्वयं गरम नहीं होता, आगके सम्बन्धसे उसमें गर्मी आ जाती है ॥२४७॥

उत्पाद्य मोहमदविह्वलमेव विश्वं वेधाः स्वयं गतघृणष्ठकवद्यथेष्टम् ।
संसारभीकरमहागहनान्तराले हन्ता निवारयितुमत्र हि कः समर्थः ॥७७॥ —आत्मानुशासन

अर्थ—कर्मरूपी ब्रह्मा समस्त विश्वको ही मोहरूपी मदिरामें मूर्छित करके तत्पश्चात् स्वयं ही ठगके समान निर्दय बनकर इच्छानुसार संसाररूपी भयानक महावनके मध्यमें उसका घात करता है। उससे रक्षा करनेके लिए भला दूसरा कौन समर्थ है ? अर्थात् कोई नहीं ॥७७॥

आपने स्वयं भी प्रश्न नं० ५ के उत्तर में कर्मकी बलवत्ता स्वीकार करते हुए माना है कि सुख दुःख मरण आदि सब कर्मोदयके अनुसार होता है। किन्तु इस प्रश्नके उत्तरमें आप उसको स्वीकार नहीं कर रहे हैं यह आश्चर्यकी बात है।

यह हमारे प्रश्नका आगम सम्मत उत्तर है। प्रश्नका उत्तर न देकर आपने जो अप्रासंगिक विवेचन एकान्त नियतिवाद तथा नोकर्म आदि निमित्तोंके विषयमें कर दिया है अब उस पर भी विचार किया जाता है—

आपने लिखा है कि—'प्रेरक कारणसे किसी द्रव्यमें कार्य आगे पीछे कभी भी किया जा सकता है, सो यह सिद्ध करना संगत न होगा।' आपका ऐसा लिखना उचित नहीं है।

(अ) सर्व कार्योंका सर्वथा कोई नियत काल हो ऐसा एकान्त नियम नहीं है, क्योंकि प्रवचनसारमें श्री अमृतचन्द्र आचार्यने कालनय और अकालनय, नियतिनय और अनियतिनय इन नयोंकी अपेक्षा कार्यकी सिद्धि बतलाई है और ऐसा प्रत्यक्ष भी देखा जाता है, और किसीने कोई क्रम नियत भी नहीं किया है। अत: आगे पीछे करनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

(आ) कर्मस्थितिबंधके समय निषेक रचना होकर यह नियत हो जाता है कि अमुक कर्म वर्गणा अमुक समय उदयमें आवेगी, किन्तु बन्धावलिके पश्चात् उत्कर्षण, अपकर्षण, स्थितिकांडकघात, उदीरणा, अविपाकनिर्जरा आदिके द्वारा कर्मवर्गणा आगे पीछे भी उदयमें आती हैं जिसको कर्मशास्त्रके विशेषज्ञ भलीभांति जानते हैं। किन्तु इतना नियत है कि कोई भी कर्म स्वमुख या परमुखरूपसे अपना फल दिये बिना अकर्म-भावको प्राप्त नहीं होता। (जयधवल पु. ३ पृ० २४५)। इस विषयका विशेष विवेचन प्रश्न नं० ५ के पत्रक में किया जावेगा तथा आगे भी यथा अवसर कुछ लिखा जावेगा।

आपने लिखा है कि—'दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध व्यवहारनयसे है, निश्चयनयसे नहीं।' सर्वत्र स्थान २ पर इसीपर जोर दिया गया है। 'व्यवहारनय'के पूर्व 'मात्र' शब्द लगाकर या उसका अर्थ 'उपचार' करके यह भी दर्शाया गया है कि व्यवहारसे जो कथन है वह वस्तुत: वास्तविक नहीं है।

यदि नयोंके स्वरूप तथा विषयपर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धका कथन निश्चयनयसे होनेका प्रसंग ही उत्पन्न नहीं हो सकता है। जो विषय जिस नयका है उसका कथन उस ही नयसे किया जा सकता है, अन्य नयसे नहीं। यदि उस ही विषयको अन्य नयका विषय बना दिया जायगा तो सर्व विप्लव हो जायगा और नय विभाजन अर्थात् नय व्यवस्था भी समीचीन नहीं रह सकेगी। जैसे प्रत्येक द्रव्य व्यवहार नयकी अपेक्षासे अनित्य है। यदि निश्चयनयकी अपेक्षासे भी द्रव्यको अनित्य कहा जायगा तो व्यवहारनय तथा निश्चयनयमें कोई अन्तर ही न रहेगा। दोनों एक ही हो जायेंगे। द्रव्यको नित्य बतलानेवाला कोई नय ही न रहेगा। इस प्रकार द्रव्यके दूसरे धर्मका कथन नहीं हो सकनेके कारण वस्तु स्वरूपका ज्ञान एकांगी (सर्वथा एकान्तरूप) एवं मिथ्या हो जायगा। अर्थात् द्रव्य एकान्तत: (सर्वथा) अनित्य हो जायगा और इस प्रकार पूर्ण क्षणिकवाद आ जायगा। अत: अनित्यताका कथन व्यवहारनयसे ही हो सकता है, निश्चयनयसे नहीं हो सकता है। निश्चयनय तो व्यवहारनयके विषयको ग्रहण करनेमें अंध-पुरुषके समान है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यवहारनयका विषय होनेसे अनित्यता प्रामाणिक, वास्तविक या सत्य नहीं है। अनित्यता भी उतनी ही प्रामाणिक, वास्तविक व सत्य है जितनी नित्यता।

यदि व्यवहारनयके विषयको प्रामाणिक नहीं माना जायगा तो व्यवहार नय मिथ्या हो जायगा, किन्तु आगममें प्रत्येक नय प्रामाणिक माना गया है। जो परनिरपेक्ष कुनय होता है उसीको मिथ्या माना गया है, सम्यक् नयको मिथ्या नहीं माना गया है।

एक द्रव्यके खण्ड या दो द्रव्योंका सम्बन्ध व्यवहारनयका विषय है। अत: दो द्रव्योंका सम्बन्ध होनेके कारण निमित्त-नैमितिक सम्बन्धका कथन व्यवहारनयसे ही हो सकता है, निश्चयनयसे नहीं। जैसे पर द्रव्यों के साथ जो ज्ञेय-ज्ञायकसम्बन्ध है उसका कथन व्यवहारनयसे ही हो सकता है, निश्चयनयसे नहीं। चूंकि यहाँ भी दो द्रव्योंका सम्बन्ध है। जैसे वर्णको आँख ही बतला सकती है, नाक आदि अन्य इन्द्रियाँ नहीं।

अतः नाकादि अन्य इन्द्रियोंसे वर्ण नहीं है—यह कहनेका प्रसंग ही नहीं आता है। इसी प्रकार निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध निश्चय नयसे नहीं यह प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि दो द्रव्योंका सम्बन्ध निश्चय-नयका विषय ही नहीं है।

पुनश्च—आपने लिखा है कि 'संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गति भ्रमणमें द्रव्य कर्मोंके उदयका व्यवहारसे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्तृकर्मसम्बन्ध नहीं है।' आगे आपने अपने उत्तरमें एक स्थान पर यह भी लिखा है कि 'द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्तृकर्मसम्बन्ध नहीं है, फिर भी आगममें जहाँ भी दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें कर्तृ-कर्मसम्बन्ध कहा है वहाँ वह उपचारमात्रसे कहा है।' इससे यह तो फलित हो ही जाता है कि आगममें द्रव्य कर्मोंके उदयका आत्माके विकारभाव और चतुर्गति भ्रमणके साथ कर्तृकर्म-सम्बन्धका प्रतिपादन किया गया है और आगमका यह प्रतिपादन आपको भी स्वीकार है। केवल आप उस कर्तृ-कर्मसम्बन्धको उपचारमात्र स्वीकार करके कार्यके प्रति निमित्तकी अकिंचित्करता सिद्ध कर देना चाहते हैं। इस तरह हमारे आपके मध्य मतभेद केवल इतना ही रह जाता है कि जहाँ हमारा पक्ष आत्मामें उत्पन्न होनेवाले रागादि विकार और चतुर्गतिभ्रमण रूप कार्यकी उत्पत्तिमें द्रव्यकर्मके उदयरूप निमित्तकारण या निमित्तकर्त्ताको सहकारी कारण या सहकारी कर्ताके रूपमें सार्थक (उपयोगी) मानता है वहाँ आपका पक्ष उसे उपचरित कहकर उक्त कार्यमें अकिंचित्कर अर्थात् निरर्थक (निरुपयोगी) मानता है और तब आपका पक्ष अपना यह सिद्धान्त निश्चित कर लेता है कि कार्य केवल उपादानकी अपनी सामर्थ्यसे स्वतः ही निष्पन्न हो जाता है। उसकी निष्पत्तिमें निमित्तकी कुछ भी अपेक्षा नहीं रह जाती है। जब कि हमारा पक्ष यह घोषणा करता है कि अनुभव, तर्क और आगम सभी प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि कार्यकी निष्पत्ति उपादानमें हुआ करती है अर्थात् उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है फिर भी उपादान की उस कार्यरूप परिणतिमें निमित्तकी अपेक्षा बराबर बनी हुई है अर्थात् उपादानकी जो परिणति आगममें स्वपरप्रत्यय स्वीकार की गयी है वह परिणति उपादानकी अपनी परिणति होकर भी निमित्तकी सहायतासे ही हुआ करती है, अपने आप नहीं हो जाया करती है। चूंकि आत्माके रागादिरूप परिणमन और चतुर्गति भ्रमणको उसका (आत्माका) स्वपरप्रत्यय परिणमन आगम द्वारा प्रतिपादित किया गया है, अतः वह परिणमन आत्माका अपना परिणमन होकर भी द्रव्यकर्मोंके उदयकी सहायतासे ही हुआ करता है। जैसे—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

—समयसार–आत्मख्याति टीका कलश

इसमें अमृतचन्द्र सूरिने स्पष्ट कर दिया है।

कलशका भाव यह है कि आत्मामें उत्पन्न होनेवाले रागादिभावोंका आत्मा स्वयं निमित्त नहीं है, किन्तु परवस्तुके संसर्गसे ही आत्मामें रागादिभाव उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार कि सूर्यकान्त मणि परके संसर्गसे ही तदनुरूप विविध रंगोंके रूप परिणत होता है। वस्तुका स्वभाव ही ऐसा है कि परवस्तुके संयोगसे वह तदनुरूप परिणमन करती रहती है।

इसी बातको 'जीवपरिणाम हेदु' ....इत्यादि समयसारकी ८०वीं गाथा भी पुष्ट कर रही है, जिसको आपने अपने पक्षकी पुष्टिके लिये अपने उत्तरमें उपस्थित किया है, लेकिन जिसके विषयमें हम अपनी द्वितीय प्रतिशंकामें लिख चुके हैं कि यह गाथा आपके मन्तव्य के विरुद्ध ही अभिप्राय प्रगट करती है। याने जीवके

परिणमनकी सहायतासे ही पुद्गल कर्मरूप परिणमन करते हैं और पुद्गल कर्मकी सहायतासे ही जीव रागादि विभावरूप परिणमन करता है।

समयसारकी ८२वीं गाथा भी ऐसी बातको बतला रही है कि ८० और ८१वीं गाथाओंके अनुसार चूँकि पुद्गलोंका ही कर्मरूप परिणमन होता है। पुद्गलोंमें होनेवाला कर्मरूप वह परिणमन आत्माका परिणमन नहीं है, वह तो उस परिणमनमें केवल निमित्तकारण (सहकारी कारण) या निमित्त कर्ता (सहकारी कर्ता) ही होता है। इसी प्रकार आत्माका ही रागादिरूप परिणमन होता है। आत्मामें होनेवाला रागादिरूप वह परिणमन पुद्गलका परिणमन नहीं है, वह तो उस परिणमनमें केवल निमित्तकारण (सहकारी कारण) या निमित्त कर्ता (सहकारी कर्ता) ही होता है, इसलिए आत्मामें जो भी परिणमन होता है उसके होनेमें यद्यपि पुद्गल कर्मका सहयोग अपेक्षित होता है, लेकिन उस परिणमनका उपादान कारण या कर्ता आत्मा ही होता हैं, पुद्गल कर्म नहीं। इसी तरह पुद्गलमें जो भी (कर्म नोकर्मरूप) परिणमन होता है, यद्यपि उसके होनेमें आत्माके रागादि भावोंका सहयोग अपेक्षित होता है, लेकिन उस परिणमनका उपादान कारण या कर्ता पुद्गल ही होता है आत्माके रागादिभाव नहीं।

समयसारकी ८०, ८१ और ८२वीं गाथाओंके उक्त अभिप्रायको लक्ष्यमें रखकर ही समयसारकी निम्नलिखित गाथाका अर्थ करना चाहिये—

> जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
> जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥

वह अर्थ इस प्रकार है कि चूंकि जीवका सहयोग मिलने पर ही पुद्गल कर्मका बन्धरूप परिणमन देखा जाता है, इसलिये जीवने पुद्गलका कर्मरूप परिणमन कर दिया—ऐसा उपचारमात्रसे अर्थात् निमित्त-नैमित्तिकभावकी अपेक्षासे कहा जाता है। यहाँ पर 'उपचारमात्रसे' इस पदका अर्थ निमित्त-नैमित्तिकभावसे ही उल्लिखित ८०, ८१ और ८२ वीं गाथाओंके आधार पर करना सुसंगत है। तात्पर्य यह है कि लोकव्यवहार में जिस प्रकार उपादानोपादेयभावकी अपेक्षा शिष्यका अध्ययन करना और निमित्त-नैमित्तिक भावकी अपेक्षा उपाध्यायका शिष्यको पढ़ाना दोनों ही वास्तविक हैं उसी प्रकार उपादानोपादेयभावकी अपेक्षा पुद्गलका कर्मरूप परिणत होना और आत्माका रागादिरूप परिणत होना तथा निमित्त-नैमित्तिक भावकी अपेक्षा जीव द्वारा पुद्गलका कर्मरूप किया जाना और पुद्गल द्वारा आत्माका रागादिरूप किया जाना दोनों ही वास्तविक हैं। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें तत्त्वार्थसूत्रके अध्याय प्रथम सूत्र ७ की व्याख्या करते हुए आचार्य विद्यानन्दिने भी पृष्ठ १५१ पर उपादानोपादेयभावके समान निमित्त-नैमित्तिक भावको वास्तविक ही कहा है। वह कथन निम्न प्रकार है—

सहकारिकारणेन कार्यस्य कथं तद् (कार्यकारणत्वम्) स्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत्, कालप्रत्यासत्तिविशेषात् तत्सिद्धिः। यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्। न चेदं सहकारित्वं क्वचिद् भावप्रत्यासत्तिः क्षेत्रप्रत्यासत्तिर्वा, नियमाभावात्। निकटदेशस्यापि चक्षुषो रूपज्ञानोत्पत्तौ सहकारित्वदर्शनात्, संदंशकादेश्चासुवर्णस्वभावस्य सौवर्णकटकोत्पत्तौ। यदि पुनर्यावत्क्षेत्रं यद्यस्योत्पत्तौ सहकारि दृष्टं यथाभावं च तत्तावत् क्षेत्रं तथाभावमेव सर्वत्रेति नियता क्षेत्रभावप्रत्यासत्तिः सहकारित्वं कार्ये निगद्यते, तदा न दोषो, विरोधाभावात्। तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोगसमवायादिवत् प्रतीतिसिद्धत्वात् पारमार्थिक एव न पुनः कल्पनारोपितः, सर्वथाप्यनवद्यत्वात्।

अर्थ—सहकारी कारणके साथ कार्यका कार्यकारणभाव कैसे सिद्ध होता है ? क्योंकि सहकारी कारण और कार्यमें एक द्रव्यताका अभाव है, यदि ऐसा कहा जाय तो इसका उत्तर यह है कि सहकारिकारणके साथ कार्यका कार्यकारणभाव कालप्रत्यासत्तिके रूपमें माना गया है, क्योंकि जिसके अनन्तर जो अवश्य होता है वह सहकारी कारण कहा जाता है और दूसरा कार्य कहलाता है ऐसा ही प्रतीत होता है। ऐसा सहकारित्व कहीं पर भी भावप्रत्यासत्ति अथवा क्षेत्रप्रत्यासत्तिरूप नहीं होता है, क्योंकि इनका नियम बनता नहीं है। देखनेमें आता है कि निकट देशमें स्थित चक्षुको भी रूपज्ञानकी उत्पत्तिमें सहकारिता होती है इसी प्रकार सुवर्णभावसे रहित अर्थात् लोह धातुसे निर्मित संदंशक (संडासी) आदि को भी सुवर्णनिर्मित कटक आदि की उत्पत्तिमें सहकारिता होती है। यदि जितने क्षेत्रमें जो जिस कार्यकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण होता है, इसी प्रकार जो जिस भावरूपसे सहकारी कारण होता है वह उतने क्षेत्रमें और उस भावरूपमें सहकारी होता है—ऐसी क्षेत्र और भावरूप प्रत्यासत्तिको कार्यमें सहकारित्व कह दिया जाय तो फिर काल प्रत्यासत्ति की तरह क्षेत्र प्रत्यासत्ति और भाव प्रत्यासत्तिरूप भी सहकारित्वको माना जा सकता है। इसमें कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार व्यवहारनयका आश्रय लेने पर दो पदार्थोंमें रहनेवाला कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध भी संयोग और समवाय आदिके समान प्रतीतिसिद्ध होनेके सबब पारमार्थिक ही है, कल्पना द्वारा आरोपित नहीं है; कारण कि यह सर्वथा निर्दोष है।

इसी प्रकार अष्टशतीमें श्रीमद् भट्टाकलंकदेवने भी सहकारी कारणको कार्यके प्रति उपादानके लिये सहयोगदाताके रूपमें प्रतिपादित किया है। वह वचन निम्न प्रकार है—

तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्करं किं सहकारिकारणं स्यात् ?

—अष्टसहस्री पृष्ठ १०५

अर्थ—उसकी अर्थात् उपादानकी असामर्थ्यका खण्डन नहीं करते हुए सहकारिकारण यदि अकिंचित्कार ही बना रहता है तो उस हालतमें वह सहकारी कारण कहला सकता है क्या ? अर्थात् नहीं कहला सकता है।

ये सब आगमके प्रमाण सहकारी कारणको और निमित्तनैमित्तिकभावको वास्तविक तथा कार्यके प्रति सार्थक और उपयोगी ही सिद्ध करते हैं, केवल कल्पनारोपित या उपचरित नहीं। इसलिये समयसारकी 'जीवम्हि हेदुभूदे—' गाथामें पठित उपचार शब्दका अर्थ कल्पना या आरोप न करके निमित्तनैमित्तिकभावरूप जो अर्थ हमने किया है वही सुसंगत है।

इसी प्रकार उक्त गाथाकी 'इह खलु पौद्गलिककर्मण…………' इत्यादि रूप जो टीका आचार्य अमृतचन्द्रने की है उसमें भी उपचार शब्दका अर्थ निमित्तनैमित्तिकभावरूप ही किया गया है। संपूर्ण टीका निम्नप्रकार है—

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानान्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति सम्पद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपराणां परेषामस्ति विकल्पः स तूपचार एव न तु परमार्थः ॥ १०५ ॥

अर्थ—यद्यपि आत्मा (शुद्ध) स्वभावरूपसे पौद्गलिक कर्मका (पुद्गलके कर्मरूप परिणमनका) निमित्तभूत नहीं है तथापि अनादिकालसे उसकी विभावस्थिति रहनेके कारण पौद्गलिक कर्ममें निमित्तभूत अज्ञानके रूपमें परिणमन होनेसे उसके (आत्माके) निमित्त बन जाने पर ही पुद्गलका कर्मरूप परिणमन

होता है, इसलिये आत्मा द्वारा पुद्‌गलका कर्मरूप परिणमन किया गया—ऐसा विकल्प उन लोगोंका होता है जो निर्विकल्प विज्ञानघनसे भ्रष्ट अर्थात् विकारी परिणतिमें वर्तमान अतएव विकल्पपरायण हैं। लेकिन 'आत्मा द्वारा पुद्‌गलका कर्मरूप किया जाना' यह उपचार ही है अर्थात् निमित्तनैमित्तिकभावकी अपेक्षासे ही है, परमार्थरूप नहीं है अर्थात् उपादानोपादेयभावकी अपेक्षासे नहीं हैं ॥१०५॥

आचार्य अमृतचन्द्रने जो यह समयसार कलश रचा है—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥ ५१ ॥

इसमें 'जो परिणमन होता है अर्थात् जिसमें या जिसका परिणमन होता है वह कर्ता है' कर्ताका यह लक्षण उपादानोपादेयभावको लक्ष्यमें रखकर ही माना गया है, परन्तु इस पर ध्यान न देते हुए उस लक्षणको सामान्यरूपसे कर्ताका लक्षण मानकर निमित्तनैमित्तकभावकी अपेक्षा आगममें प्रतिपादित कर्तृकर्मभावको उपचरित (कल्पनारोपित) मानते हुए आपके द्वारा निमित्तकर्ताको अकिंचित्कर (कार्यके प्रति निरुपयोगी) करार दिया जाना गलत ही है, क्योंकि निमित्तकर्ताको समयसार गाथा १०० में आचार्य कुन्दकुन्दने तथा इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने सार्थकरूपमें ही स्वीकार किया है, जो निम्न प्रकार है—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥ १०० ॥

गाथाका अर्थ—जीव घट, पट और शेष सभी द्रव्योंको नहीं करता है, किन्तु जीवके योग और उपयोग ही उनके कर्ता हैं तथा उनका कर्ता आत्मा है ॥१००॥

टीका—**यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयत्वानुषंगाद् व्याप्यव्यापकभावेन तावन्न करोति, नित्यकर्तृत्वानुषंगात् निमित्तनैमित्तिकभावेनापि न तत्कुर्यात्। अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्तारौ, योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयोः कदाचिदज्ञानेन करणादात्मापि कर्तास्तु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात् ॥ १०० ॥**

अर्थ—जो घटादि अथवा क्रोधादिरूप परद्रव्यात्मक कर्म है उसको यह आत्मा नामका द्रव्य व्याप्यव्यापकभावसे अर्थात् उपादानोपादेयभावसे तो करता नहीं है, क्योंकि इस तरहसे उसमें तन्मयत्व (परद्रव्यात्मक घटादि और क्रोधादिरूप कर्ममयत्व) का प्रसंग उपस्थित होता है तथा वह आत्मा नामका द्रव्य परद्रव्यात्मक घटादि और क्रोधादिरूप कर्मको निमित्तनैमित्तिकभावरूपसे भी नहीं करता है, क्योंकि निमित्तनैमित्तिकभावरूपसे कर्ता मानने पर उसका (आत्माका) शाश्वत होनेके कारण परद्रव्यात्मक घटादि और क्रोधादिरूप कर्मके करनेमें नित्यकर्तृत्व प्रसक्त हो जायगा; अतः आत्मद्रव्य स्वयं कर्ता न होकर उसकी अनित्यभूत योग और उपयोगरूप पर्याय ही परद्रव्यात्मक घटादि अथवा क्रोधादिरूप कर्मकी निमित्तरूपसे कर्ता होती ह। यद्यपि आत्मा स्वके विकल्प और व्यापाररूप योग तथा उपयोगको कदाचित् अपनी विभावपरिणतिके कारण करता है, अतः आत्मा भी कर्ता होता है तो भी वह (आत्मा) परद्रव्यात्मक कर्मका कर्ता नहीं होता है। अर्थात् आत्माके अनित्यभूत योग और उपयोग ही परद्रव्यात्मक कर्मके निमित्तरूपसे कर्ता होते हैं ॥१००॥

इस प्रकार '**यः परिणमति स कर्ता**' कर्ताके इस लक्षणके आधार पर आपके द्वारा निमित्तकर्तृत्वको उपचारसे (कल्पनारोपितरूपसे) कर्तृत्व बताना असंगत ही है।

आपने अपने उत्तरमें निमित्तकर्ताको उपचारसे (कल्पनारोपितरूपसे) कर्ता माननेमें यद्यपि यह

युक्ति दी है कि 'एक द्रव्यका कर्तृधर्म दूसरे द्रव्यमें नहीं उपलब्ध होता' लेकिन इससे भी निमित्तकर्ताका उपचारसे (कल्पनारोपितरूपसे) कर्तृत्व समर्थित नहीं होता है, क्योंकि इस युक्तिसे केवल इस बातका ही समर्थन होता है कि निमित्तका कोई भी धर्म कार्यमें प्रवेश नहीं पाता है, निमित्तरूप कोई कर्ता ही नहीं होता—यह बात इससे समर्थित नहीं होती है और चूंकि ऊपर लिखे अनुसार निमित्तरूप कर्ता आगम प्रतिपादित है, इसलिये निमित्तरूप कर्ताको वास्तविक स्वीकार करना गलत नहीं है, बल्कि उसे आपके द्वारा उपचारसे अर्थात् केवल कल्पितरूपसे स्वीकार करना ही गलत है।

आगममें सर्वत्र कार्यकारणभावको अन्वय-व्यतिरेकके आधार पर ही माना गया है अर्थात् जिस वस्तुका जिस कार्यके साथ अन्वय-व्यतिरेक पाया जाता है वह वस्तु उस कार्यके प्रति कारण होती है ऐसा कथन आगमका है यथा—

अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यो हि सर्वत्र कार्यकारणभावः। तौ च कार्यं प्रति कारणव्यापारसव्यपेक्षावेवोपपद्येते कुलालस्येव कलशं प्रति।　—प्रमेयरत्नमाला तृतीय समुद्देश सूत्र ६३ की व्याख्या।

कार्यकारणभाव सर्वत्र अन्वय और व्यतिरेकके आधार पर ही मानना चाहिये। वे अन्वय और व्यतिरेक कार्यके प्रति कारणव्यापारसापेक्ष ही उपपन्न होते हैं, जैसे कि कलशके प्रति कुम्हारके अन्वय और व्यतिरेक उत्पन्न होते हैं।

इसमें उपादान कारणके समान निमित्तकारणमें भी कार्यके प्रति अन्वय और व्यतिरेक माने गये हैं, अतः जिस प्रकार कार्यके प्रति उपादानभूत वस्तु अपने ढंगसे अर्थात् आश्रयरूपसे वास्तविक कारण होती है उसी प्रकार कार्यके प्रति निमित्तभूत वस्तु भी अपने ढंगसे अर्थात् उपादानके सहकारिरूपसे वास्तविक कारण होती है। उसकी (निमित्तभूत वस्तुकी) यह उपादान सहकारितारूप कारणता काल्पनिक नहीं है।

वास्तविक बात यह भी है कि आगममें स्वपरप्रत्यय परिणामरूप कार्यको समानरूपसे उभयशक्तिजन्य माना गया है। यथा—

एवं दुसंजोगादिणा अणुभागपरूवणा कायव्वा, जहा (मट्टिआ) पिंड-दंड-चक्क-चीवर-जल-कुंभारादीणं घडुप्पायणाणुभागो।　—धवल १३ पृ० ३४९

अर्थ—इसी प्रकार द्विसंयोगादिरूपसे अनुभागका कथन करना चाहिये। जैसे—मिट्टी पिंड, दण्ड, चक्र, चीवर, जल और कुम्हार आदिका घटोत्पादनरूप अनुभाग।

धवलाका यह वचन स्वपरप्रत्यय परिणमनकी उभयशक्तिजन्यताका स्पष्ट उपदेश दे रहा है।

आगममें उपचारकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते। —आलापपद्धति

अर्थ—मुख्यका अभाव रहते हुए यदि प्रयोजन और निमित्त उपस्थित हों तो उपचारकी प्रवृत्ति होती है।

उपचारकी यह व्याख्या स्पष्ट बतला रही है कि जहाँ उपचारकी प्रवृत्तिके लिए प्रयोजन तथा निमित हों वहींपर वह उपचारप्रवृत्ति हुआ करती हैं। जैसे अन्नमें प्राणोंका या बालकमें सिंहका उपचार लोकमें किया जाता है। इन दोनों स्थलोंमें चूंकि उपचारप्रवृत्तिके लिए प्रयोजन तथा निमित्त दोनोंका सद्भाव पाया जाता है, अतः अन्नमें प्राणोंका और बालकमें सिंहका उपचार संगत है। अन्नमें प्राणोंका उपचार करनेके लिये अन्नमें पायी जानेवाली प्राणसंरक्षकता ही निमित्त है और लोकमें इस तरह

प्राणसंरक्षकताके रूपमें अन्नका महत्त्व प्रस्थापित करना ही प्रयोजन है। इसी प्रकार बालकमें सिंहका उपचार करनेके लिये बालकमें पाया जानेवाला सिंह सदृश शौर्य ही निमित्त है और इस तरह सिंहके सदृश शौर्य गुण संपन्नताके रूपमें बालककी प्रसिद्धि करना ही प्रयोजन है। इस तरह निमित्त और प्रयोजन-का सद्भाव रहते हुए ही अन्नमें प्राणोंका तथा बालकमें सिंहका उपचार किया गया है। इसी प्रकार आगममें भी उपचार प्रवृत्तिके दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं। जैसे परार्थानुमान यद्यपि ज्ञानात्मक ही है, परन्तु उसका उपचार वचनमें किया गया है, क्योंकि वचन ज्ञानरूप परार्थानुमानका कारण होता है।

तद्वचनमपि तद्धेतुत्वादिति। –परीक्षामुख सूत्र ५६

यहाँपर कारणमें कार्यका उपचार किया गया है। इसमें भी उपचार प्रवृत्तिके लिये निमित्त और प्रयोजनका सद्भाव है। इन सब दृष्टान्तोंके आधारपर प्रकृतमें हमारा आपसे यह कहना है कि निमित्त नामकी वस्तुमें कारणत्व या कर्तृत्वका जब आपको उपचार करना है तो इस उपचार प्रवृत्तिके लिये यहाँपर **निमित्त तथा प्रयोजनके सद्भावकी भी आपको खोज करनी होगी, जिसका (निमित्त तथा प्रयोजनके सद्भावका) यहाँपर** सर्वथा अभाव है। यदि आपकी दृष्टिमें निमित्तमें कारणता या कर्तृत्वका उपचार करनेके लिये यहाँपर निमित्त तथा प्रयोजनका सद्भाव हो, तो बतलाना चाहिये। यदि आप कहें कि कार्यके प्रति निमित्त नामकी वस्तुका जो उपादानके लिये सहयोग अपेक्षित रहता है यही यहाँपर उपचार प्रवृत्तिमें निमित्त है और इस तरह कार्यके प्रति निमित्त नामकी वस्तुकी उपयोगिताको लोकमें प्रस्थापित कर देना ही प्रयोजन है तो इस विषयमें हम आपसे केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि निमित्तका कार्यके प्रति उपादानको सहयोग देना यदि आपको मान्य हो जाता है तो इससे फिर निमित्तकी वास्तविकता ही सिद्ध हो जाती है। ऐसी हालतमें उसे उपचरित कैसे कहा जा सकता है?

'उपादीयते अनेन' इस विग्रहके आधारपर 'उप' उपसर्गपूर्वक आदानार्थक 'आ' उपसर्ग विशिष्ट 'दा' धातुसे कर्ताके अर्थमें "ल्युट्" प्रत्यय होकर उपादान शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ यह होता है कि जो परिणमनको स्वीकार करे, ग्रहण करे या जिसमें परिणमन हो उसे उपादान कहते हैं। इस तरह उपादान कार्यका आश्रय ठहरता है। इसी प्रकार 'निमेद्यति' इस विग्रहके आधारपर 'नि' उपसर्ग पूर्वक स्नेहार्थक 'मिद्' धातुसे कर्ताके अर्थमें 'क्त' प्रत्यय होकर निमित्त शब्द निष्पन्न हुआ है। मित्र शब्द भी इसी 'मिद्' धातुसे 'क्र' प्रत्यय होकर बना है। इस प्रकार जो मित्रके समान उपादानका स्नेहन करे अर्थात् उसकी कार्यपरिणतिमें जो मित्रके समान सहयोगी हो वह निमित्त कहलाता है। इस विवेचनसे यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि कार्यके प्रति निमित्त उपचरित (काल्पनिक) नहीं है, बल्कि उपादानके सहयोगीके रूपमें वह वास्तविक ही है।

इस प्रकार आगममें जहां भी निमित्तनैमित्तिकभावको लेकर उपचारहेतु या उपचारकर्ता, व्यवहारहेतु या व्यवहारकर्ता, बाह्य हेतु या बाह्य कर्ता, गौण हेतु या गौण कर्ता आदि शब्द प्रयोग पाये जाते हैं उन सबका अर्थ निमित्तकारण (सहकारी कारण) या निमित्तकर्ता (सहकारी कर्ता) ही करना चाहिए। उनका आरोपित हेतु (काल्पनिक हेतु) या आरोपित कर्ता (काल्पनिक कर्ता) अर्थ करना असंगत ही जानना चाहिए। इसी प्रकार आगममें जहां भी उपादानोपादेयभावको लेकर परमार्थ हेतु या परमार्थ कर्ता, निश्चय हेतु या निश्चय कर्ता, अन्तरंग हेतु या अन्तरंग कर्ता, मुख्य हेतु या मुख्य कर्ता आदि शब्द प्रयोग पाये जाते हैं उन सबका अर्थ उपादान कारण या उपादान कर्ता ही करना चाहिए। इसका कारण यह है कि कार्यकरणत्वकी

दृष्टिसे जब विचार किया जाता है तो निमित्त और उपादान दोनों ही कारण स्वपरप्रत्ययरूप कार्यमें समानरूपसे ही अपने-अपने स्वभावानुसार अपने-अपने ढंगसे सार्थक या उपयोगी हुआ करते हैं। ऐसा नहीं है कि उक्त स्वपरप्रत्ययरूप कार्यको केवल उपादान ही सम्पन्न कर लेता है और निमित्त बैठा-बैठा केवल हाजिरी ही दिया करता है। इस विषयमें आचार्य विद्यानन्दिके निम्नलिखित वचनोंपर भी ध्यान देना जरूरी है—

सुवर्णं हि सुवर्णत्वादिद्रव्यार्थादेशात् सदेव, केयूरादिसंस्थानपर्यायार्थादेशाच्चासदिति तथा परिणमनशक्तिलक्षणायाः प्रतिविशिष्टान्तःसामग्र्याः, सुवर्णकारकव्यापारादिलक्षणायाश्च बहिःसामग्र्याः सन्निपाते केयूरादिसंस्थानात्मनोत्पद्यते।

—अष्टसहस्री पृष्ठ १५०

अर्थ—सुवर्णत्वादि द्रव्यांशरूपमें सत् और केयूरादिके आकारभूत पर्यायांशरूपमें असत् सुवर्ण द्रव्य ही केयूरादिके आकारोंसे परिणत होनेकी शक्तिरूप अन्तरंग सामग्री और स्वर्णकारके व्यापार आदिरूप बहिरंग सामग्रीका सन्निपात हो जानेपर केयूरादिके आकाररूपसे उत्पन्न होता है।

इसके साथ ही इस बातपर भी ध्यान देना आवश्यक है कि उपादान कारणकी समानता रहते हुए भी निमित्तकारणोंकी विचित्रताके अवलम्बनसे कार्योंमें भी विचित्रता देखी जाती है। स्वामी समन्तभद्रने कहा भी है—

कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः ॥९९॥ —देवागमस्तोत्र

—अष्टसहस्री पृष्ठ २६७

अर्थ—पौद्गलिक कर्मोंके बन्धके अनुसार ही जीवोंमें कामादिकी विविधरूपता हुआ करती है।

इस विषयमें प्रवचनसार गाथा २५५ की टीकाकी निम्नलिखित पंक्तियां भी दृष्टव्य हैं—

यथैकेषामपि बीजानां भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यंभावित्वात्।

अर्थ—जिस प्रकार भूमिकी विपरीततासे एक ही प्रकारके बीजोंमें कार्योत्पत्तिकी विपरीतता देखी जाती है उसी प्रकार एक ही तरहका शुभोपयोग भी पात्रोंकी विपरीतताके कारण फलमें विपरीतता ला देता है, क्योंकि कारणविशेषसे कार्यमें विशेषताका होना अवश्यंभावी है।

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि निमित्तकारण उपादानकी कार्यपरिणतिमें केवल हाजिरी ही नहीं दिया करता है, बल्कि अपने ढंगसे उपादानका अनुरंजन किया करता है।

हमने अपनी द्वितीय प्रतिशंकामें भी ऐसे बहुतसे आगम प्रमाण उपस्थित किये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि निमित्तोंका कार्य उपादानको कार्यके प्रति सहायता पहुँचाना ही रहा करता है। इसलिये जिस प्रकार उपादानकारण अपनेरूपमें याने कार्यके आश्रयरूपमें वास्तविक है, यथार्थ है और सद्भूत है उसी प्रकार निमित्तकारण भी अपने रूपमें याने कार्यके प्रति उपादान सहकारीरूपमें वास्तविक है, यथार्थ है और सद्भूत है।

आपने अपने उत्तरमें उदासीन और प्रेरक ऐसे दो भेद स्वीकार कर लिए यह तो प्रसन्नताकी बात है, परन्तु आप इन दोनोंके कार्यभेदको अभी तक माननेके लिए तैयार नहीं हैं ऐसी स्थितिमें आपकी इस भेदद्वयकी मान्यताका कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। आप लिखते हैं कि 'पंचास्तिकाय गाथा ८८ में

निमित्तोंके उदासीन और प्रेरक ऐसे दो भेद स्वीकार किये गये हैं। मालूम पड़ता है कि केवल इसीलिये ही आप निमित्तोंके प्रेरक और उदासीन ये दो भेद माननेके लिए बाध्य हुए हैं, परन्तु इनमें पाया जानेवाला अन्तर आपको मान्य नहीं है। यही कारण है कि इस प्रसंगमें आपने 'शिष्योऽधीते, उपाध्यायोऽध्यापयति' इस प्रेरक निमित्तके उदाहरणके साथ 'कारीषोऽग्निरध्यापयति' इस उदासीन निमित्तको समकक्ष रख दिया है और अपने इस अभिप्रायको सर्वार्थसिद्धिके वचन द्वारा समर्थित करनेका भी प्रयत्न किया है। लेकिन इस प्रयत्नमें आप इसलिए सफल नहीं हो सकते हैं कि सर्वार्थसिद्धिका वह वचन केवल इतनी ही बात बतलाता है कि हेतुकर्तृ शब्दका प्रयोग उदासीन और प्रेरक दोनों प्रकारके निमित्तोंके विषयमें आगममें किया गया है, जिसके माननेमें हमें भी कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु उनमें पाये जानेवाले अन्तरका निषेध उससे समर्थित नहीं होता है। इस विषयमें आपने अपने उत्तरमें सर्वार्थसिद्धिके उस वचनको उद्धृत किया है और उसका अर्थ भी किया है, परन्तु उसका अभिप्राय ही आपने गलत लिया है; अतः आप इस पर पुनः ध्यान दें।

आगे आपने लिखा है कि 'निमित्त कारण दो प्रकार के हैं—एक वे जो अपनी क्रिया द्वारा अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त होते हैं और दूसरे वे जो चाहे क्रियावान् हों और चाहे अक्रियावान् हों, परन्तु जो क्रियाके माध्यमसे निमित्त न होकर निष्क्रिय द्रव्योंके समान ही अन्य द्रव्योंके कार्योंमें निमित्त होते हैं।' इस विषयमें हमारा कहना यह है कि यदि सभी प्रकारके निमित्त उपादानके कार्य करते समय केवल हाजिरी ही दिया करते हैं तो क्रियाके माध्यमसे निमित्त होना तथा क्रिया करते हुए या न करते हुए भी क्रियाके माध्यमके बिना ही निमित्त होना इन दोनों अवस्थाओंमें कोई अन्तर नहीं रह जाता है। कारण कि आपके मतानुसार सभी निमित्तोंका कार्य उपादानके कार्य करते समय उसकी केवल हाजिरी बजाना ही है, इसलिये जब आगममें प्रेरक और उदासीन दो प्रकारके पृथक् पृथक् निमित्त बतलाये गये हैं और उन्हें आपने भी निश्छलभावसे स्वीकार कर लिया है तो इन दोनोंके अन्तरको भी आपको स्वीकार कर लेना चाहिये। वह अन्तर यह है कि जिस अन्य वस्तुके व्यापारके अनुसार उपादानके कार्यमें वैशिष्ट्य आता है वह वस्तु प्रेरक निमित्त कहलती है। जैसे द्वितीय प्रतिशंकामें ऐसे आगम प्रमाणोंका हम उल्लेख कर आये हैं जिनमें प्रेरक निमित्तोंके उदाहरण दिये गये हैं। उनमेंसे एक यह है कि गतिरूपसे परिणत वायु पताकाकी गतिमें कारण होती है। इसमें प्रेरकता यह है कि हवाका रुख जिस ओर होगा ध्वजा उसी ओर अवश्य फहरायगी।

आगे आपने लिखा है कि 'प्रेरक कारणके बलसे किसी द्रव्यके कार्यको आगे पीछे कभी भी नहीं किया जा सकता है,' सो इस विषयमें हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि कर्मबन्धकी नानारूपतासे कामादिमें भी नानारूपता आ जाती है तथा भूमिकी विपरीततासे बीजकी उत्पत्तिमें भी विपरीतता आ जाती है। इससे सिद्ध होता है कि प्रेरक निमित्तके बलसे कार्य कभी भी किया जा सकता है। आपने भी प्रश्न नं०५ के द्वितीय उत्तरमें कर्मानुसार कार्य होना स्वीकार किया है, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

थोड़ा विचार कीजिये, कि एक व्यक्तिने शीत ऋतुके आ जाने पर गर्म (ऊनी) कपड़ाका कोट बनवाना आवश्यक समझकर बाजारसे कपड़ा खरीदा, परन्तु जब वह उसे दर्जीके पास ले गया तो दर्जीने समयाभावके कारण उसकी आकांक्षाके अनुसार शीघ्र कोट बनानेमें अपनी असमर्थता बतलायी, इस तरह कोटका बनना तब तक रुका रहा जब तक कि दर्जीके पास कोटके बनानेका अवकाश नहीं निकल आया। इस दृष्टान्तमें विचारना यह है कि कोट पहिननेकी आकांक्षा रखनेवाले व्यक्ति द्वारा खरीदे हुए उस कपड़ेमें, जब कि उसे दर्जीकी मर्जी पर छोड़ दिया गया है, कौनसी ऐसी उपादाननिष्ठ योग्यताका अभाव बना हुआ है कि वह कपड़ा कोटरूपसे परिणत नहीं हो पा रहा है और जिस समय वह दर्जी कोटके सीनेका

व्यापार करने लगता है तो उस कपड़ेमें कौनसी उपादाननिष्ठ योग्यताका अपने आप सद्भाव हो जाता है कि वह कपड़ा कोट बनकर तैयार हो जाता है। विचार कर देखा जाय तो यह सब साम्राज्य निमित्तकारण सामग्रीका ही है, उपादान तो बेचारा अपनी योग्यता लिये तभीसे तैयार बैठा है जब वह दर्जीके पास पहुँचा था। यहाँ पर हम उस कपड़ेकी एक एक क्षणमें होनेवाली पर्यायोंकी बात नहीं कर रहे हैं, क्योंकि कोट पर्याय के निर्माणसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। हम तो यह कह रहे है कि पहले से ही एक निश्चित आकारवाले कपड़ेका वह टुकड़ा कोटके आकारको क्यों तो दर्जीके व्यापार करने पर प्राप्त हो गया और जब तक दर्जीने कोट बनाने रूप अपना व्यापार चालू नहीं किया तब तक वह क्यों जैसाका तैसा पड़ा रहा। जिस अन्वय व्यतिरेकगम्य कार्यकारणभावकी सिद्धि आगम प्रमाणसे हम पहले कर आये हैं उससे यही सिद्ध होता है कि सिर्फ निमित्तकारणभूत दर्जीकी बदौलत ही उस कपड़ेकी कोटरूप पर्याय आगेको पिछड़ गयी। कोटके निर्माण कार्यको उस कपड़ेकी सम्भाव्य क्षणवर्ती क्रमिक पर्यायोंके साथ जोड़ना कहाँतक बुद्धिगम्य हो सकता है ? यह आप ही जानें, क्योंकि एक तो प्रत्येक वस्तुमें अगुरुलघुगुणोंके आधार पर क्षणिक पर्यायोंका होना सम्भव प्रतीत होता है, दूसरे कालिक सम्बन्धसे समयादिकी अपेक्षा नवीनसे पुराने रूप परिवर्तनके रूपमें पर्यायोंका क्षणिकत्व सम्भव है। इसमें विचारनेकी बात यह है कि क्या इन पर्यायोंकी क्रमोत्पत्तिके आधार पर कपड़ेमें कोटरूप स्थूल पर्यायका निर्माण सम्भव है ? यदि नहीं, तो फिर और कौनसी ऐसी क्षणिक पर्यायोंका ताँता उस कपड़ेमें विद्यमान है जिनकी क्रमिकताके आधार पर कपड़ेकी अन्तिम पर्याय दर्जी आदि बाह्य सामग्रीके व्यापारकी अपेक्षाके बिना ही कोटका रूप धारण करनेमें समर्थ हो सकी। यह बात अनुभवगम्य है कि दर्जीके द्वारा कपड़ेकी कोट पर्यायके निर्माणके अनुरूप व्यापार करनेसे पहले उस कपड़ेमें जो भी पर्यायें क्रम या अक्रम रूपसे होती आ रही हों, उन पर्यायोंके साथ कोट पर्यायका कोई भी क्रमिक सम्बन्ध नहीं जुड़ता है, क्योंकि कोट पर्यायके निर्माणसे पहले जहाँ तक सम्भव है वहाँ तक कपड़ेका स्वामी कोटको छोड़कर यदि अन्य कोई वस्तुका निर्माण दर्जीसे करानेका निर्णय कर लेता है तो दर्जी उस कपड़ेके विषयमें अपना व्यापार कोट पर्याय के अनुरूप न करके उस वस्तुके अनुरूप करने लगता है जिसको कपड़ेका स्वामी उससे बनवाना चाहता है। इतनी बात अवश्य है कि दर्जी जब कोट पर्यायके निर्माणका कार्य प्रारम्भ करता है तो कोटके जितने अंग उसे काटने हैं और उनकी सिलाई करना है उन सब अंगोंके काटने व सीनेका कोई क्रम न होते हुए भी उनमें-से जिस अंगको जब वह काटना व सीना प्रारम्भ करता है तब उस कपड़ेकी उस अंग रूप कटाई और सिलाईमें क्रमिकता विद्यमान रहेगी ही याने उस अंगके जितने सिलसिलेवार प्रदेश हैं उन्हें क्रमसे ही काटेगा और क्रम से ही उनकी सिलाई होगी, फिर भी इसमें भी यह सम्भव है कि कटाई व सिलाईके व्यापारके विषयमें स्वतन्त्र होनेके कारण वह दर्जी कपड़ेकी कटाई व सिलाईको बीचमें अधूरी छोड़कर भी दूसरा व्यापार कर सकता है और बादमें कटाई व सिलाईके व्यापारको पुनः चालू कर सकता है। या दूसरा अन्य व्यक्ति भी उस कटाई व सिलाई रूप व्यापारको चालू कर सकता है। हमें आश्चर्य होता है कि यह सब व्यवस्था अनुभवगम्य और आपके पक्ष द्वारा जीवन व्यवहारोंमें अनिवार्य रूपसे अपनाई जाने पर भी इस वस्तु तत्त्व व्यवस्थामें आप इसकी उपेक्षा कर रहे हैं।

आगे आपने आचार्य पूज्यपादके इष्टोपदेशका 'नाज्ञो विज्ञत्वमायाति' इत्यादि श्लोक उपस्थित करके यह बतलानेका प्रयत्न किया है कि 'जो कुछ होता है वह केवल उपादानकी अपनी योग्यताके बलपर ही होता है' परन्तु इसके विषयमें हम आपको बतला देना चाहते हैं कि इससे भी आप अपने मतकी पुष्टि करने में असमर्थ ही रहेंगे। कारण कि उक्त श्लोक एक तो द्रव्यकर्मके विषयमें नहीं है। दूसरे वह हमें इतना ही

बतलाता है कि जिसमें जिस कार्यके निष्पन्न होनेकी योग्यता विद्यमान नहीं है उसमें निमित्त अपने बलसे उस कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता है और यह बात हम भी मानते ही हैं कि मिट्टीमें जब पटरूपसे परिणत होनेकी योग्यता नहीं पायी जाती है तो जुलाहा आदि निमित्तोंका सहयोग मिल जाने पर भी मिट्टीसे पटका निर्माण असम्भव ही रहेगा। इसका तात्पर्य यह है कि उपादानमें अनुकूल स्वपरप्रत्यय परिणमनकी योग्यता न हो, लेकिन निमित्त सामग्री विद्यमान हो तो कार्य निष्पन्न नहीं होगा। इसी तरह उपादानमें अनुकूल स्वपरप्रत्यय परिणमनकी योग्यता हो लेकिन निमित्त सामग्री प्राप्त न हो तो कार्य नहीं होगा, यदि उपादानमें उक्त प्रकारकी योग्यता हो और निमित्त सामग्री विद्यमान हो, लेकिन प्रतिबन्धक बाह्य सामग्री उपस्थित हो जावे तो भी कार्य नहीं होगा। इस भौतिक विकासके युगमें व्यक्ति या राष्ट्र जितनी अभूतपूर्व एवं आश्चर्यमें डालनेवाली वैज्ञानिक खोजें कर रहे हैं ये सब हमें निमित्तोंके असीम शक्तिविस्तारकी सूचना दे रही हैं।

पूज्यपाद आचार्यके उक्त श्लोकमें जो 'निमित्तमात्रमन्यस्तु' पद पड़ा हुआ है उसका आशय यह नहीं है कि निमित्त उपादानकी कार्य परिणतिमें अकिंचित्कर ही बना रहता है जैसा कि आप मान रहे हैं, किन्तु उसका आशय यह है कि उपादानमें यदि कार्योत्पादनकी क्षमता विद्यमान हो तो निमित्त उसे केवल अपना सहयोग प्रदान कर सकता है। ऐसा नहीं, कि उपादानमें अविद्यमान योग्यताकी निष्पत्ति भी निमित्त द्वारा की जा सकती है। इससे यह तथ्य फलित होता है कि जिस प्रकार जैन संस्कृति वस्तुमें स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय परिणमनोंको स्वीकार करती है उसी प्रकार वह मात्र परप्रत्यय परिणमनका दृढ़ताके साथ निषेध भी करती है। अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें स्व अर्थात् उपादान और पर अर्थात् निमित्त दोनोंके संयुक्त व्यापारसे निष्पन्न होनेवाले स्वपरप्रत्यय परिणमनोंके साथ साथ जैन संस्कृति ऐसे परिणमन भी स्वीकार करती है जो निमित्तोंकी अपेक्षाके बिना केवल उपादानके अपने बल पर ही उत्पन्न हुआ करते हैं और जिन्हें वहाँ स्वप्रत्यय नाम दिया गया है, परन्तु किसी भी वस्तुमें ऐसा एक भी परिणमन किसी क्षेत्र और किसी कालमें उत्पन्न नहीं हो सकता है जो स्व अर्थात् उपादानकी उपेक्षा करके केवल पर अर्थात् निमित्त के बलपर निष्पन्न हो सकता हो। इस तरह जैन संस्कृतिमें मात्र परप्रत्यय परिणमनको दृढ़ताके साथ अस्वीकृत कर दिया गया है।

इस प्रकार आपका यह लिखना असंगत है कि 'निमित्त कारणोंमें पूर्वोक्त दो भेद होनेपर भी उनकी निमित्तता प्रत्येक द्रव्यके कार्यके प्रति समान है। कार्यका साक्षात् उत्पादक कार्यकालकी योग्यता ही है, निमित्त नहीं।' क्योंकि इस तरहकी मान्यताकी संगति हमारे ऊपर लिखे कथनके अनुसार जैन संस्कृति की मान्यताके विरुद्ध बैठती है।

आगे आपने स्वामी समन्तभद्रकी 'बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं' इस कारिकाका उल्लेख करके बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंकी अर्थात् उपादान और निमित्तकारणोंकी समग्रताको कार्योत्पत्तिमें साधक मान लिया है यह तो ठीक है, परन्तु कारिकामें पठित 'द्रव्यगतस्वभावः' पदका अर्थ समझनेमें आपने भूल कर दी है और उस भूलके कारण ही आप निमित्तको उपादानसे कार्योत्पत्ति होनेमें उपचरित अर्थात् कल्पना-रोपित कारण मानकर केवल उपादानसे ही कार्योत्पत्ति मान बैठे हैं। इसके साथ अपना एक कल्पित सिद्धान्त भी आपने बिना आगमप्रमाणके अनुभव और तर्कके विपरीत प्रस्थापित कर लिया है कि प्रत्येक समयमें निमित्तकी प्राप्ति उपादानके अनुसार ही होती है; जिसका आशय सम्भवतः आपने यह लिया है कि उपादान स्वयं कार्योत्पत्तिके समय अपने अनुकूल निमित्तोंको एकत्रित कर लेता है। और इस संभावनाकी सत्यता इस आधारपर भी मानी जा सकती है कि आपने—

तादृशो जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः ।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥

इस पद्यको अपने अभिप्रायके अनुसार अर्थ कर प्रश्नके उत्तरमें प्रमाणरूपसे उपस्थित किया है।

इस पद्यकी प्रमाणता और अप्रमाणता तथा आपके द्वारा स्वीकृत इसके अर्थकी समालोचना तो हम उसी प्रश्नके प्रकरणमें ही करेंगे, यहाँ तो सिर्फ हमें इतना ही कहना है कि स्वामी समन्तभद्रकी **'बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं'** इस कारिकामें पठित **'द्रव्यगतस्वभावः'** पदका अर्थ जो आपने समझा है वह ठीक नहीं है। उसका अर्थ तो यह है कि प्रत्येक द्रव्यमें परिमणन करनेके विषयमें दो प्रकारके स्वभाव विद्यमान हैं। उनमेंसे एक स्वभाव तो यह है कि वह कितने ही परिणमनों (षड्गुणहानिवृद्धिरूप परिणमनों) की केवल अपने ही बलपर क्षण क्षणमें उत्पत्ति होनेकी योग्यता रखता है। और उसका दूसरा स्वभाव यह है कि कितने ही परिणमनोंकी अनुकूल निमित्तोंके सहयोगपूर्वक यथायोग्य प्रत्येक क्षणमें अथवा नाना क्षणोंके एक समूहमें उत्पत्ति होनेकी योग्यता उसमें पायी जाती है। ये दोनों वस्तुके स्वभाव ही हैं अर्थात् निमित्तकी अपेक्षाके बिना केवल उपादानके अपने ही बलपर परिणमनका होना और निमित्तोंका सहयोग लेकर उपादानके परिणमनका होना ये दोनों ही स्वभाव द्रव्यगत हैं।

आगे आपने लिखा है कि 'यदि प्रत्येक क्षणमें निमित्तकी प्राप्ति उपादानके अनुसार न मानी जाय तो मोक्षविधि नहीं बन सकती है।' इस विषयमें हमारा कहना यह है कि जीवकी मोक्षपर्याय स्वप्रत्यय पर्याय न होकर स्वपरप्रत्यय पर्याय ही है। कारण कि मुक्तिका स्वरूप आगमग्रन्थोंमें द्रव्यकर्म, नो-कर्म और भाव-कर्मोंके क्षपणके आधारपर ही निश्चित किया गया है।

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः। —तत्त्वा० अ० १०, सूत्र २।

अर्थ—संवर और निर्जरापूर्वक सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय हो जाना ही मोक्षका स्वरूप है। इस तरह आगामी कर्मोंके आस्रवका निरोध और विद्यमान कर्मोंको निर्जराको आत्माको पूर्ण स्वातंत्र्यदशाके विकसित होनेमें निमित्तरूपसे जैन संस्कृतिमें स्वीकृत किया गया है। इसी प्रकार चरणानुयोगपर आधारित पंचमहाव्रतादि बाह्य अर्थात् व्यवहार चारित्र और करणानुयोगपर आधारित आत्मविशुद्धि स्वरूप अन्तरंग अर्थात् निश्चय चारित्रके समन्वयको ही मुक्तिका साधन जैन संस्कृतिमें स्वीकार किया गया है। इस तरह जब जीव चरणानुयोग और करणानुयोगके अनुसार पुरुषार्थ करता हुआ अपने भाव शुद्ध करता है तब इन शुद्ध भावोंके निमित्तसे नवीन कर्मोंका संवर तथा बंधे हुए कर्मोंकी निर्जरा होती है और इस प्रकार घातिया कर्मोंका क्षय कर केवलज्ञानको प्राप्त कर लेता है। तथा अन्तमें शेष सभी प्रकारके कर्मोंका नाश कर मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अतः आगम सम्मत सिद्धान्तानुसार तो मोक्षकी प्राप्तिमें कोई बाधा नहीं आती। किन्तु आपके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तके अनुसार जीव पुरुषार्थ करनेके लिये स्वतन्त्र नहीं रहता है, वह तो नियतिके अधीन रहता है, अतः मोक्षकी विधि नहीं बन सकती है।

आगे आपने लिखा है कि 'यद्यपि प्रत्येक मनुष्य भावलिंगके प्राप्त होनेके पूर्व ही द्रव्यलिंग स्वीकार कर लेता है, पर उस द्वारा भावलिंगकी प्राप्ति द्रव्यलिंगको स्वीकार करते समय ही हो जाती हो, ऐसा नहीं है। किन्तु जब उपादानके अनुसार भावलिंग प्राप्त होता है तब उसका निमित्त द्रव्यलिंग रहता ही है। तीर्थंकरादि किसी महान् पुरुषको दोनोंकी एक साथ प्राप्ति होती हो, यह बात अलग है।'

इसके विषयमें हमारा कहना है कि आगममें व्यवहार चारित्रको निश्चय चारित्रमें कारण स्वीकार किया गया है—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वम्, आध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ॥

—स्वयंभूस्तोत्र कुन्थुजिन स्तुति पद्य ८३

अर्थ—हे भगवन्! आपने अन्तरंग तपकी वृद्धिके लिए अत्यन्त दुर्धर बाह्य तपका आचरण किया था।

इस विषयके अन्य अनेकों प्रमाण प्रश्न नं० ३, ४ व १३ के उत्तरोंमें देखनेको मिलेंगे।

उपरोक्त आपके कथनमें भी प्रकारान्तरसे यह तो स्वीकार कर ही लिया गया है कि भावलिंगकी प्राप्तिके लिए द्रव्यलिंग अनिवार्य कारण है अर्थात् द्रव्यलिंग ग्रहण किये बिना भावलिंगकी प्राप्ति नहीं हो सकती है। जहां इन दोनोंकी एक साथ प्राप्ति बतलाई गई है वहाँ भी वास्तवमें द्रव्यलिंग पूर्वमें ही ग्रहण किया जाता है और कुछ क्षण पश्चात् हो भावलिंग हो जानेसे, वह अन्तर ज्ञानमें नहीं आता है, इस कारण एक साथ प्राप्ति कहलाती है। यदि बिल्कुल एक साथ भी प्राप्ति मानी जाती है, तब भी द्रव्यलिंग कारण है और भावलिंग कार्य है। जैसे—

युगपत् होतें हू प्रकाश दीपक तैं होई। —छहढाला चौथी ढाल छन्द २

भावलिंगकी प्राप्तिके लिए जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा अनिवार्य कारणरूपसे द्रव्यलिंगको ग्रहण करता है। भावलिंगकी प्राप्तिके समय द्रव्यलिंग स्वयमेव, बिना जीवके पुरुषार्थके, आकर उपस्थित नहीं हो जाता है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि 'भावलिंग होने पर द्रव्यलिंग होता है।' प्रत्युत भावलिंग होनेसे पूर्व द्रव्यलिंगको तो उसकी उत्पत्तिके लिये कारणरूपसे मिलाया जाता है। द्रव्यलिंगके ग्रहण करनेपर ही भावलिंगकी उत्पत्ति हो सकती है, इसके ग्रहण किये बगैर उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जैसे धूम्र अग्निके होनेपर ही हो सकता है, अग्निके बिना नहीं हो सकता है; अपितु अग्निके होनेपर हो भी या न भी हो। किन्तु भावलिंगकी उत्पत्तिके लिए मात्र द्रव्यलिंग ही कारण नहीं है। उसके साथ अन्य कारणोंकी भी आवश्यकता है—जैसे चारित्रमोहनीय कर्मका क्षयोपशम, क्षेत्रकी अपेक्षा कर्मभूमिका आर्य खण्ड, कालकी अपेक्षा दुषमा–सुषमा या दुषमा काल तथा स्वयं जीवका पुरुषार्थ आदि। यदि अन्य यह सब या इनमेंसे कोई कारण नहीं मिलेगा तो भावलिंगकी उत्पत्ति नहीं होगी, क्योंकि कार्यकी उत्पत्ति समस्त कारणोंके मिलनेपर ही होती है। किन्तु अन्य कारण न मिलनेपर कार्य न होनेका यह अर्थ नहीं कि जो कारण मिले हैं उनमें कारणत्व भाव (धर्म) नहीं है। यदि इनमें कारणत्व न हो तो इनके बगैर भी, अन्य कारणोंके मिल जाने मात्रसे ही कार्य हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं है। अतः इनमें स्वभावतः वास्तविकरूप कारणत्व शक्ति सिद्ध हो जाती है और इसी प्रकार अन्य कारणोंमें भी सिद्ध हो जाती है। कारणका लक्षण भी मात्र इतना ही है कि—'जिसके बिना कार्य न हो।'

जेण विणा जं ण होदि चेव तं तस्स कारणं। —श्री धवल १४–९०

अर्थ—जिसके बिना जो नहीं होता है वह उसका कारण है।

यह बात दूसरी है कि कार्यके हो जाने पर, उस कार्यको देखकर यह अनुमान लगा लिया जाय कि इस कार्यके लिए जो-जो कारण आवश्यक थे वह सब मिले हैं, क्योंकि सर्व कारण मिले बिना उस कार्यका होना असम्भव था। यह भी अनुमान हो जाता है कि जो कारण साथमें रहनेवाले हैं वे साथमें हैं और जो पूर्वमें हो जानेवाले हैं वे हो चुके हैं। जैसे प्रकाशको देखकर दीपकका या धूमको देखकर अग्निका अनुमान

लगाया जा सकता है। इस प्रकार कार्य अपने कारणोंका मात्र ज्ञापक ही हो सकता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जब प्रकाश या धूम अपने उपादानके अनुसार उत्पन्न हुआ तो दीपक या अग्निको स्वयमेव ही उसके निमित्तरूपसे उपस्थित होना पड़ा। जिसको प्रकाश या धूमकी आवश्यकता होती है उसको उसके कारणभूत दीपक या अग्निको अपने पुरुषार्थ द्वारा जुटाना पड़ता है। अतः आपका उपर्युक्त सिद्धान्त प्रत्यक्षके भी विरुद्ध है।

यदि आपका उपर्युक्त सिद्धान्त माना जायगा तो कार्य-कारणभाव बिल्कुल उल्टा हो जायगा, क्योंकि जब स्वयमेव उपादानसे होनेवाले कार्यके अनुसार कारणों को उपस्थित होना पड़ा तो वह कार्य उन कारणोंकी उपस्थितिमें कारण हो गया अर्थात् कार्य कारण बन गया और कारण कार्य बन गये। इसका फलितार्थ यह हुआ कि उपरोक्त दृष्टान्तोंमें भावलिंग, प्रकाश या धूम (जो कार्य हैं) द्रव्यलिंग, दीपक या अग्निके होनेमें कारण बन गये, क्योंकि जब भावलिंग आदि अपने उपादानसे हुए तो अनिवार्यरूपसे द्रव्यलिंग आदिको होना पड़ा। यह बात आगम तथा प्रत्यक्षके विरुद्ध है।

'उपादानके अनुसार भावलिंग प्राप्त होता है' केवल यह मान्यता भी ठीक नहीं है। भावलिंग क्षायोपशमिक भाव है। इसकी प्राप्ति चारित्र मोहनीय कर्मके क्षयोपशमरूप निमित्तके अनुसार ही उपादानमें होती है।

तत्र···क्षयोपशमेन युक्तः क्षायोपशमिकः। —श्री पञ्चास्तिकाय गा० ५६ की टीका

अर्थ—कर्मोंके क्षयोपशम सहित जो भाव है वह क्षायोपशमिक भाव है।

इस भावको, पौद्‌गलिक कर्मके क्षयोपशम द्‌वारा जन्य होनेके कारण ही कथंचित् मूर्तीक तथा अवधिज्ञानका विषय माना है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयोपशमसे ही भावलिंग आत्मामें उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं। अतः आपका यह फलितार्थ निकालना कि 'निमित्तकी प्राप्ति उपादानके अनुसार होती है' आगम विरुद्ध है।

आपके उपरोक्त सिद्धान्तके अनुसार जब उपादान अपने अनुसार कार्य कर ही लेता है, तब निमित्तकी आवश्यकता ही क्या रह जाती है। चूंकि आगममें सर्वत्र यह प्ररूपण किया गया है कि निमित्त तथा उपादान रूप उभय कारणोंसे ही कार्य होता है और निमित्त हेतु कर्ता भी होता है, अतः शब्दोंमें तो आपने उसे (निमित्तको) इन्कार नहीं किया, किन्तु मात्र शब्दोंमें स्वीकार करते हुए भी, आप निमित्तभूत वस्तुमें कारणत्वभाव स्वीकार नहीं करते हैं, तथा निमित्तको अकिंचित्कर बतलाते हुए, मात्र उपादानके अनुसार ही अर्थात् एकान्ततः मात्र उपादानसे ही कार्यकी उत्पत्ति मानते हैं। आगमके शब्दोंको केवल निबाहनेके लिये यह कह दिया गया है कि निमित्तकी प्राप्ति उपादानके अनुसार हुआ करती है। ताकि यह न समझा जाय कि आगम माननीय नहीं है। इस एकान्त सिद्धान्तकी मान्यतासे यह स्पष्ट हो जाता है कि निमित्त कारण मात्र शब्दोंमें ही माना जा रहा है, वास्तवमें उसको कारणरूपसे नहीं माना जा रहा है।

हमने अपनी दूसरी प्रतिशंकामें यह स्पष्ट किया था कि प्रवचनसारकी गाथा १६९ तथा उसकी श्री अमृतचन्द्रकृत टीकामें जो 'स्वयं' शब्द आया है उसका अर्थ 'अपने आप' न होकर 'अपने रूप' ही है। इसके अनन्तर पुनः आपने अपने प्रत्युत्तरमें यह कहा है कि 'स्वयमेव पदका अर्थ 'स्वयं ही' है अपने रूप नहीं।

इस विषयमें हमारा कहना यह है कि 'स्वयमेव' पद कुन्दकुन्द स्वामीके ग्रन्थोंमें जहाँ भी कार्य-कारणभावके प्रकरणमें आया है वहां सर्वत्र उसका अर्थ 'अपने रूप' अर्थात् 'स्वयं की वह परिणति है' 'या स्वयंमें ही वह परिणति होती है' ऐसा ही करना चाहिये। 'बिना सहकारी कारणके अपने आप वह परिणति होती है' ऐसा अर्थ कदापि संगत नहीं हो सकता है। इसका कारण यह है कि समयसार गाथा ८० व ८१ में तथा गाथा १०५ में और इसके अतिरिक्त अन्य बहुतसे स्थानोंमें भी आचार्य कुन्दकुन्द तथा आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा तथा इसी प्रकार समस्त आचार्य परम्पराके आगमसाहित्यमें उपादानकी स्वपरप्रत्यय-रूप प्रत्येक परिणति निमित्तसापेक्ष ही स्वीकार की गयी है और यह हम पूर्वमें स्पष्ट कर चुके हैं कि निमित्त भी उपादानकी तरह कार्योत्पत्तिमें सहकारी कारणके रूपमें वास्तविक तथा अनिवार्य ही है, कल्पित नहीं; अतः उपादानकी स्वपरप्रत्यय परिणति निमित्तकारणके सहयोगके बिना अपने आप ही हो जाया करती है— यह मान्यता आगम विरुद्ध है। इसलिये यही मानना श्रेयस्कर है कि कार्यकारणभावके प्रकरणमें जहाँ भी आगम साहित्यमें 'स्वयमेव' पद आया है वहां पर उसका अर्थ वही करना चाहिये जो हमने ऊपर लिखा है।

आपने लिखा है कि प्रवचनसार गाथा १६९ में 'स्वयमेव' पदका अर्थ 'स्वयं ही' है, 'अपने रूप' नहीं। और आगे लिखा है कि 'इसके लिये समयसार गाथा ११६ आदि तथा १६८ संख्याक गाथाओंका अवलोकन करना प्रकृतमें उपयोगी होगा।'

इस पर हमारा कहना यह है कि किसी भी शब्दका अर्थ प्रकरणके अनुसार निश्चित किया जाता है। जैसे प्रवचनसार गाथा १६८ की श्री अमृतचन्द्र आचार्यकृत टीकामें पठित 'स्वयमेव' शब्दका अर्थ प्रकरणानुसार 'अपने आप' ही आपने ठीक माना है और हम भी वहाँ इसी अर्थको ठीक समझते हैं। कारण कि वहाँ प्रकरणके अनुसार यह दिखलाया गया है कि लोक पुद्गलकायोंसे स्वतः ही व्याप्त हो रहा है, उसका कारण अन्य नहीं है; लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि आगममें जहाँ भी 'स्वयमेव' पदका पाठ किया गया है वहाँ सर्वत्र उक्त १६८वीं गाथाकी टीकाके 'स्वयमेव' पदके समान 'अपने आप' अर्थ करना ही उचित होगा। जैसे भोजनके समय 'सैन्धव' शब्दका नमक अर्थ लोकमें लिया जाता है और युद्धादि कार्योंके अवसर पर 'सैन्धव' शब्दका 'घोड़ा' ही अर्थ लिया जाता है इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये।

समयसार गाथा ११६ आदिमें जो 'स्वयं' शब्द आया है उसका भी अर्थ 'अपने आप' नहीं माना जा सकता है। कारण कि उन गाथाओंमें पठित 'स्वयं' शब्दका इतना ही प्रयोजन ग्राह्य है कि पुद्गल कर्मवर्गणाएँ ही कर्मरूपसे परिणत होती हैं, जीवका पुद्गलमें कर्मरूपसे परिणमन नहीं होता। वे गाथाएँ निम्न प्रकार हैं—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥११६॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥११७॥
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण।
ते सयमपरिणमंते कहं तु परिणामयदि चेदा ॥११८॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥११९॥

णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चि य होदि पुग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥१२०॥ (पंचकम्)

इन गाथाओं द्वारा आचार्य कुन्दकुन्दने पुद्गलद्रव्यके परिणामी स्वभावकी सिद्धि की है । जैसे—

अथ पुद्गलद्रव्यस्य परिणामिस्वभावत्वं साधयति सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति ।
—उल्लिखित गाथाओंकी अवतरणिका

अर्थ—उक्त गाथाओंके द्वारा सांख्यमतानुयायी शिष्यके प्रति पुद्गलद्रव्यका परिणामी स्वभाव सिद्ध करते हैं ।

यहाँपर पहली बात तो यह है कि सांख्यमतानुयायी पुद्गल द्रव्यके परिणामी स्वभावको नहीं मानता है, इसलिये आचार्यको इसके सिद्ध करनेकी आवश्यकताकी अनुभूति हुई है । दूसरी बात यह है कि इस अवतरणिकामें 'स्वयं' शब्दका पाठ नहीं होनेसे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उक्त गाथाओं द्वारा केवल वस्तुके परिणामी स्वभावकी सिद्धि करना ही आचार्यको अभीष्ट रही है, अपने आप परिणामी स्वभावकी नहीं । अब विचारना यह है कि यदि आचार्य कुन्दकुन्दको उक्त गाथाओंके द्वारा अपने आप अर्थात् अन्य (आत्मा) की सहायताकी अपेक्षा रहित पुद्गलद्रव्यका कर्मरूपसे परिणामी स्वभाव सिद्ध करना अभीष्ट होता तो आचार्य अमृतचन्द्र इनकी उक्त अवतरणिकामें 'स्वयमेव' शब्दका पाठ अवश्य करते । दूसरी बात यह है कि गाथा ११७ के उत्तरार्धमें जो संसारके अभावकी अथवा सांख्यमतको प्रसक्तिरूप आपत्ति उपस्थित की है वह पुद्गलको परिणामी स्वभाव न माननेपर ही उपस्थित हो सकती है 'अपने आप परिणामी स्वभाव' के अभाव में नहीं । कारण कि परिणामी स्वभावके अभावमें तो उक्त दोनों आपत्तियोंकी प्रसक्ति सम्भव है, परन्तु 'अपने आप परिणामी स्वभाव' के अभावमें वे आपत्तियाँ इसलिए सम्भव नहीं मालूम देतीं कि पुद्गल द्रव्यमें 'अपने आप परिणामी स्वभाव' के अभावमें परसापेक्ष परिणामी स्वभावका सद्भाव सिद्ध हो जायगा । ऐसी हालतमें संसारका अभाव अथवा सांख्य समय कैसे प्रसक्त हो सकेगा ? यह बात विचारणीय है । एक बात और विचारणीय है कि यदि इन गाथाओंमें 'स्वयं' शब्दका अर्थ 'अपने आप' ग्राह्य माना जायगा तो गाथा ११७के पूर्वार्द्धमें भी 'स्वयं' शब्दके पाठकी आवश्यकता अनिवार्य हो जायगी, ऐसी हालतमें उसमें आचार्य कुन्दकुन्द 'स्वयं' शब्दके पाठ करनेकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे । इन सब कारणोंसे स्पष्ट है कि ११६ आदि गाथाओंमें आचार्य कुन्दकुन्दको 'स्वयं' शब्दका अर्थ 'अपने आप' अभीष्ट नहीं था, बल्कि 'अपने रूप' ही अभीष्ट था । इस निष्कर्षके साथ जो इन गाथाओंका अर्थ होना चाहिये वह निम्न प्रकार है—

अर्थ—यदि पुद्गलद्रव्य जीवमें अपने रूपसे बद्ध नहीं होता और उसकी अपने रूपसे कर्मरूप परिणति नहीं होती तो ऐसी हालतमें वह अपरिणामी ही ठहरता है । इस तरह जब कार्मणवर्गणाएँ कर्मरूपसे परिणत न हों तो एक तो संसारका अभाव हो जायगा, दूसरे शब्दोंमें परिणामी स्वभावका निषेध करनेवाले सांख्यमत की प्रसक्ति हो जायगी । यदि कहा जाय कि जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यको कर्मभावसे परिणत करा देगा, इसलिए न तो संसारका अभाव होगा और न सांख्यमतकी प्रसक्ति ही प्राप्त होगी, तो जीवद्रव्य कर्मरूपसे परिणत होनेकी योग्यता रखनेवाले पुद्गलद्रव्यको कर्मरूपसे परिणत करायगा अथवा ऐसे पुद्गलको कर्मरूपसे परिणत करायगा जिसमें कर्मरूपसे परिणत होनेकी योग्यता विद्यमान नहीं है । यदि जीव उन पुद्गलोंको कर्मरूपसे परिणत करावेगा जिनमें कर्मरूपसे परिणत होनेकी योग्यता विद्यमान नहीं है तो जिन पुद्गलोंमें कर्मरूपसे

परिणत होनेकी योग्यताका अभाव है याने जो कभी कर्मरूपसे परिणत हो ही नहीं सकते हैं उन्हें जीव द्रव्य कैसे कर्मरूप बना सकेगा, इसलिए यदि यह माना जाय कि ऐसे पुद्‌गलोंको जीव द्रव्य कर्मरूपसे परिणत करेगा जिनमें कर्मरूपसे परिणत होनेकी योग्यता विद्यमान है तो फिर 'जीव अपरिणमनशील अर्थात् परिणमनकी योग्यतासे रहित पुद्‌गलको कर्मरूपसे परिणमन कराता है' यह ऊपर गाथा ११८ के पूर्वार्द्धमें प्रतिज्ञात सिद्धान्त मिथ्या हो जाता है। इस तरह गाथा ११६ से संसूचित यह सिद्धान्त ही ठीक है कि जीवके साथ पुद्‌गलकी अपनी बद्धता होती है। ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जीवके साथ संयोग होनेपर भी पुद्‌गल स्वयं अबद्ध ही बना रहता है। इसी तरह 'जीवके साथ संयुक्त होनेपर पुद्‌गलमें स्वयंकी कर्मरूप परिणति हो जाया करती है।' ऐसा नहीं समझना चाहिये कि जीवके साथ संयुक्त होकर भी पुद्‌गल स्वयं कर्मरूप परिणतिसे अलग ही बना रहता है। इस प्रकार यह बात निश्चित हो जाती है कि कर्मरूप परिणतिको प्राप्त पुद्‌गलद्रव्यकी ही कर्मरूप अवस्था है और इस तरह ज्ञानावरणादि आठ कर्मरूप जितनी भी अवस्थाएँ बनती हैं वे सब पुद्‌गलकी ही अवस्थाएँ हैं।

इस विवेचनसे बिल्कुल स्पष्ट है कि ११६ आदि गाथाओंमें पठित 'स्वयं' शब्दका अर्थ 'अपने आप' न होकर 'अपने रूप' ही करना चाहिये।

हम अब आगमके एक दो और भी ऐसे प्रमाण यहाँ दे रहे हैं जिनमें 'स्वयमेव' या 'स्वयं' शब्दका 'अपने आप' अर्थ न होकर 'आप ही' अर्थ होता है। इसके लिये समयसारकी ३०६ व ३०७ गाथाओंकी आत्मख्याति टीकाको देखिये। इन गाथाओंकी टीकामें पठित **'स्वयमेवापराधत्वात्'** तथा **'स्वयममृतकुम्भो भवति'** इन वाक्योंमें 'स्वयं' शब्दका 'आप ही' यह अर्थ ही ग्रहण करना चाहिये। इसी प्रकार समयसार-गाथा १३ की आत्मख्याति टीकामें पठित **'स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षानुपपत्तेः'** इस वाक्यमें भी 'स्वयं' शब्दका 'आप रूप' अर्थ ही अभीष्ट है।

आगे आपने लिखा है कि 'समयसार गाथा १०५ में उपचारका जो अर्थ प्रथम प्रश्नके उत्तरमें किया गया है वह अर्थ संगत है।' इस विषयमें हमने द्वितीय प्रतिशंकामें जो आशय व्यक्त किया था, उसके ऊपर आपने गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं किया। अब इस प्रतिशंकामें भी पूर्वमें उपचारके अर्थके विषयमें हम विस्तार पूर्वक लिख आये हैं जिसपर आप अवश्य ही गम्भीरतापूर्वक विचार करेंगे।

आपने उपचार शब्दके अपने द्वारा किये अर्थकी संगतिके लिये जो धवल पुस्तक ६ पृष्ठ ११का प्रमाण उपस्थित किया है उसके विषयमें हमारा कहना यह है कि उक्त प्रकरणमें आत्मामें विद्यमान कर्तृत्वका उपचार उससे (आत्मासे) अभिन्न (एक क्षेत्रावगाही) पुद्‌गलद्रव्यमें किया गया है, इसलिये **'मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते च उपचारः प्रवर्तते'** उपचारकी यह व्याख्या यहाँपर घटित हो जाती है, परन्तु ऐसा उपचार प्रकृतमें सम्भव नहीं है। कारण कि आत्माके कर्तृत्वका उपचार यदि द्रव्यकर्ममें आप करेंगे तो इस उपचारके लिये सर्वप्रथम आपको निमित्त तथा प्रयोजनको देखना होगा, जिनका कि यहाँपर सर्वथा अभाव है। इस विषयका विवेचन हम इस लेखमें पहले कर ही चुके हैं।

नोट—इस विषयमें प्रश्न ५,६,११ और १७ पर भी दृष्टि डालिये।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका १

द्रव्यकर्मके उदयसे संसारी आत्माका विकारभाव और चतुर्गतिभ्रमण होता है या नहीं ?

प्रतिशंका ३ का समाधान

इस प्रश्नका समाधान करते हुए प्रथम उत्तरमें ही हम यह बतला आये हैं कि संसारी आत्माके विकारभाव और चतुर्गतिपरिभ्रमणमें द्रव्यकर्मका उदय निमित्तमात्र है। विकारभाव तथा चतुर्गति परिभ्रमणका मुख्यकर्ता तो स्वयं आत्मा ही है। इस तथ्यकी पुष्टिमें हमने समयसार, पंचास्तिकाय टीका, प्रवचनसार और उसकी टीकाके अनेक प्रमाण दिये हैं। किन्तु अपर पक्ष इस उत्तरको अपने प्रश्नका समाधान माननेके लिए तैयार नहीं प्रतीत होता। एक ओर तो वह द्रव्यकर्मके उदयको निमित्तरूपसे स्वीकार करता है और दूसरी ओर द्रव्य कर्मोदय और संसारी आत्माके विकारभाव तथा चतुर्गतिपरिभ्रमणमें व्यवहार नयसे बतलाये गये निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धको अपने मूल प्रश्नका उत्तर नहीं मानता इसका हमें आश्चर्य है। हमारे प्रथम उत्तरको लक्ष्य कर अपर पक्षकी ओरसे उपस्थित की गई प्रतिशंका २ के उत्तरमें भी हमारी ओरसे अपने प्रथम उत्तरमें निहित अभिप्रायकी ही पुष्टि की गई है।

तत्काल हमारे सामने हमारे द्वितीय उत्तरके आधारसे लिखी गई प्रतिशंका ३ विचारके लिए उपस्थित है। इस द्वारा सर्वप्रथम यह शिकायत की गई है कि हमारी ओरसे अपर पक्षके मूल प्रश्नका उत्तर न तो प्रथम वक्तव्यमें ही दिया गया है और न ही दूसरे वक्तव्यमें दिया गया है। 'संसारी जीवके विकारभाव और चतुर्गति परिभ्रमणमें कर्मोदय व्यवहारनयसे निमित्तमात्र है, मुख्य कर्ता नहीं' इस उत्तरको अपर पक्ष अप्रासंगिक मानता है। अब देखना यह है कि वस्तुस्वरूपको स्पष्ट करनेकी दृष्टिसे जो उत्तर हमारी ओरसे दिया गया है वह अप्रासंगिक है या अपर पक्षका वह कथन अप्रासंगिक हो नहीं सिद्धान्तविरुद्ध है जिसमें उसकी ओरसे विकारका कारण बाह्य सामग्री है इसे यथार्थ कथन माना गया है।

अपर पक्षने पद्मनन्दि पंचविंशतिका २३, ७ का 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्' इस वचनको उद्धृत कर जो विकारको दोका कार्य बतलाया है सो यहाँ देखना यह है कि जो विकाररूप कार्य होता है वह किसी एक द्रव्यकी विभाव परिणति है या दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभाव परिणति है ? वह दो द्रव्योंकी मिलकर एक विभाव परिणति है यह तो कहा नहीं जा सकता, क्योंकि दो द्रव्य मिलकर एक कार्यको त्रिकालमें नहीं कर सकते। इसी बातको समयसार आत्मख्याति टीकामें स्पष्ट करते हुए बतलाया है—

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥

इसकी टीका करते हुए पं० श्री जयचन्द जी लिखते हैं—

दो द्रव्य एक होके नहीं परिणमते और दो द्रव्यका एक परिणाम भी नहीं होता तथा दो द्रव्यकी एक परिणति क्रिया भी नहीं होती, क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं वे अनेक ही हैं एक नहीं होते ॥५३॥

इसके भावार्थ में वे लिखते हैं—

दो वस्तु हैं वे सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेश भेदरूप ही हैं, दोनों एकरूप होकर नहीं परिणमतीं, एक परिणामको भी नहीं उपजातीं और एक क्रिया भी उनकी नहीं होती ऐसा नियम है। जो दो द्रव्य एकरूप हो परिणमैं तो सब द्रव्योंका लोप हो जाय।

यह वस्तुस्थिति है। इसके प्रकाशमें **'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्'**। इस वचनका वास्तविक यही अर्थ फलित होता है कि संयोगरूप भूमिकामें एक द्रव्यके विकार परिणतिके करने पर अन्य द्रव्य विवक्षित पर्यायके द्वारा उसमें निमित्त होता है। इससे स्पष्ट विदित हो जाता है कि निश्चय व्यवहार दोनों नयवचनोंको स्वीकार कर 'द्वयकृतो लोके विकारो भवेत्' यह वचन लिखा गया है। स्पष्ट है कि मूल प्रश्नका उत्तर लिखते समय जो हम यह सिद्ध कर आये हैं कि 'संसारी आत्माके विकार भाव और चतुर्गति परिभ्रमणमें द्रव्यकर्मका उदय निमित्तमात्र है। उसका मुख्य कर्ता तो स्वयं आत्मा ही है।' वह यथार्थ लिख आये हैं। पद्मनन्दिपंचविंशतिकाके उक्त वचनसे भी यही सिद्ध होता है।

अपर पक्षका कहना है कि 'यदि क्रोध आदि विकारी भावोंको कर्मोदय बिना मान लिया जावे तो उपयोगके समान ये भी जीवके स्वभाव हो जायेंगे और ऐसा मानने पर इन विकारी भावोंका नाश न होनेसे मोक्षके अभाव का प्रसंग आजावेगा।' आदि,

समाधान यह है कि क्रोध आदि विकारी भावोंको जीव स्वयं करता है, इसलिए निश्चयनयसे वे परनिरपेक्ष ही होते हैं इसमें सन्देह नहीं। कारण कि एक द्रव्यके स्वचतुष्टयमें अन्य द्रव्यके स्वचतुष्टयका अत्यन्त अभाव है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर श्री जयधवला पु० ७ पृ० ११७ में कहा है—

वज्झकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणामो।

प्रत्येक वस्तुका परिणाम बाह्य कारण निरपेक्ष होता है।

किन्तु जिस-जिस समय जीव क्रोधादि भावरूपसे परिणमता है उस-उस समय क्रोधादि द्रव्यकर्मके उदयको नियमसे कालप्रत्यासत्ति होती है, इसलिए व्यवहार नयसे क्रोधादि कषायके उदयको निमित्तकर क्रोधादि भाव हुए यह कहा जाता है। कारण दो प्रकारके हैं—बाह्य कारण और आभ्यन्तर कारण। बाह्य कारणको उपचरित कारण कहा है और आभ्यन्तर कारणको अनुपचरित कारण संज्ञा है। इन दोनोंकी समग्रतामें कार्यकी उत्पत्ति होनेका नियम है। अतएव न तो संसारका ही अभाव होता है और न ही मोक्षमें क्रोधादि भावोंकी उत्पत्तिका प्रसंग ही उपस्थित होता है।

क्रोधादि कर्मोंको निमित्त किये बिना क्रोधादि भाव होते हैं ऐसा हमारा कहना नहीं है और न ऐसा आगम ही है। हमारा कहना यह है कि क्रोधादि विकारी भावोंको स्वयं स्वतन्त्र होकर जीव उत्पन्न करता है, क्रोधादि कर्म नहीं। आगमका भी यही अभिप्राय है। यदि ऐसा न माना जायगा तो न तो क्रोधादि भावोंका कभी अभाव होकर इस जीवको मुक्तिकी ही प्राप्ति हो सकेगी और न ही दो द्रव्योंमें भिन्नता सिद्ध हो सकेगी। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर तत्त्वानुशासनमें यह वचन उपलब्ध होता है—

अभिन्नकर्तृकर्मादिविषयो निश्चयो नयः।
व्यवहारनयो भिन्नकर्तृ-कर्मादिगोचरः ॥ २९ ॥

जिस द्रव्यके उसी द्रव्यमें कर्ता और कर्म आदिको विषय करनेवाला निश्चयनय है तथा विविध द्रव्योंमें एक-दूसरेके कर्ता और कर्म आदिको विषय करनेवाला व्यवहारनय है ॥ २९ ॥

यहाँ विविध द्रव्योंमें एक-दूसरेके कर्ता आदि धर्मोंको व्यवहारनयसे स्वीकार किया गया है सो यह कथन तभी बन सकता है जब एकके धर्मको दूसरेमें आरोपित किया जाय। इसीको असद्भूत व्यवहार कहते हैं। इस तथ्यको विशदरूपसे समझनेके लिए आलापपद्धतिके 'अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः—अन्यत्र प्रसिद्ध धर्मका अन्यत्र समारोप करना असद्भूत व्यवहार है' इत्यादि वचनपर दृष्टिपात कीजिए।

अपर पक्षने आप्तपरीक्षा कारिका २से 'सदकारणवन्नित्यम्' वचनको क्यों उद्धृत किया इसका विशेष प्रयोजन हम नहीं समझ सके। क्या ऐसा एकान्त नियम है कि जो-जो जीवका स्वभाव होता है वह सर्वथा नित्य होता है। अपर पक्ष इस बातको भूल जाता है कि जैन दर्शनके अनुसार आप्तपरीक्षाका उक्त वचन द्रव्यार्थिकनयका ही वक्तव्य हो सकता है, पर्यायार्थिकनयका वक्तव्य नहीं, क्योंकि जैन-दर्शनमें कोई भी वस्तु सर्वथा नित्य नहीं स्वीकार की गई है। और स्वभाव पर्याय सर्वथा कारणके अभावमें होती हो यह भी नहीं है। वहाँ भी प्रत्येक कार्यके प्रति बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रताको जैनदर्शन स्वीकार करता है। जहाँ भी आगममें स्वभाव कार्यको परनिरपेक्ष बतलाया है वहाँ उसका आशय इतना ही है कि जिस प्रकार क्रोधादि भाव कर्मोदय आदिको निमित्तकर होते हैं उस प्रकार स्वभाव कार्य कर्मोदय आदिको निमित्तकर नहीं होते। स्पष्ट है कि आप्तपरीक्षाका उक्त वचन प्रकृतमें उपयोगी नहीं है।

अपर पक्षने जयधवला १-५६ के वचनको उद्धृतकर जो यह प्रसिद्ध किया है कि प्रत्येक कार्य बाह्याभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें होता है सो इसका हमने कहाँ निषेध किया है। रागादि भावकी उत्पत्तिमें कर्मकी निमित्तताको जैसे अपर पक्ष स्वीकार करता है उसी प्रकार हम भी स्वीकार करते हैं। विवाद इसमें नहीं है। किन्तु विवाद इसमें है कि पर द्रव्यकी विवक्षित पर्यायको निमित्तकर दूसरे द्रव्यमें जो कार्य होता है उसका यथार्थ कर्ता कौन है? अपर पक्षने परमात्मप्रकाश गाथा ६६ और ७८को उपस्थित कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि जीवको सुख-दुःख व नरक-निगोद आदि दुर्गति देनेवाला कर्म ही है। आत्मा तो पंगुके समान है। वह न कहीं जाता है और न आता है। तीन लोकमें इस जीवको कर्म ही ले जाता है और कर्म ही ले आता है। शायद अपर पक्ष निमित्त कर्ताका यही अर्थ करता है और इसीको वह अपने प्रश्नका समुचित उत्तर मानता है। किन्तु यह व्यवहारनयका वक्तव्य है इसे अपर पक्ष भूल जाता है। परका सम्पर्क करनेसे जीवकी कैसी गति होती है यह इन वचनों द्वारा प्रसिद्ध किया गया है। **यहाँ यह स्मरण रखने योग्य बात है कि परका सम्पर्क करना और न करना इसमें जीवकी स्वतन्त्रता है। इसमें उसकी स्वतन्त्रता है कि जैसे कोई पुरुष या स्त्री अपने ऊपर किरासिन तेल डालकर और अग्नि लगाकर जल मरे। जो ऐसा करता है वह नियमसे मरकर दुर्गतिका पात्र होता है और जो ऐसा नहीं करता वह मरकर दुर्गतिका पात्र नहीं होता। ऐसा ही इनमें निमित्तनैमित्तक योग है।** इसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। परमात्मप्रकाशके कर्ता इस संसारी जीवको परके सम्पर्क करनेका क्या फल है यह दिखलाकर उससे विरत करना चाहते हैं। यह तो है कि यह जीव परका सम्पर्क करके नरक-निगोदका पात्र होता है और अपना पुरुषार्थ भूलकर पंगुके समान बना रहता है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि यह जीव परका सम्पर्क तो करे नहीं, फिर भी पर द्रव्य इसे सुखी-दुखी या नरक-निगोद आदिका पात्र बना देवे। परका सम्पर्क करनेसे जीवका सुखी-दुखी होना और बात है और परसे यह जीव सुखी-दुखी होता है, ऐसा मानना और बात है। परमात्मप्रकाशके कर्ताने इनमेंसे प्रथम वचनको ध्यानमें रखकर ही 'अप्पा पंगुह' तथा 'कम्मइँ दिढघणचिक्कणइँ' इत्यादि वचन

कहे हैं। यद्यपि संसारी जीव परका सम्पर्क करनेके फलस्वरूप स्वयं सुखी-दुखी तथा नरक-निगोद आदि गतियोंका पात्र होता है। पर यह कार्य जिनके सम्पर्कमें होता है उनकी निमित्तता दिखलानेके लिए ही यह कहा गया है कि आत्मा पंगुके समान है। वह न आता है और न जाता है। विधि ही तीन लोकमें इस जीवको ले जाता है और ले आता है। इत्यादि।

यहाँ इतना विशेष जानना चाहिए कि परमात्मप्रकाश दोहा ६६ में आया हुआ विधि शब्द जहाँ द्रव्य-कर्मका सूचक है वहाँ वह परमात्माकी प्राप्तिके प्रतिपक्षभूत भावकर्मको भी सूचित करता है। जब इस जीवकी द्रव्य-पर्यायस्वरूप जिस प्रकारकी योग्यता होती है तब उसकी उसके अनुसार ही परिणति होती है और उसमें निमित्त होने योग्य बाह्य सामग्री भी उसीके अनुरूप मिलती है ऐसा ही त्रिकालाबाधित नियम है, इसमें कहीं अपवाद नहीं, तथा यदि परको लक्ष्यकर परिणमन होता है तो नियमसे विभाव परिणतिकी उत्पत्ति होती है और स्वभावको लक्ष्यकर परिणमन होता है तो नियमसे स्वभाव पर्यायकी उत्पत्ति होती है। जीवके संसारी बने रहने और मुक्ति प्राप्त करनेकी यह चाबी है। इसमें भी कहीं कोई अपवाद नहीं। यहाँ परके सम्पर्क करनेका अभिप्राय ही परको लक्ष्यकर परिणमन करना लिया है। पर वस्तु विभाव परिणतिमें तभी निमित्त होती है जब यह जीव उसको लक्ष्यकर परिणमन करता है, अन्यथा संसारी जीव कभी भी मुक्ति प्राप्त करनेका अधिकारी नहीं हो सकता। अतएव प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि जब विवक्षित द्रव्य अपना कार्य करता है तब बाह्य सामग्री उसमें यथायोग्य निमित्त होती है। परमात्मप्रकाशके उक्त कथनका यही अभिप्राय है। समयसार गाथा २७८ व २७९ से भी यही सिद्ध होता है। उक्त गाथाओंमें यद्यपि यह कहा गया है कि जिस प्रकार स्फटिक मणि आप शुद्ध है, वह लालिमा आदि रूप स्वयं नहीं परिणमता है। किन्तु वह अन्य रक्त आदि द्रव्यों द्वारा लालिमारूप परिणमाया जाता है उसी प्रकार ज्ञानी आप शुद्ध है, वह राग आदि रूप स्वयं नहीं परिणमता है। किन्तु वह रागादिरूप दोषों द्वारा रागी किया जाता है। परन्तु इस कथनका ठीक आशय क्या है इसका स्पष्टीकरण आचार्य अमृतचन्द्रने 'न जातु रागादि' इत्यादि कलश द्वारा किया है। इसमें पर पदार्थको निमित्त न बतलाकर परके संगमें निमित्तता सूचित की गई है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि आगममें जहाँ-जहाँ इस प्रकारका कथन आता है कि जीवको कर्म सुख-दुख देते हैं, कर्म बड़े बलवान् हैं, वे ही इसे नरकादि दुर्गतियोंमें और देवादि सुगतियोंमें ले जाते हैं वहाँ-वहाँ उक्त कथनका यही अर्थ करना चाहिए कि जब तक यह जीव कर्मोदयकी संगति करता रहता है तब तक इसे संसार परि-भ्रमणका पात्र होना पड़ता है। कर्मोदय जीवके सुख-दुःखादिमें निमित्त है इसका आशय इतना ही है। परमात्मप्रकाशमें इसी आशयको इन शब्दोंमें व्यक्त किया गया है कि यह जीव पंगुके समान है। वह न कहीं जाता है और न आता है, कर्म ही इसे तीन लोकमें ले जाता है और ले आता है आदि।

आगममें दोनों प्रकारका कथन उपलब्ध होता है। कहीं उपादानकी मुख्यतासे कथन किया गया है और कहीं निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीकी मुख्यतासे कथन किया गया है। जहाँ उपादानकी मुख्यतासे कथन किया गया है वहाँ उसे निश्चय (यथार्थ) कथन जानना चाहिए और जहाँ निमित्त व्यव-हारके योग्य बाह्य सामग्रीकी मुख्यतासे कथन किया गया है वहाँ उसे असद्भूतव्यवहार (उपचरित) कथन जानना चाहिए।

श्री समयसार गाथा ३२ की टीकामें निमित्त व्यवहारके योग्य मोहोदयको भावक और आत्माको भाव्य कहा गया है सो उसका आशय इतना ही है कि जब तक यह जीव मोहोदयके सम्पर्कमें एकत्वबुद्धि करता रहता है तभी तक मोहोदयमें भावक व्यवहार होता है और आत्मा भाव्य कहा जाता है। यदि ऐसा

न माना जाय तो सतत मोहोदयके विद्यमान रहनेके कारण यह आत्मा भेदविज्ञानके बलसे कभी भी भाव्य-भावक संकर दोषका परिहार नहीं कर सकता। इस प्रकार उक्त कथन द्वारा आत्माकी स्वतन्त्रताको अक्षुण्ण बनाये रखा गया है। आत्मा स्वयं स्वतन्त्रपने मोहोदयसे अनुरंजित हो तो ही मोहोदय रंजक है, अन्यथा नहीं यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

समयसार गाथा १९८ में भी इसी तथ्यको सूचित किया गया है। जितने अंशमें जीव पुरुषार्थ हीन होकर कर्मोदयरूप विपाकसे युक्त होता है उतने अंशमें जीवमें विभाव भाव होते हैं। अतः ये परके सम्पर्कमें हुए हैं इसलिए इन्हें परभाव भी कहते हैं और ये आत्माके विभावरूप भाव होनेसे स्वभावरूप भावोंसे बहिर्भूत हैं, इसलिए हेय हैं। यदि इनमें इस जीवकी हेय बुद्धि हो जाय तो परके सम्पर्कमें भी हेय बुद्धि हो जाय यह तथ्य इस गाथा द्वारा सूचित किया गया है। स्पष्ट है कि यहाँ भी आत्माकी स्वतन्त्रताको अक्षुण्ण बनाये रखा गया है। कर्मोदय बलपूर्वक इसे विभावरूप परिणमाता है यह इसका आशय नहीं है। किन्तु जब वह जीव स्वयं स्वतन्त्रतापूर्वक कर्मोदयसे युक्त होता है तब नियमसे विभावरूप परिणमता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। समयसार गाथा १९९ का भी यही आशय है। समयसार गाथा २८१ में उक्त कथनसे भिन्न कोई दूसरी बात कही गई हो ऐसा नहीं समझना चाहिए। जिसको निमित्त कर जो भाव होता है वह उससे जायमान हुआ है ऐसा कहना आगम परिपाटी है जो मात्र किस कार्यमें कौन निमित्त है इसे सूचित करनेके अभिप्रायसे ही आगममें निर्दिष्ट की गई है। विशेष खुलासा हम पूर्वमें ही कर आये हैं। उपादानमें होनेवाले व्यापारको पृथक् सत्ताक बाह्य सामग्री त्रिकालमें नहीं कर सकती इस तथ्यको तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा। अतएव आत्मामें उत्पन्न होनेवाले राग, द्वेष और मोह कर्मोदयसे उत्पन्न होते हैं ऐसा कहना व्यवहार कथन ही तो ठहरेगा। इसे परमार्थभूत (यथार्थ) कथन तो किसी भी अवस्थामें नहीं माना जा सकता। समयसारकी उक्त गाथाओंमें इसी सरणिको लक्ष्यमें रखकर उक्त कथन किया गया है। तथा यही आशय उनकी टीका द्वारा भी व्यक्त किया गया है। यदि अपर पक्ष निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीमें यथार्थ कर्तृत्वकी बुद्धिका त्याग कर दे तो पूरे जिनागमकी संगति बैठ जाय। विज्ञेषु किमधिकम्।

पञ्चास्तिकाय गाथा १३१ को टीकापर हमने दृष्टिपात किया है। इसमें मोह तथा पुण्य-पापके योग्य शुभाशुभ भावोंका निर्देश किया गया है और साथ ही वे किसको निमित्त कर होते हैं यह भी बतलाया गया है। पञ्चास्तिकाय गाथा १४८ का भी यही आशय है इस तथ्यको स्वयं आचार्य अमृतचन्द्र 'बहिरङ्गान्तरङ्गबन्धकारणाख्यानमेतत्—यह बन्धके बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कारणका कथन है' इन शब्दों द्वारा स्वीकार करते हैं। गाथा १५०-१५१ में तो द्रव्यकर्ममोक्षके हेतुभूत परम संवररूपसे भावमोक्षके स्वरूपका विधान है। गाथा १५६ की टीकाका 'मोहनीयोदयानुवृत्तिवशात्' पद ध्यान देने योग्य है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जब यह जीव मोहनीयके उदयका अनुवर्तन करता है तभी यह उससे रञ्जित उपयोगवाला होता है और तभी यह पर द्रव्यमें शुभ या अशुभ भावको धारण करता है।

इस प्रकार समयसार और पञ्चास्तिकायके उक्त उल्लेखोंसे उसी तथ्यकी पुष्टि होती है जिसका हम पूर्वमें निर्देश कर आये हैं। बाह्य सामग्री दूसरेको बलात् अन्यथा परिणमाती है यह उक्त वचनोंका आशय नहीं है, जैसा कि अपर पक्ष उन वचनों द्वारा फलित करना चाहता है।

परमात्मप्रकाशके उल्लेखोंका आशय क्या है इसकी चर्चा हम पूर्वमें ही विस्तारके साथ कर आये हैं। मूलाराधना गा० १६२१ तथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २११ का भी आशय पूर्वोक्त कथनसे भिन्न

नहीं है। मूलाराधनामें 'कम्माइं बलियाइं' यह गाथा उस प्रसंगमें आई है जब निर्यापकाचार्य क्षपकको अपनी समाधिमें दृढ़ करनेके अभिप्रायसे कर्मकी बलवत्ता बतला रहे हैं और साथ ही उसमें अनुरञ्जायमान न होकर समताभाव धारण करनेकी प्रेरणा दे रहे हैं। यह तो है कि जिस समय जिस कर्मका उदय-उदीरणा होती है उस समय आत्मा स्वयं उसके अनुरूप परिणामका कर्ता बनता है, क्योंकि अपने उपादानके साथ उस परिणामको जिस प्रकार अन्तर्व्याप्ति है उसी प्रकार उस कर्मके उदयके साथ उसकी बाह्य व्याप्ति है। फिर भी आचार्यने यहाँपर कर्मोदयकी बलवत्ता बतलाकर उसमें अनुरंजायमान न होनेकी प्रेरणा इसलिए दी है कि जिससे यह आत्मा अपनी स्वतन्त्रताके भावपूर्वक कर्मोदयको निमित्तकर होनेवाले भावोंमें अपनेको आबद्ध न किये रहे।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २११ द्वारा पुद्गल द्रव्यकी जिस शक्तिका निर्देश किया है उसका आशय इतना ही है कि जब यह जीव केवलज्ञानके अभावरूपसे परिणमता है तब केवलज्ञानावरण द्रव्यकर्मका उदय उसमें निमित्त होता है। यदि ऐसा न माना जाय और पुद्गल द्रव्यकी सर्वकाल यह शक्ति मानी जाय कि वह केवलज्ञान स्वभावका सर्वदा विनाश करनेकी सामर्थ्य रखता है तो कोई भी जीव केवलज्ञानी नहीं हो सकता। स्पष्ट है कि उक्त वचन द्वारा आचार्यने पुद्गल द्रव्यकी केवलज्ञानावरणरूप उस पर्यायकी उदयशक्तिका निर्देश किया है जिसको निमित्तकर जीव केवलज्ञान स्वभावरूपसे स्वयं नहीं परिणमता। ऐसा ही इनमें निमित्त-नैमित्तिक योग है कि जब यह जीव केवलज्ञानरूपसे नहीं परिणमता तब उसमें केवलज्ञानावरणका उदय सहज निमित्त होता है। इसीको व्यवहारनयसे यों कहा जाता है कि केवलज्ञानावरणके उदयके कारण इस जीवके केवलज्ञानका घात होता है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाका यह उपकार प्रकरण है। उसी प्रसंगसे उक्त गाथा आई है, अतएव प्रकरणको ध्यानमें रखकर उसके हार्दको ग्रहण करना चाहिए।

शंका५ के द्वितीय उत्तरमें स्वा० का० अ० गाथा ३१९ के आधारसे जो हमने यह लिखा है कि शुभाशुभ कर्म जीवका उपकार या अपकार करते हैं सो यह कथन शुभाशुभ कर्मके उदयके साथ जीवके उपकार या अपकारकी बाह्य व्याप्तिको ध्यानमें रखकर ही किया गया है। इस जीवको कोई लक्ष्मी देता है या कोई उपकार करता है यह प्रश्न है। इसी प्रश्नका समाधान गाथा ३१९ में करते हुए बतलाया है कि लोकमें इस जीवको न तो कोई लक्ष्मी देता है और न अन्य कोई उपकार ही करता है। किन्तु उपकार या अपकार जो भी कुछ होता है वह सब शुभाशुभ कर्मको निमित्त कर होता है।

यह आचार्य वचन है। इस द्वारा दो बातें स्पष्ट की गई हैं। पूर्वार्ध द्वारा तो जो मनुष्य यह मानते हैं कि 'अमुक देवी-देवता आदिसे मुझे लक्ष्मी प्राप्त होगी या मेरी अमुक आपत्ति टल जायेगी' उसका निषेध यह कह कर किया गया है कि लोकमें जो कुछ भी होता है वह शुभाशुभ कर्मके उदयको निमित्त कर ही होता है। तू बाह्य सामग्रीके मिलानेकी चिन्तामें आत्मवंचना क्यों करता है? अनुकूल बाह्य सामग्री हो और अशुभ कर्मका उदय हो तो बाह्य सामग्रीसे क्या लाभ? उसका होना और न होना बराबर है। तथा उत्तरार्ध द्वारा यह सूचित किया गया है कि शुभाशुभ कर्म तेरी करणीका फल है, इसलिए जैसी तू करणी करेगा उसीके अनुरूप कर्मबन्ध होगा और उत्तर कालमें उसका फल भी उसीके अनुरूप मिलेगा। अतएव तू अपनी करणीकी ओर ध्यान दे। शुभाशुभ कर्म तो उपकार-अपकारमें निमित्तमात्र हैं, वस्तुतः उनका कर्ता तो तू स्वयं है। यह नय वचन है; इसे समझकर यथार्थको ग्रहण करना प्रत्येक सत्पुरुषका कर्तव्य है। अन्यथा शुभाशुभ कर्मका सद्भाव सदा रहनेसे कभी भी यह जीव उससे मुक्त न हो सकेगा।

जिसे उपकार कहते हैं वह भी मान्यताका फल है और जिसे अपकार कहते हैं वह भी मान्यताका फल है। यह संयोगी अवस्था है। अतएव जिसके संयोगमें इसके होनेका नियम है उनका ज्ञान इस वचन द्वारा कराया गया है। इतना ही आशय इस गाथाका लेना चाहिए। हमने शंका ५ के अपने दूसरे उत्तरमें जो कुछ भी लिखा है, इसी आशयको ध्यानमें रखकर लिखा है। अतएव इस परसे अन्य आशय फलित करना उचित नहीं है।

प्रश्न १६ के प्रथम उत्तरमें हमने मोह, राग, द्वेष आदि जिन आगन्तुक भावोंका निर्देश किया है उसका आशय यह नहीं कि वे जीवके स्वयंकृत भाव नहीं हैं। जीव ही स्वयं बाह्य सामग्रीमें इष्टानिष्ट या एकत्व बुद्धि कर उन भावोंरूप परिणमता है, इसलिए वे जीवके ही परिणाम हैं। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें यह वचन कहा है—

> जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
> सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥ ९ ॥

ऐसा इस जीवका परिणामस्वभाव है कि जब यह शुभ या अशुभरूपसे परिणमता है तब शुभ या अशुभ होता है और जब शुद्धरूपसे परिणमता है तब शुद्ध होता है ॥ ९ ॥

फिर भी मोह, राग, द्वेष आदि भावोंको आगममें जो आगन्तुक कहा गया है उसका कारण इतना ही है कि वे भाव स्वभावके लक्ष्यसे न होकर परके लक्ष्यसे होते हैं। हैं वे जीवके ही भाव और जीव ही स्वयं स्वतंत्र कर्ता होकर उन्हें उत्पन्न करता है, पर वे परके लक्ष्यसे उत्पन्न होते हैं, इसलिए उन्हें आगन्तुक कहा गया है यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

इस प्रकार अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनमें यहाँ तक जितने भी आगम प्रमाण दिये हैं उनसे यह तो त्रिकालमें सिद्ध नहीं होता कि अन्य द्रव्य तद्भिन्न अन्य द्रव्यके कार्यका वास्तविक कर्त्ता होता है। किन्तु उनसे यही सिद्ध होता है कि **प्रत्येक द्रव्य स्वयं उपादान होकर अपना कार्य करता है और उसके योग्य बाह्य सामग्री उसमें निमित्त होती है**। समयसार गाथा २७८-२७९ का क्या आशय है इसका विशेष खुलासा हम पूर्वमें ही कर आये हैं। एक जीव ही क्या प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणमन स्वभाववाला है, अतएव जिस भावरूप वह परिणमता है उसका कर्त्ता वह स्वयं होता है। परिणमन करनेवाला, परिणाम और परिणमन क्रिया ये तीनों वस्तुपनेकी अपेक्षा एक हैं, भिन्न-भिन्न नहीं, इस लिये जब जो परिणाम उत्पन्न होता है उसरूप वह स्वयं परिणम जाता है, इसमें अन्यका कुछ भी हस्तक्षेप नहीं। राग, द्वेष आदि भाव कर्मोदयके द्वारा किये जाते हैं यह व्यवहार कथन है। कर्मका उदय कर्ममें होता है और जीवका परिणाम जीवमें होता है ऐसी दो क्रियाएँ और दो परिणाम दोनों द्रव्योंमें एक कालमें होते हैं, इसलिए कर्मोदयमें निमित्त व्यवहार किया जाता है और इसी निमित्त व्यवहारको लक्ष्यमें रखकर यह कहा जाता है कि इसने इसे किया। यह उसी प्रकारका उपचार वचन है जैसे मिट्टीके घड़ेको घीका घड़ा कहना उपचार वचन है। तभी तो आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा १०७ में ऐसे कथनको व्यवहार-नयका वक्तव्य कहा है।

१. अध्यात्ममें रागादिको पौद्गलिक बतलानेका कारण

समयसार ५० से ५६ तक की गाथाओंमें रागादिकको जो पौद्गलिक बतलाया है उसका आशय यह नहीं कि उनका वास्तविक कर्ता पुद्गल है, जीव नहीं; या वे जीवके भाव न होकर पुद्गलकी पर्याय हैं।

हैं तो वे जीवके ही भाव और स्वयं जीव ही उन्हें उत्पन्न करता है। उनकी उत्पत्तिमें पुद्गल अणुमात्र भी व्यापार नहीं करता, क्योंकि एक द्रव्यकी परिणाम क्रियाको दूसरा द्रव्य त्रिकालमें नहीं कर सकता, अन्यथा तन्मयपनेका प्रसंग होनेसे दोनों द्रव्योंमें एकता प्राप्त होती है (समयसार गाथा ९९) ,या दो क्रियाओंका कर्ता एक द्रव्यको स्वीकार करना पड़ता है (समयसार गाथा ८५) । किन्तु ऐसा मानना जिनाज्ञाके विरुद्ध है। जिनाज्ञा यह है—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

जो वस्तु जिस द्रव्य और गुणमें वर्तती है वह अन्य द्रव्य और गुणमें संक्रमणको नहीं प्राप्त होती, अन्यरूपसे संक्रमणको नहीं प्राप्त होती हुई वह अन्य वस्तुको कैसे परिणमा सकती है, अर्थात् नहीं परिणमा सकती ॥१०३॥

ऐसी अवस्थामें जीवमें होनेवाले मोह, राग और द्वेष आदि भाव अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा विचार करनेपर जीव ही हैं। यह कथन यथार्थ है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर उक्त गाथाओंको (५०-५६) टीकामें आचार्य जयसेनने अशुद्ध पर्यायार्थिक निश्चयनयकी अपेक्षा उन्हें जीव स्वरूप ही स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, कर्ता—कर्म अधिकार गाथा ८८ में स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द उन्हें जीव भावरूपसे स्वीकार करते हैं। इसी तथ्यको आचार्य अमृतचन्द्रने उक्त गाथाकी टीकामें इन शब्दोंमें स्वीकार किया है—

यस्तु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादि जीवः स मूर्तात्पुद्गलकर्मणोऽन्यश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः ॥८८॥

और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि जीव हैं वे मूर्तीक पुद्गलकर्मसे अन्य चैतन्य परिणामके विकार हैं ॥ ८८ ॥

इस प्रकार उक्त विवेचनसे यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि मोह, राग, द्वेष आदि भाव जीवके ही हैं। 'स्वतन्त्रः कर्ता' इस नियमके अनुसार स्वयं जीव ही आप कर्ता होकर उनरूप परिणमता है। फिर भी समयसारमें उन्हें पौद्गलिक इसलिए नहीं कहा कि वे रूप, रस, गन्ध और स्पर्शस्वरूप हैं या पुद्गल आप कर्ता बनकर उनरूप परिणमता है। उन्हें पौद्गलिक कहनेका कारण अन्य है। बात यह है कि परम पारिणामिक भावको ग्रहण करनेवाले शुद्ध निश्चयनयके विषयभूत चिच्चमत्कार ज्ञायकस्वरूप आत्माके लक्ष्यसे उत्पन्न हुई आत्मानुभूतिमें उनका भान नहीं होता, इसलिए वे रागादि भाव जीवके नहीं ऐसा समयसार ५० से ५६ तककी गाथाओंमें कहा गया है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए उक्त गाथाओंकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । योऽप्रीतिरूपो द्वेषः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य, पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् ।

जो प्रीतिरूप राग है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि पुद्गल द्रव्यके परिणामरूप होनेसे वह आत्मानुभूतिसे भिन्न है। जो अप्रीतिरूप द्वेष है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि पुद्गलद्रव्यके परिणामरूप

होनेसे वह आत्मानुभूतिसे भिन्न है । जो तत्त्वोंकी अप्रतिपत्तिरूप मोह है वह सर्व ही जीवका नहीं है, क्योंकि पुद्गलद्रव्यके परिणामरूप होनेसे वह आत्मानुभूतिसे भिन्न है ।

आगममें द्रव्यार्थिकनयके जितने भेद निर्दिष्ट किये गये हैं उनमें एक परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय भी है । इसके विषयका निर्देश करते हुए आलापपद्धतिमें लिखा है—

परमभावग्राहकद्रव्यार्थिको यथा—ज्ञानस्वरूप आत्मा ।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसे स्वीकार करनेवाला परमभावग्राहक द्रव्यार्थिकनय है ।

इसी तथ्यको नयचक्रादिसंग्रहमें इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

गेह्णइ दव्वसहावं असुद्ध-सुद्धोवयारपरिचत्तं ।
सो परमभावगाही णायव्वो सिद्धिकामेण ॥१९९॥

जो अशुद्ध, शुद्ध और उपचरित भावोंसे रहित द्रव्यस्वभावको ग्रहण करता है उसे सिद्धि (मुक्ति) के इच्छुक भव्य जीवोंने परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय जानना चाहिए ॥१९९॥

तात्पर्य यह है कि मोक्षमार्गमें अशुद्ध, शुद्ध और उपचरित भावोंको गौणकर एक त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव आत्मा ही आश्रय करने योग्य बतलाया गया है । जो आसन्न भव्य जीव ऐसे अभेद स्वरूप आत्माको लक्ष्य कर (ध्येय बनाकर) तन्मय होकर परिणमता है उसे जो आत्मानुभूति होती है उसे उस कालमें रागानुभूति त्रिकालमें नहीं होती । यही कारण है कि समयसारकी उक्त गाथाओं द्वारा ये रागादि भाव जीवके नहीं हैं यह कहा गया है ।

इस प्रकार ये रागादि भाव जीवके नहीं है इस तथ्यका सकारण ज्ञान हो जाने पर भी इन्हें पौद्गलिक कहनेका कारण क्या है यह जान लेना आवश्यक है । यह तो सभी मुमुक्षु जानते हैं कि जिसे जिनागममें मिथ्यादर्शन या मोह कहा गया है उसका फल स्व-परमें एकत्वबुद्धिके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है और जिसे राग-द्वेष कहा गया है उसका फल भी परमें इष्टानिष्ट बुद्धिके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है । यतः परके संयोगमें एकत्व बुद्धि तथा इष्टानिष्ट बुद्धि इस जीवके अनादि कालसे होती आ रही है । इसका कर्ता यह जीव स्वयं है । पर पदार्थ इसका कर्ता नहीं । परका संयोग बना रहे फिर भी यह जीव उसके आश्रयसे एकत्व बुद्धि या इष्टानिष्ट बुद्धि न करे यह तो है । किन्तु पर पदार्थ स्वयं कर्ता बनकर इस (जीव) में एकत्वबुद्धि या इष्टानिष्ट बुद्धि उत्पन्न कर दे यह त्रिकालमें सम्भव नहीं है । यतः उक्त प्रकारकी एकत्वबुद्धि या इष्टानिष्ट बुद्धि पुद्गलकी विविध प्रकारकी रचनाका आलम्बन करनेसे होती है, अन्यथा नहीं होती, यही कारण है कि अध्यात्ममें मोह, राग और द्वेष आदि भावोंको पौद्गलिक कहा गया है ।

यह वस्तुस्थिति है । मोक्षमार्गमें आलम्बन या ध्येयकी दृष्टिसे मोह, राग और द्वेषमें निजत्व बुद्धि करनेका तो निषेध है ही । ज्ञेयके करण मैं जानता हूँ इस प्रकारके विकल्पका भी निषेध है । इतना ही क्यों ? सम्यग्दर्शनादि स्वभाव भाव मेरा स्वरूप है, इन्हें आलम्बन बनानेसे मुझमें मोक्षमार्गका प्रकाश होकर मुक्तिकी प्राप्ति होगी ऐसे विकल्पका भी निषेध है, क्योंकि जहाँतक विकल्प-बुद्धि हैं वहाँतक रागकी चरितार्थता है । ज्ञायक स्वभाव आत्माके अवलम्बनसे तन्मय परिणमन द्वारा जो सम्यग्दर्शनादिरूप शुद्धि उत्पन्न होती है, तन्मय आत्माकी अनुभूति अन्य वस्तु है और भेद-बुद्धि द्वारा उत्पन्न हुई विकल्पानुभूति अन्य वस्तु है । यह रागानुभूति ही है, आत्मानुभूति नहीं । आचार्य कहते हैं कि जबतक अवलम्बन (ध्येय) निर्विकल्प नहीं होगा तबतक निर्विकल्प अनुभूतिका होना असम्भव है । यही

कारण है कि मोक्षमार्गकी दृष्टिसे सभी प्रकारके व्यवहारको गौणकर एकमात्र निश्चयस्वरूप ज्ञायक आत्माके अवलम्बन करनेका उपदेश दिया गया है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए समयसार कलशमें कहा भी है—

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एक निखिलोऽप्यन्याश्रितस्त्याजितः।
सम्यक् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥१७३॥

सर्व वस्तुओंमें जो अध्यवसान होते हैं वे सब जिनेन्द्रदेवने पूर्वोक्त रीतिसे त्यागने योग्य कहे हैं, इसलिए हम यह मानते हैं कि जिनेन्द्रदेवने अन्यके आश्रयसे होनेवाला समस्त व्यवहार छुड़ाया है। तब फिर, ये सत्पुरुष एक सम्यक् निश्चयको ही निश्चलतया अङ्गीकार करके शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप निज महिमामें स्थिरता क्यों धारण नहीं करते ?

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि आत्मामें रागादिकी उत्पत्ति मुख्यतया पुद्गलका आलम्बन करनेसे ही होती है, स्वभावका आलम्बन करनेसे नहीं होती, इसलिए तो उन्हें अध्यात्ममें पौद्गलिक कहा गया है। पुद्गल आप कर्ता होकर उन्हें उत्पन्न करता है या वे पुद्गलकी पर्याय हैं, इसलिए उन्हें पौद्गलिक नहीं कहा गया है। इस अपेक्षासे विचार करनेपर तो जीव आप अपराधी होकर उन्हें उत्पन्न करता है और आप तन्मय होकर मोह, राग, द्वेष आदिरूप परिणमता है, इसलिए वे चिद्विकार ही हैं। फिर भी ज्ञायक स्वभाव आत्माके अवलम्बन द्वारा उत्पन्न हुई आत्मानुभूतिमें उनका प्रकाश नहीं होता, इसलिए उससे भिन्न होनेके कारण व्यवहारनयसे उन्हें जीवका कहा गया है। इस प्रकार समयसारकी उक्त गाथाओंमें वर्णादिके समान रागादिको क्यों तो पौद्गलिक कहा गया है और क्यों वे व्यवहारनयसे जीवके कहे गये हैं इसका संक्षेपमें विचार किया।

२. समयसार गाथा ६८ की टीकाका आशय

अब समयसार गाथा ६८ की टीकापर विचार करते हैं। इसमें 'कारणके अनुसार कार्य होता है। जैसे जौपूर्वक उत्पन्न हुए जौ जौ ही हैं।' इस न्यायके अनुसार गुणस्थान या रागादि भावोंको पौद्गलिक सिद्ध किया गया है। इसपरसे अपर पक्ष निश्चयनयसे उन्हें पौद्गलिक स्वीकार करता है। किन्तु अपर पक्ष यदि पुद्गल आप कर्ता होकर उन्हें उत्पन्न करता है, इसलिए वे निश्चयनयसे पौद्गलिक हैं या पुद्गलके समान रूप, रस, गन्ध और स्पर्शवाले होनेके कारण निश्चयनयसे वे पौद्गलिक हैं ऐसा मानता हो तो उसका दोनों प्रकारका मानना सर्वथा आगमविरुद्ध है, क्योंकि परके अवलम्बनसे उत्पन्न हुए वे जीवके ही चिद्विकार हैं और जीवने आप कर्ता होकर उन्हें उत्पन्न किया है। अतएव अशुद्ध पर्यायार्थिकनयसे वे जीव ही हैं। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन उक्त गाथाकी टीकामें लिखते हैं—

यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयेन नित्यं सर्वकालमचेतनानि। अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षयाभ्यन्तररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव।

गुणस्थान यद्यपि अशुद्ध निश्चयनयसे चेतन हैं तथापि शुद्ध निश्चयनयसे नित्य-सर्वकाल अचेतन हैं। द्रव्यकर्मकी अपेक्षा आभ्यन्तर रागादिक चेतन हैं ऐसा मानकर यद्यपि अशुद्ध निश्चय वास्तवमें निश्चय संज्ञाको प्राप्त होता है तथापि शुद्ध निश्चयकी अपेक्षा वह व्यवहार ही है।

इस प्रकार उक्त कथनसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि मोहनीय कर्मके उदयको आलम्बन (निमित्त) कर जो गुणस्थान या रागादि होते हैं वे अशुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा जीव ही हैं। यहाँ जो उन्हें जीव होनेका निषेध कर अचेतन कहा है वह शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा ही कहा है। तात्पर्य यह है कि (१) त्रिकाली ज्ञायक स्वभाव आत्माके अवलम्बनसे उत्पन्न हुई आत्मानुभूतिमें गुणस्थानभाव या रागादि-भावका प्रकाश दृष्टिगोचर नहीं होता। (२) वे पुद्गलादि पर द्रव्यका अवलम्बन करनेसे उत्पन्न होनेके कारण शुद्ध चैतन्यप्रकाश स्वरूप न होकर चिद्विकार स्वरूप हैं अतएव अचेतन हैं तथा (३) उनकी जीवके साथ त्रैकालिक व्याप्ति नहीं पाई जाती, इसलिए शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा वे जीव नहीं हैं, अतएव पौद्गलिक हैं। ऐसा अध्यात्म परमागममें कहा गया है। यह जीव अनादि कालसे स्वको भूलकर परका अवलम्बन करता आ रहा है और परके अवलम्बनसे उत्पन्न चिद्विकारोंमें उपादेय बुद्धि करता आ रहा है, इनमें हेय बुद्धि कर उनसे विरत करना उक्त कथनका प्रयोजन है। यही कारण है कि कर्त्ता-कर्म अधिकारमें रागादि भावोंका कर्ता स्वतन्त्रपने स्वयं जीव ही है यह बतलाकर भी जीवाजीवाधिकारमें परका अवलम्बन करनेसे होनेके कारण उनमें परबुद्धि कराई गई है। आशा है अपर पक्ष समयसार गाथा ६८ की टीकासे यही तात्पर्य ग्रहण करेगा, न कि यह कि पुद्गल स्वयं स्वतन्त्रतया आप कर्ता होकर उन गुणस्थान या रागादिको करता है, इसलिए यहाँ उन्हें पौद्गलिक कहा गया है। समयसार गाथा ११३-११६ में भी यही आशय व्यक्त किया गया है। यदि अपर पक्ष निमित्त-नैमित्तिकभाव और कर्ता-कर्मभावमें निहित अभिप्रायको हृदयङ्गम करनेका प्रयत्न करे तो उसे वस्तुस्थितिको समझनेमें देर न लगे।

३. कर्मोदय जीवकी अन्तरंग योग्यताका सूचक है, जीवभावका कर्ता नहीं

आगे अपर पक्षने 'अन्य कारणों और कर्मोदय रूप कारणोंमें मौलिक अन्तर है, क्योंकि बाह्य सामग्री और अन्तरंगकी योग्यता मिलने पर कार्य होता है। किन्तु घातिया कर्मोदयके साथ ऐसी बात नहीं है, वह तो अन्तरंग योग्यताका सूचक है।' यह वचन लिखकर अपने इस वक्तव्यकी पुष्टिमें हमारी (पं० फूलचन्द्र शास्त्रीकी) कर्मग्रन्थ पु० ६ की प्रस्तावना पृ० ४४ का कुछ अंश उद्धृत किया है।

हमें इस बातकी प्रसन्नता है कि अपर पक्षने अपने उक्त कथन द्वारा घातिया कर्मोदयको जीवकी अन्तरंग योग्यताका सूचक स्वीकार कर लिया है। इससे यह सुतरां फलित हो जाता है कि संसारी जीव कर्म और जीवके अन्योन्यावगाहरूप संयोग कालमें स्वयं कर्ता होकर अपने अज्ञानादिरूप कार्यको करता है और कर्मोदय कर्त्ता न होकर मात्र उसका सूचक होता है। इसीको जीवके अज्ञानादि भावोंमें कर्मोदयकी निमित्तता कही गई है। हमारे जिस वचनको यहाँ प्रमाणरूपमें उपस्थित किया गया है उसका भी यही आशय है।

किन्तु अपर पक्षने हमारे उक्त वचनोंको उद्धृत करते हुए 'अतः कर्मका स्थान बाह्य सामग्री नहीं ले सकती।' इसके बाद उक्त उल्लेखके इस वचनको तो छोड़ दिया है—

'फिर भी अन्तरंगमें योग्यताके रहते हुए बाह्य सामग्रीके मिलनेपर न्यूनाधिक प्रमाणमें कार्य तो होता ही है इसलिए निमित्तोंकी परिगणनामें बाह्य सामग्रीकी भी गिनती हो जाती है। पर यह परम्परा निमित्त है, इसलिए इसकी परिगणना नोकर्मके स्थानमें की गई है।'

और इसके स्थानमें हमारे वक्तव्यके रूपमें अपने इस वचनको सम्मिलित कर दिया है—

'अतः कर्मके निमित्तसे जीवकी विविध प्रकारकी अवस्था होती है और जीवमें ऐसी योग्यता आती है।'

अब हमारे और अपर पक्षके उक्त उल्लेखके आधारपर जब अकालमरणका विचार करते हैं तो विदित होता है कि जब जब आत्मामें मनुष्यादि एक पर्यायके व्ययकी और देवादिरूप दूसरी पर्यायके उत्पादकी अन्तरंग योग्यता होती है तब तब विषभक्षण, गिरिपात आदि बाह्य सामग्री तथा मनुष्यादि आयु-का व्यय और देवादि आयुका उदय उसकी सूचक होती है और ऐसी अवस्थामें आत्मा स्वयं अपनी मनुष्यादि पर्यायका व्यय कर देवादि पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है। स्पष्ट है कि एक पर्यायके व्यय और दूसरी पर्यायके उत्पादरूप उपादान योग्यताके कालकी अपेक्षा विचार करने पर मरणकी कालमरण संज्ञा है और इसको गौणकर अन्य कर्म तथा नोकर्मरूप सूचक सामग्रीकी अपेक्षा विचार करने पर उसी मरणकी अकाल-मरण संज्ञा है।

यह वस्तुस्थिति है जो अपर पक्षके उक्त वक्तव्यसे भी फलित होती है। हमें आशा है कि अपर पक्ष अपने वक्तव्यके 'किन्तु घातिया कर्मोदयके साथ ऐसी बात नहीं है, वह तो अन्तरंग योग्यताका सूचक है।' इस वचनको ध्यानमें रखकर सर्वत्र कार्य-कारणभावका निर्णय करेगा।

४. प्रस्तुत प्रतिशंकामें उल्लिखित अन्य उद्धरणोंका स्पष्टीकरण

अब प्रस्तुत प्रतिशंकामें उद्धृत उन उल्लेखोंपर विचार करते हैं जिन्हें अपर पक्ष अपने पक्षके समर्थनमें समझता है। उनमेंसे प्रथम उल्लेख इष्टोपदेशका श्लोक ७ है। इसमें मोह अर्थात् मिथ्यादर्शनसे सम्पृक्त हुआ ज्ञान अपने स्वभावको नहीं प्राप्त करता है यह कहा गया है और उसकी पुष्टिमें 'मदनकोद्रवको निमित्त कर मत्त हुआ पुरुष पदार्थोंका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं कर पाता।' यह दृष्टान्त दिया गया है।

दूसरा उल्लेख समयसार कलश ११० का तीसरा चरण है। इसमें बतलाया है कि आत्मामें अपनी पुरुषार्थहीनताके कारण जो कर्म (भाव कर्म) प्रगट होता है वह नये कर्मबन्धका हेतु (निमित्त) है।

तीसरा उल्लेख पंचाध्यायी पृ० १५९ के विशेषार्थका है। इसमें कर्मकी निमित्तताको स्वीकार कर व्यवहार कर्तारूपसे उसका उल्लेख करके मन-वाणी और श्वासोच्छ्वासके प्रति जीवका भी व्यवहार कर्ता रूपसे उल्लेख किया गया है।

चौथा उल्लेख इष्टोपदेश श्लोक ३१ की संस्कृत टीकासे उद्धृत किया गया है। इसमें कहीं (अपने परिणामविशेषमें) कर्मकी और कहीं (अपने परिणामविशेषमें) जीवकी बलवत्ता स्वीकार की गई है।

पाँचवाँ उल्लेख तत्त्वार्थवार्तिकका है। इसमें जीवके चतुर्गतिपरिभ्रमणमें कर्मोदयकी हेतुता और उसकी विश्रान्तिमें कर्मके उदयाभावको हेतुरूपसे स्वीकार किया गया है।

छठा उल्लेख उपासकाध्ययनका है। इसमें व्यवहारनयसे जीव और कर्मको परस्पर प्रेरक बतलाया गया है। इसकी पुष्टि नौ और नाविकके दृष्टान्त द्वारा की गई है। सातवाँ उद्धरण भी उपासकाध्ययनका ही है। इसमें अग्निके संयोगको निमित्त कर गरम हुए जलके दृष्टान्त द्वारा कर्मको निमित्त कर जीवमें संक्लेश भावको स्वीकार किया गया है।

आठवाँ उदाहरण आत्मानुशासनका है। इसमें व्यवहारनयसे कर्मको ब्रह्मा बतला कर संसार परि-पाटी उसका फल बतलाया गया है।

अपने पक्षके समर्थनमें अपर पक्षने ये आठ प्रमाण उपस्थित किये हैं। इन सब द्वारा किस कार्यमें कौन किस रूपमें निमित्त है इसका व्यवहारनयसे निर्देश किया गया है। इसको स्पष्ट रूपसे समझनेके लिये समयसारका यह वचन पर्याप्त है—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगो त्ति आलविदो।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥ १०८ ॥

जिस प्रकार राजा व्यवहारसे प्रजाके दोष-गुणका उत्पादक कहा गया है उसी प्रकार जीव व्यवहार-से पुद्गल द्रव्यके गुणोंका उत्पादक कहा गया है ॥ १०८ ॥

आशय यह है कि यथार्थमें प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य स्वयं करता है और अन्य बाह्य सामग्री उसमें निमित्त होती है। फिर भी लोकमें निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा यह कहा जाता है कि—'इसने यह कार्य किया।' पूर्वमें अपर पक्षने जो आठ आगम प्रमाण उपस्थित किये हैं वे सब व्यवहारनयके वचन हैं, अतः उन द्वारा यही सूचित किया गया है कि किस कार्यमें कौन निमित्त है। प्रत्येक कार्यमें उपादान और निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीकी युति नियमसे होती है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उपादान जैसे अपने कार्यमें स्वयं व्यापारवान् होता है वैसे बाह्य सामग्री उसके कार्यमें व्यापारवान् नहीं होती यह सिद्धान्त है। इसे हृदयंगम करके यथार्थका निर्णय करना चाहिए। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए पुरुषार्थ-सिद्धयुपायमें कहा है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥ १२ ॥

जीवके द्वारा किये गये परिणामको निमित्तमात्र करके उससे भिन्न पुद्गल स्वयं ही कर्मरूपसे परिणम जाते हैं ॥ १२ ॥

यहाँ 'जीवकृतं' और स्वयमेव' ये दोनों पद ध्यान देने योग्य हैं। जीवके राग-द्वेष आदि परिणामों-की उत्पत्तिमें यद्यपि कर्मोदय निमित्त है फिर भी उन्हें जीवकृत कहा गया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि जिस द्रव्यमें जो कार्य होता है उसका मुख्य (निश्चय-यथार्थ) कर्त्ता वही द्रव्य होता है, निमित्त व्यव-हारके योग्य बाह्य सामग्री नहीं। उसे कर्ता कहना उपचार कथन है। जिस द्रव्यमें जो कार्य होता है उसका मुख्य कर्ता वह द्रव्य तो है ही, साथ ही वह परनिरपेक्ष होकर ही उसे करता है यह 'स्वयमेव' पदसे सूचित होता है। प्रस्तुत प्रतिशंकामें अपर पक्षने कर्मोदयको जीवकी आन्तरिक योग्यताका सूचक स्वीकार कर लिया है, अतः इससे भी उक्त कथनकी ही पुष्टि होती है। स्पष्ट है कि उक्त आठों आगम प्रमाण अपर पक्षके विचारोंके समर्थक न होकर समयसारके उक्त कथनका ही समर्थन करते हैं। अतएव उनसे हमारे विचारोंकी ही पुष्टि होती है।

अपर पक्षने इन प्रमाणोंमें एक प्रमाण 'कत्थ वि बलिओ जीवो' यह वचन भी उपस्थित किया है और इसकी उत्थानिकामें लिखा है कि—'जब जीव बलवान् होता है तो वह अपना कल्याण कर सकता है।'

यहाँ विचार यह करना है कि ऐसी अवस्थामें जीव स्वयं अपना कल्याण करता है या बाह्य सामग्री द्वारा उसका कल्याण होता है। यदि बाह्य सामग्री द्वारा उसका कल्याण होता है यह माना जाय तो 'जीव अपना कल्याण कर सकता है' ऐसा लिखना निरर्थक है और यदि वह स्वयं अपना कल्याण कर लेता है यह

माना जाय तो प्रत्येक कार्य अन्यके द्वारा होता है यह लिखना निरर्थक हो जाता है। प्रकृतमें इन दो विकल्पोंके सिवाय तीसरा विकल्प तो स्वीकार किया ही नहीं जा सकता, क्योंकि उसके स्वीकार करने पर बाह्य सामग्री अकिंचित्कर माननी पड़ती है। अतएव 'कत्थ वि बलिओ' इत्यादि वचनको व्यवहारनयका कथन ही जानना चाहिए जो कर्मकी बलवत्तामें जीवकी पुरुपार्थ हीनताको और कर्मकी हीनतामें जीवकी उत्कृष्ट पुरुपार्थताको सूचित करता है। स्पष्ट है कि उक्त कथनसे यह तात्पर्य समझना चाहिए कि जब जीव पुरुपार्थहीन होता है तब स्वयं अपने कारण वह अपना कल्याण करनेमें असमर्थ रहता है और जब उत्कट पुरुपार्थी होकर आत्मोन्मुख होता है तब वह अपना कल्याण कर लेता है।

इस प्रकार उक्त आठों आगम प्रमाण किस प्रयोजनसे लिपिबद्ध किये गये हैं और उनका क्या आशय लेना चाहिए इसका खुलासा किया।

५. सम्यक् नियतिका स्वरूपनिर्देश

अब हम अपर पक्षकी प्रतिशंका ३ को ध्यानमें रखकर नियतिवादके सम्यक् स्वरूपपर संक्षेपमें प्रकाश डालेंगे। इसका विशेष विचार यद्यपि पाँचवीं शंकाके तीसरे दौरके उत्तरमें करेंगे, फिर भी जब प्रस्तुत प्रतिशंकामें इसकी चरचा की है तो यहाँ भी उसका विचार कर लेना आवश्यक समझते हैं।

अपर पक्षने सभी कार्योंका सर्वथा कोई काल नियत नहीं है इसके समर्थनमें तीन हेतु दिये हैं—

१. आचार्य अमृतचन्द्रने कालनय-अकालनय तथा नियतिनय-अनियतिनय इन नयोंकी अपेक्षा कार्य की सिद्धि बतलाई है, इसलिए सभी कार्योंका सर्वथा कोई काल नियत नहीं है।

२. सभी कार्योंका काल सर्वथा नियत नहीं हैं ऐसा प्रत्यक्ष भी देखा जाता है और किसीने कोई क्रम नियत भी नहीं किया है, अतः आगे-पीछे करनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

३. कर्म स्थितिबन्धके समय निषेक रचना होकर यह नियत हो जाता है कि अमुक कर्मवर्गणा अमुक समय उदयमें आवेगी, किन्तु बन्धावलिके पश्चात् उत्कर्षण अपकर्षण, स्थितिकाण्डकघात, उदीरणा, अविपाक निर्जरा आदिसे कर्मवर्गणा आगे-पीछे भी उदय आती है। इससे भी ज्ञात होता है कि सभी कार्य सर्वथा नियत कालमें ही होते हैं यह नहीं कहा जा सकता।

ये तीन हेतु हैं। इनके आधारसे अपर पक्ष सभी कार्योंके सर्वथा नियत कालका निषेध करता है। अब आगे इनके आधारसे क्रमसे विचार किया जाता है—

१. प्रथम तो प्रवचनसारमें निर्दिष्ट कालनय-अकालनय तथा नियतिनय-अनियतिनयके आधारसे विचार करते हैं। यहाँ प्रथमतः यह समझने योग्य बात है कि वे दोनों सप्रतिपक्ष नययुगल हैं, अतः अस्तिनय-नास्तिनय इस सप्रतिपक्ष नययुगलके समान ये दोनों नययुगल भी एक ही कालमें एक ही अर्थमें विवक्षाभेदसे लागू पड़ते हैं, अन्यथा वे नय नहीं माने जा सकते। अपर पक्ष इन नययुगलोंको नयरूपसे तो स्वीकार करता है, परन्तु कालभेद आदिकी अपेक्षा उनके विषयको अलग-अलग मानना चाहता है इसका हमें आश्चर्य है। वस्तुतः कालनय और अकालनय ये दोनों नय एक कालमें एक ही अर्थको विषय करते हैं। यदि इन दोनोंमें अन्तर है तो इतना ही कि कालनय कालकी मुख्यतासे उसी अर्थको विषय करता है और अकालनय कालको गौणकर अन्य हेतुओंकी मुख्यतासे उसी अर्थको विषय करता है। यहाँ अकालका अर्थ है कालके सिवाय अन्य हेतु। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर तत्त्वार्थसूत्रमें

'अर्पितानर्पितसिद्धेः' (५-३२) यह सूत्र निबद्ध हुआ है। स्पष्ट है कि जो पर्याय काल विशेषकी मुख्यतासे कालनयका विषय है, वही पर्याय कालको गौण कर अन्य हेतुओंकी मुख्यतासे अकालनयका विषय है। प्रवचनसारकी आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीकामें इन दोनों नयोंका यही अभिप्राय लिया गया है।

इन नयोंका प्रारम्भ करनेके पूर्व यह प्रश्न उठा कि आत्मा कौन है और वह कैसे प्राप्त किया जाता है? इसका समाधान करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं कि यह आत्मा चैतन्य सामान्यसे व्याप्त अनन्त धर्मोंका अधिष्ठाता एक द्रव्य है, क्योंकि अनन्त धर्मोंको ग्रहण करनेवाले अनन्त नय हैं और उनमें व्याप्त होकर रहनेवाले एक श्रुतज्ञान प्रमाण पूर्वक स्वानुभवसे वह जाना जाता है (प्रवचनसार परिशिष्ट)। इससे स्पष्ट विदित होता है कि यहाँ जिन ४७ नयोंका निर्देश किया गया है उनके विषयभूत ४७ धर्म एक साथ एक आत्मामें उपलब्ध होते हैं, अन्यथा उन नयोंमें एक साथ श्रुतज्ञान प्रमाणकी व्याप्ति नहीं बन सकती। अतएव प्रकृतमें कालनय और अकालनयके आधारसे तो यह सिद्ध करना सम्भव नहीं है कि सब कर्मोंका सर्वथा कोई नियत काल नहीं है। प्रत्युत इनके आधारसे यही सिद्ध होता है कि कालनयकी विषयभूत वस्तु ही उसी समय विवक्षाभेदसे अकालनयकी भी विषय है। अतएव सभी कार्य अपने-अपने कालमें नियतक्रमसे ही होते हैं ऐसा निर्णय करना ही सम्यक् अनेकान्त है।

यह तो कालनय और अकालनयकी अपेक्षा विचार है। नियतिनय और अनियतिनयकी अपेक्षा विचार करनेपर भी उक्त तथ्यकी ही पुष्टि होती है, क्योंकि प्रकृतमें द्रव्योंकी कुछ पर्यायें क्रमनियत हों और कुछ पर्यायें अनियतक्रमसे होती हों यह अर्थ इन नयोंका नहीं है। यदि यह अर्थ इन नयोंका लिया जाता है तो ये दोनों सप्रतिपक्ष नय नहीं बन सकते। अतएव विवक्षाभेदसे ये दोनों नय एक ही कालमें एक ही अर्थको विषय करते हैं यह अर्थ ही प्रकृतमें इन नयोंका लेना चाहिए। आचार्य अमृतचन्द्रने प्रवचनसारमें इन नयोंका जो स्पष्टीकरण किया है उससे भी इसी अभिप्रायकी पुष्टि होती है। उनके उक्त कथनके अनुसार **नियति पदका अर्थ है द्रव्यकी सब अवस्थाओंमें व्याप्त होकर रहनेवाला त्रिकाली अन्वयरूप द्रव्य-स्वभाव और अनियति पदका अर्थ है क्षण-क्षणमें परिवर्तनशील पर्याय स्वभाव।** 'उत्पाद-व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्' (त० सू० ५-३०) तथा 'सद्द्रव्यलक्षणम्' (त० सू० ५-२९) इन आगम वचनोंके अनुसार भी प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें जहाँ उक्त दोनों प्रकारके स्वभावोंको लिये हुए है वहाँ विवक्षा भेदसे उसे (द्रव्यको) ग्रहण करनेवाले ये दोनों नय हैं। नियतिनय प्रत्येक द्रव्यके द्रव्यस्वभावको विषय करता है और अनियतिनय प्रत्येक द्रव्यके पर्याय स्वभावको विषय करता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। अतएव उक्त दोनों नयोंके आधारसे भी यह सिद्ध नहीं होता कि द्रव्योंकी कुछ पर्यायें क्रमनियत होती हैं और कुछ पर्यायें अनियत क्रमसे होती हैं, प्रत्युत इन नयोंके स्वरूप और विषयपर दृष्टिपात करनेसे यही सिद्ध होता है कि धर्मादि द्रव्योंके समान जीव और पुद्गल इन दो द्रव्योंकी भी सभी पर्यायें अपने-अपने कालमें नियतक्रमसे ही होती हैं। **सत्का अर्थ ही यह है कि जिस कालमें जो जिसरूपमें सत् है उस कालमें वह उस रूपमें स्वरूपसे स्वतःसिद्ध स्वयं सत् है। उसकी परसे प्रसिद्धि करना यह तो मात्र व्यवहार है**, जो मात्र इस तथ्यको सूचित करता है कि विवक्षित समयमें विवक्षित द्रव्य जिस रूपमें सत् है, उससे अगले समयमें सद्रूपमें वह किस प्रकारका होगा। कारण-कार्यभावकी चरितार्थता भी इसी व्यवहारको प्रसिद्ध करनेमें है। उससे अन्य प्रयोजन फलित करना यह तो सत्के स्वरूपमें हस्तक्षेप करनेके समान है। आशा है अपर पक्ष इस तथ्यपर दृष्टिपात कर हृदयसे इस बातको स्वीकार कर लेगा कि जिस द्रव्यकी जो पर्याय

जिस कालमें जिस देशमें जिस विधिसे होना निश्चित है उस द्रव्यकी वह पर्याय उस कालमें उस देशमें उस विधिसे नियमसे होती है।

२. अपर पक्षका अपने पक्षके समर्थनमें दूसरा तर्क है कि सभी कार्योंका काल सर्वथा नियत है ऐसा प्रत्यक्षसे ज्ञात नहीं होता। इसके साथ उस पक्षका यह भी कहना है कि उनका किसीने कोई क्रम भी नियत नहीं किया है, अतः कौन कार्य पहले होनेवाला बादमें हुआ और बादमें होनेवाला पहले हो गया यह प्रश्न ही नहीं उठता।

यह अपर पक्षका अपने कथनके समर्थनमें वक्तव्यका सार है। इस द्वारा अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनमें दो तर्क उपस्थित किये हैं। प्रथम तर्कको उपस्थित कर वह अपने इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष (जो परोक्ष हैं) द्वारा यह दावा करता है कि वह अपने उक्त ज्ञान द्वारा द्रव्यमें अवस्थित कार्यकरणक्षम उस योग्यताका प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेता है जिसे सभी आचार्योंने अतीन्द्रिय कहा है। किन्तु उस पक्षका ऐसा दावा करना उचित नहीं है, क्योंकि सभी आचार्योंने एक स्वरसे कार्यको हेतु मानकर उस द्वारा विवक्षित कार्य करनेमें समर्थ अन्तरंग योग्यताके ज्ञान करनेका निर्देश किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० २३७ में लिखते हैं—

तत्रापि हि कारणं कार्येऽनुपक्रियमाणं यावत्प्रतिनियतं कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नोत्पादयतीति चोद्ये योग्यतैव शरणम्।

उसमें भी कार्यसे उपक्रियमाण न होता हुआ कारण जब तक प्रतिनियत कार्यको उत्पन्न करता है तब तक सबको क्यों उत्पन्न नहीं करता ऐसा प्रश्न होनेपर आचार्य कहते हैं कि योग्यता ही शरण है।

इस उल्लेखमें योग्यताको परोक्ष मानकर ही यह प्रश्न किया गया है कि कार्य कारणका तो उपकार करता नहीं, फिर भी वह प्रतिनियत कार्यको ही क्यों उत्पन्न करता है, सब कार्योंको क्यों उत्पन्न नहीं करता? स्पष्ट है कि इस उल्लेखमें प्रतिनियत कार्य द्वारा कारणमें निहित प्रतिनियत कार्यकरणक्षम योग्यताका ज्ञान कराया गया है। इस प्रकार प्रकृतमें कार्यहेतुको ही मान्यता दी गई है, हमारे या अपर पक्षके प्रत्यक्ष प्रमाणको नहीं।

स्वामी समन्तभद्र तो इसी तथ्यको और भी स्पष्ट शब्दोंमें सूचित करते हुए स्वयंभूस्तोत्रमें सुपार्श्व जिनकी स्तुतिके प्रसंगसे कहते हैं—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३॥

हेतुद्वयसे उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है। किन्तु मैं इसे कर सकता हूँ ऐसे विकल्पसे पीड़ित हुआ प्राणी बाह्य सामग्रीको मिलाकर भी कार्योंके करनेमें समर्थ नहीं होता। हे जिन! आपने यह ठीक ही कहा है ॥३॥

इसमें भी यही बतलाया गया है कि कार्यको देखकर ही यह अनुमान किया जाता है कि इस कारणमें इस कालमें इस कार्यको उत्पन्न करनेकी योग्यता रही है, तभी यह कार्य हुआ है।

यद्यपि कहीं-कहीं कारणको देखकर भी कार्यका अनुमान किया जाता है यह सच है, परन्तु इस पद्धतिसे कार्यका ज्ञान वहीं पर सम्भव है जहाँ पर विवक्षित कार्यके अविकल कारणोंकी उपस्थितिकी

सम्यक् जानकारी हो और साथ ही उससे भिन्न कार्यके कारण उपस्थित न हों। इतने पर भी इस कारणमें इस कार्यके करनेकी आन्तरिक योग्यता है ऐसा ज्ञान तो अनुमान प्रमाणसे ही होता है। अतः सभी कार्योंका काल सर्वथा नियत नहीं है ऐसा दावा अपर पक्ष अपने प्रत्यक्ष प्रमाणके बलपर तो त्रिकालमें कर नहीं सकता।

अब रह गया यह तर्क 'कि किसीने कार्योंका कोई क्रम नियत भी नहीं किया है, अतः आगे पीछे करनेका प्रश्न ही नहीं उठता।' सो यह तर्क पढ़नेमें जितना सुहावना लगता है उतना यथार्थताको लिये हुए नहीं है, क्योंकि हमारे समान सभी श्रुतज्ञानी '**जं जस्स जम्मि देसे**' इत्यादि तथा '**पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं**' इत्यादि श्रुतिके बलसे यह अच्छी तरहसे जानते हैं कि जो कार्य जिस कालमें और जिस देशमें जिस विधिसे होता है वह कार्य उस कालमें और उस देशमें उस विधिसे नियमसे होता है इसमें इन्द्र, चक्रवर्ती और स्वयं तीर्थंकर भी परिवर्तन नहीं कर सकते। अतएव श्रुतिके बल पर हमारा ऐसा जानना प्रमाण है। और वह श्रुति दिव्यध्वनिके आधारसे लिपिबद्ध हुई है, इसलिए दिव्यध्वनिके बलपर वह श्रुति भी प्रमाण है। और वह दिव्यध्वनि केवलज्ञानके आधारपर प्रवृत्त हुई है, इसलिए केवलज्ञानके बलपर दिव्यध्वनि भी प्रमाण है। और केवलज्ञानकी ऐसी महिमा है कि वह तीन लोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको वर्तमानके समान जानता है। इसलिए केवलज्ञान प्रमाण है। यहाँ यह तो है कि प्रत्येक पदार्थका जिस कालमें और जिस देशमें जिस विधिसे परिणमन होनेका नियम है वह स्वयं होता है, कुछ केवलज्ञानके कारण नहीं होता। परन्तु साथमें यह भी नियम है कि प्रत्येक पदार्थका जब जैसे परिणमन होनेका नियम है उसे केवलज्ञान उसी प्रकार जानता है। ऐसा ही इनमें ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। अतः कार्योंका किसीने कोई क्रम नियत नहीं किया यह लिखकर सम्यक् नियतिका निषेध करना उचित नहीं है। एक ओर तो अपर पक्ष 'कार्योंका किसीने कोई क्रम नियत भी नहीं किया' यह लिखकर कार्योंका आगे-पीछे होना मानना नहीं चाहता और दूसरी ओर उत्कर्षण आदिके द्वारा कर्मवर्गणाओंका आगे-पीछे उदयमें आना भी स्वीकार करता है। यह क्या है? इसे उस पक्षकी मान्यताकी विडम्बना ही कहनी चाहिए। स्पष्ट है कि अपर पक्षने 'सभी कार्योंका काल सर्वथा नियत नहीं है' इत्यादि लिखकर जो सभी कार्योंके क्रम नियमितपनेका निषेध किया है वह उक्त प्रमाणोंके बलसे तर्ककी कसौटी पर करनेपर यथार्थ प्रतीत नहीं होता।

३. अपर पक्षने अपने तीसरे हेतुमें कर्मस्थिति आदिके आधारसे विचार कर यह निष्कर्ष फलित करनेकी चेष्टा की है कि बन्धके समय जो स्थितिबन्ध होता है उसमें बन्धावलिके बाद उत्कर्षणादि देखे जाते हैं, अतः जो कार्य जिस समय होना है उसे आगे-पीछे किया जा सकता है। यद्यपि इस विषयपर विशेष विचार शंका पाँचके अन्तिम उत्तरमें करनेवाले हैं। यहाँ तो मात्र इतना ही सूचित करना पर्याप्त है कि सत्तामें स्थित जिस कर्मका जिस कालमें जिसको निमित्तकर उत्कर्षण आदि होना नियत है उस कर्मका उस कालमें उसको निमित्तकर ही वह होता है, अन्यका नहीं ऐसी बन्धके समय ही उसमें योग्यता स्थापित हो जाती है। कर्मशास्त्रमें कर्मकी बन्ध, उदय और उत्कर्षणादि जो दस अवस्थाएँ बतलाई हैं वे इसी आधारपर बतलाई गई हैं। हाँ जिस व्यवस्थाको कर्मशास्त्रमें स्वीकार नहीं किया गया है, कर्ममें ऐसे किसी कार्यका केवल बाह्य सामग्रीके बलपर अपर पक्ष होना सिद्ध कर सके तो अवश्य ही यह माना जा सकता है कि यह कार्य बिना उपादानशक्तिके केवल बाह्य सामग्रीके बलपर कर्ममें हो गया। व्यवस्था व्यवस्था है। व्यवस्थाके अनुसार कार्यका होना अनियममें नहीं आता। कर्मशास्त्रके प्रगाढ़ अभ्यासका हम दावा तो नहीं करते। परन्तु कर्मशास्त्रके थोड़े बहुत अभ्यासके बलपर इतना अवश्य ही निर्देश कर देना चाहते हैं कि कर्मशास्त्रकी व्यवस्थाके

अनुसार जिस कर्ममें जिस समय जो कार्य होता है वह नियमित क्रमसे ही होता है। अतः कर्मशास्त्रके अनुसार किसी भी कार्यको आगे-पीछे होनेका दावा करना किसी भी अवस्थामें उचित नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार जिन तीन हेतुओंके आधारसे अपर पक्षने सम्यक् नियतिका विरोध किया है वे तीनों हेतु यथार्थ कैसे नहीं हैं इसका आगमके आधारसे यहाँ विचार किया। अतएव प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि सम्यक् नियति आगमसिद्ध है, अन्यथा न तो पदार्थव्यवस्था ही बन सकती है और न ही कार्य-कारणव्यवस्था ही बन सकती है।

६. प्रसंगसे प्रकृतोपयोगी नयोंका खुलासा

इसी प्रसंगमें अपर पक्षने नयोंकी चरचा करते हुए व्यवहार नयको असद्भूत माननेसे अस्वीकार किया है। उस पक्षका ऐसा कहना मालूम पड़ता है कि जितने प्रकारके व्यवहार नय आगममें बतलाये गये हैं वे सब सद्भूत ही हैं। यह प्रश्न अनेक प्रसंगों पर अनेक प्रश्नोंमें उठाया गया है। यदि अपर पक्ष आगमपर दृष्टिपात करता तो उसे स्वयं ज्ञात हो जाता कि आगममें व्यवहारनयके जो चार भेद किये हैं उनमेंसे दो सद्भूत व्यवहारनयके भेद हैं और दो असद्भूत व्यवहारनयके भेद हैं। जहाँ प्रत्येक द्रव्यको व्यवहारनयसे अनित्य कहा है वहाँ वह सद्भूत व्यवहारनयसे ही कहा गया है, जिसे आगम पद्धतिमें पर्यायार्थिक निश्चय नयरूपसे स्वीकार किया गया है। किन्तु जहाँ किसी एक द्रव्यमें दूसरे द्रव्यके कार्यकी अपेक्षा निमित्त व्यवहार किया गया है वहाँ वह सद्भूत व्यवहारनयका विषय न होकर असद्भूत व्यवहारनयका ही विषय है। कारण कि एक द्रव्यके कार्यका कारण धर्म दूसरे द्रव्यमें रहता हो यह त्रिकालमें सम्भव नहीं है। अतः एक द्रव्यके कार्यका दूसरे द्रव्यको निमित्त अर्थात् कारण कहना उपचरित ही ठहरता है। यही कारण है कि आलापपद्धतिमें असद्भूत व्यवहारका लक्षण करते हुए लिखा है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एवोपचारः। उपचारादप्युपचारं यः करोति स उपचरितासद्भूतव्यवहारः।

अन्यत्र प्रसिद्ध हुए धर्मका अन्यत्र आरोप करना असद्भूत व्यवहार है। असद्भूत व्यवहारका नाम ही उपचार है। उपचारके बाद भी जो उपचार करता है वह उपचरितासद्भूतव्यवहार है। (देखो समयसार गाथा ५६ टीका, आलापपद्धति तथा नयचक्रादिसंग्रह पृ० ७९ गाथा २२३)

यह तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा कि प्रत्येक द्रव्यके गुण-धर्म उसके उसीमें रहते हैं। विचार कीजिए कि कुम्भकार भिन्न वस्तु है और मिट्टी भिन्न वस्तु है। यदि मिट्टीके किसी धर्मको कुम्भकारमें या कुम्भकारके किसी धर्मको मिट्टीमें परमार्थसे स्वीकार किया जाता है तो इन दोनोंमें एकता प्राप्त होती है। किन्तु मिट्टी अपने स्वचतुष्टयकी अपेक्षा भिन्न वस्तु है, उसमें कुम्भकारके स्वचतुष्टयका अत्यन्त अभाव है। उसी प्रकार कुम्भकार अपने स्वचतुष्टयकी अपेक्षा भिन्न वस्तु है, उसमें मिट्टीके स्वचतुष्टयका अत्यन्त अभाव है। ऐसी अवस्थामें यदि घटका कर्ता कुम्भकारको कहा जाता है तो घटका कर्ता धर्म कुम्भकारमें आरोपित ही तो मानना पड़ेगा और इसी प्रकार कुम्भकारका कर्म यदि घटको कहा जाता है तो कुम्भकारका कर्मधर्म घटमें आरोपित ही तो मानना पड़ेगा। यही कारण है कि हमने सर्वत्र निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धको असद्भूतव्यवहारनयका विषय बतलाकर उसे उपचरित ही प्रसिद्ध किया है। नय एक विकल्प है। वह सद्भूतको तो विषय करता ही है। कालप्रत्यासत्ति आदिकी अपेक्षा जिसमें निमित्त व्यवहार या नैमित्तिक

व्यवहार किया गया है या निक्षेप व्यवस्थाके अनुसार जो नाम, स्थापना और द्रव्य निक्षेपका विषय है उसे भी विषय करता है।

अथवा नैगमनयके स्वरूप द्वारा असद्भूत व्यवहारनयको समझा जा सकता है। जिस पर्यायका संकल्प है वह वर्तमानमें अनिष्पन्न है फिर भी उसके आलम्बनसे संकल्पमात्रको ग्रहण करनेवाले नयको नैगमनय कहा है। इसी प्रकार असद्भूतव्यवहारनय इष्टार्थका ज्ञान करानेमें समर्थ है, इसीलिए उसे सम्यक् नयोंमें परिगणित किया है।

भेद द्वारा वस्तुको ग्रहण करना जहाँ सद्भूत व्यवहारनय कहा गया है वहाँ उसकी विवक्षाभेदसे निश्चयनय संज्ञा भी आगममें प्रतिपादित की गई है। किन्तु निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धको (दो द्रव्योंमें) बतलानेवाला व्यवहारनय असद्भूत व्यवहारनय ही है, वह किसी भी अवस्थामें निश्चय संज्ञाको प्राप्त करनेका अधिकारी नहीं, अतएव व्यवहार कहकर भेदव्यवहार और निमित्त-नैमित्तिक व्यवहार इन दोनोंको एक कोटिमें रखकर प्रतिपादन करना उचित नहीं है।

ज्ञेय स्वरूपसे ज्ञेय है और ज्ञायक स्वरूपसे ज्ञायक है। ये आरोपित धर्म नहीं हैं, अतः इनका सम्बन्ध कहना भले ही व्यवहार (उपचार) होओ, इसमें बाधा नहीं, परन्तु हैं ये दोनों धर्म अपने-अपनेमें सद्भूत ही, असद्भूत नहीं। किन्तु ऐसी बात निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्धके विषयमें नहीं है। कुम्भकार स्वरूपसे घटका निमित्त नहीं है और न ही घट (मिट्टी) स्वरूपसे कुम्भकारका कर्म (नैमित्तिक) हो है। फिर भी अन्यके धर्मका अन्यमें आरोप करके अर्थात् मिट्टीके कर्ता धर्मका कुम्भकारमें और कुम्भकारके कर्म धर्मका घटमें आरोप करके कुम्भकारको घटका कर्ता और घटको कुम्भकारका कर्म कहना असद्भूत व्यवहार ही है। यदि यह सद्भूत व्यवहार होता तो विवक्षाभेदसे निश्चय संज्ञाको भी प्राप्त होता। किन्तु यह व्यवहार असद्भूत ही है, अतएव यह विवक्षाभेदसे निश्चय संज्ञाको प्राप्त करनेका भी अधिकारी नहीं और इस अपेक्षासे अपर पक्ष द्वारा दिया गया नेत्रका उदाहरण प्रकृतमें अक्षरशः लागू पड़ता है। नेत्र रूपको ही जानता है, रसको नहीं। फिर भी उसे रसको जाननेवाला कहा जायगा तो वह असद्भूत व्यवहार ही ठहरेगा। उसी प्रकार कुम्भकार अपने योग और विकल्पका ही कर्ता है, घटका नहीं, फिर भी उसे घटका कर्ता कहा जायगा तो वह असद्भूत व्यवहार ही ठहरेगा, क्योंकि निश्चयसे जैसे नेत्र रसको जाननेमें असमर्थ है उसी प्रकार कुम्भकार भी निश्चयसे घटकी क्रिया करनेमें सर्वथा असमर्थ है।

इस प्रकार नयोंका प्रसंग उपस्थित कर अपर पक्षने जो हमारे 'दो द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध व्यवहारनयसे है, निश्चयनयसे नहीं।' इस कथन पर टीका की है वह कैसे आगम विरुद्ध है इसका विचार किया।

७. कर्ता-कर्म आदिका विचार

आगे अपर पक्षने कर्ता-कर्म भाव और निमित्त-नैमित्तिक भावकी चरचा उपस्थित कर अपने उन विचारोंको यहाँ भी दुहरा दिया है जिनकी विशेष चरचा शंका ५के तीसरे दौरमें की है। इसी प्रसंगमें अपर पक्षने लिखा है—

'इस तरह हमारे आपके मध्य मतभेद केवल इतना ही रह जाता है कि जहाँ हमारा पक्ष आत्मामें उत्पन्न होनेवाले रागादि विकार और चतुर्गतिभ्रमणरूप कार्यकी उत्पत्तिमें द्रव्यकर्मके उदयरूप निमित्त कारण

या निमित्त कर्ताको सहकारी कारण या सहकारी कर्ताके रूपमें सार्थक (उपयोगी) मानता है वहाँ आपका पक्ष उसे उपचरित कह कर उक्त कार्यमें अकिंचित्कर अर्थात् निरर्थक (निरुपयोगी) मानता है और तब आपका पक्ष अपना यह सिद्धान्त निश्चित कर लेता है कि कार्य केवल उपादानकी अपनी सामर्थ्यसे स्वतः ही निष्पन्न हो जाता है। उसकी निष्पत्तिमें निमित्तकी कुछ भी अपेक्षा नहीं रह जाती है। जब कि हमारा पक्ष यह घोषणा करता है कि अनुभव, तर्क और आगम सभी प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि कार्यकी निष्पत्ति उपादानमें ही हुआ करती है अर्थात् उपादान ही कार्यरूप परिणत होता है फिर भी उपादानकी उस कार्यरूप परिणतिमें निमित्तकी अपेक्षा बराबर बनी हुई है अर्थात् उपादानकी जो परिणति आगममें स्व-परप्रत्यय स्वीकार की गई है वह परिणति उपादानकी अपनी परिणति होकर भी निमित्तकी सहायतासे ही हुआ करती है, अपने आप नहीं हो जाया करती है। चूँकि आत्माके रागादिरूप परिणमन और चतुर्गति भ्रमणको उसका (आत्माका) स्वपरप्रत्यय परिणमन आगम द्वारा प्रतिपादित किया गया है, अतः वह परिणमन आत्माका अपना परिणमन होकर भी द्रव्यकर्मोंके उदयकी सहायतासे ही हुआ करता है।' आदि।

यह अपर पक्षके वक्तव्यका अंश है। इसमें उन सब बातोंका उल्लेख हो गया है जिन्हें अपर पक्ष सिद्ध करनेके प्रयत्नमें है। आगे इसे ध्यानमें रखकर पूरे वक्तव्यपर विचार किया जाता है—

यह तो अपर पक्ष ही स्वीकार करेगा कि एक अखण्ड सत्‌को भेद विवक्षामें तीन भागोंमें विभक्त किया गया है—द्रव्यसत्, गुणसत् और पर्यायसत्। अपर पक्ष द्रव्यसत् और गुणसत्के स्वरूपको तो स्वतः सिद्ध मानने के लिए तैयार है, किन्तु पर्यायसत् के विषयमें उसका कहना है कि वह परकी सहायतासे अर्थात् परके द्वारा उत्पन्न होता है। उपादान तो स्व है और अभेद विवक्षामें जो उपादान है वही उपादेय है, इसलिए वह अपनेसे, अपनेमें, अपने द्वारा आप कर्ता होकर कर्मरूपसे उत्पन्न हुआ यह कथन यथार्थ बन जाता है। किन्तु जिस बाह्य सामग्रीमें निमित्त व्यवहार किया गया है वह (वह स्वयं परके कार्यका स्वरूपसे निमित्त-कारण नहीं है यह बात यहाँ ध्यानमें रखना चाहिए।) पर है, अतः उसमें यह कार्य हुआ इसे तो यथार्थ न माना जाय और उसके द्वारा आप कर्ता होकर परके इस कार्यको उसने उत्पन्न किया इसे यथार्थ कैसे माना जा सकता है, अर्थात् त्रिकालमें यथार्थ नहीं माना जा सकता, क्योंकि दोनोंमें सर्वथा सत्ताभेद है, प्रदेशभेद है, कर्ता आदिका सर्वथा भेद तो है ही। परके द्वारा कार्य हुआ या परकी सहायतासे कार्य हुआ इसे आगम प्रमाणसे यदि हम असद्भूत व्यवहार कथन या उपचरित कथन बतलाते हैं तो अपर पक्ष उसे निरर्थक या निरुपयोगी लिखनेमें ही अपनी चरितार्थता समझता है इसका हमें आश्चर्य है। जहाँ उपादान और उपादेयमें भेद विवक्षा करके उपादानसे उपादेयकी उत्पत्ति हुई यह कथन ही व्यवहार कथन ठहरता है वहाँ परके द्वारा उससे सर्वथा भिन्न परके कार्यकी उत्पत्ति होती है इसे असद्भूत व्यवहार कथन न मानकर सद्भूत व्यवहार या निश्चय कथन कैसे माना जा सकता है, इसका स्वमतके समर्थनका पक्ष छोड़कर अपर पक्ष ही विचार करे। क्या यह अपर पक्ष आगमसे बतला सकता है कि एक द्रव्यके कार्यके कर्ता आदि कारण धर्म दूसरे द्रव्यमें वास्तवमें पाये जाते हैं ? यदि नहीं तो वह पक्ष कुम्भकार घटका कर्ता है इस कथनको असद्भूतव्यवहारनय (उपचरितोपचारनय) का कथन माननेमें क्यों हिचकिचाता है ? पहले तो उसे इस तथ्यको निःसंकोच रूपमें स्वीकार कर लेना चाहिए और फिर इसके बाद इसकी सार्थकता या उपयोगिता क्या है इस पर विचार करना चाहिये। हमें आशा है कि यदि वह इस पद्धतिसे विचार करेगा तो उसे इस कथनकी सार्थकता और उपयोगिता भी समझमें आ जायगी। यह कथन इष्टार्थ

अर्थात् निश्चयका ज्ञान करानेमें समर्थ है, इससे इसकी सार्थकता या उपयोगिता सिद्ध होती है, इससे नहीं कि वह स्वयं अपनेमें यथार्थ कथन है। इसे यथार्थ कथन मानना अन्य बात है और सार्थक अर्थात् उपयोगी मानना अन्य बात है। यह कथन उपयोगी तो है पर यथार्थ नहीं यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

आचार्य विद्यानन्दिने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ १५१ में सहकारी कारणका और कार्यका लक्षण करते हुए लिखा है—

यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति ।

जो जिसके अनन्तर नियमसे होता है वह उसका सहकारी कारण है और इतर कार्य है।

इसका तात्पर्य ही यह है कि जब जो कार्य होता है तब उसका जो सहकारी कारण कहा गया है वह नियमसे रहता है ऐसी इन दोनोंमें कालप्रत्यासत्ति है। यह यथार्थ है। अर्थात् उस समय विवक्षित कार्यका होना भी यथार्थ है और जिसमें सहकारी कारणता स्थापित की गई है उसका होना भी यथार्थ है। यह इन दोनोंकी कालप्रत्यासत्ति है।

किन्तु इसके स्थानमें उक्त कथनका यदि यह अर्थ किया जाय कि जिसे सहकारी कारण कहा गया है वह अपने व्यापार द्वारा अन्य द्रव्यके कार्यको उत्पन्न करता है तो उक्त कथनका ऐसा अर्थ करना यथार्थ न होकर उपचरित ही होगा। आचार्यने सहकारी कारणका लक्षण करते हुए जो वाक्य रचना निबद्ध की है थोड़ा उसपर दृष्टिपात कीजिए। वे सहकारी कारणका यह लक्षण नहीं लिख रहे हैं कि जिसका व्यापार जिसे उत्पन्न करता है वह सहकारी कारण है। किन्तु इसके स्थानमें यह लिख रहे हैं कि जिसके अनन्तर जो नियमसे होता है वह सहकारी कारण है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि बाह्य सामग्रीका व्यापार अन्य द्रव्यमें कार्यको त्रिकालमें उत्पन्न नहीं करता। यदि उसे अन्य द्रव्यके कार्यका सहकारी कारण कहा भी गया है तो केवल इसलिए कि उसके अनन्तर अन्य द्रव्यका वह कार्य नियमसे होता है।

इससे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उक्त कथनका क्या तात्पर्य है यह आसानीसे समझमें आ जाता है। समयसार कलशमें जो 'न जातु' इत्यादि कलश निबद्ध किया गया है वह भी इसी अभिप्रायसे निबद्ध किया गया है कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्यको परिणमाता नहीं। इसमें आया हुआ 'परसंग' पद ध्यान देने योग्य है। अपने रागरूप परिणामके कारण आत्मा परकी संगति अर्थात् परमें रागबुद्धि करता है और इसलिए वह परके संयोगमें सुख-दुःखादि रूप फलका भोक्ता होता है। यदि वह परमें रागबुद्धि करना छोड़ दे तो परके संयोगमें जो उसे सुख-दुःखादि फलका भागी होना पड़ता है उससे बच जाय। स्पष्ट है कि यहाँ परको सुख-दुःखादि रूप परिणमानेवाला नहीं कहा गया है, किन्तु परकी संगति करनेरूप अपने अपराधको ही सुख-दुःखादिका मूल हेतु कहा गया है।

समयसारकी 'जीवपरिणामहेदु' इत्यादि ८०वीं गाथा भी यही प्रगट करती है कि किसकी संगति करनेके फलस्वरूप किसकी कैसी परिणति होती है। वह परका दोष नहीं है, अपना ही दोष है इस तथ्यको सूचित करनेके लिए 'ण वि कुव्वइ' इत्यादि ८१वीं गाथा लिखी है। और अन्तमें 'एएण कारणेण' इत्यादि ८२वीं गाथा द्वारा उपसंहार करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि सब द्रव्य अपने-अपने परिणामके ही वास्तवमें कर्ता हैं, कोई किसी दूसरेके परिणामका वास्तविक कर्ता नहीं है। फिर भी यदि अपर पक्ष

सहकारी कारणका यह अर्थ करता है कि वह दूसरे द्रव्यकी क्रियाको सहायक रूपमें करता है तो उसे अपने इस सदोष विचारके संशोधनके लिए समयसार गाथा ८५-८६ पर दृष्टिपात करना चाहिए और यदि वह उसका काल प्रत्यासत्तिवश 'यदनन्तरं यद्भवति' इतना ही अर्थ करता है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं। ऐसा अर्थ करना आगमसम्मत है। 'जीवम्हि हेदुभूदे' इत्यादि गाथामें आया हुआ 'उवयारमत्तेण' पद 'अतद्भूतव्यवहार' इस अर्थका सूचक है जैसा कि हम आलापपद्धतिका उद्धरण उपस्थित कर पूर्वमें ही सूचित कर आये हैं। पर द्रव्य अन्य द्रव्यके कार्यका वास्तविक निमित्त नहीं और न वह कार्य उसका नैमित्तिक है। यह व्यवहार है जो असद्भूत है यही बात 'उवयारमत्तेण' इस पद द्वारा सूचित की गई है। तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक पृ० १५१ के उद्धरणका जो अभिप्राय है इसका खुलासा हमने पूर्वमें ही किया है। उससे अधिक उसका दूसरा आशय नहीं है।

मीमांसादर्शन शब्दको सर्वथा नित्य मानकर सहकारी कारणसे ध्वनिकी प्रसिद्धि मानता है और फिर भी वह कहता है कि इससे शब्द अविकृतरूपसे नित्य ही बना रहता है। अष्टशती (अष्टसहस्री पृ० १०५) का 'तद्सामर्थ्यमखण्डयत्' इत्यादि वचन इसी प्रसंगमें आया है। इस द्वारा भट्टाकलंकदेवने मीमांसादर्शन पर दोषका आपादन किया है, इस द्वारा जैनदर्शनके सिद्धान्तका उद्घाटन किया गया है ऐसा यदि अपर पक्ष समझता है तो उसे हम उस पक्षकी भ्रमपूर्ण स्थिति ही मानेंगे। हमें इसका दुःख है कि उसकी ओरसे अपने पक्षके समर्थनमें ऐसे वचनोंका भी उपयोग किया गया है। सर्वथा नित्यवादी मीमांसक यदि शब्दको सर्वथा नित्य मानता रहे, फिर भी वह उसमें ध्वनि आदि कार्यकी प्रसिद्धि सहकारी कारणोंसे माने और ऐसा होने-पर भी वह शब्दोंमें विकृतिको स्वीकार न करे तो उसके लिए यही दोष तो दिया जायगा कि सहकारी कारणोंने उसकी सामर्थ्यका यदि खण्डन नहीं किया है तो उन्होंने ध्वनि कार्य किया यह कैसे कहा जा सकता है, वे तो अकिंचित्कर ही बने रहे। स्पष्ट है कि इस वचनसे अपर पक्षके अभिप्रायकी अणुमात्र भी पुष्टि नहीं होती।

अपर पक्षने अष्टशतीके उक्त वचनमें आये हुए 'तत्' पदका अर्थ उपादान जानबूझ कर किया है। जब कि उसका अर्थ 'सर्वथा नित्य शब्द' है। यह सूचना हमने बुद्धिपूर्वक की है और इस अभिप्रायसे की है कि जैनदर्शनमें उपादानका अर्थ नित्यानित्य वस्तु लिया गया है। किन्तु मीमांसादर्शन शब्दको ऐसा स्वीकार नहीं करता।

अपर पक्षने समयसार गाथा १०५ की आत्मख्याति टीकाको उपस्थित कर जो अपने विचारकी पुष्टि करनी चाही है वह ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त टीकाके अन्तमें आये हुए 'स तूपचार एव न तु परमार्थः' इस पदका अर्थ है—'वह विकल्प तो उपचार ही है अर्थात् उपचरित अर्थको विषय करनेवाला ही है, परमार्थ-रूप नहीं है अर्थात् यथार्थ अर्थको विषय करनेवाला नहीं है।' किन्तु इसे बदलकर अपर पक्षने इस वाक्यका यह अर्थ किया है—'आत्मा द्वारा पुद्गलका कर्मरूप किया जाना यह उपचार ही है अर्थात् निमित्त-नैमित्तिक भावकी अपेक्षासे ही है परमार्थरूप नहीं है अर्थात् उपादानोपादेय भावकी अपेक्षासे नहीं है।' हमें आश्चर्य है कि अपर पक्षने उक्त वाक्यके प्रारम्भमें आये हुए 'सः' पदका अर्थ 'विकल्प' न करके 'आत्मा द्वारा पुद्गल-का कर्मरूप किया जाना' यह अर्थ कैसे कर लिया। अपर पक्षको यह स्मरण रखना चाहिए कि निमित्त व्यवहार और नैमित्तिक व्यवहार उपचरित होता है और यह तब बनता है जब परने परके कार्यको किया ऐसे विकल्पकी उत्पत्ति होती है। यही तथ्य उक्त गाथा और उसकी टीका द्वारा प्रगट किया गया है।

अपर पक्षने 'यः परिणमति स कर्ता' इत्यादि कलशको उद्धृत कर 'यः परिणमति' पदका अर्थ किया है—'जो परिणमन होता है अर्थात् जिसमें या जिसका परिणमन होता है।' जब कि इस पदका वास्तविक अर्थ है—'जो परिणमता है या परिणमन करता है।' उक्त पदमें 'यः परिणमति' पद है 'यत्परिणमनं भवति' पद नहीं है, फिर नहीं मालूम, अपर पक्षने उक्त पदके यथार्थ अर्थको न करके स्वमतिसे अन्यथा अर्थ क्यों किया। स्पष्ट है कि वह पक्ष उपादानको यथार्थ कर्ता बनाये रखनेमें अपने पक्षकी हानि समझता है तभी तो उस पक्षके द्वारा इस प्रकारसे अर्थमें परिवर्तन किया गया।

आगममें निमित्त व्यवहार या निमित्तकर्ता आदि व्यवहारको सूचित करनेवाले वचन पर्याप्त मात्रामें उपलब्ध होते हैं इसमें सन्देह नहीं, पर उसी आगममें यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ये सब वचन असद्भूतव्यवहारनयको लक्ष्यमें रखकर आगममें निबद्ध किये गये हैं। (इसके लिये देखो समयसार गाथा १०५ से १०८ तथा उनकी आत्मख्याति टीका, बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ८ की टीका आदि।)

यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार आगममें उपादानकर्ता और उपादान कारणके लक्षण उपलब्ध होते हैं और साथ ही उन्हें यथार्थ कहा गया है उस प्रकार आगममें निमित्तकर्ता या निमित्त कारणके न तो कहीं लक्षण ही उपलब्ध होते हैं और न ही कहीं उन्हें यथार्थ ही कहा गया है। प्रत्युत ऐसे अर्थात् निमित्तकर्ता या निमित्तकारणपरक व्यवहारको अनेक स्थलोंपर अज्ञानियोंका अनादि रूढ़ लोकव्यवहार ही बतलाया गया है (देखो समयसार गाथा ८४ व उसकी दोनों संस्कृत टीकाएँ आदि)।

अपर पक्षने हमारे कथनको लक्ष्य कर जो यह लिखा है कि 'परन्तु इस पर ध्यान न देते हुए उस लक्षणको सामान्यरूपसे कर्ताका लक्षण मानकर निमित्त-नैमित्तिक भावकी अपेक्षा आगममें प्रतिपादित कर्तृ-कर्मभावको उपचरित (कल्पनारोपित) मानते हुए आपके द्वारा निमित्तकर्ताको अकिंचित्कर (कार्यके प्रति निरुपयोगी) करार दिया जाना गलत ही है।'

किन्तु अपर पक्षको हमारे कथनपर टिप्पणी करना इसलिए अनुचित है, क्योंकि परमागममें एक कार्यके दो कर्ता वास्तवमें स्वीकार ही नहीं किये गये हैं। समयसार कलशमें कहा भी है—

> नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य।
> नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥५४॥

एक द्रव्य (कार्य) के दो कर्ता नहीं होते, एक द्रव्यके दो कर्म नहीं होते और एक द्रव्यकी दो क्रियाएँ नहीं होतीं, क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्यरूप नहीं होता ॥५४॥

इससे स्पष्ट विदित होता है कि जब एक कार्यके परमार्थरूप दो कर्ता ही नहीं हैं, ऐसी अवस्थामें परमागममें दो कर्ताओंके दो लक्षण निबद्ध किया जाना किसी भी अवस्थामें सम्भव नहीं है, इसलिए प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि 'यः परिणमति स कर्ता' इस रूपमें कर्ताका जो लक्षण निबद्ध किया गया है वह सामान्यरूपसे भी कर्ताका लक्षण है और विशेषरूपसे भी, क्योंकि जहाँ पर दो या दोसे अधिक एक जातिकी वस्तुएँ हों वहाँ पर हो सामान्य और विशेष ऐसा भेद करना सम्भव है। यहाँ जब एक कार्यका कर्ता ही एक है तो एक कर्ताके दो लक्षण हो ही कैसे सकते हैं? यही कारण है कि एक कार्यका एक कर्ता होनेसे परमागममें कर्ताका एक ही लक्षण लिपिबद्ध किया गया है। निमित्तकर्ता वास्तवमें कर्ता नहीं, इसलिए परमागममें उसका लक्षण भी उपलब्ध नहीं होता। वह तो व्यवहारमात्र है। अतएव इस सम्बन्धमें हमारा जो कुछ भी कथन है वह यथार्थ है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनमें समयसार गाथा १०० को उपस्थित किया है, किन्तु यह गाथा किस अभिप्रायसे निबद्ध की गई है इसके लिए समयसार १०७ गाथा अवलोकनीय है। उसके प्रकाशमें इस गाथाको पढ़नेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि गाथा १०० में आचार्य कुन्दकुन्दने जो कुम्भकारके योग और विकल्पको घटका उत्पादक कहा है और आचार्य अमृतचन्द्रने कुम्भकारके योग और विकल्पको जो निमित्त कर्ता कहा है वह किस अभिप्रायसे कहा है। गाथा १०७ में यह स्पष्ट बतलाया गया है कि आत्मा पुद्गल कर्मको उत्पन्न करता है, करता है, बांधता है, परिणमाता है और ग्रहण करता है यह सब कथन व्यवहारनय का वक्तव्य है। गाथा १०० में तो मात्र निमित्त कर्ताके अर्थमें किस प्रकारका प्रयोग किया जाता है यह बतलाया गया है। किन्तु गाथा १०७ में ऐसा प्रयोग किस नयका विषय है इसे स्पष्ट किया गया है। अतः इस परसे भी अपर पक्षके अभिप्रायकी पुष्टि न होकर हमारे ही अभिप्रायकी पुष्टि होती है।

अपर पक्ष यह तो बतलावे कि जब जिसमें निमित्त व्यवहार किया गया है उसका कोई भी धर्म जिसमें नैमित्तिक व्यवहार किया गया है उसमें प्रविष्ट नहीं होता तो फिर वह उसका यथार्थमें निमित्त कर्ता–कारण-रूपसे कर्ता कैसे बन जाता है ? आगममें जब कि ऐसे कथनको उपचरित या उपचरितोपचरित स्पष्ट शब्दोंमें घोषित किया गया है तो अपर पक्षको ऐसे आगमको मान लेनेमें आपत्ति ही क्या है। हमारी रायमें तो उसे ऐसे कथनको विना हिचकिचाहटके प्रमाण मान लेना चाहिए।

अपर पक्षने प्रमेयरत्नमाला समुद्देश ३ सू० ६३ से **'अन्वय-व्यतिरेक'** इत्यादि वचन उद्धृत कर अपने पक्षका समर्थन करना चाहा है, किन्तु इस वचनसे भी इतना ही ज्ञात होता है कि जिसके अनन्तर जो होता है वह उसका कारण है और इतर कार्य है। यही बात इसी सूत्रको व्याख्यामें इन शब्दोंमें कही गई है—

तस्य कारणस्य भावे कार्यस्य भावित्वं तद्भावभावित्वम्।

उसके अर्थात् कारणके होने पर कार्यका होना यह तद्भावभावित्व है।

किन्तु यह सामान्य निर्देश है। इससे बाह्य सामग्रीको उपचरित कारण क्यों कहा और आभ्यन्तर सामग्रीको अनुपचरित कारण क्यों कहा यह ज्ञान नहीं होता। इसका विचार तो उन्हीं प्रमाणोंके आधार पर करना पड़ेगा जिनका हम पूर्वमें निर्देश कर आये हैं।

यह तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा कि एक द्रव्यमें एक कालमें एक ही कारण धर्म होता है और उस धर्मके अनुसार वह अपना कार्य भी करता है। जैसे कुम्भकारमें जब अपनी क्रिया और विकल्प करनेका कारण धर्म है तब वह अपनी क्रिया और विकल्प करता है, मिट्टीकी घट निष्पत्तिरूप क्रिया नहीं करता। ऐसी अवस्थामें कुम्भकारको घटका कर्ता उपचारसे ही तो कहा जायगा। और उस उपचारका कारण यह है कि जब कुम्भकारकी विवक्षित क्रिया और विकल्प होता है तब मिट्टी भी उपादान होकर घटरूपसे परिणमती है। इस प्रकार कुभकारकी विवक्षित क्रियाके साथ घट कार्यका अन्वय-व्यतिरेक बन जाता है। यही कारण है कि कुम्भकारको घटका कर्ता उपचारसे कहा गया है। किन्तु ऐसा उपचार करना तभी सार्थक है जब वह यथार्थका ज्ञान करावे, अन्यथा वह व्यवहाराभास ही होगा। यह वस्तुस्थितिका स्वरूप निर्देश है। इससे बाह्य सामग्रीमें अन्य द्रव्यके कार्यकी कारणता काल्पनिक ही है यह ज्ञान हो जाता है। फिर भी आगममें इस कारणताको काल्पनिक न कहकर जो उपचरित कहा है वह सप्रयोजन कहा है। खुलासा पूर्वमें ही किया है और आगे भी करेंगे।

धवला पु० १३ पृ० ३४९ का उद्धरण (जिसे अपर पक्षने प्रस्तुत किया है) संयोगकी भूमिकामें उपचरित अनुभागका ही निरूपण करता है। प्रत्येक द्रव्यका वास्तविक अनुभाग क्या है यह 'तत्थ असेस-दव्वावगमो जीवाणुभागो' इत्यादि वचनसे ही जाना जाता है।

अपर पक्षने 'मुख्याभावे सति' इत्यादि वचनको उपचारकी व्याख्या माना है जो अयुक्त है। इस वचन द्वारा तो मात्र उसकी प्रवृत्ति कहाँ होती है यह बतलाया गया है। उपचारकी व्याख्या उसी आलाप-पद्धतिमें इस प्रकार दी है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः। असद्भूतव्यवहार एव उपचारः।

अन्यत्र प्रसिद्ध हुए धर्मका अन्यत्र आरोप करना असद्भूत व्यवहार है। असद्भूत व्यवहार ही उपचार है।

अपर पक्षने उपचार कहाँ प्रवृत्त होता है इसके समर्थनमें तीन उदाहरण दिये है, किन्तु उनका आशय क्या है इसे समझना है। एक उदाहरण बालकका है। बालकमें यथार्थमें सिंहपना तो नहीं है। हाँ जिस प्रकार सिंहमें क्रौर्य-शौर्य गुण होता है, उसके समान जिस बालकमें यह गुण उपलब्ध होता है उस बालक में सिंहका उपचार किया जाता है। यहाँ तत्सदृश गुण उपचारका कारण है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सिंहमें जो गुण है वही गुण बालकमें तो नहीं है। फिर भी बालकको जो सिंह कहा गया है वह केवल तत्सदृश गुणको देखकर ही कहा गया है। अतएव यह उपचार कथन ही है, वास्तविक नहीं। यह दृष्टान्त है अब इसे दार्ष्टान्तिपर लागू कीजिए।

प्रकृतमें कार्य-कारणभावका विचार प्रस्तुत है। कार्य एक है और कारण दो—एक बाह्य सामग्री, जो अपने स्वचतुष्टय द्वारा कार्यके स्वचतुष्टयको स्पर्श करनेमें सर्वथा असमर्थ है और दूसरी अन्तःसामग्री, जो कार्यके अव्यवहित प्राक् रूपस्वरूप है। ऐसी अवस्थामें इन दोनों कारणोंमें कार्यका वास्तविक कारण कौन? दोनों या एक? इसे यथार्थरूपमें समझनेके लिए कारकोंके स्वरूपपर दृष्टिपात करना होगा। कारक दो प्रकारके है—एक निश्चय कारक और दूसरे व्यवहार कारक। निश्चय कारक जिस द्रव्यमें कार्य होता है उससे अभिन्न होते है और व्यवहार कारक जिस द्रव्यमें कार्य होता है उससे भिन्न माने गये है। प्रत्येक द्रव्यमे अपना कार्य करनेमें समर्थ उससे अभिन्न छह कारक नियमसे होते है, इसको समझनेके लिए पंचास्ति-काय गाथा ६२ और उसकी टीका देखने योग्य है। इसकी उत्थानिकाका निर्देश करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

अत्र निश्चयनयेनाभिन्नकारकत्वात्कर्मणो जीवस्य च स्वयं स्वरूपकर्तृत्वमुक्तम्।

निश्चयसे अभिन्न कारक होनेसे कर्म और जीव स्वयं स्वरूपके (अपने-अपने स्वरूपके) कर्ता है ऐसा यहाँ कहा है।

आगममें जहाँ स्वरूप प्राप्तिका निर्देश किया गया है वहाँ यही कहा गया है।

अयमात्मात्मनात्मानमात्मन्यात्मन आत्मने।
समादधानो हि परां विशुद्धिं प्रतिपद्यते ॥ १–११३ ॥—अनगारधर्मामृत।

स्वसंवेदनसे सुव्यक्त हुआ यह आत्मा स्वसंवेदनरूप अपने द्वारा शुद्ध चिदानन्दस्वरूप अपनी प्राप्तिके लिए इन्द्रिय ज्ञान और अन्तःकरण ज्ञानरूप अपनेसे भिन्न होकर निर्विकल्पस्वरूप अपनेमें शुद्ध चिदानन्दस्वरूप अपनेको ध्याता हुआ उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त होता है ॥१–११३॥

इसी तथ्यको परमात्मप्रकाश अध्याय एकमें इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

भवतणुभोयविरत्तमणु जो अप्पा झाएइ।
तासु गुरुक्की वेल्लडी संसारिणि तुट्टइ ॥३२॥

संसार, शरीर और भोगोंमें विरक्त मन हुआ जो जीव आत्माको ध्याता है उसकी बड़ी भारी संसाररूपी बेल छिन्न-भिन्न हो जाती है ॥३२॥

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रत्येक समयमें निश्चय षट्कारकरूपसे परिणत हुआ प्रत्येक द्रव्य स्वयं अपना कार्य करनेमें समर्थ है। इसको विशदरूपसे समझनेके लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ४१० का 'ततः सूक्तं लोकाकाशधर्मादिद्रव्याणामाधाराधेयता' यह वक्तव्य दृष्टिपथमें लेने योग्य है। इसमें स्पष्ट बतलाया है कि निश्चयनयसे (यथार्थरूपसे) विचार करनेपर प्रत्येक द्रव्यमें स्थितिरूप, गमनरूप और परिणमन आदि रूप जो भी कार्य होता है उसे वह द्रव्य स्वयं अपने द्वारा अपनेमें आप कर्ता होकर करनेमें समर्थ है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्यका उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप जो भी स्वरूप है वह विस्रसा है। अभेद विवक्षामें ये तीनों एक है, भेदविवक्षामें ही ये तीन कहे जाते हैं।

इसपर यह प्रश्न होता है कि ये तीनों जब कि द्रव्यस्वरूप है तो कालभेदसे प्रत्येक द्रव्य अन्य-अन्य क्यों प्रतीत होता है, उसे जो प्रथम समयमें है वही दूसरे समयमें रहना चाहिए ? इसी प्रश्नका समाधान व्यवहारनयसे करते हुए यह वचन लिखा है—

व्यवहारनयादेव उत्पादादीनां सहेतुकत्वप्रतीतेः :
व्यवहारनयसे ही उत्पादादिक सहेतुक प्रतीत होते हैं।

यह तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा कि व्यवहारनयके दो भेद हैं—सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय। सद्भूत व्यवहारनयमें भेदविवक्षा मुख्य है और असद्भूतव्यवहारनयमें उपचारविवक्षा मुख्य है। इससे दो तथ्य फलित होते हैं कि सद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा विचार करनेपर किस पर्याययुक्त द्रव्यके बाद अगले समयमें किस पर्याय युक्त द्रव्य रहेगा यह ज्ञात होता है और असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा विचार करनेपर बाह्य किस प्रकारके संयोगमें किस प्रकारकी पर्याययुक्त द्रव्य रहेगा यह ज्ञात होता है। यहाँ आचार्य विद्यानन्दिने जो उत्पादादिकको व्यवहारनयसे सहेतुक कहा है उसका आशय भी यही है। इसी तथ्यको उन्होंने अष्टसहस्री पृ० ११२ में इन शब्दोंमें व्यक्त किया है—

स्वयमुत्पित्सोरपि स्वभावान्तरापेक्षणे विनश्वरस्यापि तदपेक्षणप्रसंगात्। एतेन स्थास्नोः स्वभावान्तरानपेक्षणमुक्तम्, विस्रसा परिणामिनः कारणान्तरानपेक्षोत्पादादित्रयव्यवस्थानात्। तद्विशेषे एव हेतुव्यापारोपगमात्।

स्वयं उत्पादशील है फिर भी उसमें यदि स्वभावान्तरकी अपेक्षा मानी जाय तो जो स्वयं विनाशशील है उसमें भी स्वभावान्तरकी अपेक्षा माननेका प्रसंग आता है। इससे स्वयं स्थितिशीलमें स्वभावान्तरकी अपेक्षा नहीं होती यह कहा गया है, क्योंकि विस्रसा परिणमनशील पदार्थमें कारणान्तरकी अपेक्षा किये बिना उत्पादादित्रयकी व्यवस्था है; तद्विशेषमें ही हेतुका व्यापार स्वीकार किया है।

यहाँ 'तद्विशेषे एव हेतुव्यापारोपगमात्' इस वचनके तात्पर्यको समझनेके लिए अष्टसहस्री पृ० १५०

के 'परिणमनशक्तिलक्षणायाः प्रतिविशिष्टान्तःसामग्र्याः सुवर्णकारकव्यापारादिलक्षणायाश्च बहिःसामग्र्याः सन्निपाते' पद ध्यान देने योग्य है। इस द्वारा कैसी अन्तःसामग्री और कैसी बाह्य सामग्रीका सन्निपात होने पर कैसा उत्पाद होता है यह बतलाया गया है। इससे यही ज्ञात होता है कि स्वभावसे द्रव्य उत्पादादि त्रय-स्वरूप होनेके कारण अपने परिणामस्वभावके आलम्बन द्वारा यद्यपि इन तीन रूप स्वयं परिणमता है, अन्य कोई उसे इनरूप परिणमाता नहीं है। फिर भी अन्तः-बाह्य सामग्रीके किस रूप होने पर किस रूप परिणमता है इसकी प्रसिद्धि उससे होती है, अतः सद्भूत व्यवहारनयसे अन्तःसामग्रीको और असद्भूत व्यवहार नयसे बाह्य सामग्रीको उसका उत्पादक कहा गया है। एकको दूसरेका उत्पादक कहना यह व्यवहार है और स्वयं उत्पन्न होता है कहना निश्चय है। अर्थात् निश्चय नयका विषय है।

यहाँ सद्भूत व्यवहारनयका खुलासा यह है कि उपादान और उपादेयका स्वरूप स्वतःसिद्ध होनेपर भी यह नय उपादेयको उपादान सापेक्ष स्वीकार करता है।

असद्भूत व्यवहारनयका खुलासा यह है कि बाह्य सामग्री स्वरूपसे अन्यके कार्यका निमित्त नहीं है फिर भी यह नय उसे अन्य बाह्य सामग्री सापेक्ष स्वीकार करता है।

यहाँ इन दोनों व्यवहारोंमें हमने उपचरितोपचारकी विवक्षा नहीं की है। उसकी विवक्षामें उपादान उपादेयका उत्पादक है यह कथन उपचरित सद्भूत व्यवहारनयका विषय होगा और कुम्भकार घटका कर्ता है यह कथन उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका विषय ठहरेगा। **अन्यत्र जहाँ कहीं हमने उपादानसे उपादेयकी उपपत्तिको यदि निश्चयनयका वक्तव्य कहा भी है तो वहाँ अभेद विवक्षामें ही वैसा प्रतिपादन किया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।**

यह वस्तुस्थिति है। इसके प्रकाशमें जब हम बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा विचार करते हैं तो विदित होता है कि कुम्भकारमें जो घट् कारक धर्म हैं वे अपने हैं, मिट्टीके नहीं। तथा मिट्टीमें जो घट् कारक धर्म हैं वे मिट्टीके हैं, कुम्भकारके नहीं। अतएव कुम्भकारको अपने कर्तादि धर्मोंके कारण योग और विकल्पका कर्ता कहना तथा मिट्टीको अपने कर्तादि धर्मोंके कारण घटका कर्ता कहना तो परमार्थभूत है। फिर भी जिस समय मिट्टी अपना घटरूप व्यापार करती है उस समय कुम्भकार भी अपना योग और विकल्परूप ऐसा व्यापार करता है जो घट परिणामके अनुकूल कहा जाता है। वस्तुतः यही कुम्भकारमें घटके कर्तापनेके उपचारका हेतु है। इसी तथ्यको समयसार गाथा ८४ की आत्मख्याति टीका 'कलशसम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः—कलशकी उत्पत्तिके अनुकूल व्यापारको करता हुआ' इन शब्दोंमें व्यक्त करती है। जैसे बालक सिंहका कार्य तो नहीं करता। फिर भी वह अपने क्रौर्य-शौर्य गुणके कारण सिंह कहनेमें आता है। यही उपचार है। वैसे ही कुम्भकार मिट्टीमें घटक्रिया तो नहीं करता। फिर भी वह मिट्टी द्वारा की जानेवाली घटक्रियाके समय अपनी योग और विकल्परूप ऐसी क्रिया करता है जिससे उसे मिट्टीमें घट क्रियाका कर्ता कहा जाता है। यही उपचार है। हमें विश्वास है कि अपर पक्ष पूर्वोक्त उदाहरण द्वारा आगम प्रमाणोंके प्रकाशमें इस तथ्यको ग्रहण करेगा।

अपर पक्षने उपचार कहाँ प्रवृत्त होता है यह दिखलानेके लिए जो अन्य दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनका आशय भी यही है। अन्न अपने परिणाम लक्षण क्रियाका कर्ता है और प्राण अपने परिणाम लक्षण क्रियाके कर्ता हैं। ये परस्पर एक-दूसरेकी क्रिया नहीं करते। फिर भी काल प्रत्यासत्ति वश यहाँ अन्नमें प्राणोंकी निमित्तता उपचरित की गई है। अतएव अन्न जैसे प्राणोंका उपचरित हेतु है उसी प्रकार प्रकृतमें

जान लेना चाहिए। वचनमें परार्थानुमानका उपचार क्यों किया जाता है इसका खुलासा भी इससे हो जाता है और इस उदाहरणसे भी यही ज्ञात होता है कि कुम्भकार वास्तवमें घटोत्पत्तिका हेतु नहीं है।

अपर पक्षने अपने प्रकृत विवेचनमें सबसे बड़ी भूल तो यह की है कि उसने बाह्य सामग्रीको स्वरूपसे अन्यके कार्यका निमित्त स्वीकार करके अपना पक्ष उपस्थित किया है। किन्तु उस पक्षकी ओरसे ऐसा लिखा जाना ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त कथनको वास्तविक मानने पर अन्य द्रव्यके कार्यका कारणधर्म दूसरे द्रव्यमें वास्तवमें रहता है यह स्वीकार करना पड़ता है और ऐसा स्वीकार करने पर दो द्रव्योंमें एकताका प्रसंग उपस्थित होता है। अतएव अपर पक्षको प्रकृतमें यह स्वीकार करना चाहिए कि बाह्य सामग्रीको अन्यके कार्यका हेतु कहना यह प्रथम उपचार है और उस आधारसे उसे वही कहना या उसका कर्ता कहना यह दूसरा उपचार है। 'अन्नं वै प्राणाः' यह वास्तवमें उपचरितोपचारका उदाहरण है। सर्व प्रथम तो यहाँ व्यवहार (उपचार) नयसे अन्नमें प्राणोंकी निमित्तता स्वीकार की गई है और उसके बाद पुनः व्यवहार (उपचार) नयका आश्रय कर अन्न प्राण ही है ऐसा कहा गया है। यहाँ व्यवहार पद उपचारका पर्यायवाची है। अतएव आगममें जहाँ भी एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यके कार्यका व्यवहारनयसे निमित्त कहा गया है वहाँ उसे उस कार्यका उपचारनयसे निमित्त कहा गया है ऐसा समझना चाहिए।

उपचार और व्यवहार ये एकार्थवाची हैं इसके लिए देखो समयसार गाथा १०८ तथा उसकी आत्मख्याति टीका। समयसारकी उक्त गाथामें 'ववहारा' पद आया है और उसकी व्याख्या करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रने उसके स्थानमें 'उपचार' पदका प्रयोग किया है। समयसार गाथा १०६ और १०७ तथा उनकी आत्मख्याति टीकामें भी यही बात कही गई है। इतना ही क्यों, इसी अर्थको बतलानेके लिए स्वयं आचार्य कुन्दकुन्दने गाथा १०५ में 'उपचारमात्र' पदका प्रयोग किया है। स्पष्ट है कि आगममें जहाँ जहाँ व्यवहारसे निमित्त है, हेतु है या कारण है ऐसा कहा गया है वहाँ वह कथन उपचारसे किया गया है ऐसा समझना चाहिए।

तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० १२ से भी यही तथ्य फलित होता है। यहाँ भट्टाकलंकदेवने जब 'सब द्रव्य परमार्थसे स्वप्रतिष्ठ हैं' इस वचनकी स्वीकृति दी तब यह प्रश्न उठा कि ऐसा मानने पर तो अन्योन्य आधारके व्याघातका प्रसंग उपस्थित होता है। इसी प्रश्नका समाधान करते हुए उन्होंने लिखा है कि एक को दूसरेका आधार बतलाना यह व्यवहारनयका वक्तव्य है, परमार्थसे तो सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठ ही हैं। यदि कोई शंका करे कि यहाँ परमार्थका अर्थ द्रव्यार्थिक है तो यह बात भी नहीं है। किन्तु यहाँ परमार्थ पदका अर्थ पर्यायार्थिक निश्चयरूप एवम्भूतनय ही लिया गया है। इस प्रकार इस विवेचनसे भी यही ज्ञात होता है कि समयसारमें जिस प्रकार व्यवहार पद उपचारके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है उसी प्रकार अन्य आचार्योंने भी इस (व्यवहार) पदका उपचारके अर्थमें ही प्रयोग किया है।

यह तथ्य है। इस तथ्यको ध्यानमें रखकर आलाप पद्धतिके 'मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचारः प्रवर्तते।' इस पदका असद्भूत व्यवहारनयसे यह अर्थ फलित होता है कि यदि मुख्य (यथार्थ) प्रयोजन और निमित्त (कारण) का अभाव हो अर्थात् अविवक्षा हो तथा असद्भूत व्यवहार प्रयोजन और असद्भूत व्यवहार निमित्तकी विवक्षा हो तो उपचार प्रवृत्त होता है।

तथा अखण्ड द्रव्यमें भेदविवक्षा वश इसका यह अर्थ होगा कि मुख्य अर्थात् द्रव्यार्थिक नयका विषयभूत यथार्थ प्रयोजन और यथार्थ निमित्तका अभाव हो अर्थात् अविवक्षा हो तथा सद्भूत व्यवहाररूप प्रयोजन और सद्भूत व्यवहाररूप निमित्तकी विवक्षा हो तो उपचार प्रवृत्त होता है।

यही कारण है कि 'मुख्याभावे' इत्यादि वचनके बाद उस उपचारको कहीं अविनाभाव सम्बन्धरूप, कहीं संश्लेषसम्बन्धरूप और कहीं परिणामपरिणामिसम्बन्ध आदि रूप बतलाया गया है।

इसलिए आलापपद्धतिके उक्त वाक्यको ध्यानमें रखकर अपर पक्षने उसके आधारसे यहाँ जो कुछ भी लिखा है वह ठीक नहीं यह तात्पर्य हमारे उक्त विवेचनसे सुतरां फलित हो जाता है।

अपर पक्षने इसी प्रसंगमें उपादान पदकी निरुक्ति तथा व्याकरणसे सिद्धि करते हुए लिखा हैं कि 'जो परिणमनको स्वीकार करे, ग्रहण करे या जिसमें परिणमन हो उसे उपादान कहते हैं। इस तरह उपादान कार्यका आश्रय ठहरता है।' तथा निमित्त पदकी निरुक्ति और व्याकरणसे सिद्धि करते हुए उसके विषयमें लिखा है कि 'जो मित्रके समान उपादानका स्नेहन करे अर्थात् उसकी कार्यपरिणतिमें जो मित्रके समान सहयोगी हो वह निमित्त कहलाता है।

उपादान और निमित्तके विषयमें यह अपर पक्षका वक्तव्य है। इससे विदित होता है कि अपर पक्ष उपादानको मात्र आश्रय कारण मानता है और निमित्तको सहयोगी। अतएव प्रश्न होता है कि कार्यका कर्ता कौन होता है ? अपर पक्ष अपने उक्त कथन द्वारा कार्यको उपादानका तो स्वीकार कर लेता है इसमें सन्देह नहीं, अन्यथा वह उपागादनके लिए 'उसकी कार्यपरिणतिमें' ऐसे शब्दोंका प्रयोग नहीं करता। परन्तु वह उपादानको कार्यका मुख्य (वास्तविक) कर्ता नहीं मानना चाहता इसका हमें आश्चर्य है। समयसार कलशमें यदि जीव पुद्गलकर्मको नहीं करता है तो कौन करता है ऐसा प्रश्न उठा कर उसका समाधान करते हुए लिखा है कि यदि तुम अपना तीव्र मोह (अज्ञान) दूर करना चाहते हो तो कान खोलकर सुनो कि वास्तवमें पुद्गल ही अपने कार्यका कर्ता है, जीव नहीं। समयसार कलशका वह वचन इस प्रकार है—

> जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशंकयैव ॥
> एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय संकीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्म कर्तृ ॥ ६३ ॥

अपर पक्ष जब कि कार्य के प्रति व्यवहार कर्ता या व्यवहार हेतु आदि शब्दों द्वारा प्रयुक्त हुए बाह्य पदार्थको उपचार कर्ता या उपचारहेतु स्वीकार कर लेता है, ऐसी अवस्थामें उसे आगममें किये गये 'उपचार' पदके अर्थको ध्यानमें रखकर इस कथनको अवास्तविक मान लेनेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए। इससे उपादानकर्ता वास्तविक है यह सुतरां फलित हो जाता है। बाह्य सामग्रीमें निमित्त व्यवहारको लक्ष्यमें रखकर उपचार कर्ता या उपचार हेतुका आगममें कथन क्यों किया गया है इसका प्रयोजन है और इस प्रयोजनको लक्ष्यमें रख कर यह कथन व्यर्थ न होकर सार्थक और उपयोगी भी है। किन्तु इस आधारपर अपर पक्ष द्वारा उस कथनको ही वास्तविक ठहराना किसी भी अवस्थामें उचित या परमार्थभूत नहीं कहा जा सकता।

अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनमें आगमके जो तीन उदाहरण उपस्थित किये हैं उनमेंसे अष्टसहस्री पृ० १५० का उदाहरण निश्चय उपादानके साथ बाह्य सामग्रीकी मात्र कालप्रत्यासत्तिको सूचित करता है। देवागम कारिका ११९ से मात्र इतना ही सूचित होता है कि यह जीव अपने रागादि भावोंको मुख्य कर जैसा कर्मबन्ध करता है उसके अनुसार उसे फलका भागी होना पड़ता है। फलभोगमें कर्म तो निमित्तमात्र है, उसका मुख्य कर्ता तो स्वयं जीव ही है। अपर पक्षने इस कारिकाके उत्तरार्ध को छोड़कर उसे आगम प्रमाणके रूपमें उपस्थित किया है। इससे कर्म और जीवके रागादि भावोंमें

निमित्त-नैमित्तिक योग कैसे बनता है इतना ही सिद्ध होता है, अतएव उससे अन्य अर्थ फलित करना उचित नहीं है। तीसरा उदाहरण प्रवचनसार गाथा २५५ की टीकाका है। किन्तु इस वचनको प्रवचनसार गाथा २५४ और उसकी टीकाके प्रकाशमें पढ़ने पर विदित होता है कि इससे उपादानके कार्यकारीपनेका ही समर्थन होता है। रसपाक कालमें बीजके समान भूमि फलका स्वयं उपादान भी है इसे अपर पक्ष यदि ध्यानमें ले ले तो उसे इस उदाहरण द्वारा आचार्य किस तथ्यको सूचित कर रहे हैं इसका ज्ञान होनेमें देर न लगे। निमित्त-नैमित्तिक भावकी अपेक्षा विचार करने पर इस आगमप्रमाणसे यह विदित होता है कि बीजका जिस रूप अपने कालमें रसपाक होता है तदनुकूल भूमि उसमें निमित्त होती है और उपादान-उपादेय भावकी अपेक्षा विचार करने पर इस आगमप्रमाणसे यह विदित होता है कि भूमि बीजके साथ स्वयं उपादान होकर जैसे अपने कालमें इष्टार्थको फलित करती है वैसे ही प्रकृतमें जानना चाहिए। स्पष्ट है कि इन तीन आगमप्रमाणोंसे अपर पक्षके मतका समर्थन न होकर हमारे अभिप्रायकी ही पुष्टि होती है। बाह्य सामग्री उपादानके कार्यकालमें उपादानकी क्रिया न करके स्वयं उपादान होकर अपनी ही क्रिया करती है, फिर भी बाह्य सामग्रीके क्रियाकालमें उपादानका वह कार्य होनेका योग है, इसलिए बाह्य सामग्रीमें निमित्त व्यवहार किया जाता है। इसे यदि अपर पक्ष निमित्तकी हाजिरी समझता है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री उपादानके कार्यका अनुरंजन करती है, उपकार करती है, सहायक होती है आदि यह सब कथन व्यवहारनय (उपचारनय) का ही वक्तव्य है, निश्चयनयका नहीं। **अपने प्रतिपेधक स्वभावके कारण निश्चयनयकी दृष्टिमें यह प्रतिपेध्य ही है।** आशा है कि अपर पक्ष इस तथ्यके प्रकाशमें उपादानके कार्य कालमें बाह्य सामग्रीमें किये गये निमित्त व्यवहारको वास्तविक (यथार्थ) माननेका आग्रह छोड़ देगा।

हमने पञ्चास्तिकाय गाथा ८८ के प्रकाशमें बाह्य सामग्रीमें किये गये निमित्तव्यवहारको जहाँ दो प्रकारका बतलाया है वहाँ उसी टीका वचनसे इन भेदोंको स्वीकार करनेके कारणका भी पता लग जाता है। जो मुख्यत: अपने क्रिया परिणाम द्वारा या राग और क्रिया परिणाम द्वारा उपादानके कार्यमें निमित्त व्यवहार पदवीको धारण करता है उसे आगममें निमित्तकर्ता या हेतुकर्ता कहा गया है। इसीको लोकमें प्रेरक कारण भी कहते हैं और जो उक्त प्रकारके सिवाय अन्य प्रकारसे व्यवहार हेतु होता है उसे आगममें उदासीन निमित्त कहनेमें आया है। यही इन दोनोंमें प्रयोग भेदका मुख्य कारण है। पंचास्तिकायके उक्त वचनसे भी यही सिद्धि होता है। इस प्रकार हमने इन दोनों भेदोंको क्यों स्वीकार किया है इसका यह स्पष्टीकरण है।

अपर पक्ष इन दोनोंको स्वीकार करनेमें उपादानके कार्यभेदको मुख्यता देता है सो उपादानमें कार्य भेद तो दोनोंके सद्भावमें होता है। प्रश्न यह नहीं है, किन्तु प्रश्न यह है कि उस कार्यको वास्तवमें कौन करता है ? जिसे आगममें हेतुकर्ता कहा गया है वह कि उपादान ? यदि जिसे आगममें हेतुकर्ता कहा गया है वह करता है तो उसे उपादान ही मानना होगा। किन्तु ऐसा मानना स्वयं अपर पक्षको भी इष्ट नहीं होगा, इसे हम हृदयसे स्वीकार करते है। ऐसी अवस्थामें फलित तो यही तथ्य होता है कि उपादानने स्वयं यथार्थ कर्ता होकर अपना कार्य किया और बाह्य सामग्री उसमें व्यवहारसे हेतु हुई। इस अपेक्षासे विचार करने पर बाह्य सामग्रीको व्यवहारहेतुता एक ही प्रकारकी है, दो प्रकारकी नहीं यह सिद्ध होता है। आचार्य पूज्यपादने इष्टोपदेशमें 'नाज्ञो विज्ञत्वमायाति' इत्यादि वचन इसी अभिप्रायसे लिखा है। इस वचन द्वारा वे यह सूचित कर रहे है कि व्यवहारहेतुता किसी प्रकारसे क्यों न मानी गई हो, अन्यके कार्यमें वह

वास्तविक न होनेसे इस अपेक्षासे समान हैं। अर्थात् अन्यका कार्य करनेमें धर्मद्रव्यके समान दोनों ही उदासीन हैं।

अब रही प्रेरक निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीके अनुरूप परिणमनकी बात सो यह हम अपर पक्षसे ही जानना चाहेंगे कि यह अनुरूप परिणमन क्या वस्तु है ? उदाहरणार्थ कर्मको निमित्त कर जीवके भावसंसारकी सृष्टि होती है और जीवके राग-द्वेषको निमित्त कर कर्मकी सृष्टि होती है। यहाँ कर्म निमित्त है और राग-द्वेष परिणाम नैमित्तिक। इसी प्रकार राग-द्वेष परिणाम निमित्त हैं और कर्म नैमित्तिक। तो क्या इसका यह अर्थ लिया जाय कि निमित्तमें जो गुणधर्म होते हैं वे नैमित्तिकमें संक्रमित हो जाते हैं, या क्या इसका यह अर्थ लिया जाय कि जिसको उपादान निमित्त बनाता है उस जैसा क्रिया परिणाम या भाव परिणाम अपनी उपादान शक्तिके बलसे वह अपना स्वयं उत्पन्न कर लेता है ? प्रथम पक्ष तो इसलिए ठीक नहीं, क्योंकि एक द्रव्यके गुण-धर्मका दूसरे द्रव्यमें संक्रमण नहीं होता। ऐसी अवस्थामें दूसरा पक्ष ही स्वीकार करना पड़ता है। समयसार गाथा ८०-८२ की आत्मख्याति टीकामें 'निमित्तीकृत्य' पदका प्रयोग इसी अभिप्रायसे किया गया है। अन्य द्रव्य दूसरेके कार्यमें स्वयं निमित्त नहीं है। किन्तु अन्य द्रव्यको लक्ष्य कर—आलम्बन कर अन्य जिस द्रव्यका परिणाम होता है उसकी अपेक्षा उसमें प्रेरक निमित्त व्यवहार किया जाता है। पुद्गल द्रव्य अपनी विशिष्ट स्पर्श पर्यायके कारण दूसरेका सम्पर्क करके अपनी उपादान शक्तिके बलसे जिसका सम्पर्क किया है उसके समान धर्मरूपसे परिणाम जाता है और जीव अपने कषायके कारण दूसरेको लक्ष्य करके अपनी उपादान शक्तिके बलसे जिसको लक्ष्य किया है वैसा रागपरिणाम अपनेमें उत्पन्न कर लेता है। यही संसार और तदनुरूप कर्मबन्धका बीज है। यही कारण है कि प्रत्येक मोक्षार्थीको आत्मस्वभावको लक्ष्यमें लेनेका उपदेश आगममें दिया गया है, इसलिए प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि प्रत्येक उपादानके कार्यमें जो वैशिष्ट्य आता है उसे अपनी आन्तरिक योग्यता वश स्वयं उपादान ही उत्पन्न करता है, बाह्य सामग्री नहीं। फिर भी कालप्रत्यासत्ति वश क्रियाकी और परिणामकी सदृशता देखकर जिसके लक्ष्यसे वह परिणाम होता है उसमें प्रेरक निमित्त व्यवहार किया जाता है। अन्य द्रव्यके कार्यमें प्रेरक निमित्त व्यवहार करनेकी यह सार्थकता है। इसके सिवाय अपर पक्षने इसके सम्बन्धमें अन्य जो कुछ भी लिखा है वह यथार्थ नहीं है।

हमने जो यह लिखा है कि प्रेरक कारणके बलसे किसी द्रव्यके कार्यको आगे-पीछे कभी भी नहीं किया जा सकता है, वह यथार्थ लिखा है, क्योंकि उपादानके अभावमें जब कि बाह्य सामग्रीमें प्रेरक निमित्त व्यवहार भी नहीं किया जा सकता तो उसके द्वारा कार्यका आगे-पीछे किया जाना तो अत्यन्त ही असम्भव है। कर्मकी नानारूपता भावसंसारके उपादानकी नानारूपताको तथा भूमिकी विपरीतता बीजकी वैसी उपादानताको ही सूचित करती है। अतएव उपादानके अभावमें जब कि बाह्य सामग्रीमें प्रेरक निमित्त व्यवहार ही नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्थामें अपर पक्ष द्वारा 'प्रेरक निमित्तके बलसे कार्य कभी भी किया जा सकता है' ऐसा लिखा जाना उसके एकान्त आग्रहको ही सूचित करता है।

अपर पक्षने यहाँपर शीतऋतु, कपड़ा और दर्जीका उदाहरण देकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि कपड़ेसे बननेवाले कोट आदिके समान जितने भी कार्य होते हैं उनमें एकमात्र निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीका ही बोलबाला है। इस सम्बन्धमें अपर पक्ष अपने एकान्त आग्रहवश क्या लिखता है उसपर ध्यान दीजिए। उसका कहना है कि—

'इस तरह कोटका बनना तबतक रुका रहा जबतक कि दर्जीके पास कोटके बनानेका अवकाश नहीं निकल आया। इस दृष्टान्तमें विचारना यह है कि कोट पहिननेकी आकांक्षा रखनेवाले व्यक्ति द्वारा खरीदे हुए उस कपड़ेमें, जब कि उसे दर्जीकी मर्जीपर छोड़ दिया गया है, कौनसी ऐसी उपादाननिष्ठ योग्यताका अभाव बना हुआ है कि वह कपड़ा कोटरूपसे परिणत नहीं हो पा रहा है और जिस समय वह दर्जी कोटके सीनेका व्यापार करने लगता है तो उस कपड़ेमें कौनसी उपादाननिष्ठ योग्यताका अपने-आप सद्भाव हो जाता है कि वह कपड़ा कोट बनकर तैयार हो जाता है। विचार कर देखा जाय तो यह सब साम्राज्य निमित्तकारण सामग्रीका ही है, उपादान तो बेचारा अपनी योग्यता लिए तभीसे तैयार बैठा है जब वह दर्जीके पास पहुँचा था। यहाँपर हम उस कपड़ेकी एक एक क्षणमें होनेवाली पर्यायोंकी बात नहीं कर रहे हैं, क्योंकि कोट पर्यायके निर्माणसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। हम तो यह कह रहे हैं कि पहलेसे ही एक निश्चित आकारवाले कपड़ेका वह टुकड़ा कोटके आकारको क्यों तो दर्जीके व्यापार करनेपर प्राप्त हो गया और जबतक दर्जीने कोट बनानेरूप अपना व्यापार चालू नहीं किया तबतक वह क्यों जैसाका-तैसा पड़ा रहा। जिस अन्वय-व्यतिरेकगम्य कार्य-कारणभावकी सिद्धि आगमप्रमाणसे हम पहले कर आये हैं उससे यही सिद्ध होता है कि सिर्फ निमित्त कारणभूत दर्जीकी बदौलत ही उस कपड़ेको कोटरूप पर्याय आनेको पिछड़ गई कोटके निर्माण कार्यको उस कपड़ेकी सम्भाव्य क्षणवर्ती क्रमिक पर्यायोंके साथ जोड़ना कहाँतक बुद्धिगम्य हो सकता है यह आप ही जानें।' आदि।

यह प्रकृतमें अपर पक्षके वक्तव्यका कुछ अंश है। इस द्वारा अपर पक्ष यह बतलाना चाहता है कि अनन्त पुद्गल परमाणुओंका अपने-अपने स्पर्शविशेषके कारण संश्लेप सम्बन्ध होकर जो आहारवर्गणाओंकी निष्पत्ति हुई और उनका कार्पास व्यञ्जन पर्यायरूपसे परिणमन होकर जुलाहेके विकल्प और योगको निमित्त-कर जो वस्त्र बना उस वस्त्रकी कोट आदिरूप पर्याय दर्जीके योग और विकल्पपर निर्भर है कि जब चाहे वह उसकी कोटपर्यायका निष्पादन करे। न करना चाहे न करे। जो व्यवहारनयसे उस वस्त्रका स्वामी है वह भी अपनी इच्छानुसार उस वस्त्रको नानारूप प्रदान कर सकता है। वस्त्रका अगला परिणाम क्या हो यह वस्त्रपर निर्भर न होकर दर्जी और स्वामी आदिकी इच्छापर ही निर्भर है। ऐसे सब कार्योंमें एक मात्र निमित्तका ही बोलबाला है, उपादानका नहीं। अपर पक्षके कथनका आशय यह है कि विवक्षित कार्य परिणामके योग्य उपादानमें योग्यता हो, परन्तु सहकारी सामग्रीका योग न हो या आगे-पीछे हो तो उसीके अनुसार कार्य होगा। किन्तु अपर पक्षका यह सब कथन कार्य-कारणपरम्पराके सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि जिसे व्यवहारनयसे सहकारी सामग्री कहते हैं उसे यदि उपादान कारणके समान कार्यका यथार्थ कारण मान लिया जाता है तो कार्यको जैसे उपादानसे उत्पन्न होनेके कारण तत्स्वरूप माना गया है वैसे ही उसे सहकारी सामग्रीस्वरूप भी मानना पड़ता है, अन्यथा सहकारी सामग्रीमें यथार्थ कारणता नहीं बन सकती। दूसरे दर्शनमें सन्निकर्षको प्रमाण माना गया है। किन्तु जैनाचार्योंने उस मान्यताका खण्डन यह कह कर ही किया है कि सन्निकर्ष दोमें स्थित होनेके कारण उसका फल अर्थाधिगम दोनोंको प्राप्त होना चाहिए। (सर्वार्थसिद्धि अ. १. सू. १०) वैसे ही एक कार्यकी कारणता यदि दोमें यथार्थ मानी जाती है तो कार्यको भी उभयरूप माननेका प्रसंग आता है। यतः कार्य उभयरूप नहीं होता, अतः अपर पक्षमें सहकारी सामग्रीको निर्विवादरूपसे उपचरित कारण मान लेना चाहिये।

अपर पक्ष जानना चाहता है कि बाजारसे कोटका कपड़ा खरीदनेके बाद जब तक दर्जी उसका कोट नहीं बनाता तब तक मध्य कालमें कपड़ेमें कौन सी ऐसी उपादान योग्यताका अभाव बना हुआ है जिसके

बिना कपड़ा कोट नहीं बनता। समाधान यह है कि जिस अव्यवहित पूर्व पर्यायके बाद कपड़ा कोट पर्यायको उत्पन्न करता है वह पर्याय जब उस कपड़ेमें उत्पन्न हो जाती है तब उसके बाद ही वह कपड़ा कोट पर्याय-रूपसे परिणत होता है। इसके पूर्व उस कपड़ेको कोटका उपादान कहना द्रव्यार्थिक नयका वक्तव्य है।

अपर पक्ष कोट पहिननेकी आकांक्षा रखनेवाले व्यक्तिकी इच्छा और दर्जीकी इच्छाके आधारपर कोटका कपड़ा कब कोट बन सका यह निर्णय करके कोट कार्यमें बाह्य सामग्रीके साम्राज्यको भले ही घोषणा करे। किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। अपर पक्षके उक्त कथनको उलटकर हम यह भी कह सकते है कि कोट पहिननेकी आकांक्षा रखनेवाले व्यक्तिने बाजारसे कोटका कपड़ा खरीदा और बड़ी उत्सुकता पूर्वक वह उसे दर्जीके पास ले भी गया। किन्तु अभी उस कपड़ेके कोट पर्यायरूपसे परिणत होनेका स्वकाल नहीं आया था, इसलिए उसे देखते ही दर्जीकी ऐसी इच्छा हो गई कि अभी हम इसका कोट नहीं बना सकते और जब उस कपड़ेकी कोट पर्याय सन्निहित हो गई तो दर्जी, मशीन आदि भी उसकी उत्पत्तिमें निमित्त हो गये।

अपर पक्ष यदि इस तथ्यको समझ ले कि केवल द्रव्यशक्ति जैन दर्शनमें कार्यकारी नहीं मानी गई है, क्योंकि वह अकेली पाई नहीं जाती और न केवल पर्याय शक्ति ही जैन दर्शनमें कार्यकारी मानी गई है, क्योंकि वह भी अकेली पाई नहीं जाती। अतएव प्रतिविशिष्ट पर्याय शक्ति युक्त असाधारण द्रव्यशक्ति ही जैनदर्शनमें कार्यकारी मानी गई है। तो कपड़ा कब कोट बने यह भी उसे समझमें आ जाय। और इस बातके समझमें आने पर उसके विशिष्ट कालका भी निर्णय हो जाय। प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है। हरिवंशपुराण सर्ग ५२ में लिखा है—

> चतुरंगबलं कालः पुत्रा मित्राणि पौरुषम्।
> कार्यकृत्तावद्दैवात्र यावद्दैवबलं परम् ॥७१॥
> दैवे तु विकले काल-पौरुषादिर्निरर्थकः।
> इति यत्कथ्यते विद्भिस्तत्तथ्यमिति नान्यथा ॥७२॥

जब तक उत्कृष्ट दैवबल है तभी तक चतुरंग बल, काल, पुत्र, मित्र और पौरुष कार्यकारी हैं। दैवके विकल होने पर काल और पौरुष आदि सब निरर्थक हैं ऐसा जो विद्वत्पुरुष कहते हैं वह यथार्थ है, अन्यथा नहीं है ॥७१–७२॥

यह आगम प्रमाण है। इससे जहाँ प्रत्येक कार्यके विशिष्ट कालका ज्ञान होता है वहाँ उससे यह भी ज्ञात हो जाता है कि दैव अर्थात् द्रव्यमें कार्यकारी अन्तरंग योग्यताके सद्भावमें ही बाह्य सामग्रीकी उपयोगिता है, अन्यथा नहीं।

यहाँ पर हमने 'दैव' पदका अर्थ 'कार्यकारी अन्तरंग योग्यता' आप्तमीमांसा कारिका ८८ की अष्टशती टीकाके आधार पर ही किया है। भट्टाकलंकदेव 'दैव' पदका अर्थ करते हुए वहाँ पर लिखते हैं—

योग्यता कर्म पूर्वं वा दैवमुभयमदृष्टम्। पौरुषं पुनरिहचेष्टितं दृष्टम्।

योग्यता और पूर्व कर्म इनकी दैव संज्ञा है। ये दोनों अदृष्ट हैं। किन्तु इहचेष्टितका नाम पौरुष है जो दृष्ट है।

आचार्य समन्तभद्रने कार्यमें इन दोनोंके गौण-मुख्यभावसे ही अनेकान्तका निर्देश किया है। इससे

स्पष्ट विदित होता है कि कपड़ा जब भी कोट बनता है अपनी द्रव्य-पर्यायात्मक अन्तरंग योग्यताके बलसे ही बनता है और तभी दर्जीका योग तथा विकल्प आदि अन्य सामग्री उसकी उस पर्यायकी उत्पत्तिमें निमित्त होती है।

अपर पक्ष यद्यपि केवल बाह्य सामग्रीके आधार पर कार्य-कारणभावका निर्णय करना चाहता है और उसे वह अनुभवगम्य बतलाता है। किन्तु उसकी यह मान्यता कार्यकारी अन्तरंग योग्यताको न स्वीकार करनेका ही फल है जो आगमविरुद्ध होनेसे प्रकृतमें स्वीकार करने योग्य नहीं है। लोकमें हमें जितना हमारी इन्द्रियोंसे दिखलाई देता है और उस आधार पर हम जितना निश्चय करते हैं, केवल उतनेको ही अनुभव मान लेना तर्कसंगत नहीं माना जा सकता। हमारी समझसे अपर पक्ष प्रकृतमें कार्यकारी अन्तरंग योग्यताको स्वीकार किये बिना इसी प्रकारकी भूल कर रहा है जो युक्त नहीं है। अतएव उसे प्रतिविशिष्ट बाह्य सामग्रीकी स्वीकृतिके साथ यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि जिस समय कोट पर्यायके अनुरूप प्रतिविशिष्ट द्रव्य-पर्याय योग्यता उस कपड़ेमें उत्पन्न हो जाती है तभी वह कपड़ा कोट पर्यायका उपादान बनता है, अन्य कालमें नहीं। बाह्य सामग्री तो निमित्तमात्र है।

अपर पक्ष कालक्रमसे होनेवाली क्षणिक पर्यायोंके साथ कपड़ेकी कोटरूप पर्यायका सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं मानता, किन्तु कोई भी व्यंजन पर्याय क्षण-क्षणमें होनेवाली पर्यायोंसे सर्वथा भिन्न हो ऐसा नहीं है। अपने सदृश परिणामके कारण हम किसी भी व्यंजन पर्यायको घटी, घंटा आदि व्यवहार कालके अनुसार चिरस्थायी कहें यह दूसरी बात है, पर होती हैं वे प्रत्येक समयमें उत्पाद-व्ययशील ही। पर्यायदृष्टिसे जब कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें अन्य-अन्य होता है, ऐसी अवस्थामें उक्त कपड़ेको भी प्रत्येक समयमें अन्य-अन्य रूपसे स्वीकार करना ही तर्क, आगम और अनुभवसम्मत माना जा सकता है। अतएव कपड़ेकी कोट पर्याय कालक्रमसे होनेवाली नियत क्रमानुपाती ही है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। अपर पक्षने बाह्य सामग्रीको कारण मानकर जो कुछ भी लिखा है वह सब व्यवहारनयका ही वक्तव्य है। निश्चयनयकी अपेक्षा विचार करनेपर अनन्त पुद्गलोंके परिणामस्वरूप कपड़ेकी जिस कालमें अपने उपादानके अनुसार संघात या भेदरूप जिन पर्यायके होनेका नियम है उस कालमें वही पर्याय होती है, क्योंकि प्रत्येक कार्य उपादान कारणके सदृश होता है ऐसा नियम है। इसी तथ्यको प्रगट करते हुए आचार्य जयसेन समयसार गाथा ३७२ की टीकामें लिखते हैं—

उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति यस्मात्।

दर्जी जब उसकी इच्छामें आता है तब कपड़ेका कोट बनाता है यह पराश्रित अनुभव है और कपड़ा उपादानके अनुसार स्वकालमें कोट बनता है यह स्वाश्रित अनुभव है। अनुभव दोनों हैं। प्रथम अनुभव पराधीनताका सूचक है और दूसरा अनुभव स्वाधीनताका सूचक है। यह अपर पक्ष ही निर्णय करे कि इनमेंसे किसे यथार्थके आश्रय माना जाय।

अपर पक्ष इष्टोपदेशके 'नाज्ञो विज्ञत्वमायाति' इत्यादि श्लोकको द्रव्यकर्मके विषयमें स्वीकार नहीं करता। क्यों स्वीकार नहीं करता इसका उसकी ओरसे कोई कारण नहीं दिया गया है। वस्तुतः इस द्वारा कर्म और नोकर्म सबका परिग्रह किया गया है। अपर पक्ष मिट्टीमें पट बननेकी योग्यताको स्वीकार नहीं करता। किन्तु मिट्टी पुद्गल द्रव्य है। घट और पट दोनों ही पुद्गलकी व्यंजन पर्यायें हैं। ऐसी अवस्थामें मिट्टीमें पटरूप बननेकी योग्यता नहीं है यह तो कहा नहीं जा सकता। परस्परमें एक दूसरे रूप परिणमनेकी

योग्यताको ध्यानमें रखकर ही इनमें आचार्योंने इतरेतराभावका निर्देश किया है। फिर क्या कारण है कि मिट्टीसे जुलाहा पट पर्यायका निर्माण करनेमें सर्वथा असमर्थ रहता है। यदि अपर पक्ष कहे कि वर्तमानमें मिट्टीमें पटरूप बननेकी पर्याय योग्यता न होनेसे ही जुलाहा मिट्टीसे पट बनानेमें असमर्थ है तो इससे सिद्ध हुआ कि जो द्रव्य जब जिस पर्यायके परिणमनके सन्मुख होता है तभी अन्य सामग्री उसमें व्यवहारसे निमित्त होती है और इस दृष्टिसे विचार कर देखने पर यही निर्णय होता है कि बाह्य सामग्री मात्र अन्यके कार्य करनेमें वैसे ही उदासीन है जैसे धर्मद्रव्य गतिमें उदासीन है। सब द्रव्य प्रत्येक समयमें अपना-अपना कार्य करनेमें ही व्यस्त रहते हैं। उन्हें तीनों कालोंमें एक क्षणका भी विश्राम नहीं मिलता कि वे अपना कार्य छोड़कर दूसरे द्रव्यका कार्य करने लगें। अतएव इष्टोपदेशके उक्त वचनके अनुसार प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि जिस प्रकार धर्म द्रव्य अन्यका कार्य करनेमें उदासीन है उसी प्रकार अन्य सभी द्रव्य अन्य द्रव्यका कार्य करनेमें उदासीन हैं। यह तो काल प्रत्यासत्तिका ही साम्राज्य समझिए कि कभी और कहीं वे अन्यके कार्यमें प्रेरक निमित्त व्यवहार पदवीको प्राप्त हो जाते हैं और कभी तथा कहीं वे अन्यके कार्यमें उदासीन निमित्त व्यवहार पदवीको प्राप्त हो जाते हैं।

बौद्ध दर्शन कारणको देखकर भी कार्यका अनुमान किया जा सकता है इसे स्वीकार नहीं करता। इसी बातको ध्यानमें रखकर कैसा कारणरूप लिंग कार्यका अनुमापक होता है यह सिद्ध करनेके लिये यह लिखा है कि जहाँ कारणसामग्रीकी अविकलता हो और उससे भिन्न कार्यकी ज्ञापक सामग्री उपस्थित न हो वहाँ कारणसे कार्यका अनुमान करनेमें कोई बाधा नहीं आती। किन्तु हमें खेद है कि अपर पक्ष इस कथनका ऐसा विपर्यास करता है जिसका प्रकृतमें कोई प्रयोजन ही नहीं। इसका विशेष विचार हम छठी शंकाके तीसरे दौरके उत्तरमें करनेवाले हैं, इसलिए इस आधारसे यहाँ इसकी विशेष चर्चा करना हम इष्ट नहीं मानते। किन्तु यहाँ इतना संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं कि **जिस प्रकार विवक्षित कार्यकी विवक्षित बाह्य सामग्री ही नियत हेतु होती है उसी प्रकार उसकी विवक्षित उपादान सामग्री ही नियत हेतु हो सकेगी। अतएव प्रत्येक कार्य प्रत्येक समयमें प्रतिनियत आभ्यन्तर-बाह्य सामग्रीको निमित्त कर ही उत्पन्न होता है ऐसा समझना चाहिए। स्व-परप्रत्यय परिणमनका अभिप्राय भी यही है।** इस परसे उपादानको अनेक योग्यतावाला कह कर बाह्य सामग्रीके बलपर चाहे जिस कार्यकी उत्पत्तिकी कल्पना करना मिथ्या है।

अपर पक्षका कहना है कि बाह्य सामग्री उपादानके कार्यमें सहयोग करती है सो यह सहयोग क्या वस्तु है? क्या दोनों मिलकर एक कार्य करते हैं यह सहयोगका अर्थ है? किन्तु यह तो माना नहीं जा सकता, क्योंकि दो द्रव्य मिलकर एक क्रिया नहीं कर सकते ऐसा द्रव्यस्वभाव है (देखो समयसार कलश ५४)। क्या एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी क्रिया कर देता है यह सहयोगका अर्थ है? किन्तु यह कथन भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि एक द्रव्य अपनेसे भिन्न दूसरे द्रव्यकी क्रिया करनेमें सर्वथा असमर्थ है (देखो प्रवचनसार अ० २ गा० ९५ जयसेनीय टीका)। क्या एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी पर्यायमें विशेषता उत्पन्न कर देता है यह सहयोगका अर्थ है? किन्तु जब कि एक द्रव्यका गुणधर्म दूसरे द्रव्यमें संक्रमित ही नहीं हो सकता ऐसी अवस्थामें एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी पर्यायमें विशेषता उत्पन्न कर देता है यह कहना किसी भी अवस्थामें परमार्थभूत नहीं माना जा सकता (देखो समयसार गाथा १०३ और उसकी आत्मख्याति टीका)। उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, इसलिए बाह्य सामग्री उसे एक योग्यता द्वारा एक कार्य करनेमें ही प्रवृत्त करती रहती है क्या यह सहयोगका अर्थ है? किन्तु अपर पक्षकी यह तर्कणा भी असंगत है, क्योंकि

आगममें विशिष्ट पर्याययुक्त द्रव्यको ही कार्यकारी माना गया है (देखो अष्टसहस्री पृ० १५०, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २३०, श्लोकवार्तिक पृ० ६९ तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० २०० आदि)। क्या क्षेत्रप्रत्यासत्ति या भावप्रत्यासत्तिके होनेपर उपादानमें कार्य होता है यह सहयोगका अर्थ है ? किन्तु सहयोगका यह अर्थ करना भी ठीक नहीं है, क्योंकि देशप्रत्यासत्ति और भावप्रत्यासत्तिके होनेपर अन्य द्रव्य नियमसे अन्यके कार्यको उत्पन्न करता है ऐसा कोई नियम नहीं है (देखो श्लोकवार्तिक पृ० १५१)। इस प्रकार सहयोगका अर्थ उक्त प्रकारसे करना तो बनता नहीं। उक्त विकल्पोंके आधारपर जितनी भी तर्कणाएँ की जाती हैं वे सब असत् ठहरती हैं। अब रही कालप्रत्यासत्ति सो यदि अपर पक्ष बाह्य सामग्री उपादानके कार्यमें सहयोग करती है इसका अर्थ कालप्रत्यासत्तिरूप करता है तो उसके द्वारा सहयोगका यह अर्थ किया जाना आगम, तर्क और अनुभवसम्मत है, क्योंकि प्रकृतमें 'कालप्रत्यासत्ति' पद जहाँ कालकी विवक्षित पर्यायको सूचित करता है वहाँ वह विवक्षित पर्याययुक्त बाह्याभ्यन्तर सामग्रीको भी सूचित करता है। प्रत्येक समयमें प्रत्येक द्रव्यको अपना कार्य करनेके लिए ऐसा योग नियमसे मिलता है और उसके मिलनेपर प्रत्येक समयमें प्रतिनियत कार्यकी उत्पत्ति भी होती है, ऐसा ही द्रव्यस्वभाव है। उसमें किसीका हस्तक्षेप करना सम्भव नहीं। स्पष्ट है कि प्रकृतमें निमित्तके सहयोगकी चर्चा करके अपर पक्षने स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय परिणमनोंके विषयमें जो कुछ भी लिखा है वह आगम, तर्क और अनुभवपूर्ण न होनेसे तत्त्वमीमांसामें ग्राह्य नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचनके आधारपर हमारा यह लिखना सर्वथा युक्तियुक्त है कि 'निमित्त कारणोंमें पूर्वोक्त दो भेद होनेपर भी उनकी निमित्तता प्रत्येक द्रव्यके कार्यके प्रति समान है।' यही जैनदर्शनका आशय है। अनादिकालसे जैन संस्कृति इसी आधारपर जीवित चली आ रही है और अनन्त काल तक एकमात्र इसी आधार पर जीवित रहेगी। इससे अपर पक्ष यह अच्छी तरहसे जान सकता है कि जैन संस्कृतिके विरुद्ध अपर पक्षकी ही मान्यता है, हमारी नहीं। विचारकर देखा जाय तो हरिवंशपुराण सर्ग ५८ का यह कथन तो जैन संस्कृतिका प्राण है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्राम्यति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥१२॥

यह आत्मा स्वयं अपना कार्य करता है, स्वयं उसके फलको भोगता है, स्वयं ही संसारमें परिभ्रमण करता है और स्वयं ही उससे मुक्त होता है ॥१२॥

मालूम नहीं अपर पक्ष पराश्रित जीवनका समर्थनकर किस उलझनमें पड़ा हुआ है, इसे वह जाने। वैज्ञानिकोंकी भौतिक खोजसे हम भलीभाँति परिचित हैं। उससे तो यही सिद्ध होता है कि किस विशिष्ट पर्याय युक्त बाह्याभ्यन्तर सामग्रीके सद्भावमें क्या कार्य होता है। हमें मालूम हुआ है कि जापानमें दो नगरोंपर अणुबमका विस्फोट होनेपर जहाँ असंख्य प्राणी कालकवलित हुए वहाँ बहुतसे क्षुद्र जन्तु रेंगते हुए भी पाये गये। क्या इस उदाहरणसे उपादानके स्वकार्यकर्तृत्वकी प्रसिद्धि नहीं होती है, अपि तु अवश्य होती है।

आगे अपर पक्षने हमारे द्वारा उल्लिखित स्वामी समन्तभद्रकी 'बाह्येतरोपाधि' इत्यादि कारिकाकी चर्चा करते हुए हमारी मान्यताके रूपमें लिखा है कि सम्भवतः हम यह मानते हैं कि 'उपादान स्वयं कार्योत्पत्तिके समय अपने अनुकूल निमित्तोंको एकत्रित कर लेता है।' किन्तु अपर पक्षने हमारे किस कथनके आधारपर हमारा यह अर्थ फलित किया है यह हम नहीं समझ सके। हमने भट्टाकलंकदेवकी अष्टशतीके

'तादृशी जायते बुद्धिः' इस वचनको प्रमाणरूपमें अवश्य ही उद्धृत किया है और वह निर्विवादरूपसे प्रमाण है। पर उससे भी उक्त आशय सूचित नहीं होता। निमित्तोंको जुटानेकी बात अपर पक्षकी ओरसे ही यथार्थ मानी जाती है। उसकी ओरसे इस आशयका कथन ५वीं शंकाके तीसरे दौरमें किया भी गया है। हम तो ऐसे कथनको केवल विकल्पका परिणाम ही मानते हैं। अतएव इस बातको लेकर अपर पक्षने यहाँ पर 'द्रव्यगतस्वभावः' पदकी जो भी विवेचना की है वह युक्त नहीं है। किन्तु उसका आशय इतना ही है कि जिसे आगममें स्वप्रत्यय परिणाम (स्वभाव पर्याय) कहा है और जिसे आगममें स्व-परप्रत्यय (विभाव पर्याय) कहा है वह सब बाह्य-आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रतामें होता है ऐसा द्रव्यगत स्वभाव है।

आगे अपर पक्षने हमारे कथनको उद्धृतकर मोक्षको स्व-परप्रत्यय सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। किन्तु आगममें इसे किस रूपमें स्वीकार किया गया है इसके विस्तृत विवेचनमें तत्काल न पड़कर उसकी पुष्टिमें एक आगमप्रमाण दे देना उचित समझते हैं। पंचास्तिकाय गाथा ३६ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकामें लिखा है—

सिद्धो हि उभयकर्मक्षये स्वयमात्मानमुत्पादयन्नान्यत्किंचिदुत्पादयति।

उभय कर्मका क्षय होनेपर सिद्ध स्वयं आत्मा (सिद्ध पर्याय) को उत्पन्न करते हुए अन्य किसीको उत्पन्न नहीं करते।

इससे स्वप्रत्यय पर्याय और स्व-परप्रत्यय पर्यायके कथनमें अन्तर्निहित रहस्यका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। किन्तु अपर पक्ष इन दोनोंको एक कोटिमें रखकर उक्त रहस्यको दृष्टिपथमें नहीं ले रहा है इतना ही हम यहाँ कहना चाहेंगे।

हमने पंचास्तिकायका अनन्तर पूर्व ही वचन उद्धृत किया है। उसका जो आशय है वही आशय तत्त्वार्थसूत्रके 'बन्धहेत्वभाव-' इत्यादि वचनका भी है।

यहाँ अपर पक्षने करणानुयोग और चरणानुयोगकी चर्चाकर जो निश्चयचारित्र और व्यवहार-चारित्रके एक साथ होनेका संकेत किया है सो उसका हमारी ओरसे कहाँ निषेध किया गया है। हमारा कहना तो इतना ही है कि निश्चयचारित्रके साथ होनेवाला पंच महाव्रतादिरूप परिणाम व्यवहारचारित्र संज्ञाको प्राप्त होता है। अन्यथा मोक्षमार्गकी दृष्टिसे वह निष्फल है। साथ ही पंच महाव्रतादिरूप परिणाम उसी अवस्थामें निश्चयचारित्रका कारण अर्थात् व्यवहारहेतु कहा जाता है जब कि निश्चयचारित्रसे वह अनुप्राणित होता रहे। स्वभावके आलम्बन द्वारा अन्तर्मुख होनेसे आत्मामें जो निश्चयचारित्ररूप शुद्धि उत्पन्न होती है उसका मूल हेतु तो आत्माका आत्मस्वभावके सन्मुख होना ही है। अबुद्धिपूर्वक या बुद्धिपूर्वक संज्वलन परिणाम मात्र उसके अस्तित्वका विरोधी नहीं, इसलिए व्यवहारचारित्र संज्ञक वह व्यवहारनयसे निश्चयचारित्रका साधक कहा गया है। एतद्विषयक आगममें जितने वचन मिलते हैं उनका एकमात्र यही आशय है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए समयसार कलशमें कहा भी है—

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः,
क्लिश्यन्तां च परे महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम्।
साक्षान्मोक्ष इदं निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१४२॥

कोई जीव दुष्करतर और मोक्षसे पराङ्मुख कर्मोंके द्वारा स्वयमेव (जिनाज्ञाके बिना) क्लेश पाते हैं तो पाओ और अन्य कोई जीव (मोक्षोन्मुख अर्थात् कथंचित् जिनाज्ञामें कथित) महाव्रत और तपके भारसे बहुत समय तक भग्न होते हुए क्लेश करें तो करो, किन्तु जो साक्षात् मोक्षस्वरूप है, निरामयका स्थान है और स्वयं संवेद्यमान है ऐसे इस ज्ञानको ज्ञानगुणके बिना किसी भी प्रकारसे वे प्राप्त नहीं कर सकते ।। १४२ ।।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि परम वीतराग चारित्रकी प्राप्तिका साक्षात् मार्ग एकमात्र स्वभाव सन्मुख हो तन्मय होकर परिणमना ही है, इसके सिवाय अन्य सब निमित्तमात्र हैं। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारमें गृहस्थ और मुनियों द्वारा ग्रहण किये गये द्रव्यलिंगके विकल्पको छोड़कर दर्शन-ज्ञान-चारित्रस्वरूप मोक्षमार्गमें अपने आत्माको युक्त करनेका उपदेश दिया है। समयसारका वह वचन इस प्रकार है—

तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारएहिं व गहिए ।
दंसण-णाण-चरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥४११॥

इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यतो द्रव्यलिंगं न मोक्षमार्गः ततः समस्तमपि द्रव्यलिंगं त्यक्त्वा दर्शन-ज्ञान-चारित्रे चैव मोक्षमार्गत्वात् आत्मा योक्तव्य इति सूत्रानुमतिः ॥४११॥

यतः द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है, अतः सभी द्रव्यलिंगोंको छोड़कर मोक्षमार्ग होनेसे दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें ही आत्माको युक्त करना चाहिए ऐसा परमागमका उपदेश है ॥४११॥

अपर पक्षका कहना है कि 'भावलिंग होनेसे पूर्व द्रव्यलिंगको तो उसकी उत्पत्तिके लिए कारणरूपसे मिलाया जाता है।' किन्तु अपर पक्षका यह कथन इसीसे भ्रान्त ठहर जाता है कि एक द्रव्यलिंगी साधु आठ वर्ष अन्तर्मुहूर्त कम एक पूर्वकोटि काल तक द्रव्यलिंगको धारण करके भी उस द्वारा एक क्षणके लिए भी भावलिंगको धारण नहीं कर पाता और आत्माके सन्मुख हुआ एक गृहस्थ परिणाम विशुद्धिकी वृद्धिके साथ बाह्यमें निर्ग्रन्थ होकर अन्तर्मुहूर्तमें क्षपकश्रेणिका अधिकारी होता है। स्पष्ट है कि जो द्रव्यलिंग भावलिंगका सहचर होनेसे निमित्त संज्ञाको प्राप्त होता है वह मिलाया नहीं जाता, किन्तु परिणाम विशुद्धिकी वृद्धिके साथ स्वयमेव प्राप्त होता है। आगममें द्रव्यलिंगको मोक्षमार्गका उपचारसे साधक कहा है तो ऐसे ही द्रव्यलिंगको कहा है। मिथ्या अहंकारसे पुष्ट हुए बाह्य क्रियाकाण्डके प्रतीकस्वरूप द्रव्यलिंगको नहीं। अपरपक्षने

युगपत् होते हू प्रकाश दीपक तैं होइ ।—छहढाला ढाल ४,१

वचनको उद्धृतकर यह स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है कि निश्चय चारित्रका सहचर द्रव्यलिंग ही आगममें व्यवहारनयसे उसका साधन कहा गया है। अतः पूर्वमें धारण किया गया द्रव्यलिंग भावलिंगका साधन है, अपर पक्षके इस कथनका महत्त्व सुतरां कम हो जाता है। थाली भोजनका साधन कहा जाता है, पर जैसे थालीसे भोजन नहीं किया जाता उसी प्रकार अन्य जिन साधनोंका उल्लेख यहाँ पर अपर पक्षने किया है उनके विषयमें जान लेना चाहिए। वे यथार्थ साधन नहीं हैं यह उक्त कथनका तात्पर्य है। मुख्य साधन वह कहलाता है जो स्वयं अपनी क्रिया करके कार्यरूप परिणमता है। अन्यको यथार्थ साधन कहना कल्पनामात्र है। यह प्रत्यक्षसे ही दिखलाई देता है कि बाह्य सामग्री न तो स्वयं कार्यरूप ही परिणमती

है और न कार्यद्रव्यकी क्रिया ही करती है। ऐसी अवस्थामें उन्हें यथार्थ साधन कहना मार्गमें किसीको लुटता हुआ देखकर 'मार्ग लुटता है' इस कथनको यथार्थ माननेके समान ही है।

अपर पक्षने हमारे कथनको ध्यानमें लिये बिना जो कार्य-कारणभावका उल्टा चित्र उपस्थित किया है वह इसलिए ठीक नहीं, क्योंकि न तो उपादानके कारण निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीको उपस्थित होना पड़ता है और न ही निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीके कारण उपादानको ही उपस्थित होना पड़ता है। यह सहज योग है जो प्रत्येक कार्यमें प्रत्येक समयमें सहज ही मिलता रहता है। 'मैंने अमुक कार्यके निमित्त मिलाये' यह भी कथनमात्र है जो पुरुषके योग और विकल्पको लक्ष्यमें रखकर किया जाता है। वस्तुतः एक द्रव्य दूसरे द्रव्यकी क्रियाका कर्ता त्रिकालमें नहीं हो सकता। अतः यहाँ हमारे कथनको लक्ष्यमें रखकर अपर पक्षने कार्य-कारणभावका जो उल्टा चित्र उपस्थित किया है उसे कल्पनामात्र ही जानना चाहिए।

हमारा 'उपादानके अनुसार भावलिंग होता है।' यह कथन इसलिए परमार्थभूत है, क्योंकि कर्मके क्षयोपशम और भावलिंगके एक कालमें होनेका नियम होनेसे उपचारसे यह कहा जाता है कि योग्य क्षयोपशमके अनुसार आत्मामें भावलिंगकी प्राप्ति होती है। जिस पंचास्तिकायका यहाँ अपर पक्षने हवाला दिया है उसी पंचास्तिकाय गाथा ५८ में पहले सब भावोंको कर्मकृत बतलाकर गाथा ५९ में उसका निषेध कर यह स्पष्ट कर दिया है कि आत्माके भावोंको स्वयं आत्मा उत्पन्न करता है, कर्म नहीं। अतः चारित्रमोहनीय कर्मके क्षयोपशमके अनुसार भावलिंग होता है इसे यथार्थ कथन न समझकर अपने उपादानके अनुसार भावलिंग होता है इसे ही आगमसम्मत यथार्थ कथन जानना चाहिए। इस परसे अपर पक्ष भी स्वयं निर्णय कर सकता है कि यथार्थ कथन अपर पक्षका न होकर हमारा ही है।

आगे अपर पक्षने निमित्त व्यवहारको यथार्थ सिद्ध करनेके लिए उलाहनेके रूपमें जो कुछ भी वक्तव्य दिया है उससे इतना ही ज्ञात होता है कि अपर पक्ष किस नयकी अपेक्षा क्या वक्तव्य आगममें किया गया है इस ओर ध्यान न देकर मात्र अपनी मान्यताको आगम बनानेके फेरमें है, अन्यथा वह पक्ष असद्भूत व्यवहारनयके वक्तव्यको असद्भूत मानकर इस नयकी अपेक्षा कथन आगममें किस प्रयोजनसे किया गया है उसपर दृष्टिपात करता। विशेष खुलासा हम पूर्वमें ही कर आये हैं, इसलिए यहाँ उन सब तथ्योंका पुनः खुलासा नहीं करते।

प्रवचनसार गाथा १६९ की आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकामें 'स्वयं' पद आया है। हमने इसका अर्थ प्रकृत शंकाके प्रथम उत्तरमें 'स्वयं' ही किया है। किन्तु अपर पक्षको यह अर्थ मान्य नहीं। वह इसका अर्थ 'अपने रूप' करता है। इसके समर्थनमें उस पक्षकी मुख्य युक्ति यह है कि सहकारी कारणके बिना कोई भी परिणति नहीं होती, इसलिए कार्य-कारणभावके प्रसंगमें सर्वत्र इस पदका अर्थ 'अपने रूप' या 'अपनेमें' करना ही उचित है। इस प्रकार अपर पक्षके इस कथनसे मालूम पड़ता है कि वह पक्ष उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप प्रत्येक सत्की उत्पत्ति परकी सहायतासे या परसे होती है यह सिद्ध करना चाहता है। किन्तु उस पक्षकी यह मान्यता सर्वथा आगमविरुद्ध है, अतएव जहाँ भी निश्चयनयकी अपेक्षा कथन किया गया है वहाँ प्रत्येक कार्य यथार्थमें परनिरपेक्ष ही होता है इस सिद्धान्तको ध्यानमें रखकर 'स्वयमेव' पदका 'स्वयं ही' अर्थ करना उचित है। इतना अवश्य है कि यदि विस्तारसे ही इस पदका अर्थ करना हो तो निश्चय षट्कारकरूप भी इस पदका अर्थ किया जा सकता है, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य निश्चयसे आप कर्ता

होकर अपनेमें अपने लिए अपनी पिछली पर्यायका अपादान करके अपने द्वारा अपनी पर्यायरूपको आप उत्पन्न करता है। इसमें परका अणुमात्र भी योगदान नहीं होता। हाँ असद्भूत व्यवहारनयसे परसापेक्ष कार्य होता है यह कहना अन्य बात है। किन्तु इस कथनको परमार्थभूत नहीं जानना चाहिए। यही कारण है कि समयसारमें सर्वत्र व्यवहार पक्षको उपस्थितकर निश्चयनयके कथन द्वारा असत् कहकर उसका निषेध कर दिया गया है। कार्य-कारणभावमें भी इसी पद्धतिको अपनाया गया है।

अपर पक्षने प्रवचनसार गाथा १६९ की उक्त टीकाके आधारसे यह चर्चा चलाई है। उसमें 'पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति' यह वाक्य आया है, जिसका अर्थ होगा—'पुद्गलस्कन्ध स्वयं ही कर्मरूपसे परिणमते हैं।' जैसा कि अपर पक्षका कहना है उसके अनुसार यह अर्थ कदापि नहीं हो सकता कि—'पुद्गलस्कन्ध अपनेरूप कर्मरूपसे परिणमते हैं।' क्योंकि ऐसा अर्थ करने पर 'अपने रूप' तथा 'कर्मरूपसे' इन दोनों वचनोंमें एक वचन पुनरुक्त हो जाता है।

अपर पक्षने इसी प्रसंगमें समयसार ११६ से १२० तककी गाथाएँ उपस्थित कर इन गाथाओंकी अवतरणिकामें 'स्वयमेव' पद न होनेके कारण सर्व प्रथम यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि आचार्य कुन्दकुन्द इन गाथाओं द्वारा परिणामस्वभावकी सिद्धि कर रहे हैं, अपने आप (स्वतःसिद्ध) परिणाम-स्वभावकी सिद्धि नहीं कर रहे हैं। किन्तु अपर पक्ष इस बातको भूल जाता है कि जिसका जो स्वभाव होता है वह उसका स्वरूप होनेसे स्वतःसिद्ध होता है, इसलिए आचार्य अमृतचन्द्रने उक्त गाथाओंकी अवतरणिकामें 'स्वयमेव' पद न देकर प्रत्येक द्रव्यकी स्वतःसिद्ध स्वरूपस्थितिका ही निर्देश किया है। अतएव उक्त अवतरणिकाके आधारसे अपर पक्षने जो यह लिखा है कि 'उक्त गाथाओं द्वारा केवल वस्तुके परिणामस्वभावकी सिद्धि करना ही आचार्यको अभीष्ट रही है अपने आप परिणामस्वभावकी नहीं।' वह युक्त प्रतीत नहीं होता।

इसी प्रसंगमें दूसरी आपत्ति उपस्थित करते हुए अपर पक्षने लिखा है कि 'गाथा ११७ के उत्तरार्धमें जो संसारके अभावकी अथवा सांख्यमतकी प्रसक्तिरूप आपत्ति उपस्थित की है वह पुद्गलको परिणामी स्वभाव न मानने पर ही उपस्थित हो सकती है अपने आप (स्वतःसिद्ध) परिणामी स्वभावके अभावमें नहीं।' आदि। किन्तु यह आपत्ति इसलिए ठीक नहीं; क्योंकि प्रत्येक द्रव्यको परतः परिणामस्वभावी मान लेनेपर एक तो वह द्रव्यका स्वभाव नहीं ठहरेगा और ऐसी अवस्थामें द्रव्यका ही अभाव मानना पड़ेगा। दूसरे यह जीव पुद्गल कर्मसे सदा ही बद्ध बना रहेगा, अतएव मुक्तिके लिए यह आत्मा स्वतन्त्ररूपसे प्रयत्न भी न कर सकेगा। यदि अपर पक्ष इस आपत्तिको उपस्थित करते समय गाथा ११६ के पूर्वार्धपर दृष्टि-पात कर लेता तो उसके द्वारा यह आपत्ति ही उपस्थित न की गई होती। पुद्गल अपने परिणाम स्वभावके कारण आप स्वतन्त्र कर्ता होकर जीवके साथ बद्ध है और आप मुक्त होता है, इसीसे बद्ध दशामें जीवका संसार बना हुआ है। यदि ऐसा न माना जाय और पुद्गलको स्वभावसे अपरिणामी माना जाय तो एक तो संसारका अभाव प्राप्त होता है, दूसरे सांख्यमतका प्रसंग आता है यह उक्त गाथाओंका तात्पर्य है, न कि यह जिसे अपर पक्ष फलित कर रहा है। स्पष्ट है कि यह दूसरी आपत्ति भी प्रकृतमें अपर पक्षके इष्टार्थकी सिद्धि नहीं करती। आचार्य अमृतचन्द्रने इस विषयको विशदरूपसे स्पष्ट करते हुए लिखा है—

अथ जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणमयति ततो न संसाराभावः इति तर्कः? किं स्वय-मपरिणममानं परिणममानं वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत्? न तावत्तत्स्वयमपरिणममानं

परेण परिणमयितुं पार्येत । न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्येत । स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत । न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते । ततः पुद्‌गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु । तथा सति कलशपरिणता मृत्तिका स्वयं कलश इव जडस्वभावज्ञानावरणादिकर्मपरिणतं तदेव स्वयं ज्ञानावरणादि कर्म स्यात् । इति सिद्धं पुद्‌गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वम् ।

इसका अर्थ करते हुए पं० श्री जयचन्दजी लिखते हैं—

और जो ऐसा तर्क करे कि जीव पुद्‌गल द्रव्यको कर्म भावकर परिणमाता है इसलिये संसारका अभाव नहीं हो सकता ? उसका समाधान यह है कि पहले दो पक्ष लेकर पूछते हैं—जो जीव पुद्‌गलको परिणमाता है वह स्वयं अपरिणमतेको परिणमाता है या स्वयं परिणमतेको परिणमाता है ? उनमेंसे पहला पक्ष लिया जाय तो स्वयं अपरिणमतेको नहीं परिणमा सकता, क्योंकि आप न परिणमतेको परके (द्वारा) परिणमानेकी सामर्थ्य नहीं होती, स्वतः शक्ति जिसमें नहीं होती वह पर कर भी नहीं की जा सकती । और जो पुद्‌गलद्रव्यको स्वयं परिणमतेको जीव कर्मभावकर परिणमाता है ऐसा दूसरा पक्ष लिया जाय तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि अपने आप परिणमते हुए को अन्य परिणमानेवालेकी आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वस्तुकी शक्ति परकी अपेक्षा नहीं करती । इसलिये पुद्‌गलद्रव्य परिणामस्वभाव स्वयमेव होवे । ऐसा होने पर जैसे कलशरूप परिणत हुई मिट्टी अपने आप कलश ही है उसी तरह जड़ स्वभाव ज्ञानावरण आदि कर्मरूप परिणत हुआ पुद्‌गल द्रव्य ही आप ज्ञानावरण आदि कर्म ही है । ऐसे पुद्‌गल द्रव्यको परिणामस्वभावता सिद्ध हुआ ।

यह परमागमकी स्पष्टोक्ति है जो निश्चयपक्ष और व्यवहारपक्षके कथनका आशय क्या है इसे विशदरूपसे स्पष्ट कर देती है । निश्चयनयसे देखा जाय तो प्रत्येक द्रव्य स्वयं परिणामस्वभाववाला होनेसे अपने उत्पाद-व्ययरूप परिणामको अपनेमें, अपने द्वारा, अपने लिए, आप ही करता है । उसे इसके लिये परको सहायताकी अणुमात्र भी अपेक्षा नहीं होती । यह कथन वस्तुस्वरूपको उद्‌घाटन करनेवाला है, इसलिए वास्तविक है, कथनमात्र नहीं है । व्यवहारनयसे देखा जाय तो कुम्भकारके विवक्षित क्रिया परिणामके समय मिट्टीका विवक्षित क्रियापरिणाम दृष्टिपथमें आता है, यतः कुम्भकारका विवक्षित क्रिया परिणाम मिट्टीके घटपरिणामकी प्रसिद्धिका निमित्त (हेतु) है, अतः इस नयसे यह कहा जाता है कि कुम्भकारने अपने क्रियापरिणामद्वारा मिट्टीमें घट किया । यतः यह कथन वस्तुस्वरूपको उद्‌घाटन करनेवाला न होकर उसे आच्छादित करनेवाला है, अतःवास्तविक नहीं है, कथनमात्र है । परमागममें निश्चयनयको प्रतिषेधक और व्यवहारनयको प्रतिषेध्य क्यों बतलाया गया है यह इससे स्पष्ट हो जाता है । स्वरूपका उपादान और पररूपका अपोहन करना यह जब कि वस्तुका वस्तुत्व है । ऐसी अवस्थामें उस द्वारा असत् पक्षको कहनेवाले व्यवहारनयका अपोहन अपने आप हो जाता है । इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री पृ० १३१ में लिखा है—

स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुनि वस्तुत्वस्य ।

अर्थ पूर्वमें लिखा ही है ।

व्यवहारनय असत् पक्षको कहनेवाला है यह इसीसे स्पष्ट है कि वह अन्यके धर्मको अन्यका कहता है । इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ५६ की टीकामें यह वचन लिखा है—

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसंयोगवशादनादिप्रसिद्धबन्धपर्यायस्य कुसुम्भरक्तस्य कार्पासिकवासस इवौपाधिकं भावमवलम्ब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य विदधाति।

यहाँ व्यवहारनय पर्यायाश्रित होनेसे कुसुम्बी रंगसे रंगे हुए तथा सफेद रूईसे बने हुए वस्त्रके औपाधिक भावकी भाँति पुद्गलके संयोगवश अनादिकालसे जिसकी बन्ध पर्याय प्रसिद्ध है ऐसे जीवके औपाधिक भावका अवलम्बन लेकर प्रवर्तमान होता हुआ दूसरेके भावको दूसरेके कहता है।

पण्डितप्रवर टोडरमलजीने अपने मोक्षमार्गप्रकाशक अध्याय ७के अनेक स्थलोंपर निश्चय-व्यवहारके विषयमें इसी कारण यह लिखा है—

तहाँ जिन आगम विषै निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है। तिनविषै यथार्थका नाम निश्चय है, उपचारका नाम व्यवहार है। (पृ० २८७)

एक ही द्रव्यके भावको तिस स्वरूप ही निरूपण करना सो निश्चयनय है। उपचारकरि तिस द्रव्यके भावकौं अन्य द्रव्यके भावस्वरूप निरूपण करना सो व्यवहार है। (पृ० ३६९)

इस प्रकार इतने विवेचन द्वारा यह सुगमतासे समझमें आ जाता है कि समयसारको उक्त गाथाओं द्वारा पुद्गल द्रव्यके स्वतःसिद्ध परिणामस्वभावका ही कथन किया गया है। जब कि पुद्गलद्रव्य परकी अपेक्षा किये बिना स्वरूपसे स्वयं परिणामीस्वभाव है ऐसी अवस्थामें वह परसापेक्ष परिणामीस्वभाव है इसका निषेध ही होता है, समर्थन नहीं यह बात इतनी स्पष्ट है जितना कि सूर्यका प्रकाश।

अपर पक्षका कहना है कि 'यदि इन गाथाओंमें 'स्वयं' शब्दका अर्थ 'अपने आप' ग्राह्य माना जायगा तो गाथा ११७ के पूर्वार्धमें भी 'स्वयं' शब्दके पाठको आवश्यकता अनिवार्य हो जायगी। ऐसी हालतमें उसमें आचार्य कुन्दकुन्द 'स्वयं' शब्दके पाठ करनेकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे।'

इसका समाधान यह है कि एक तो गाथा ११६ और गाथा ११८ में आये हुए 'स्वयं' पदकी अनुवृत्ति हो जानेसे गाथा ११७ के अर्थकी संगति बैठ जाती है, इसलिए अपर पक्षने गाथा ११७ के पूर्वार्धमें 'स्वयं' पदको न देखकर जो आपत्ति उपस्थित की है वह ठीक नहीं। दूसरे समयसारकी इस गाथाको गाथा १२२ के प्रकाशमें पढ़नेपर यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि इस गाथामें आचार्यको 'स्वयं' पद इष्ट है। गाथा १२२ में वही बात कही गयी है जिसका निर्देश गाथा ११७ में आचार्यने किया है। अन्तर केवल इतना ही है कि गाथा १२२ में जीवको विवक्षित कर उक्त विषयका विवेचन किया गया है और गाथा ११७ में पुद्गलको विवक्षित कर उक्त विषयका विवेचन किया गया है। अभिप्रायकी दृष्टिसे दोनोंका प्रतिपाद्य विषय एक ही है। अतः गाथा ११७ के पूर्वार्धमें 'स्वयं' पदको न देखकर अपर पक्षने जो उक्त सभी गाथाओंमें 'स्वयं' पदके 'अपने आप' 'स्वयं ही' अर्थ करनेमें आपत्ति उपस्थित की है वह ठीक नहीं।

इस प्रकार उक्त विवेचनसे एकमात्र यही सिद्ध होता है कि पुद्गल स्वयं परिणामीस्वभाव है और साथ ही उक्त विवेचनसे यह अभिप्राय सुतरां फलित हो जाता है कि अपरपक्षने अपने तर्कोंके आधारपर उक्त गाथाओंका जो अर्थ किया है वह ठीक नहीं है। वैसे तो यहाँपर उक्त गाथाओंका अर्थ देनेकी आवश्यकता नहीं थी। किन्तु अपर पक्षने जब उनका अपनी मतिसे कल्पित अर्थ अपनी प्रस्तुत प्रतिशंकामें दिया है, ऐसी अवस्थामें यहाँ सही अर्थ दे देना आवश्यक है। वह इस प्रकार है—

यदि यह पुद्गल द्रव्य जीवमें स्वयं नहीं बँधा और कर्मभावसे स्वयं नहीं परिणमता तो वह अपरिणामी सिद्ध होता है। ऐसी अवस्थामें कर्मवर्गणाओंके कर्मरूपसे स्वयं नहीं परिणमनेपर संसारका अभाव

प्राप्त होता है अथवा सांख्यमतका प्रसंग आता है। यदि यह माना जाय कि जीव पुद्‌गल द्रव्योंको कर्मरूपसे परिणमाता है तो (प्रश्न होता है कि) स्वयं नहीं परिणमते हुए उन पुद्‌गल द्रव्योंको चेतन आत्मा कैसे परिणमा सकता है। इसलिए यदि यह माना जाय कि पुद्‌गल द्रव्य अपने आप ही कर्मरूपसे परिणमता है तो जीव कर्म अर्थात् पुद्‌गल द्रव्यको कर्मरूपसे परिणमाता है यह कथन मिथ्या सिद्ध होता है। इसलिए जैसे नियमसे कर्मरूप परिणत पुद्‌गल द्रव्य कर्म ही है वैसे ही ज्ञानावरणादिरूप परिणत पुद्‌गल द्रव्य ज्ञानावरणादि ही है ऐसा जानो ॥११६-१२०॥

इस प्रकार इस अर्थपर दृष्टिपात करनेसे ये दो तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं—प्रथम तो यह कि अपर पक्षने उक्त गाथाओंका जो अर्थ किया है वह उन गाथाओंकी शब्दयोजनासे फलित नहीं होता। दूसरे इन गाथाओंमें आये हुए 'स्वयं' पदका जो मात्र 'अपने रूप' अर्थ किया है वह ऐकान्तिक होनेसे ग्राह्य नहीं है। कर्त्ताके अर्थमें उसका अर्थ 'स्वयं ही' या 'आप ही' करना संगत है। और यह बात आगमविरुद्ध भी नहीं है, क्योंकि निश्चयनयसे प्रत्येक द्रव्य आप कर्ता होकर अपने परिणामको उत्पन्न करता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए समयसारमें कहा भी है—

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०२॥

आत्मा जिस शुभ या अशुभ अपने भावको करता है उस भावका वह वास्तवमें कर्ता होता है और वह भाव उसका कर्म होता है और वह आत्मा कर्मरूप उस भावका भोक्ता होता है ॥१०२॥

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए हरिवंशपुराण सर्ग ५८ में भी कहा है—

अविद्यारागसंक्लिष्टो बम्भ्रमीति भवार्णवे।
विद्यावैराग्यशुद्धः सन् सिद्धगम्यविकलस्थितिः ॥१३॥
इत्यध्यात्मविशेषस्य दीपिका दीपिकेव सा।
रूपादेः समयत्याशु तमिस्रं तत्र सन्ततम् ॥१४॥

अविद्यारागसे संक्लिष्ट हुआ यह जीव संसाररूपी समुद्रमें घूमता रहता है और विद्यावैराग्यसे शुद्ध होकर सिद्धगतिमें अविकल स्थितिवाला होता है ॥१३॥ यह अध्यात्म विशेषको बतानेवाली दीपिका है। इसलिए जैसे दीपक रूपादि विषयक अन्धकारको शीघ्र नष्ट कर देता है उसी प्रकार यह भी अज्ञानान्धकारको शीघ्र नष्ट कर देता है ॥१४॥

इससे प्रकृतमें स्वयं पदका क्या अर्थ होना चाहिए यह स्पष्ट हो जाता है।

यहाँ अपर पक्षने 'स्वयं' पदके 'अपने आप' अर्थका विरोध दिखलानेके लिए जो प्रमाण दिये हैं उनके विषयमें तो हमें विशेष कुछ नहीं कहना है। किन्तु यहाँ हम इतना संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं कि एक तो प्रस्तुत प्रश्नके प्रथम व दूसरे उत्तरमें हमने 'स्वयमेव' पदका अर्थ 'अपने आप' न करके 'स्वयं ही' किया है। इस पदका 'अपने आप' यह अर्थ अपर पक्षने हमारे कथनके रूपमें प्रस्तुत प्रश्नकी दूसरी प्रतिशंकामें मानकर टीका करनी प्रारम्भ कर दी है जो युक्त नहीं है। हमने इसका विरोध इसलिए नहीं किया कि निश्चयकर्ताके अर्थमें 'स्वयमेव' पदका यह अर्थ ग्रहण करनेमें भी कोई आपत्ति नहीं। ऐसी अवस्थामें 'अपने आप' पदका अर्थ होगा 'परकी सहायता बिना आप कर्ता होकर।' आशय

इतना ही है कि जिसकी क्रिया अपनेमें हो, कार्य अपनेमें हो वह दूसरेकी सहायता लिये बिना अपने कार्यका आप ही कर्ता होता है, अन्य पदार्थ नहीं।

इस प्रकार प्रवचनसार गाथा १६६ की टीकामें 'स्वयमेव' पदका क्या अर्थ लेना चाहिए इसका खुलासा किया। अन्यत्र जहाँ-जहाँ कार्य-कारणभावके प्रसंगसे यह पद आया है वहाँ-वहाँ इस पदका अर्थ करनेमें यही स्पष्टीकरण जानना चाहिये। यदि और गहराईसे विचार किया जाय तो यह पद निश्चय-कर्ताके अर्थमें तो प्रयुक्त हुआ ही है, इसके सिवाय इस पदसे अन्य निश्चयकारकोंका भी ग्रहण हो जाता है।

आगे अपर पक्षने 'उपचार' पदके अर्थके विषयमें निर्देश करते हुए धवल पु० ६ पृ० ११ के आधारसे जो उस पदके 'अन्यके धर्मको अन्यमें आरोपित करना उपचार है।' इस अर्थको स्वीकार कर लिया है वह उचित ही किया है। उसी प्रकार वह पक्ष समयसार गाथा १०५ में आये हुए 'उपचार' पदका भी उक्त अर्थ ग्रहण करेगा ऐसी हमें आशा है, क्योंकि जिस प्रकार धवल पु० ६ पृ० ११ में जीवके कर्तृत्व धर्मका उपचार जीवसे अभिन्न (एक क्षेत्रावगाही) मोहनीय द्रव्यकर्ममें करके जीवको मोहनीय कहा गया है उसी प्रकार समयसार गाथा १०५ में कर्मवर्गणाओंके कर्तृत्व धर्मका आरोप जीवमें करके जीवको पुद्गल कर्मका कर्ता कहा गया है। दोनों स्थलोंपर न्याय समान है। यहाँ मोहनीय कर्मोदय जीवके अज्ञानभावके होनेमें निमित्त है। समयसार गाथा १०५में जीवका अज्ञान परिणाम ज्ञानावरणादिरूप कर्म परिणाममें निमित्त है। इस प्रकार दोनों स्थलोंपर बाह्य सामग्रीरूपसे व्यवहार हेतुका सद्भाव है। अतएव समयसार गाथा १०५ में 'मुख्याभावे सति प्रयोजने' इत्यादि वचनकी चरितार्थता बन जाती है।

समयसार गाथा १०५ को लक्ष्यमें रखकर अपर पक्षका कहना है कि 'परन्तु ऐसा उपचार प्रकृतमें सम्भव नहीं है, कारण कि आत्माके कर्तृत्वका उपचार यदि द्रव्यकर्ममें आप करेंगे तो इस उपचारके लिए सर्वप्रथम आपको निमित्त तथा प्रयोजन देखना होगा जिसका कि सर्वथा अभाव है।' समाधान यह है कि यहाँपर व्यवहारहेतु और व्यवहार प्रयोजनका न तो अभाव ही है और न ही आत्माके कर्तृत्वका उपचार द्रव्यकर्ममें कर रहे हैं। किन्तु प्रकृतमें हम कर्मपरिणामके सन्मुख हुई कर्मवर्गणाओंके कर्तृत्वका आरोप व्यवहारहेतु संज्ञाको प्राप्त अज्ञानभावसे परिणत आत्मामें कर रहे हैं। अतएव 'अतः यहाँ बाह्य हेतु और बाह्य प्रयोजनका सर्वथा अभाव है, इसलिए उपचारकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती' अपर पक्षका ऐसा अभिप्राय व्यक्त करना आगम विरुद्ध तो है ही, तर्क और अनुभवके भी विरुद्ध है। अपर पक्ष यदि उक्त गाथाकी रचनापर दृष्टिपात करे तो उसे ज्ञात होगा कि स्वयं आचार्यने गाथाके पूर्वार्धमें 'हेदुभूदे' पदका उल्लेख कर बाह्य निमित्तका निर्देश कर दिया है तथा 'बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं' वचनका उल्लेख कर मुख्यकर्ता और मुख्य कर्मकी सूचना कर दी है। फिर भी बाह्य निमित्तके ज्ञान करानेरूप बाह्य प्रयोजनको लक्ष्यमें रखकर मुख्यकर्ताके स्थानमें पुद्गलकर्मवर्गणाओंके कर्तृत्वका उनसे अभिन्न (एक क्षेत्रावगाही) अज्ञान परिणत जीवमें उपचार करके उपचारसे उक्त जीवको कर्मका कर्ता कहा गया है। स्पष्ट है कि समयसार गाथा १०५ में उपचार पदका वही अर्थ लिया गया है जिसका कि हम पिछले उत्तरमें संकेत कर आये हैं और जिसे धवल पु० ६ पृ० ११ के 'मुह्यत इति मोहनीयम्' वचनके अनुसार अपर पक्षने भी स्वीकार कर लिया है।

इस प्रकार अपर पक्ष द्वारा उपस्थित किये गये मूल प्रश्नका अवान्तर विषयोंके साथ सांगोपांग विचार किया।

●

प्रथम दौर

: १ :

शंका २

जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म अधर्म होता है या नहीं ?

समाधान

जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गल द्रव्यकी पर्याय होनेके कारण उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव होता है, इसलिए वह स्वयं जीवका न तो धर्मभाव है और न अधर्मभाव ही है। मात्र जीवित शरीरकी क्रिया धर्म नहीं है इसे स्पष्ट करते हुए नाटक समयसारमें पण्डितप्रवर बनारसीदासजी कहते हैं—

जे व्यवहारी मूढ़ नर पर्यायबुद्धि जीव।
तिनके बाह्य क्रिया ही को है अवलंब सदीव ॥ १२१ ॥

कुमति बाहिज दृष्टि सो बाहिज क्रिया करंत।
माने मोक्ष परंपरा मनमें हरष धरंत ॥ १२२ ॥

शुद्धातम अनुभव कथा कहे समकिती कोय।
सो सुनिके तासों कहें यह शिवपंथ न होय ॥ १२३ ॥

इस तथ्यका समर्थन आचार्यवर्य अमृतचन्द्रके इस कलशसे होता है—

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तन्दुलम् ॥ २४२ ॥

इस कलशका अर्थ पूर्वोक्त दोहोंसे स्पष्ट है।

इसी विषयपर विशेष प्रकाश डालते हुए परमात्मप्रकाशमें भी कहा है—

घोरु करंतु वि तव-चरणु सयल वि सत्थ मुणंतु।
परमसमाहिविवज्जियउ ण वि देक्खइ सिउ संतु ॥ २–१९१ ॥

अर्थ—जो घोर तपश्चरण करता है और सकल शास्त्रका भी मनन करता है, परन्तु परम समाधिसे रहित है वह राग, द्वेष और मोह आदि दोषोंसे रहित मोक्षको प्राप्त नहीं होता ॥ २–१९१ ॥

फिर भी जीवित शरीरकी क्रियाका धर्म-अधर्मके साथ नोकर्मरूपसे निमित्त-नैमित्तक सम्बन्ध होनेके कारण जीवके शुभ, अशुभ और शुद्ध जो भी परिणाम होते हैं उनको लक्ष्यमें लेते हुए उपचार नयका आश्रय कर जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म अधर्म होता है यह कहा जाता है।

●

द्वितीय दौर

: २ :

शंका २

जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म अधर्म होता है या नहीं ?

प्रतिशंका २

हमारे उक्त प्रश्नके उत्तरमें जो आपने यह लिखा है कि 'जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गल द्रव्यको पर्याय होनेके कारण उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव होता है।' सो आपका यह लिखना आगम, अनुभव तथा प्रत्यक्षसे विरुद्ध है, क्योंकि जीवित शरीरको सर्वथा अजीव तत्त्व मान लेनेपर जीवित तथा मृतक शरीरमें कुछ अन्तर नहीं रहता। जीवित शरीर इष्ट स्थानपर जाता है, पर मृतक शरीर इष्ट स्थानपर नहीं जा आ सकता। दाँतोंसे काटना, मारना, पीटना, तलवार बन्दूक लाठी चलाकर दूसरेका घात करना, पूजा-प्रक्षाल करना, सत्पात्रोंको दान देना, लिखना, केशलोंच करना, देखना, सुनना, सूँघना, बोलना, प्रश्न-उत्तर करना, शराब पीना, मांस खाना आदि क्रियाएं यदि अजीव तत्त्वकी ही हैं तो इन क्रियाओं-द्वारा आत्माको सन्मान, अपमान, दण्ड, जेल आदि क्यों भोगना पड़ता है ? तथा स्वर्ग-नरक आदि क्यों जाना पड़ता है ?

अणुव्रत, महाव्रत, बहिरङ्ग तप, समिति आदि जीवित शरीरसे ही होते हैं, भगवान् ऋषभदेवने १००० वर्षतक तपस्या शरीर द्वारा की थी। अर्हन्त भगवान्का विहार तथा दिव्यध्वनि शरीर द्वारा ही होती है।

कायवाङ्मनःकर्म योगः (६-१ त० सू०) इस सूत्र के अनुसार कर्मास्रवमें शरीर तथा तत्सम्बन्धी वचन एवं द्रव्यमन कारण हैं। अजीवाधिकरण आस्रवका कारण है। वह भी जीवित शरीरके अनुसार है। जीवित शरीरसे ही उपदेश दिया जाता है, प्रवचन किया जाता है, शास्त्र लिखा जाता है, प्रवचन सुना जाता है।

आपने जो अपने कथनकी पुष्टिमें श्री पं० बनारसीदास जीके नाटक समयसार कलश तथा परमात्म-प्रकाशके पद्योंका अवतरण दिया है, उनका आशय तो केवल इतना है कि मिथ्यादृष्टि मात्र अपनी शारीरिक क्रियासे मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। फिर भी बहिरात्माका शरीर द्वारा बालतपसे स्वर्गगमन होता ही है। तथा असत् शारीरिक क्रियाओं द्वारा संसारभ्रमण होता है। जैसा कि तत्त्वार्थसूत्रमें कहा है। (त० सू० ६-२०)

वज्रवृषभनाराचसंहननवाले जीवित शरीरसे शुक्लध्यान होकर मुक्ति होती है, उसी संहननवाले शरीरसे तीव्रतम पापमयी क्रिया द्वारा सातवां नरक भी मिलता है।

पञ्चास्तिकायकी गाथा १७१ की टीकामें लिखा है—

संहननादिशक्त्यभावात् शुद्धात्मस्वरूपे स्थातुमशक्यत्वात् वर्तमानभवे पुण्यबन्धं करोति ।

अर्थ—शारीरिक संहननशक्तिके अभावसे शुद्ध आत्मस्वरूपमें स्थिर न हो सकनेके कारण वर्तमान-भवमें पुण्यबन्ध करता है ।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यने रयणसारमें कहा है—

दाणं पूजा मुक्खं सावयधम्मे ण सावया तेण विणा ॥११॥

अर्थ—दान करना और पूजा करना श्रावक धर्ममें मुख्य है, उनके बिना श्रावक नहीं होता ॥११॥

कुन्दकुन्दाचार्यका बतलाया हुआ यह धर्म जीवित शरीर द्वारा ही होता है ।

अन्तमें आपने स्वयं अशुभ, शुभ और शुद्धभावोंका नोकर्म शरीरको निमित्तकारण मान लिया है, किन्तु निराधार उपचार शब्दका प्रयोगकर अर्थान्तर करनेका प्रयास किया है ।

●

शंका २

जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म अधर्म होता है या नहीं ?

प्रतिशंका २ का समाधान

प्रतिशंका नं० २ को उपस्थित करते हुए तत्त्वार्थसूत्र अ० ६, सू० १, ६ व ७ तथा पंचास्ति० गा० १७१ और रयणसार गा० ११ को प्रमाणरूपमें उपस्थित कर तथा कतिपय लौकिक उदाहरण देकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है कि जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म होता है ।

यह तो सुविदित सत्य है कि आगममें निश्चयरत्नत्रयको यथार्थ धर्म कहकर उसके साथ जो देवादिकी श्रद्धा, संयमासंयम और संयमसम्बन्धी व्रतादिमें प्रवृत्तिरूप परिणाम होता है उसे व्यवहार धर्म कहा है । और सम्यग्दृष्टिके शरीरमें एकत्वबुद्धि नहीं रहती । यदि कोई जीव शरीरमें एकत्वबुद्धि कर शरीरकी क्रियाको आत्माकी क्रिया मानता है तो उसे अप्रतिबुद्ध कहा है । वहाँ (समयसारमें) कहा है —

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥ १९ ॥

अर्थ—कर्म और नोकर्म (देहादि तथा शरीरकी क्रिया) में मैं हूँ, तथा मैं कर्म-नोकर्म हूँ 'जो ऐसी बुद्धि करता है तबतक वह अप्रतिबुद्ध है ॥ १९ ॥

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार गाथा १६० में भी कहा है —

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ १६० ॥

अर्थ—मैं न देह हूँ, न मन हूँ और न वाणी हूँ । उनका कारण नहीं हूँ, कर्ता नहीं हूँ, कारयिता नहीं हूँ और कर्ताका अनुमोदक नही हूँ ॥ १६० ॥

इसकी टीकामें कहा है —

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये । ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति । सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि । तथाहि न खल्वहं शरीरवाङ्मनसां स्वरूपाधारभूतमचेतनद्रव्यमस्मि । तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मनः स्वरूपं धारयन्ति । ततोऽहं शरीर-वाङ्मनःपक्षपातमपास्यात्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि । इत्यादि ।

अर्थ—मैं शरीर, वाणी और मनको परद्रव्यके रूपमें समझता हूँ, इसलिए मुझे उनके प्रति कुछ भी पक्षपात नहीं है । मैं उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूँ । यथा—वास्तवमें मैं शरीर, वाणी और मनके स्वरूपका आधारभूत अचेतन द्रव्य नहीं हूँ । मेरे स्वरूपाधार हुए विना ही वे वास्तवमें अपने स्वरूपको धारण करते हैं । इसलिए मैं शरीर, वाणी और मनका पक्षपात छोड़कर अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ।

आगे पुनः लिखा है —

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग त्ति णिद्दिट्ठा ।
पोग्गलदव्वं हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥ १६१ ॥

अर्थ—देह, मन और वाणी पुद्गलद्रव्यात्मक हैं ऐसा जिनदेवने कहा है । और वे पुद्गलद्रव्य परमाणु द्रव्योंका पिण्ड हैं ॥१६१॥

प्रवचनसार गा. १६२ तथा नियमसारमें भी यही स्वीकार किया गया है, इसलिए इनका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव नहीं होता यह तो कहा नहीं जा सकता ।

प्रतिशंका २ द्वारा श्री तत्त्वार्थसूत्र आदिके उद्धरण देकर जो जीवित शरीरसे धर्मकी प्राप्तिका समर्थन किया गया है सो वह आस्रवका प्रकरण है । उस अध्यायमें धर्मका निर्देश नहीं किया गया है । उसमें भी जहाँ कहीं निमित्तकी अपेक्षा निर्देश भी हुआ है सो निमित्त तो अनेक पदार्थ होते हैं तो क्या इतने मात्रसे उन सबसे धर्मकी प्राप्ति मानी जायगी । शरीर आदि पदार्थोंको जहाँ भी निमित्त लिखा है सो वह विजातीय असद्भूत व्यवहार नयकी अपेक्षा ही निमित्त कहा है । इसी तथ्यको स्वीकार करते हुए सोलापुरसे मुद्रित नयचक्र पृ० ४५ में इन शब्दों द्वारा स्वीकार किया है—

शरीरमपि यो जीवं प्राणी प्राणिनो वदति स्फुटम् ।
असद्भूतो विजातीयो ज्ञातव्यो मुनिवाक्यतः ॥१॥

अर्थ—जो प्राणियोंके शरीरको भी जीव कहता है उसे जिनदेवके उपदेशानुसार विजातीय असद्भूत व्यवहार जानना चाहिए ॥१॥

स्वयंभूस्तोत्रमें श्री वासुपूज्य भगवान्‌की स्तुति करते हुए कहा है—

यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेः निमित्तमाभ्यन्तरमूलहेतोः ।
अध्यात्मवृत्तस्य तदङ्गभूतमाभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥५९॥

अर्थ—अभ्यन्तर अर्थात् उपादानकारण जिसका मूल हेतु है ऐसी गुण और दोषोंकी उत्पत्तिका जो बाह्य वस्तु निमित्तमात्र है, मोक्षमार्गपर आरूढ़ हुए जीवके लिए वह गौण है, क्योंकि हे भगवन् ! आपके मतमें उपादान हेतु कार्य करनेके लिये पर्याप्त है ॥५९॥

तात्पर्य यह है कि जो अपने उपादानकी सम्हाल करता है उसके लिए उपादानके अनुसार कार्य कालमें निमित्त अवश्य ही मिलते हैं। ऐसा नहीं है कि उपादान अपना कार्य करनेके सन्मुख हो और उस कार्यमें अनुकूल ऐसे निमित्त न मिलें। इस जीवका अनादिकालसे पर द्रव्यके साथ संयोग बना चला आ रहा है, इसलिये वह संयोगकालमें होनेवाले कार्योंको जब जिस पदार्थका संयोग होता है उससे मानता आ रहा है, यही इसकी मिथ्या मान्यता है। फिर भी यदि जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म माना जावे तो मुनिके ईर्यापथसे गमन करते समय कदाचित् किसी जीवके उसके पगका निमित्त पाकर मरनेपर उस क्रियासे मुनिको भी पाप-बन्ध मानना पड़ेगा। पर ऐसा नहीं है। जिनागममें कहा भी है—

वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते। —सर्वार्थसिद्धि ७-१३

दूसरेको निमित्तकर दूसरेके प्राणोंका वियोग हो जाता है, फिर भी वह हिंसाका भागी नहीं होता।

अत एव प्रत्येक प्राणीके अपने परिणामोंके अनुसार ही पुण्य, पाप और धर्म होता है जीवित शरीरकी क्रियाके अनुसार नहीं यही यहाँ निर्णय करना चाहिए और ऐसा मानना ही जिनागमके अनुसार है।

●

तृतीय दौर

: ३ :

शंका २

जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म अधर्म होता है या नहीं?

प्रतिशंका ३

इसके उत्तरमें आपने यह लिखा कि 'जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गल द्रव्यकी पर्याय होनेके कारण उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव होता है, इसलिये वह स्वयं जीवका न तो धर्म भाव है और न अधर्मभाव ही है। मात्र जीवित शरीरकी क्रिया धर्म नहीं।'

इस उत्तरमें आपने जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म अधर्म होता है या नहीं, इस मूल प्रश्नको तो छुआ ही नहीं, सिर्फ इतना लिख दिया कि शरीरकी क्रिया धर्म-अधर्म नहीं है। जैसा कि हमने पूछा हो कि जीवित शरीरकी क्रिया धर्म है या अधर्म?

यह सर्व विदित है कि धर्म और अधर्म आत्माकी परिणतियाँ है और वे आत्मामें ही अभिव्यक्त होते हैं। परन्तु उनके अभिव्यक्त होनेमें जीवित शरीरकी क्रियाएँ निमित्त पड़ती हैं। यदि ऐसा न हो तो शरीर द्वारा होनेवाली समीचीन और असमीचीन प्रवृत्तियाँ निरर्थक हो जावें। कार्यकी सिद्धिमें निमित्त और उपादान-दोनों कारण आवश्यक है, परन्तु केवल उपादानकी मान्यता शास्त्र संमत कार्य-कारण व्यवस्था पर कुठाराघात कर रही है।

आपने नाटक समयसारके दोहे उद्धृत करते हुए मात्र जीवित शरीरकी क्रियाको धर्म माननेवाले मिथ्यादृष्टिका उल्लेख किया है सो उससे प्रश्नका समाधान नहीं होता, क्योंकि शरीरकी क्रियाको तो सर्वथा हम भी धर्म-अधर्म नहीं मानते। हमारा अभिप्राय तो यह है कि आत्माकी धर्म और अधर्म परिणतिमें जीवित शरीरकी क्रिया निमित्त है, जिसे आप निमित्त या उपचार मात्र कहकर अवस्तुभूत-असत्यार्थ सिद्ध करना चाहते हैं, पर क्या वास्तवमें यह सब अवस्तुभूत है? यदि अवस्तुभूत ही है तो मोक्षप्राप्तिके लिये कर्मभूमिज मनुष्यका देह और ध्यानकी सिद्धिके लिये उत्तम संहनन आदिकी अनिवार्यता शास्त्र संमत नहीं रह जायगी।

बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।
नैवान्यथा मोक्षविधिश्च पुंसां तेनाभिवन्द्यस्त्वमृषिर्बुधानाम् ॥६०॥

—स्वयंभूस्तोत्र

समन्तभद्र स्वामीके इस उल्लेखसे यह स्पष्ट है कि कार्यकी उत्पत्तिमें बाह्य और आभ्यन्तर दोनों कारणोंकी पूर्णता आवश्यक है। द्रव्यका-पदार्थका कार्योत्पत्तिके विषयमें यही स्वभाव है। अन्यथा-मात्र बाह्य या आभ्यन्तरके ही कारण माननेपर पुरुषके मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती।

स्वयंभूस्तोत्रके इससे पूर्ववर्ती श्लोक—'यद्वस्तु बाह्यं गुणदोषसूतेः'—का जो अर्थ आपने अपने प्रत्युत्तरमें किया है उससे बाह्येतरोपाधि—श्लोकके साथ पूर्वापर विरोध प्रतीत होता है, इसलिये हमारी दृष्टिसे यदि उसका निम्न प्रकार अर्थ किया जाय तो उससे पूर्वापर विरोध ही दूर नहीं होता, बल्कि संस्कृत टीकाकारके भावकी भी सुरक्षा होती है।

अर्थ—गुण-दोषकी उत्पत्तिमें जो बाह्य वस्तु निमित्त है वह चूँकि अध्यात्मवृत्त—आत्मामें होनेवाले शुभाशुभ लक्षणरूप अन्तरंग मूल कारणका अंगभूत है—सहकारी कारण है, अतः केवल अन्तरंग भी कारण कहा जा सकता है।

फिर यह पात्रकी विशेषताको लक्ष्यमें रखकर कथन किया गया है, अतः इससे कार्यकारणकी व्यवस्थाको असंगत नहीं माना जा सकता। पात्रकी विशेषताको दृष्टिमें रखकर किसी कथनको विवक्षित-मुख्य और अविवक्षित-गौण तो किया जा सकता है। परन्तु उसे अवस्तुभूत-अपरमार्थ नहीं कहा जा सकता।

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः।
अङ्गित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गता ॥२२॥—अष्टसहस्री

समन्तभद्र स्वामीने अंग शब्दका प्रयोग किया है, जिसका अर्थ टीकाकारने—

शेषान्तानां स्याच्छब्दसूचितान्यधर्मणां तदगंता तद्गुणभावः।

पंक्ति में गौण अर्थ किया है और गौणका अर्थ—

विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणो विवक्षो न निरात्मकस्ते।

—स्वयंभूस्तोत्र ५३

श्लोक द्वारा अविवक्षित बतलाया है, परन्तु अविवक्षितको निरात्मक—असद्भूत नहीं बतलाया।

तत्त्वार्थसूत्रके उद्धरणोंके विषयमें आपने लिखा सो उसका स्पष्टीकरण यह है कि मूल प्रश्नमें धर्म-अधर्म दोनोंकी चर्चा है, न केवल धर्मकी। वहाँ अभिप्राय मात्र इतना है कि कार्यसिद्धिमें पर पदार्थ कारण पड़ता है या नहीं। उसी ओर आपकी समन्वयात्मक दृष्टि नहीं गई मालूम होती है।

आगे आप लिखते हैं कि 'जो उपादानकी सम्हाल करता है उसके लिये उपादानके अनुसार कार्य-कालमें निमित्त अवश्य मिलते हैं। ऐसा नहीं है कि उपादान अपना कार्य करनेके सन्मुख हो और उस कार्यमें अनुकूल ऐसे निमित्त न मिलें।' सो आपका ऐसा लिखना आगम विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि धवला पु० १ पृ० १५० पर

निर्वाणपुरस्कृतो भव्यः, उक्तञ्च—

सिद्धत्तणस्स जोग्गा जे जीवा ते हवंति भवसिद्धा।
ण उ मलविगमे णियमो ताणं कणगोवलाणमिव॥

इस गाथाका अर्थ लिखते हुए लिखा है कि जिसने निर्वाणको पुरस्कृत किया है उसको भव्य कहते हैं। कहा भी है—जो जीव सिद्धत्वके योग्य हैं उन्हें भव्य कहते हैं, किन्तु उनके कनकोपलके समान मलका नाश होनेका नियम नहीं है।

इसके विशेषार्थमें पं० फूलचन्द्रजी ने स्वयं लिखा है—

सिद्धत्वकी योग्यता रखते हुए भी कोई जीव सिद्ध अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं और कोई जीव सिद्ध अवस्थाको नहीं प्राप्त कर सकते हैं। जो भव्य होते हुए भी सिद्ध अवस्थाको प्राप्त नहीं कर सकते हैं उनके लिये यह कारण बतलाया है कि जिस प्रकार स्वर्ण पाषाणमें सोना रहते हुए भी उसका अलग किया जाना निश्चित नहीं है उसी प्रकार सिद्ध अवस्थाकी योग्यता रखते हुए भी तदनुकूल सामग्रीके न मिलनेसे सिद्ध पदवी प्राप्त नहीं होती है।

इस प्रकार यह स्वीकार किया गया है कि भव्य जीवमें योग्यता होते हुए भी उपदेश आदि सामग्री रूप निमित्तोंके न मिलनेसे सिद्धपदकी प्राप्ति नहीं होती। इसीके लिये शीलवती विधवा स्त्री का दृष्टान्त दिया गया है। जिस प्रकार शीलवती विधवा स्त्रीमें पुत्र उत्पन्न करनेकी योग्यता तो है, किन्तु पतिका मरण हो जानेके कारण पतिरूप निमित्तका संयोग न मिलनेसे पुत्रोत्पत्ति नहीं होती।

ऐसे अनेकों उदाहरण हैं कि उपादानमें योग्यता है, परन्तु निमित्त न मिलनेसे कार्य नहीं होता। वर्णी ग्रन्थमालासे प्रकाशित तत्त्वार्थसूत्रके पृष्ठ २१८ पर पं० फूलचन्द्रने स्वयं इस प्रकार लिखा है—

जो कारण स्वयं कार्यरूप परिणम जाता है वह उपादान कारण कहलाता है। किन्तु ऐसा नियम है कि प्रत्येक कार्य उपादान कारण और निमित्तकारण इन दोके मेलसे होता है, केवल एक कारण से कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती। छात्र सुबोध है पर अध्यापक या पुस्तकका निमित्त न मिले तो वह पढ़ नहीं सकता। यहाँ उपादान है किन्तु निमित्त नहीं, इसलिये कार्य नहीं हुआ। छात्रको अध्यापक या पुस्तकका निमित्त मिल रहा है पर वह मन्दबुद्धि है, इसलिये भी वह पढ़ नहीं सकता। यहाँ निमित्त है किन्तु उपादान नहीं, इसलिये कार्य नहीं हुआ। निमित्तके बिना केवल उपादानसे कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती।

इस प्रकार जब यह स्वीकार किया जा चुका है कि उपादान उपस्थित है, किन्तु निमित्त नहीं है, इसलिये कार्य नहीं हुआ, इसके विरुद्ध आपकी 'ऐसा नहीं कि उपादान अपना कार्य करनेके सन्मुख हो और उस कार्यमें अनुकूल निमित्त न मिलें', इस बातको ठीक मान लेगा ?

प्रत्यक्षमें देखा जाता है कि मनुष्य देखना चाहता है, किन्तु मोतियाबिन्द आ जानेसे अथवा अन्य कोई चीजकी आड़ आ जानेसे नहीं देख सकता। चलना चाहता है पर लकवा मार जानेसे चल नहीं

सकता। चित्तकी स्थिरतारूप ध्यानके बिना मोक्ष नहीं हो सकता और चित्तकी स्थिरता शरीर बलके बिना नहीं हो सकती। कहा भी है—

विशिष्टसंहननादिशक्त्यभावान्निरन्तरं तत्र स्थातुं न शक्नोति।

—पञ्चास्तिकाय गाथा १७० की टीका

अर्थात् विशिष्ट शक्तिके अभावके कारण निजस्वभावमें निरन्तर नहीं ठहर सकता।

इसी बातको पं० फूलचन्द्रजीने तत्त्वार्थसूत्रकी टीकामें लिखा है—

चित्तको स्थिर रखनेके लिये आवश्यक शरीरबल अपेक्षित रहता है जो उक्त तीन संहननवालोंके सिवा अन्यके नहीं हो सकता।

अतः मोक्षमार्गमें शरीर बल अपेक्षित रहता है अर्थात् शरीर बलरूप निमित्तके बिना मुक्ति नहीं हो सकती। पार्श्वपुराणमें कहा भी है—

यह तन पाय महा तप कीजे यामें सार यही है।

मात्र शरीरको क्रियामें धर्म-अधर्म नहीं होता ऐसा एकान्त नियम भी नहीं है, क्योंकि कहीं-कहीं मात्र शरीरकी क्रियासे भी धर्म-अधर्म होता है। जैसे कि मात्र शरीरकी चेष्टासे संयमका छेद होना। प्रवचनसारकी गाथा २११-२१२ की टीका देखिये—

द्विविधः किल संयमस्य छेदः—बहिरङ्गोऽन्तरङ्गश्च। तत्र कायचेष्टामात्राधिकृतो बहिरंगः, उपयोगाधिकृतः पुनरन्तरङ्गः। तत्र यदि सम्यगुपयुक्तस्य श्रमणस्य प्रयत्नसमारब्धायाः कायचेष्टायाः कथंचिद्बहिरङ्गच्छेदो जायते तदा तस्य सर्वथान्तरङ्गच्छेदवर्जितत्वादालोचनपूर्विकया क्रिययैव प्रतीकारः। यदा तु स एवोपयोगाधिकृतच्छेदत्वेन साक्षाच्छेद एवोपयुक्तो भवति तदा जिनोदितव्यवहारविधिविदग्ध-श्रमणाश्रयालोचनपूर्वकतदुपदिष्टानुष्ठानेन प्रतिसंधानम्।

अर्थ—संयमका छेद दो प्रकारका है—बहिरंग और अन्तरंग। उसमें मात्र कायचेष्टासम्बन्धी बहिरंगच्छेद है और उपयोगसम्बन्धी अन्तरंग छेद है। उसमें यदि भलीभाँति उपयुक्त श्रमणके प्रयत्नकृत कायचेष्टाका कथंचित् बहिरंगच्छेद होता है तो वह सर्वथा अन्तरंग छेदसे रहित है इसलिये आलोचना पूर्वक क्रियासे ही उसका प्रतीकार होता है, किन्तु यदि वही श्रमण उपयोगसम्बन्धी छेद होनेसे साक्षात् छेदमें ही उपयुक्त होता है तो जिनोक्त व्यवहार विधिमें कुशल श्रमणके आश्रयसे, आलोचनापूर्वक, उनसे उपदिष्ट अनुष्ठानद्वारा प्रतिसंधान होता है।

इस प्रकार प्रवचनसारके उक्त उल्लेखसे यह सिद्ध है कि मात्र कायचेष्टासे भी अधर्म होता है। यह ही बात श्री १०८ मणिमालीकी कथासे भी सिद्ध होती है कि मात्र शरीरकी क्रियासे कायगुप्तिरूपी संयम का छेद हो गया। वह कथा इस प्रकार है—श्री १०८ मणिमाली मुनिराज विहार करते हुए एक दिन उज्जयिनी पहुँचे और वहाँकी श्मशान भूमिमें ध्यानकी सिद्धि निमित्त निश्चलरूपसे स्थिर हो गये। उसी समय एक कोरिया मंत्रवादी महावेतालीय विद्या सिद्ध करनेके लिये वहाँ आया। ध्यानमें स्थित मुनि महाराजके शरीरको उसने मुर्देका शरीर समझा। कहींसे वह एक दूसरा मस्तक उठा लाया और पीछेसे मुनिराजके मस्तकके साथ जोड़ दिया। खीर पकानेके लिये उस कोरियाने एक मस्तकका चूला बनाया और अग्नि जला दी। अग्निके तापसे मुनि महाराजकी नसें संकुचित हो गई, जिससे उनके दोनों हाथ ऊपरको उठ

गये। इससे उनको कायगुप्ति भंग हो गई। (महारानी चेलनाचरित्र पृ० ११२, सूरतसे प्रकाशित वीर सं० २४८६)।

अब यह बात सिद्ध की जाती है कि मात्र शरीरको क्रियासे ऐसा धर्म होता है जो सर्व कर्मक्षयका व संसार विच्छेदका कारण है—

यह तो सुनिश्चित है कि केवली जिनके मोह राग द्वेषका अभाव है, इसीलिये उनके जो पुण्योदयसे चलने बैठने तथा उपदेश देने रूप शारीरिक क्रिया होती है वह बन्ध का कारण नहीं होती, अपि तु कथंचित् क्षायिकी होनेसे मोक्षका कारण होती है। प्रवचनसारमें श्री कुन्दकुन्द स्वामीने कहा भी है—

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा ॥४५॥

अर्थ—पुण्यफलवाले अरहन्त हैं और उनकी क्रिया औदयिकी है। अरहन्त भगवान् मोहादिसे रहित हैं, इसलिये उनकी क्रिया क्षायिकी मानी गई है।

इसकी टीकामें भी अमृतचन्द्र सूरिने लिखा है—

मोह-राग-द्वेषरूपाणामुपरञ्जकानामभावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासादयन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य बन्धस्याकारणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव कथं हि नाम नानुमन्येत।

अर्थ—मोह-राग-द्वेषरूपी उपरञ्जकों (विकारी भावों) का अभाव होनेसे अरहन्त भगवान्‌की बिहार आदि क्रिया चैतन्य विकारका कारण नहीं होती, इसलिये कार्यभूत बन्धकी अकारणभूततासे और कार्यभूत मोक्षकी कारणभूततासे क्षायिकी ही क्यों नहीं माननी चाहिये, अर्थात् अवश्य माननी चाहिये।

केवली भगवान्‌के वेदनीय, नाम और गोत्र कर्मकी स्थिति यदि आयुकर्मकी स्थितिसे अधिक होती है तो वेदनीय आदि तीन कर्मोंकी अधिक स्थितिका नाश करनेके लिये उस रूप प्रयत्न या उपयोगके बिना ही केवलीसमुद्घात होता है, क्योंकि इन तीन कर्मोंकी अधिक स्थितिका नाश हुए बिना संसारका विच्छेद नहीं हो सकता।

श्री धवलसिद्धान्त पु० २ पृ० ३०२ में कहा भी है—

संसारविच्छित्तेः किं कारणम् ? द्वादशांगावगमः तत्तीव्रभक्तिः केवलिसमुद्घातोऽनिवृत्तिपरिणामाश्च।

अर्थ—संसार विच्छेदका क्या कारण है? द्वादशाङ्गका ज्ञान, उनमें तीव्रभक्ति, केवलिसमुद्घात और अनिवृत्तिरूप परिणाम ये सब संसार विच्छेदके कारण हैं।

चार घातिया कर्मोंका नाश हो जानेसे केवलि जिनका उपयोग स्थिर हो जाता है। किसी भी शारीरिक क्रियाके लिये उस रूप प्रयत्न या उपयोगकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु वे क्रियाएँ स्वाभाविक होती हैं, अतः केवलिसमुद्घातरूप क्रिया भी स्वाभाविक होती है जो संसार विच्छेदका कारण है। संसार-विच्छेदका जो भी कारण है वह सब धर्म है।

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह सिद्ध हो गया कि धर्म-अधर्ममें शरीरकी क्रिया सहकारी कारण तो है ही, किन्तु किन्हीं अवस्थाओंमें मात्र शरीरकी क्रियासे संयमका छेद रूपी अधर्म तथा संसारविच्छेदका कारण रूप धर्म भी होता है।

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

शंका २

जीवित शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है या नहीं ?

प्रतिशंका ३ का समाधान

१. प्रथम-द्वितीय प्रश्नोत्तरोंका उपसंहार

इस प्रश्नके प्रथम उत्तरमें हमने सर्वप्रथम यह स्पष्ट कर दिया था कि जीवित शरीरकी क्रिया पुद्गल द्रव्यकी पर्याय है, इसलिए उसका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव होता है। वह न तो जीवका धर्मभाव ही है और न अधर्मभाव ही। दूसरी यह बात स्पष्ट कर दी थी कि इसकी नोकर्ममें परिगणना की गई है। अतएव जीवभावमें यह निमित्तमात्र कही गई है। किन्तु निमित्तकथन असद्भूत व्यवहारनयका विषय होनेसे इस कथनको उपचरित ही जानना चाहिए।

किन्तु अपर पक्ष जीवित शरीरकी क्रियाका अजीव तत्त्वमें अन्तर्भाव करनेके लिए तैयार नहीं हैं। इसका खुलासा करते हुए प्रतिशंका २ में उसका कहना है कि 'जीवित शरीरको सर्वथा अजीव तत्त्वमें मान लेने पर जीवित तथा मृतक शरीरमें कुछ अन्तर नहीं रह जाता।' इस प्रतिशंकामें अन्य जो भी कथन हुआ है वह इसी आशयकी पुष्टि करता है।

अतएव इसके उत्तरमें निश्चय-व्यवहार धर्मका स्वरूप बतलाकर हमने लिखा है कि शरीर और शरीरकी क्रियामें एकत्व बुद्धि यह अप्रतिबुद्धका लक्षण है। अतएव सम्यग्दृष्टि उससे धर्मकी प्राप्ति नहीं मानता। अधर्मकी प्राप्ति भी उससे होती है ऐसी भी मान्यता उसकी नहीं रहती। वह तो कार्यकालमें निमित्तमात्र है।

२. प्रतिशंका ३ के आधारसे विचार

हमने प्रथम उत्तरमें ही यह स्पष्टीकरण किया है कि जीवित शरीरकी क्रिया जीवका न धर्म है और न अधर्म ही। इसपर अपर पक्षका कहना है कि यह हमारे मूल प्रश्नका उत्तर नहीं है। समाधान यह है कि यदि जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म-अधर्मकी प्राप्ति स्वीकार की जाय तो उसे आत्माका धर्म-अधर्म मानना भी अनिवार्य हो जाता है। समयसारमें बन्ध और मोक्षके कारणोंका निर्देश करते हुए लिखा है—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो।
रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि॥१६७॥

जीवकृत रागादि युक्त भाव नये कर्मका बन्ध करानेवाला कहा गया है। किन्तु रागादिसे रहित भाव बन्धक नहीं है, वह मात्र ज्ञायक ही है॥१६७॥

इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर मुक्ति और संसारके कारणोंका निर्देश करते हुए रत्नकरण्ड-श्रावकाचारमें भी कहा है—

सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धतिः ॥३॥

तीर्थंकरादि गणधर देवोंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहा है तथा इनसे उलटे मिथ्यादर्शनादि तीनों संसारके कारण हैं ॥३॥

इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि जो धर्म और अधर्मके कारण हैं वे स्वयं धर्म और अधर्म भी हैं। यतः अपर पक्ष जीवित शरीरकी क्रियासे धर्म और अधर्मकी प्राप्ति मानता है अतः उस पक्षके इस कथनमे जीवित शरीरकी क्रिया भी स्वयं धर्म-अधर्म सिद्ध हो जाती है। यही कारण है कि मूल प्रश्नके उत्तरके प्रारम्भमें ही हमने यह स्पष्टीकरण करना उचित समझा कि जीवित शरीरकी क्रिया न तो स्वयं आत्माका धर्म ही है और न अधर्म ही। अपर पक्षने अपनी इस प्रतिशंका ३ में विधिमुखसे यह तो स्वीकार कर लिया है कि 'धर्म और अधर्म आत्माकी परिणतियाँ हैं और वे आत्मामें ही अभिव्यक्त होते हैं।' किन्तु निषेध मुखसे वह पक्ष यह और स्वीकार कर लेता कि जीवित शरीरकी क्रिया न तो स्वयं धर्म है और न अधर्म ही, तो उस पक्षके इस कथनसे यह शंका दूर हो जाती कि वह पक्ष अपनी मूल शंका द्वारा कहीं जीवित शरीरकी क्रियाको ही तो धर्म-अधर्म नहीं ठहराना चाह रहा है। यतः इस शंकाका निर्मूलन हो जाय इसी भावको ध्यानमें रखकर हमने प्रथम उत्तरके प्रारम्भमें यह खुलासा किया है कि जीवित शरीरकी क्रिया न तो स्वयं आत्माका धर्म है और न अधर्म ही।

अपर पक्षका कहना है कि आत्माके धर्म-अधर्मके अभिव्यक्त होनेमें जीवित शरीरकी क्रियाएँ निमित्त है सो इसको हमारी ओरसे अस्वीकार कहाँ किया गया है। अपने दोनों उत्तरोंमें हमने इसे स्पष्ट कर दिया है। किन्तु शरीर द्वारा होनेवाली समीचीन और असमीचीन प्रवृत्तियोंके सम्बन्धमें यह खुलासा कर देना आवश्यक है कि आत्माके शुभाशुभ परिणामोंके आधारपर ही उन्हें समीचीन और असमीचीन कहा जाता है। वे स्वयं समीचीन और असमीचीन नहीं होतीं। यदि वे स्वयं समीचीन और असमीचीन होने लगें तो अपने परिणामोंके सम्हालकी आवश्यकता ही न रह जाय। सागारधर्मामृत अ० ४ में इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्षत ।
भावैकसाधनौ बन्ध-मोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥ २३ ॥

यदि बन्ध और मोक्षके भाव ही एकमात्र कारण न हों तो जीवोंसे व्याप्त पूरे लोकमें कहाँ विचरता हुआ कोई भी प्राणी मोक्षको प्राप्त करे ॥ २३ ॥

इसी तथ्यको स्पष्ट करनेवाला सर्वार्थसिद्धिका यह वचन भी लक्ष्यमें लेने योग्य है। उसके छठे अध्याय सूत्र तीनमें कहा है—

कथं योगस्य शुभाशुभत्वम् ? शुभपरिणामनिर्वृत्तो योगः शुभः। अशुभपरिणामनिर्वृत्तश्चाशुभः।

शंका—योगका शुभाशुभपना किस कारणसे है ?

समाधान—जो योग शुभ परिणामोंको निमित्त कर होता है वह शुभ योग है और जो योग अशुभ परिणामोंको निमित्त कर होता है वह अशुभ योग है।

इससे स्पष्ट है कि जीवित शरीरकी क्रिया स्वयं समीचीन और असमीचीन नहीं हुआ करती, किन्तु जीवके शुभाशुभ परिणामोंके आधारसे उसमें समीचीन और असमीचीनपनेका व्यवहार किया जाता है।

हमें विश्वास है कि इस स्पष्टीकरणके आधारपर अपर पक्ष जीवित शरीरकी क्रियाओंके स्वयं समीचीन और असमीचीन होनेके विचारका त्यागकर अपने इस विचारको मुख्यता देगा कि प्रत्येक प्राणीको मोक्षके साधनभूत स्वभाव सन्मुख हुए परिणामोंकी सम्हालमें लगना चाहिए। संसारके छेदका एकमात्र यही भाव मूल कारण है, अन्यथा संसारकी ही वृद्धि होगी।

बाह्य क्रिया धर्म नहीं है इस अभिप्रायकी पुष्टिमें ही हमने नाटक समयसारके वचनका उल्लेख किया था।

अपर पक्षका कहना है कि क्रियाको तो सर्वथा धर्म-अधर्म हम भी नहीं मानते। तो क्या इस परसे यह आशय फलित किया जाय कि अपर पक्ष जीवित शरीरकी क्रियाको कथंचित् धर्म-अधर्म मानता है? यदि यही बात है तो अपर पक्षके इस कथनकी कि 'धर्म और अधर्म आत्माकी परिणतियाँ हैं और वे आत्मामें ही अभिव्यक्त होते हैं' क्या सार्थकता रही? इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। यदि यह बात नहीं है तो उस पक्षको इस बातका स्पष्ट खुलासा करना था।

यह तो अपर पक्ष भी जानता है कि निमित्त और कारण पर्यायवाची संज्ञाएँ हैं। वह बाह्य भी होता है और आभ्यन्तर भी। उनमें-से आभ्यन्तर निमित्त कार्यका मुख्य-निश्चय हेतु है। यही कारण है कि आचार्य समन्तभद्रने स्वयंभूस्तोत्र कारिका ५९ में मोक्षमार्गमें बाह्य निमित्तकी गौणता बतलाकर आभ्यन्तर हेतुको पर्याप्त कहा है। इस कारिकामें आया हुआ **'अंगभूतम्'** पद गौणपनेका ही सूचक है और तभी **'अभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते'** इस वचनकी सार्थकता बन सकती है। 'अंगभूत' पदका अर्थ 'गौण' है इसके लिए अष्टसहस्री पृ० १५३ **'तदंगता तद्गुणभावः'** इस वचनपर दृष्टिपात करना चाहिए।

अपर पक्षने जीवित शरीरकी क्रियाको आत्माके धर्म-अधर्ममें निमित्त स्वीकार करके यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें दोनों करणोंकी पूर्णता आवश्यक है और इसके समर्थनमें स्वयंभूस्तोत्रका **'बाह्येतरोपाधिसमग्रतेयम्'** वचन उद्धृत किया है। किन्तु प्रकृतमें विचार यह करना है कि मोक्ष दिलाता कौन है? क्या शरीर मोक्ष दिलाता है या वज्रवृषभनाराच संहनन या शरीरकी क्रिया मोक्ष दिलाती है? मोक्षकी प्राप्तिमें विशिष्ट कालको भी हेतु कहा है। क्या वह मोक्ष दिलाता है? यदि यही बात होती तो आचार्य गृद्धपिच्छ तत्त्वार्थसूत्रके प्रारम्भमें **'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।'** १-१ इस सूत्रकी रचना न कर इसमें बाह्याभ्यन्तर सभी सामग्रीका निर्देश अवश्य करते। क्या कारण है कि उन्होंने बाह्य सामग्रीका निर्देश न कर मात्र आभ्यन्तर सामग्रीका निर्देश किया है, अपर पक्षको इसपर ध्यान देना चाहिए। किसी कार्यकी उत्पत्तिके समय आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रताके साथ बाह्य सामग्रीकी समग्रताका होना अन्य बात है और आभ्यन्तर सामग्रीके समान ही बाह्य सामग्रीको भी कार्यकी उत्पादक मानना अन्य बात है। अन्तरं महदन्तरम्। इस महान् अन्तरको अपर पक्ष ध्यानमें ले यही हमारी भावना है। यदि वह इस अन्तरको ध्यानमें ले ले तो उस पक्षको यह हृदयंगम करनेमें सुगमता जाय कि हम बाह्य सामग्रीको उपचरित कारण और आभ्यन्तर सामग्रीको अनुपचरित कारण क्यों कहते हैं। यह तो कोई भी साहस पूर्वक कह सकता है कि आत्मसन्मुख हुआ आत्मा रत्नत्रयको उत्पन्न करता है और रत्नत्रयपरिणत आत्मा मोक्षको उत्पन्न करता है, परन्तु यह बात कोई साहसपूर्वक नहीं कह सकता कि जीवित शरीरकी क्रिया रत्नत्रय या मोक्षको उत्पन्न करती है। सर्वार्थ-सिद्धि अ० १ सू० १ में सम्यक्चारित्रका लक्षण करते हुए लिखा है—

संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतः कर्मादाननिमित्तक्रियोपरमः सम्यक्चारित्रम्।

संसारके कारणकी निवृत्तिके प्रति उद्यत हुए ज्ञानी पुरुषके कर्मके ग्रहणमें निमित्तभूत क्रियाका उपरत होना सम्यक्चारित्र है ।

यह आगम वचन है । इससे तो यही विदित होता है कि रागमूलक या योगमूलक जो भी क्रिया होती है वह मात्र बन्धका हेतु है । अब अपर पक्ष हो बतलावे कि उक्त क्रियाके सिवाय और ऐसी शरीरकी कौन-सी क्रिया बचती है जिसे मोक्षका हेतु माना जाय । हमने भी जीवित शरीरकी क्रियाको धर्म-अधर्मका निमित्त कहा है । किन्तु उसका इतना ही आशय है कि बाह्य विषयमें इष्टानिष्ट बुद्धि होने पर उसके साथ जो भी शरीरकी क्रिया होती हैं उसे उपचारसे अधर्मका निमित्त कहा जाता है और इसी प्रकार आत्म-सन्मुख हुए जीवके धर्मपरिणतिके कालमें शरीरकी जो भी क्रिया होती है उसे उपचारसे धर्मका निमित्त कहा जाता है । इसी प्रकार देव-गुरु-शास्त्रको लक्ष्यकर शुभभावके होने पर उसके साथ जो भी क्रिया होती है उसे उपचारसे उसी भावका निमित्त कहा जाता है ।

आचार्य विद्यानन्दिने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६५ में 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान' इत्यादि सूत्रकी व्याख्या करते हुए बतलाया है कि विशिष्ट सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही साक्षात् मोक्षमार्ग है । इसपर शंका हुई कि इस प्रकार अवधारण करने पर एकान्तकी प्रसक्ति होती है । तब इसका समाधान करते हुए वे क्या लिखते हैं इस पर ध्यान दीजिए—

नन्वेवमप्यवधारणे तदेकान्तानुषंग इति चेत् ? नायमनेकान्तवादिनामुपालम्भः, नयार्पणादेकान्त-स्येष्टत्वात्, प्रमाणार्पणादेवानेकान्तस्य व्यवस्थितेः ।

शंका—इस प्रकार भी अवधारण करने पर उस (मोक्षमार्ग) के एकान्तका अनुषंग होता है ?

समाधान—नहीं, यह एकान्तवादियोंका उपालम्भ ठीक नहीं, क्योंकि नय (निश्चयनय)की मुख्यतामें ऐसा एकान्त हमें इष्ट है । प्रमाणकी मुख्यतासे ही अनेकान्तकी व्यवस्था है ।

कथंचित् सम्यग्दर्शन आदि एक-एकको और साथ ही कथंचित् सम्यग्दर्शनादि तीनोंको मिलाकर युगपत् मोक्षका कारण कहना यह प्रमाणदृष्टि है । निश्चयनय दृष्टि तो यही है कि सम्यग्दर्शनादि तीनरूप परिणत आत्मा ही मोक्षका साक्षात् कारण है । इसी तथ्यको श्लोक वार्तिकके उक्त वचन द्वारा स्पष्ट किया गया है ।

यह प्रमाणदृष्टि और निश्चयनयदृष्टिका निर्देशक वचन है । इससे हमें यह सुस्पष्ट रूपमे ज्ञात हो जाता है कि सम्यग्दर्शनादि एक-एकको मोक्षका कारण कहना यह सद्भूत होकर भी जब कि व्यवहारनयका सूचक वचन है । ऐसी अवस्थामें विशिष्ट काल या शरीरकी क्रियाको उसका हेतु कहना यह तो असद्भूतव्यवहार वचन ही ठहरेगा । इसे यथार्थ कहना तो दो द्रव्योंको मिलाकर एक कहनेके बराबर है ।

अपर पक्षका कहना है कि 'मात्र बाह्य या आभ्यन्तरके ही कारण माननेपर पुरुषके मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती ।' आदि ।

समाधान यह है कि जिस समय जो कार्य होता है उस समय उसके अनुकूल आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रताके समान बाह्य सामग्रीकी समग्रता होती ही है । इसीका नाम द्रव्यगत स्वभाव है । किन्तु इन दोनोंमें-से किसमें किस रूपसे कारणता है इसका विचार करनेपर विदित होता है कि बाह्य सामग्रीमें कारणता असद्भूत व्यवहारनयसे ही बन सकती है । आभ्यन्तर सामग्रीमें कारणताको जिस प्रकार सद्भूत माना गया

है उसी प्रकार यदि बाह्य सामग्रीमें भी कारणताको सद्भूत माना जाय तो पुरुषकी मोक्षविधि नहीं बन सकती यह उक्त कारिकाका आशय है।

अपर पक्षने इसी प्रसंगमें 'यद्वस्तु बाह्यं' इत्यादि कारिकाका उल्लेख कर अपनी दृष्टिसे उसका अर्थ दिया है। किन्तु वह ठीक नहीं, क्योंकि उसका अर्थ करते समय एक तो 'अभ्यन्तरमूलहेतोः' पदको 'गुण-दोषसूतेः' का विशेषण नहीं बनाकर 'अध्यात्मवृत्तस्य अभ्यन्तरमूलहेतोः तत् अंगभूतम्' ऐसा अन्वय कर उसका अर्थ किया है। दूसरे 'अंगभूतम्' पदका अर्थ प्रकृतमें 'गौण' है। किन्तु यह अर्थ न कर उसका अर्थ करते समय साभिप्राय उस पदको वैसा ही रख दिया है। तीसरे चौथे चरणमें आये हुए 'अलम्' पदकी सर्वथा उपेक्षा करके उसका ऐसा अर्थ किया है जिससे पूरी कारिकासे ध्वनित होनेवाला अभिप्राय ही मटियामेट हो गया है।

उसका सही अर्थ इस प्रकार है—अभ्यन्तर वस्तु मूल हेतु है जिसका ऐसे गुण-दोषकी उत्पत्तिमें जो बाह्य वस्तु निमित्त है वह अध्यात्मवृत्त अर्थात् मोक्ष-मार्गीके लिए गौण है, क्योंकि उसके लिए अभ्यन्तर कारण ही पर्याप्त है।

इस कारिकामें आया हुआ 'अपि' पद 'एव' अर्थको सूचित करता है।

अपर पक्षने उक्त कारिकाका अपने अभिप्रायसे अर्थ करनेके बाद जो यह लिखा है कि 'फिर यह पात्रकी विशेषताको लक्ष्यमें रखकर कथन किया गया है, अतः इसमें कार्य-कारणकी व्यवस्थाको असंगत नहीं माना जा सकता। पात्रकी विशेषताको दृष्टिमें रखकर किसी कथनको विवक्षित-मुख्य और अविवक्षित-गौण तो किया जा सकता है, परन्तु उसे अवस्तुभूत-अपरमार्थ नहीं कहा जा सकता।' उसका समाधान यह है कि इसमें सन्देह नहीं कि पात्रविशेषको लक्ष्यमें रखकर यह कारिका लिखी गई है, क्योंकि जो अध्यात्म-वृत्त जीव होता है उसकी दृष्टिमें असद्भूत और सद्भूत दोनों प्रकारका व्यवहार गौण रहता है, क्योंकि परम भावग्राही निश्चयको दृष्टिमें गौण कर तथा सद्भूत व्यवहार और असद्भूत व्यवहारको दृष्टिमें मुख्यकर प्रवृत्ति करना यह तो मिथ्यादृष्टिका लक्षण है, सम्यग्दृष्टिका नहीं। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा २ में स्वसमय (सम्यग्दृष्टि) और परसमय (मिथ्यादृष्टि) का लक्षण करते हुए लिखा है कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्रमें स्थित है वह स्वसमय है और जो पुद्गल कर्मप्रदेशोंमें स्थित है वह परसमय है। यह दृष्टिकी अपेक्षा कथन है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर पण्डितप्रवर दौलतरामजी एक भजनमें कहते हैं—

हम तो कबहूँ न निज घर आये।
पर घर फिरत बहुत दिन बीते नाम अनेक धराये।
हम तो कबहूँ न निज घर आये।
परपद निजपद मान मगन ह्वै पर परिणति लिपटाये।
शुद्ध बुद्ध चिदानन्द मनोहर चेतन भाव न भाये।
हम तो कबहूँ न निज घर आये।

अपर पक्षने जो यह लिखा है कि 'अतः इसमें कार्य-कारणकी व्यवस्थाको असंगत नहीं माना जा सकता।' हम इसे भी स्वीकार करते हैं, क्योंकि उपचरित और अनुपचरित दोनों दृष्टियोंको मिलाकर प्रमाण दृष्टिसे आगममें कार्य-कारणकी जो व्यवस्था की गई है वह 'बाह्य और अभ्यन्तर उपाधिकी समग्रतामें प्रत्येक कार्य होता है यह द्रव्यगत स्वभाव है' इस व्यवस्थाको ध्यानमें रखकर ही की गई है। दोनोंकी

समग्रतामें प्रत्येक कार्य होता है यह यथार्थ है, कल्पना नहीं। किन्तु इनमेंसे अभ्यन्तर कारण यथार्थ है और वह यथार्थ क्यों है तथा बाह्य कारण अयथार्थ है और वह अयथार्थ क्यों है यह विचार दूसरा है। इसे जो ठीक तरहसे जानकर वैसी श्रद्धा करता है वह कार्य-कारण भावका यथार्थ ज्ञाता होता है ऐसा यदि हम कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी।

विचार तो कीजिए कि यदि बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारकी सामग्री यथार्थ होती तो आचार्य अध्यात्म-वृत्तके लिए निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्रीको दृष्टिमें गौण करनेका उपदेश क्यों देते और क्यों मोक्षकी प्रसिद्धिमें अभ्यन्तर कारणको ही पर्याप्त बतलाते। वस्तुतः इसमें संसारी बने रहने और मुक्त होनेका बीज छिपा हुआ है। जो पुरुष बाह्य सामग्रीको यथार्थ कारण जान अपनी मिथ्या बुद्धि या रागबुद्धिके कारण उसमें लिपटा रहता है वह सदाकाल संसारी बना रहता है और जो पुरुष अपने आत्माको ही यथार्थ कारण जान तथा व्यवहारसे कारण संज्ञाको प्राप्त बाह्य सामग्रीमें हेयबुद्धि कर अपने आत्माकी शरण जाता है वह परममात्मपदका अधिकारी होता है।

अपर पक्षने अपने प्रत्यक्षको प्रमाण मानकर और लौकिक दृष्टिसे दो-तीन दृष्टान्त उपस्थित कर इस सिद्धान्तका खण्डन करनेका प्रयत्न किया है कि 'उपादानके अपने कार्यके सन्मुख होनेपर निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री मिलती ही है।' किन्तु उस पक्षका यह समग्र कथन कार्यकारणकी विडम्बना करनेवाला ही है, उसकी सिद्धि करनेवाला नहीं। हम पूछते हैं कि मन्दबुद्धि शिष्यके सामने अध्यापन क्रिया करते हुए अध्यापकके रहनेपर शिष्यने अपना कोई कार्य किया या नहीं? यदि कहो कि उस समय शिष्यने अपना कोई कार्य नहीं किया तो शिष्यको उस समय अपरिणामी मानना पड़ेगा। किन्तु इस दोषसे बचनेके लिये अपर पक्ष कहेगा कि शिष्यने उस समय भी अध्ययन कार्यको छोड़कर अपना अन्य कोई कार्य किया है। तो फिर अपर पक्षको यह मान लेना चाहिए कि उस समय शिष्यका जैसा उपादान था उसके अनुरूप उसने अपना कार्य किया और उसमें निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री निमित्त हुई, अध्यापक निमित्त नहीं हुआ। जिस कार्यको लक्ष्यमें रखकर अपर पक्षने यहाँ दोष दिया है, वस्तुतः उस कार्यका शिष्य उस समय उपादान ही नहीं था। यही कारण है कि अध्यापन क्रियामें रत अध्यापकके होनेपर भी वह निमित्त व्यव-हारके अयोग्य ही बना रहा। यह कार्यकारण व्यवस्था है, जो प्रत्येक द्रव्यके परिणाम स्वभावके अनुरूप होनेसे इस तथ्यकी पुष्टि करती है कि 'उपादानके कार्यके सन्मुख होनेपर निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य सामग्री मिलती ही है।'

प्रकृतमें अपर पक्षकी सबसे बड़ी भूल यह है कि विवक्षित कार्य तो हुआ नहीं फिर भी वह, जिसमें उस समय उसने जिस कार्यकी कल्पना कर रखी है, उसे उस समय उसका उपादान मानता है और इस आधारपर यह लिखनेका साहस करता है कि सुबोध छात्र है पर अध्यापक आदि नहीं मिले, इसलिए कार्य नहीं हुआ। अपर पक्षको समझना चाहिए कि सुबोध छात्रका होना अन्य बात है और छात्रका उपादान होकर अध्ययन क्रियासे परिणत होना अन्य बात है। इसी प्रकार अपर पक्षको यह भी समझना चाहिए कि अध्यापकका अध्यापनरूप क्रियाका करना अन्य बात है और उस क्रिया द्वारा अन्यके कार्यमें व्यवहारसे निमित्त बनना अन्य बात है।

अध्यापक अध्यापन कला सीखनेके लिए एकान्तमें भी अध्यापन क्रिया कर सकता है और मन्दबुद्धि छात्रके सामने भी इस क्रियाको कर सकता है। पर इन दोनों स्थलोंपर वह निमित्त व्यवहार पदवीका पात्र

नहीं। उसमें अध्यापनरूप निमित्त व्यवहार तभी होता है जब कोई छात्र उसे निमित्त कर स्वयं पढ़ रहा है। यह कार्य-कारण व्यवस्था है जो सदाकाल प्रत्येक कार्यपर लागू होती है। अतः अपर पक्षने अपने प्रत्यक्ष ज्ञानको प्रमाण मानकर जो कुछ भी यहाँ लिखा है वह यथार्थ नहीं है ऐसा समझना चाहिए।

अपर पक्षने प्रकृतमें पंचास्तिकाय गाथा १७० की टीका, पं० फूलचन्द्रकृत तत्त्वार्थसूत्र टीका और पार्श्वपुराणके प्रमाण देकर प्रत्येक कार्यमें बाह्य सामग्रीकी आवश्यकता सिद्ध की है। समाधान यह है कि प्रत्येक कार्य बाह्याभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें होता है इस सिद्धान्तके अनुसार नियत बाह्य सामग्री नियत आभ्यन्तर सामग्रीको सूचक होनेसे व्यवहार नयसे आगममें ऐसा कथन किया गया है। किन्तु इतने मात्रसे इसे यथार्थ कथन न समझकर व्यवहार कथन ही समझना चाहिए। एकके गुण-धर्मको दूसरेका कहना यह व्यवहारका लक्षण है। अतएव व्यवहारनयसे ऐसा ही कथन किया जाता है जो व्यवहार वचन होनेसे आगममें और लोकमें स्वीकार किया गया है।

अपर पक्षने प्रवचनसार गाथा २११-२१२ की टीकाका प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि 'कहीं-कहीं मात्र शरीरकी क्रियासे भी धर्म-अधर्म होता है। जैसे कि मात्र शरीरकी चेष्टासे संयमका छेद होना।' किन्तु अपर पक्षका यह कथन एकान्तका सूचक होनेसे ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृतमें यथामार्ग न की गई कायचेष्टाके अभावको सूचित करनेके लिए आचार्यने कायचेष्टामात्राधिकृत संयम-छेदको बहिरंग संयमछेद कहा है और इसलिए आचार्यने इसका अल्प प्रायश्चित कहा है। स्पष्ट है कि इस वचनसे अपर पक्षके अभिमतकी सिद्धि नहीं होती। प्रत्युत इस वचनसे तो यही सिद्ध होता है कि आत्म-कार्यमें सावधान व्यक्ति यदि बाह्य शरीरचेष्टाको प्रयत्नपूर्वक भी करता है तो भी शरीर क्रिया करनेका भाव दोषाधायक माना गया है और यही कारण है कि परमागममें सूत्रोक्त विधिपूर्वक की गई प्रत्येक क्रिया-का प्रायश्चित्त कहा है।

यहाँ अपर पक्षने जो मणिमाली मुनिकी कथा दी है वह शयन समयकी घटनासे सम्बन्ध रखती है। उस समय मुनिकी कायगुप्ति ऐसी होनी चाहिए थी कि उसको निमित्त कर शरीर चेष्टा नहीं होती। किन्तु मुनि अपनी कायगुप्ति न रख सके। यह दोष है। इसी दोषका उद्घाटन उस कथा द्वारा किया गया है। मालूम पड़ता है कि यहाँ अपर पक्ष ऐसे उदाहरण उपस्थित कर यह सिद्ध करना चाहता है कि आत्मकार्यमें सावधान अन्तरंग परिणामोंके अभावमें भी शरीरकी क्रियामात्रसे धर्म हो जाता है जो युक्त नहीं है।

केवली जिनके पुण्यको निमित्तकर चलने आदि रूप क्रिया होती है इसमें सन्देह नहीं, पर इतने मात्रसे वह मुक्तिकी साधन नहीं मानी जा सकती। अन्यथा योगनिरोध करके केवली जिन सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती तथा व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यानको क्यों ध्याते। जिस जिनागममें क्षायिक-चारित्रके होनेपर भी योगका सद्भाव होनेसे क्षायिक चारित्रको सम्पूर्ण चारित्ररूपसे स्वीकार न किया गया हो उस जिनागमसे यह फलित करना कि केवली जिनकी चलने आदि रूप क्रिया मोक्षका कारण है उचित नहीं है। प्रत्युत इससे यही मानना चाहिए कि केवली जिनके जबतक योग और तदनुसार बाह्य क्रिया है तबतक ईर्यापथ आस्रव ही है।

केवली जिन समुद्घात अपने वीर्य विशेषसे करते हैं और उसे निमित्त कर तीन कर्मोंका स्थितिघात होता है। अन्तरंगमें वीतराग परिणाम नहीं हैं और वीर्यविशेष भी नहीं है, फिर भी यह क्रिया हो गई और उसे निमित्तकर उक्त प्रकारसे कर्मोंका स्थितिघात हो गया ऐसा नहीं है।

अपर पक्षने धवल पु० १ पृ० ३०२ का प्रमाण उपस्थित करनेके बाद लिखा है कि 'चार घातिया कर्मोंका नाश हो जानेसे केवलि जिनका उपयोग स्थिरि हो जाता है। किसी भी शारीरिक क्रियाके लिए उस रूप प्रयत्न या उपयोगकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु वे क्रियाएँ स्वाभाविक होती हैं, अतः केवलिसमुद्घातरूप क्रिया भी स्वाभाविक होती है जो संसार विच्छेदका कारण है। संसारविच्छेदका जो भी कारण है वह सब धर्म है।'

समाधान यह है कि केवली जिनके जो भी शारीरिक क्रिया होती है वह रागपूर्वक नहीं होती इसी अर्थमें आचार्योंने उसे स्वाभाविकी अतएव क्षायिकी कहा है। परन्तु केवलिसमुद्घातरूप क्रिया तो आत्मप्रदेशों की क्रिया है, शरीरकी क्रिया नहीं और उसका हेतु योग तथा आत्माका वीर्यविशेष है, अतः वह तीन अघातिया कर्मोंकी स्थितिघातका हेतु (निमित्त) रहो आओ, इसमें बाधा नहीं। किन्तु इससे यह कहाँ सिद्ध हुआ कि शरीरकी क्रियासे आत्मामें धर्म-अधर्म होता है, अर्थात् त्रिकालमें सिद्ध नहीं होता। अतएव पूर्वोक्त विवेचनके आधारसे यही निर्णय करना समीचीन है कि शरीरकी क्रिया पर द्रव्य (पुद्गल) की पर्याय होनेसे उसका अजीव तत्त्वमें ही अन्तर्भाव होता है, अतः उसे आत्माके धर्म-अधर्ममें उपचारसे निमित्त कहना अन्य बात है। वस्तुतः यह आत्मा अपने शुभ, अशुभ और शुद्ध परिणामोंका कर्ता स्वयं है, अतः वही उनका मुख्य (निश्चय) हेतु है। विशेष स्पष्टीकरण पूर्वमें किया ही है।

●

प्रथम दौर

: १ :

शंका ३

जीव दयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

समाधान १

इस प्रश्नमें यदि धर्म पदका अर्थ पुण्य भाव है तो जीव दयाको पुण्य भाव मानना मिथ्यात्व नहीं है, क्योंकि जीव दयाकी परिगणना शुभ परिणामोंमें की गई है और शुभ परिणामको आगममें पुण्य भाव माना है। परमात्मप्रकाशमें कहा भी है—

सुहपरिणामें धम्मु पर असुहें होइ अहम्मु।
दोहिं वि एहिं विवज्जियउ सुद्धु ण बंधइ कम्मु ॥२-७१॥

अर्थ—शुभ परिणामसे मुख्यतया धर्म-पुण्य भाव होता है और अशुभ परिणामसे अधर्म-पाप भाव होता है तथा इन दोनों ही प्रकारके भावोंसे रहित शुद्ध परिणामवाला जीव कर्मबन्ध नहीं करता ॥ २-७१ ॥

सुह इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। 'सुहपरिणामें धम्मु पर' शुभपरिणामेन धर्मः पुण्यं भवति मुख्यवृत्त्या। 'असुहँ होइ अहम्मु' अशुभपरिणामेन भवत्यधर्मः पापम्।

टीकाका तात्पर्य गाथार्थसे स्पष्ट है।

यदि इस प्रश्नमें 'धर्म' पदका अर्थ वीतराग परिणति लिया जाय तो जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है, क्योंकि जीवदया पुण्यभाव होनेके कारण उसका आस्रव और बन्धतत्त्वमें अन्तर्भाव होता है, संवर और निर्जरातत्त्वमें अन्तर्भाव नहीं होता। जैसा कि श्री समयसारजी गाथा २६४ से स्पष्ट है—

तह वि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं ॥२६४॥

और इसी प्रकार सत्यमें, अचौर्यमें, ब्रह्मचर्यमें और अपरिग्रहमें जो अध्यवसान किया जाता है उससे पुण्यका बन्ध होता है ॥२६४॥

इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

............यस्तु अहिंसायां यथा विधीयते अध्यवसायः तथा यश्च सत्य-दत्त-ब्रह्मापरिग्रहेषु विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पुण्यबन्धहेतुः।

............और जो अहिंसामें अध्यवसाय किया जाता है, उसी प्रकार सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहमें भी जो अध्यवसाय किया जाता है वह सभी एकमात्र पुण्यबन्धका ही कारण है।

●

द्वितीय दौर

: २ :

शंका ३

जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

प्रतिशंका २

इस प्रश्नके उत्तरमें आपने जीवदयाको धर्म मानते हुए उसकी शुभ परिणामोंमें परिगणना की है। यह एक अपेक्षासे ठीक होते हुए भी आपका यह कथन कि 'उसका आस्रव और बन्धतत्वमें अन्तर्भाव होता है, 'संवर और निर्जरामें नहीं' यह आगमके अनुकूल नहीं है। आपने अपने कथनकी पुष्टिमें जो समयसारकी गाथा २६४ को उद्धृत किया है उसमें अहिंसा आदिको पुण्यबन्धका कारण नहीं कहा है किन्तु इसके विषयमें होनेवाले अध्यवसानको ही पुण्यबन्धका कारण कहा है। टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरिने गाथाकी टीका प्रारम्भ करते हुए जो 'एवमयमज्ञानात्' पदका प्रयोग किया है उससे भी सिद्ध होता है कि अध्यवसान ही कर्मबन्धका कारण है। यह प्रकरण ग्रन्थकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने २४७ वीं गाथासे प्रारम्भ किया है और इन गाथाओंमें मूढ़, अज्ञानी आदि शब्दोंका प्रयोग करते हुए यह दर्शाया है कि मिथ्यादृष्टिका अज्ञानमय अध्यवसान भाव ही बन्धका कारण है।

आपने अपने अभिप्रायकी पुष्टिके लिये जो परमात्मप्रकाश की ७१ वीं गाथाको प्रमाण रूपमें उपस्थित किया है उसमें भी 'सुहपरिणामें धम्मु' पद द्वारा शुभ परिणामको धर्म बतलाया गया है। टीकाकार श्री ब्रह्मदेवने 'धर्मः पुण्यं भवति 'मुख्यवृत्त्या' पद में मुख्यवृत्त्या शब्दसे शुभपरिणाम द्वारा संवर निर्जरा होना भी द्योतित किया है। इसके समर्थनमें अन्य आगम प्रमाण भी द्रष्टव्य हैं—

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संवर भावनाकी गाथा ३ क्रमिक संख्या ९७ निम्न प्रकार है—

गुत्ती जोगणिरोहो समिदी य पमादवज्जणं चेव।
धम्मो दयापहाणो सुतत्तचिंता अणुप्पेहा ॥९७॥

अर्थ—योग निरोधरूप गुप्ति, प्रमाद त्यागरूप समिति, दयाप्रधान धर्म और सुतत्त्व चिन्तनरूप अनुप्रेक्षा है।

संवर भावनामें कही जानेके कारण इस गाथामें प्रोक्त चारों क्रियाएँ संवरकी कारण हैं। उक्त गाथामें स्पष्ट रूपसे धर्मको दयाप्रधान बतलाया है। संस्कृत टीकाकारने भी इसी बातका समर्थन किया है।

पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकामें लिखा है—

अन्तस्तत्त्वं विशुद्धात्मा बहिस्तत्त्वं दयाङ्गिषु।
द्वयोः सन्मीलने मोक्षस्तस्माद् द्वितयमाश्रयेत् ॥ ६–६० ॥

अर्थ—विशुद्ध आत्मा अन्तस्तत्त्व है और प्राणियोंकी दया बहिस्तत्त्व है। अन्तस्तत्त्व तथा बहिस्तत्त्व—इन दोनोंके मिलने पर मोक्ष होता है इसलिये इन दोनोंका आश्रय करना चाहिये।

इसकी पुष्टि संस्कृत टीकाकारने भी की है। बोधपाहुडमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है—

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाणं ॥२५॥

अर्थ—दयासे विशुद्ध धर्म, समस्त परिग्रहसे रहित मुनिदीक्षा (प्रव्रज्या), वीतराग देव ये तीनों भव्य जीवोंका कल्याण करनेवाले हैं।

पद्मनन्दिपञ्चविंशतिकामें कहा है—

आद्या सद्व्रतसंचयस्य जननी सौख्यस्य सत्संपदां
मूलं धर्मतरोरनश्वरपदारोहैकनिःश्रेणिका।
कार्या सद्भिरिहाङ्गिषु प्रथमतो नित्यं दया धार्मिकै-
र्धिङ् नामाप्यदयस्य तस्य च परं सर्वत्र शून्या दिशः ॥ १–८ ॥

अर्थ—यहाँ धर्मात्मा सज्जनोंको सबसे पहले प्राणियोंकी सदा दया करनी चाहिये, क्योंकि वह समीचीन व्रतसमूहकी आद्य—प्रमुख है, सुख एवं उत्कृष्ट संपदाओंकी जननी है, धर्मरूपी वृक्षकी जड़ है तथा अविनश्वर पद (मोक्षमहल) पर चढ़नेके लिये अपूर्व नसैनी है। निर्दय पुरुषके नामको भी धिक्कार है, उसके लिये समस्त दिशाएँ शून्यरूप हैं।

इसी ग्रन्थमें आगे कहा है—

देवः स किं भवति यत्र विकारभावो,
धर्मः स किं न करुणाङ्गिषु यत्र मुख्या।
तत् किं तपो गुरुरथास्ति न यत्र बोधः
सा किं विभूतिरिह यत्र न पात्रदानम् ॥२–१८॥

अर्थ—वह देव क्या ? जिसमें कि विकार भाव हो, वह धर्म क्या ? जहाँ कि प्रणियोंमें दया नहीं है, वह तप भी क्या है ? जिसमें विशाल ज्ञान नहीं है और वह विभूति भी क्या है ? जिसमें पात्रदान नहीं किया जाता।

दयाको धर्म बतलानेका यही कथन इसी ग्रन्थके छठे अधिकारके ३७ से ४० तकके श्लोकोंमें भी स्पष्ट किया है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यने भावपाहुडमें लिखा है—

मोहमयगारवेहि य मुक्का करुणभावसंजुत्ता।
ते सव्वदुरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ॥१५९॥

अर्थ—जो व्यक्ति मोह, मद, गारवसे रहित और करुणाभावसे सहित हैं वे अपने चारित्ररूपी खड्ग द्वारा समस्त पापरूपी स्तम्भको छिन्न-भिन्न कर डालते हैं।

श्री धवलामें भी वीरसेनाचार्यने दयाको जीवका स्वभाव बतलाया है, जो निम्न प्रकार है—

करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो।

—धवल पुस्तक १३ पृष्ठ ३६२

अर्थ—करुणा जीवका स्वभाव है, अतः उसे कर्मजनित कहनेमें विरोध आता है।

श्री राजवार्तिक अ० १ सू० २ में सम्यग्दृष्टिके जो प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये चार लक्षण श्री अकलंकदेवने बतलाये हैं। उनमें अनुकम्पा (दया) भी संमिलित है। प्रमाण देखिए—

प्रशम-संवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम् ।

अर्थ—प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्यकी अभिव्यक्ति हो जाना सराग सम्यग्दर्शनका लक्षण है।

इनमेंसे अनुकम्पाका अर्थ दया किया गया है। इस कारण दया सम्यग्दर्शनका अङ्ग होनेसे धर्मरूप है।

आपने दयाको शुभ भाव बतलाकर मात्र आस्रव और बन्धका कारण बतलाया है यह उचित नहीं है, क्योंकि शुभ भाव संवर और निर्जराके भी कारण हैं। प्रमाण निम्न प्रकार है। श्री वीरसेनाचार्यने जयधवलाके मंगलाचरणकी व्याख्यामें कहा है—

सुह-सुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो ।

अर्थ—यदि शुभ और शुद्ध परिणामोंसे कर्मोका क्षय न माना जाय तो फिर कर्मोंका क्षय हो ही नहीं सकता।

इसके आगे वीरसेनाचार्य जयधवला पु० १ पृ० ९ में लिखते हैं—

अरहंतणमोक्कारो संपहियबंधादो असंखेज्जगुणकम्मक्खयकारओ त्ति तत्थ वि मुणीणं पवुत्तिप्पसंगादो ।

अरहंतणमोक्कारं भावेण य जो करेदि पयडमदी ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावइ अचिरेण कालेण ॥ ३ ॥

अर्थ—अरहंत नमस्कार तत्कालीन बन्धकी अपेक्षा असंख्यातगुणी कर्मनिर्जराका कारण है, इसलिये सरागसंयमके समान उसमें भी मुनियोंकी प्रवृत्ति प्राप्त होती है।

जो विवेकी जीव भावपूर्वक अरहन्तको नमस्कार करता है वह अतिशीघ्र समस्त दुःखोंसे मुक्त हो जाता है।

जिणसाहुगुणुक्कित्तणपसंसणविणयदाणसंपण्णा ।
सुद-सील-संजमरदा धम्मज्झाणं मुणेयव्वा ॥ ५५ ॥

किं फलमेदं धम्मज्झाणं ? अक्खवयेसु विउलामरसुहफलं गुणसेढीये कम्मणिज्जराफलं च । खवएसु पुण असंखेज्जगुणसेढिकम्मपदेसणिज्जरणफलं सुहकम्माणमुक्कस्साणुभागविहाणफलं च । अतएव धर्मादनपेतं धर्म्यं ध्यानमिति सिद्धं । एत्थ गाहाओ—

होंति सुहासवसंवरणिज्जरासुहाइं विउलाइं ।
ज्झाणवरस्स फलाइं सुहाणुबंधीणि धम्मस्स ॥ ५६ ॥
जह वा घणसंघाया खणेण पवणाहया विलिज्जंति ।
ज्झाणप्पवणोवहया तह कम्मघणा विलिज्जंति ॥५७॥

—धवला पु० १३ पृ० ७६-७७

अर्थ—जिन और साधुके गुणोंका कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, दानसम्पन्नता, श्रुत, शील और संयममें रत होना ये सब बातें धर्मध्यानमें होती है ऐसा जानना चाहिये।

शंका—इस धर्मध्यानका क्या फल है ?

समाधान—अक्षपक जीवोंको देव पर्यायसम्बन्धी विपुल सुख मिलना उसका फल है और गुण-श्रेणीमें कर्मोंकी निर्जरा होना भी उसका फल है। तथा क्षपक जीवोंके तो असंख्यात गुणश्रेणीरूपसे कर्म-प्रदेशोंकी निर्जरा होना और शुभ कर्मोंके उत्कृष्ट अनुभागका होना उसका फल है। अतएव जो धर्मसे अनपेत वह धर्मध्यान है यह बात सिद्ध होती है। इस विषयमें गाथाएँ—

उत्कृष्ट धर्मध्यानसे शुभ आस्रव, संवर, निर्जरा और देवोंका सुख ये शुभानुबन्धी विपुल फल होते हैं ॥ ५६ ॥

जैसे मेघपटल पवनसे ताडित होकर क्षणमात्रमें विलीन हो जाते हैं वैसे ही ध्यानरूपी पवनसे उपहत होकर कर्ममेघ भी विलीन हो जाते हैं ॥ ५७ ॥

देवसेनाचार्य कृत भावसंग्रहमें भी कहा है—

आवासयाइं कम्मं विज्जावच्चं च दाण-पूजाइं।
जं कुणइ सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥ ६१० ॥

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टि पुरुष प्रतिदिन अपने आवश्यकोंका पालन करता है, व्रत, नियम आदिका पालन करता है, वैयावृत्य करता है, पात्रदान देता है और भगवान् जिनेन्द्रकी पूजन करता है उस पुरुष का वह सब कार्य कर्मोंकी निर्जराका कारण है।

श्री प्रवचनसारमें गाथा ७९ के बाद श्री जयसेन स्वामीकी टीकामें निम्न प्रकार गाथा है—

तं देवदेवं जदि गणवसहं गुरुतिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥२॥

अर्थ—उन देवाधिदेव जिनेन्द्रको, गणधरदेवको और साधुमहाराजको जो मनुष्य वन्दन करता है वह अक्षय अर्थात् मोक्ष सुखको प्राप्त करता है।

श्री धवल पुस्तक ६ पृष्ठ ४२७ पर निम्नलिखित उल्लेख है—

कथं जिणविम्बदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं ? जिणबिंबदंसणेण णिधत्ति-णिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो।

अर्थ—शंका—जिनबिम्बका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण किस प्रकार है ?

समाधान—जिनबिम्ब दर्शनसे निधत्ति और निकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलापका क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्बका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण है।

जयधवल पुस्तक १ पृष्ठ ३६९ पर उल्लेख है—

तिरयणसाहणविसयलोहादो सग्गापवग्गाणमुप्पत्तिदंसणादो।

अर्थ—रत्नत्रयके साधन विषयक लोभसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति देखी जाती है।

आपने दयाको पुण्यरूप धर्म स्वीकृत किया है सो पुण्य भी साधारण वस्तु नहीं है। उसे भी जिनसेन स्वामीने

पुण्यात्तीर्थंकरश्रियं च परमां नैःश्रेयसीञ्चाश्नुते।

महापुराणके प्रथम भाग पृष्ठ ६५ श्लोक १२९ में मुक्तिलक्ष्मीका साधक बतलाया है।

श्री भावसंग्रहमें भी कहा है :—

सम्मादिट्ठीपुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइ वि णियाणं ण सो कुणइ ॥४०४॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि द्वारा किया हुआ पुण्य संसारका कारण नियमसे नहीं होता है। यदि सम्यग्दृष्टि पुरुष द्वारा निदान न किया जाय तो वह पुण्य मोक्षका ही कारण है।

यदि निजशुद्धात्मैवोपादेय इति मत्वा तत्साधकत्वेन तदनुकूलं तपश्चरणं करोति तत्परिज्ञान-साधकं च पठति तदा परम्परया मोक्षसाधकं भवति। नो चेत् पुण्यबन्धकारणं तमेवेति ॥

—परमात्मप्रकाश अ० २ गा० १६१ टीका

अर्थ—यदि निज शुद्ध आत्मा ही उपादेय है ऐसा मानकर उसके साधकपनेसे उसके अनुकूल तप करता है और शास्त्र पढ़ता है तो वह परम्परासे मोक्षका ही कारण है। ऐसा नहीं कहना चाहिए कि वह केवल पुण्यबंधका ही कारण है।

●

शंका ३

जीव दयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

प्रतिशंका २ का समाधान

उक्त शंकाका जो उत्तर दिया गया था उस पर प्रतिशंका करते हुए लगभग ऐसे २० शास्त्रों-के प्रमाण उपस्थित कर यह सिद्ध करनेको चेष्टा की गई है कि जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि उनमें कुछ ऐसे भी प्रमाण हैं जिनमें संवरके कारणोंमें दयाका अन्तर्भाव हुआ है। जयधवलाका एक ऐसा भी प्रमाण है जिसमें शुद्ध भावके साथ शुभ भावको भी कर्मक्षयका कारण कहा है। श्री धवलाजीके एक प्रमाणमें यह भी बतलाया है कि जिनबिम्बदर्शनसे निधत्ति-निकाचित बन्धकी व्युच्छित्ति होती है। इसीप्रकार भावसंग्रहमें यह भी कहा है कि जिनपूजासे कर्मक्षय होता है। ऐसे ही यहाँ जो अनेक प्रमाण संग्रह किये गये हैं उनके विविध प्रयोजन बतलाकर उन द्वारा पर्यायान्तरसे दयाको पुण्य और धर्म उभयरूप सिद्ध किया गया है। ये सब प्रमाण तो लगभग २० ही हैं। यदि पूरे जिनागममें-से ऐसे प्रमाणोंका संग्रह किया जाय तो एक स्वतन्त्र विशाल ग्रन्थ हो जाय। पर इन प्रमाणोंके आधारसे क्या पुण्य-भावरूप दयाको इतने मात्रसे मोक्षका कारण माना जा सकता है ? आचार्य अमृतचन्द्रने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें निर्जरा और पुण्यके कारणरूप सिद्धान्तका निर्देश करते हुए लिखा है—

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१२॥
येनांशेन ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१३॥

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१४॥

इस जीवके जिस अंशसे सम्यग्दर्शन है उस अंशसे इसके बन्धन नहीं है। परन्तु जिस अंशसे राग है उस अंशसे इसके बन्धन है। जिस अंशसे इसके ज्ञान है उस अंशसे इसके बंधन नहीं है। परन्तु जिस अंशसे राग है उस अंशसे इसके बन्धन है। जिस अंशसे इसके चारित्र है उस अंशसे इसके बन्धन नहीं है। परन्तु जिस अंशसे इसके राग है उस अंशसे इसके बन्धन है ॥ २१२–२१४ ॥

आगे इसी आगमके २१६ वें श्लोकमें वे इसी तथ्यका समर्थन करते हुए पुनः कहते हैं—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥ २१६ ॥

आत्मश्रद्धाका नाम सम्यग्दर्शन है, आत्मज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं और आत्मामें स्थितिका नाम सम्यक्चारित्र है, इनसे बन्ध कैसे हो सकता है ॥ २१६ ॥

श्री समयसारजीमें कहा है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥ १४० ॥

रागी जीव कर्म बाँधता है और वैराग्य प्राप्त जीव कर्मसे छूटता है, यह जिनेन्द्र भगवान्का उपदेश है, इसलिये हे भव्यजीव ! तू कर्मोंमें प्रीति-राग मत कर ।

इसकी टीकामें लिखा है—

यः खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतेत्ययमागमः स सामान्येन रक्तत्वनिमित्तत्वाच्छुभमशुभमुभयकर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति, तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति ।

अर्थ—'रक्त अर्थात् रागी अवश्य कर्म बाँधता है, और विरक्त अर्थात् विरागी ही कर्मसे छूटता है' ऐसा जो यह आगम वचन है सो सामान्यतया रागीपनकी निमित्तताके कारण शुभाशुभ दोनों कर्मोंको अविशेषतया बन्धके कारणरूप सिद्ध करता है और इसलिए दोनों कर्मोंका निषेध करता है ॥ १४० ॥

इस प्रकार इस कथनसे स्पष्ट है कि शुभभाव चाहे वह दया हो, करुणा हो जिनबिम्ब दर्शन हो, व्रतोंका पालन करना हो, अन्य कुछ भी क्यों न हो यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है, उससे संवर, निर्जरा और मोक्षकी सिद्धि होना असम्भव है। जिस प्रकार कोई मनुष्य भोजन करनेके बाद भी यदि यह मानता है कि मेरे उपवास है उसी प्रकार पर द्रव्यमें प्रीति करनेवाला उससे यदि अपनी कर्मक्षपणा मानता है तो उसका ऐसा मानना आगम, अनुभव और युक्ति तीनोंके विरुद्ध है।

श्री समयसारजीमें सम्यग्दृष्टिको जो अबन्धक कहा है इसका यह अर्थ नहीं कि उसके बन्धका सर्वथा प्रतिषेध किया है। उसका तो मात्र यही अर्थ है कि सम्यग्दृष्टिके रागभावका स्वामित्व न होनेसे उसे अबन्धक कहा है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि और रागदृष्टिमें बड़ा अन्तर है। जो सम्यग्दृष्टि होता है वह रागदृष्टि नहीं होता और जो रागदृष्टि होता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं होता। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर श्री समयसारजीमें कहा भी है—

पुग्गलकम्मं रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ।।१९९।।

अर्थ—राग पुद्गल कर्म है। उसका विपाकरूप उदय यह है। यह मेरा भाव नहीं है। मैं तो निश्चयसे एक ज्ञायकभाव हूँ ।।१९९।।

वहीं पुनः कहा है—

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं ।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्च वियाणंतो ।।२००।।

अर्थ—इस प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्माको (अपनेको) ज्ञायकस्वभाव जानता है और तत्त्वको अर्थात् यथार्थ स्वरूपको जानता हुआ कर्मके विपाकरूप उदयको छोड़ता है ।।२००।।

चेतना तीन प्रकारकी है—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। उनमें-से सम्यग्दृष्टि अपनेको ज्ञानचेतनाका स्वामी मानता है, कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाका नहीं। किन्तु शुभ रागरूप दयाका अन्तर्भाव कर्मचेतनामें होता है, इसलिये कर्मके विपाकस्वरूप उसके ऐसी दया अवश्य होती है पर वह इसका स्वामी नहीं होता।

यदि प्रकृतमें दयासे वीतराग परिणाम स्वीकार किया जाता है और इसके फल स्वरूप जिन उल्लेखोंके आश्रयसे प्रतिशंका२में दयाको कर्मक्षपणा या मोक्षका कारण कहा है तो उसे उस रूप स्वीकार करनेमें तत्त्वकी कोई हानि नहीं होती, क्योंकि राग परिणाम एक मात्र बन्धका ही कारण है, फिर भले ही वह दसवें गुणस्थानका सूक्ष्मसाम्पराय रूप राग परिणाम ही क्यों न हो और वीतराग भाव एक मात्र कर्मक्षपणाका ही हेतु है, फिर भले ही वह अविरत सम्यग्दृष्टिका वीतराग परिणाम क्यों न हो। इसी अभिप्रायको ध्यानमें रखकर श्री समयसारजीके कलशोंमें कहा भी है—

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ।।१०६।।
वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ।।१०७।।

अर्थ—ज्ञान एक द्रव्यस्वभावी (जीवस्वभावी) होनेसे ज्ञानके स्वभावसे सदा ज्ञानका भवन बनता है, इसलिये ज्ञान ही मोक्षका कारण है ।।१०६।।

कर्म अन्य द्रव्यस्वभावी (पुद्गलस्वभावी) होनेसे कर्मके स्वभावसे ज्ञानका भवन नहीं बनता, इसलिए कर्म मोक्षका कारण नहीं है ।।१०७।।

तृतीय दौर

: ३ :

शंका ३

प्रश्न था कि—

जीव दयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

प्रतिशंका ३

इस प्रश्नके उत्तरमें आपने पहले पत्रकमें जीवदयाको धर्म न माननेके लिये तीन बातें लिखी थीं—

१. जीव दया पुण्यभाव है, जो कि शुभ परिणामरूप तो है किन्तु धर्मरूप नहीं है।

२. परमात्मप्रकाशकी ७१वीं गाथाका प्रमाण दिया जिसमें शुभपरिणामको धर्म बतलाया है परन्तु टीकाकारके '**शुभपरिणामेन धर्मः पुण्यं भवति मुख्यवृत्त्या**' अर्थात् 'शुभपरिणामसे धर्म होता है जो कि मुख्य-वृत्तिसे पुण्यरूप है। इस वाक्यके आधारसे आपने शुभ परिणामको धर्मरूप होनेकी उपेक्षा कर पुण्यरूप निश्चित कर दिया। ऐसा करते हुए आपने ग्रन्थकार तथा टीकाकार द्वारा शुभ परिणामोंको धर्मरूप बतलाये जानेपर भी आपने उसे पुण्यका आधार लेकर, जीव दयाको आस्रव-बन्ध तत्त्वमें बलात् स्वेच्छासे अधर्ममें डाल दिया। तथा च जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व भी बतला दिया।

३. समयसारकी २६४वीं गाथाका उद्धरण देकर जीवदयाको अध्यवसान (कषायप्रभावित गलत अभिप्राय-अभिमान आदिके कारण यों मान लेना कि मैंने उसे मरनेसे बचा लिया आदि) रूप बतलाया, तदनुसार जीवदयाको धर्म न मानकर मात्र पुण्यबन्धरूप बतलाया।

आपके इस उत्तरके निराकरणमें हमने आपको दूसरा पत्रक दिया जिसमें श्री आचार्य कुन्दकुन्द, वीरसेन, अकलंक, देवसेन, स्वामी कार्तिकेय आदि ऋषियोंके प्रणीत प्रामाणिक-आर्षग्रन्थों—धवल, जयधवल, राजवार्तिक, बोधपाहुड, भावपाहुड, भावसंग्रह, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदिके लगभग २० प्रमाण देकर दो बातें सिद्ध की थीं—

१. जीवदया करना धर्म है।

२. पुण्यभाव धर्मरूप है। पुण्यभाव या शुभभावोंसे संवर निर्जरा तथा पुण्य कर्मबन्ध होता है।

आर्षग्रन्थोंके श्रद्धालु बन्धु इन ऋषियों तथा उनके ग्रन्थोंकी प्रामाणिकतापर अप्रामाणिकताकी अँगुली नहीं उठा सकते, क्योंकि हमको सैद्धान्तिक एवं धार्मिक पथप्रदर्शन इन ऋषियों तथा इनके आर्षग्रन्थोंसे ही प्राप्त होता है और उसका कारण है कि उनमें निर्विवाद जिनवाणी निबद्ध है। यह तो हो सकता है कि इन आर्षग्रन्थोंकी कोई बात कदाचित् हमारी समझमें न आवे, किन्तु यह बात कदापि नहीं हो सकती कि उन ग्रन्थोंकी कोई भी बात अप्रामाणिक या अमान्य हो।

तदनुसार आशा थी कि इन ग्रन्थोंके प्रमाण देखकर चरणानुयोग तथा जैनधर्मके मूलाधार दयाभावको धर्मरूप स्वीकार कर लिया जाता, परन्तु आशा फलवती नहीं हुई।

आपके-दूसरे पत्रकमें उन आर्ष प्रमाणोंकी प्रामाणिकताकी उपेक्षा करते हुए उनकी अवहेलनामें

निम्न पंक्तियाँ लिखी गई हैं—'ये सब प्रमाण तो लगभग २० ही हैं, यदि पूरे जिनागममें-से ऐसे प्रमाणोंका संग्रह किया जावे तो एक स्वतन्त्र विशाल ग्रन्थ हो जाय, पर इन प्रमाणोंके आधारपर क्या पुण्यभावरूप दयाको इतने मात्रसे मोक्षका कारण माना जा सकता है ?'····फिर पुनः अप्रासंगिक उद्धरण देकर लिखा गया है 'शुभभाव चाहे वह दया हो, करुणा हो, जिनबिम्बदर्शन हो, व्रतोंका पालन हो, अन्य कुछ भी क्यों न हो, यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है उससे संवर, निर्जरा और मोक्षकी सिद्धि होना असंभव है।' इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि उपर्युक्त महान् आचार्योंका यह कथन कि शुभभावसे संवर व निर्जरा भी होती है····असंभव होनेके कारण मिथ्या है। आश्चर्य है कि कोई भी जिनवाणीका भक्त इन महान् आचार्यों एवं महान् ग्रन्थोंके स्पष्ट कथनको मिथ्यारूप कहनेका साहस कैसे कर सकता है ?

इसके साथ ही मूल विषयको अछूता रखकर विषयान्तरमें प्रवेश किया गया है। उसमें जो समयसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तथा समयसार कलशके ४–५ प्रमाण उद्धृत किये गये हैं उनमेंसे एक भी प्रमाण, एक भी वाक्य तथा एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिसमें जीवदयाको धर्म माननेपर मिथ्यात्वकी संभावना सिद्ध होती है।

आपने अपने इस पत्रकमें केवल रागभावको बन्धका कारण बतलानेकी चेष्टा की है, उस विषयमें हम असहमत नहीं हैं, अतः उक्त दोनों ग्रन्थोंके उद्धरण हमें स्वीकार है। कितना अच्छा होता कि आप भी उन आर्ष ग्रन्थोंको प्रमाण मानकर 'धम्मो दयापहाणो'—धर्म दया प्रधान है।

धम्मो दयाविसुद्धो पव्वज्जा सव्वसंगपरिचत्ता।
देवो ववगयमोहो उदययरो भव्वजीवाणं ॥२५॥

—बोधपाहुड़

अर्थ—दयासे विशुद्ध धर्म, सर्वपरिग्रह रहित दीक्षा—साधु मुद्रा और मोह रहित वीतराग देव ये तीनों भव्य जीवोंके अभ्युदयको करनेवाले हैं।

करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो।

अर्थ—करुणा जीवका स्वभाव है, अतः उसे कर्मजनित कहनेमें विरोध आता है।

—धवल पु० १३ पृ० ३६२

तथा—

सम्मादिट्ठीपुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेऊ जइ वि णियाणं ण सो कुणइ ॥४०४॥

—भावसंग्रह

अर्थ—सम्यग्दृष्टिका पुण्य संसारका कारण नहीं है, नियमसे मोक्षका कारण है।

आदि निर्विवाद वाक्योंको श्रद्धाभावसे ही यदि स्वीकार कर लेते तो जैनधर्मके मूल तत्त्व पर हमारा और आपका मतभेद दूर हो जाता।

रागभावकी कर्मबन्धकी कारणता पर विचार करनेसे पहले हम एक महत्त्वपूर्ण आर्ष विधानकी ओर पुनः आपका ध्यान आकर्षित करनेका लोभ संवरण नहीं कर सकते। आशा है आप उस शिरसा मान्य वाक्य पर एकबार पुनः गंभीरतासे विचार करनेका प्रयत्न करेंगे।

सुहसुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

अर्थ—शुभ और शुद्ध भावों द्वारा यदि कर्मोंका क्षय न हो तो फिर कर्मोंका क्षय किसी तरह हो ही नहीं सकता।

जयधवल पु० १ पृ० ६ के इस मुद्रित अर्थसे भी स्पष्ट हो जाता है कि शुभसे भी कर्मोंका क्षय होता है और शुद्धसे भी। अतः आपका 'शुद्धके साथ शुभ' ऐसा अर्थ करना ठीक नहीं है।

हम आशावादी हैं, अतः आशा रखते है कि ये पुष्ट प्रमाण दया और पुण्यविषयक आपकी धारणाको परिवर्तित करनेमें सहायक होंगे। आपने रागभावको केन्द्र बना कर पुण्यभावों या शुभभावोंको केवल कर्म-बन्धके साथ बाँधनेका प्रयत्न किया है यह शुभभावोंकी अवान्तर परिणतियों पर दृष्टि न जानेका फल जान पड़ता है। इतनी बात तो अवश्य है कि दशवें गुणस्थान तक रागभाव लघु, लघुतर, लघुतम रूपसे पाया जाता है और यह भी सत्य है कि रागभावसे कर्मोंका आस्रव तथा बन्ध हुआ करता है। तथा च अमृतचन्द्र सूरिने जो असंयत सम्यग्दृष्टि, संयमासंयमी एवं सरागसंयतके मिश्रित भावोंको अपनी प्रज्ञा छैनीसे भिन्न-भिन्न करते हुए रागांश और रत्नत्रयांश द्वारा कर्मके बन्धन और अबन्धनकी सुन्दर व्यवस्था पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थके तीन श्लोकोंमें की है उनमें एक अखण्डित मिश्रित भावका विश्लेषण समझानेके लिए प्रयत्न किया गया है। यह मिश्रित अखण्ड भाव ही शुभ भाव है, अतः उससे आस्रव बन्ध भी होता है तथा संवर निर्जरा भी होती है। यह मिश्रित शुभ भावकी अखण्डता निम्न प्रकारसे स्पष्ट होती है—

हम जिस प्रकार दाल भात रोटी शाक पानी आदि पदार्थोंका मिश्रित भोजन करते रहते हैं, काली मिर्च, सौंठ, पीपल, हरड़, गिलोय आदि सम्मिलित पदार्थोंको पानीमें मिलाकर आगकी गर्मीसे जिस प्रकार काढ़ा बनाया जाता है जिसका कि मिला हुआ रस होता है, उसमें वात पित्त कफसे उत्पन्न हुए विविध प्रकारके खाँसी ज्वर आदि रोगोंको कम करने, दूर करने तथा शरीरमें बल उत्पन्न करने आदिकी सम्मिलित शक्ति होती है उसी प्रकार मुख द्वारा पहुँचे हुए उस विविध प्रकारके खाये हुए भोजनसे एक ही साथ अनेक तरहके सम्मिलित परिणाम हुआ करते हैं। पेटमें काढ़ेकी तरह रस बनता है उससे खून, मांस, हड्डी आदि धातु—उपधातुओंकी रचना होती है। उसी भोजनसे अनेक प्रकारके रोग भी दूर होते हैं तथा अनेक प्रकार-के छोटे-मोटे नवीन रोग भी उत्पन्न हुआ करते हैं। ठीक ऐसी ही बात कर्मबन्ध और कर्मफलके विषयमें प्रति समय हुआ करती है। इन्द्रियों, शरीर, मन, वचन, कषाय आदिकी सम्मिलित क्रियासे प्रति समय सात कर्मोंका बन्ध हुआ करता है और किसी एक समय आयु कर्म सहित ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंका भी बन्ध हुआ करता है। योगों और कषायोंकी तीव्र, मन्द आदि परिणतिके अनुसार उन कर्म प्रकृतियोंकी स्थिति, अनुभाग आदिमें विविध प्रकारका परिणमन होता है। किसी कर्मप्रकृतिमें तीव्रता आती है, किसीमें मन्दता, किसीमें कर्मप्रदेश कम और किसीमें अधिक आते हैं।

इसी तरहकी सम्मिलित विविधता आठों कर्मोंके उदय कालमें भी हुआ करती है। ज्ञान, दर्शन, श्रद्धा, चारित्र, आत्मशक्ति आदि गुणोंका हीनाधिक होना, आकुलता—व्याकुलता होना, चिन्ता, राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि कषायोंकी तरतमता होना आदि विविध प्रकारके फल प्रति समय मिला करते हैं। जिस तरह अनेक प्रकारके खाये हुए सम्मिलित भोजनमें उसके द्वारा होनेवाले सम्मिलित परिणमनमें बुद्धि द्वारा विभाजन किया जाता है कि अमुक पदार्थके कारण अमुक-अमुक शरीरके धातु उपधातु रोग आदिपर अमुक-अमुक तरहका प्रभाव हुआ आदि। इसी तरह सम्मिलित कर्म बन्ध और कर्म उदयके विषयमें भी आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा विभाजन किया जाता है। अतएव कर्मोदयके समय आत्मामें विविध प्रकारका मिश्रित परिणाम

होता रहता है। उस सम्मिलित परिणामके विभाजनको विचारा तो जा सकता है किन्तु किया नहीं जा साकता। जब हम शुभोपयोगके विषयमें विचार करते हैं तब वहाँ भी ऐसा ही मिश्रित फल प्रगट होता हुआ प्रतीत होता है। राग और विराग अंशोंका सम्मिलित रूप शुभोपयोग हुआ करता है जिसको कि अंश विभाजन द्वारा विचारा तो जा सकता है कि इसमें इतना अंश राग परिणामका है और इतना अंश विराग परिणामका है, परन्तु उस मिश्रित परिणामका क्रियात्मक विभाजन नहीं किया जा सकता।

तदनुसार चौथे, पाँचवे, छठे, सातवें गुणस्थानोंकी शुभ परिणतिमें सम्मिलित सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र, चारित्राचारित्रकृत विराग अंश भी होता है और कुछ कषाय नोकषायकृत रागांश भी होता है, तदनुसार उन गुणस्थानोंमें सम्मिलित एक विचित्र प्रकारका परिणाम होता है जैसा कि मिश्र गुणस्थानमें सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व भावसे पृथक् विचित्र प्रकारका मिश्र परिणाम होता है, उस मिश्र गुणस्थानके विचित्र मिश्रित परिणाममें श्रद्धा, अश्रद्धाका क्रियात्मक विभाजन अशक्य होता है। तदनुसार शुभ परिणतिको मिश्रित तदनुसार शुभ परिणतिकी मिश्रित अवस्था हुआ करती है जिससे कि कर्म बन्ध, कर्मसंवर और कर्म निर्जरा ये तीनों कार्य एक साथ हुआ करते हैं।

यह बात भी ध्यानमें रखने योग्य है कि चौथेसे सातवें गुणस्थान तक शुभोपयोग ही होता है, अन्य कोई शुद्धोपयोगांश आदि उन गुणस्थानोंमें नहीं होता, क्योंकि एक समयमें एक ही उपयोग होता है और आत्मा उस समय अपने उपयोगसे तन्मय होता है। एक समयमें दो उपयोग साथ साथ नहीं हो सकते हैं। इसके प्रमाणमें श्री प्रवचनसारकी गाथा ८व९ देखनेकी कृपा करें।

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥

अर्थ—जब यह परिणाम स्वभाववाला जीव शुभ-अशुभ या शुद्धभावकरि परिणमता है, तब शुभ-अशुभ या शुद्ध रूप ही होता है।

जिस तरह जलता हुआ दीपक अपने एक ही ज्वलित परिणामसे प्रकाश, अन्धकारनाश, उष्णता, तैलशोष (तेलसुखाना), बत्ती जलाना आदि अनेक कार्य करता है उसी तरह एक समयमें होनेवाले केवल एक शुभ उपयोग परिणाम द्वारा कार्यकारणभावसे कर्मबन्ध, कर्मसंवर और कर्मनिर्जरारूप तीनों कार्य होते रहते हैं। यही शुभ उपयोगरूप पुण्य आत्माको मुक्तिके निकट लाता है।

पहला गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्वके सम्मुख होता है तब शुद्ध परिणामोंके अभावमें भी असंख्यातगुणी निर्जरा, स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात करता ही है। तद्वत् शुभोपयोग रूप पुण्यका प्रत्येक भाव कर्म-संवर, कर्म-निर्जरा, कर्मबन्धरूप तीनों कार्य प्रतिसमय किया करता है, अतः जीव-दया, दान, पूजा, व्रत आदि कार्य गुणस्थानानुसार संवर, निर्जराके भी निर्विवाद कारण हैं। जिसके कुछ अन्य प्रमाण भी नीचे दिए जाते हैं। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी निम्न गाथा ध्यानमें देनेके योग्य है—

णिज्जियदोसं देवं सव्वजिवाणं दयावरं धम्मं।
वज्जियगंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु होदि सद्दिट्ठी ॥३१७॥

अर्थ—जो क्षुधा तृषा आदि अठारह दोषोंसे रहित देव, सर्व जीवों पर दया करने वाले धर्म और ग्रन्थ—परिग्रह रहित गुरुको मानता है वह सम्यग्दृष्टि है।

संस्कृत टीका का अंश भी द्रष्टव्य है—

च पुनः धर्मं वृषं श्रेयः मन्यते श्रद्धाति। कथंभूतं धर्मम्? सर्वजीवानां दयापरं सर्वेषां जीवानां प्राणिनां पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतित्रसकायिकानां शरीरिणां मनोवचनकायकृतकारितानुमतप्रकारेण दयापरं कृपोत्कृष्टं धर्मं श्रद्धाति यः। तथा च धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो। रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो॥ इति धर्मं मनुते।

इस टीकासे भी दयाको धर्म मानना सिद्ध है।

नियमसार गाथा ६ की टीकामें उद्धृत प्राचीन गाथा द्रष्टव्य है, जिसमें दयाको धर्म कहा गया है—

सो धम्मो जत्थ दया सो वि तवो विसयणिग्गहो जत्थ।
दसअट्ठदोसरहिओ सो देवो णत्थि संदेहो॥

अर्थ—धर्म वही है जिसमें दया है, तप वही है जहाँ विषयोंका निग्रह है और देव वही है जिसमें अठारह दोष नहीं हैं।

दया-दम-त्याग-समाधिसंततेः पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।
नयत्यवश्यं वचसामगोचरं विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ॥१०७॥
—आत्मानुशासन

अर्थ—हे भव्य! तू प्रयत्न करके सरल भावसे दया, इन्द्रियदमन, दान और ध्यानकी परम्पराके मार्गमें प्रवृत्त हो जा, वह मार्ग निश्चयसे किसी ऐसे उत्कृष्ट पद (मोक्ष) को प्राप्त कराता है जो वचनों-से अनिर्वचनीय एवं समस्त विकल्पोंसे रहित है।

एकजीवदयैकत्र परत्र सकलाः क्रियाः।
परं फलं तु पूर्वत्र कृषेश्चिन्तामणेरिव॥३६१॥
—यशस्तिलक उपासकाध्ययन

अर्थ—अकेली जीवदया एक ओर है और शेषकी सब क्रियाएँ दूसरी ओर हैं। शेष क्रियाओं-का फल खेतीके समान है और जीवदयाका फल चिन्तामणिके समान है।

उपसम दया य खंती वड्ढइ वेरागदा य जह जह से।
तह तह य मोक्खसोक्खं अक्खीणं भावियं होइ॥६२॥
—मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा

अर्थ—उपशम, दया, शान्ति और वैराग्य जैसे-जैसे जीवके बढ़ते हैं वैसे-वैसे ही अक्षय मोक्ष सुख-की प्राप्ति होती है।

छज्जीवसडायदणं णिच्चं मणवयणकायजोगेहिं।
कुरु दया परिहर मुणिवर भावि अपुव्वं महासत्तं॥१३३॥ —भावपाहुड

अर्थ—हे मुनिवर। तू मन, वचन, कायसे छः कायके जीवोंकी दया कर, छः अनायतन-को छोड़ और अपूर्व महासत्त्व (चेतना भाव) को भाय।

मोहमयगारवेहिं य मुक्का जे करुणाभावसंजुत्ता ।
ते सव्वदूरियखंभं हणंति चारित्तखग्गेण ॥१५७॥–भावपाहुड़

अर्थ—जे मुनि मोह मद, गौरव इन करि रहित अर करुणा भाव कर सहित हैं, वे चारित्ररूपी खड्ग करि पापरूपी स्तम्भको हणें हैं।

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बंभचेरसंतोसे ।
सम्मदंसणणाणं तओ य सीलस्स परिवारा ॥ १९ ॥ –शीलपाहुड़

अर्थ—जीवदया, इन्द्रियनिका दमन, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, संतोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप—ये सब शीलके परिवार हैं।

आगे गाथा २० में कहा है—सीलं मोक्खस्स सोपाणं—शील मोक्षके लिये नसैनीके समान है।

जह-जह णिव्वेदसयं वेरागदया पवट्टंति ।
तह तह अब्भासयरं णिव्वाणं होइ पुरिसस्स ॥ १८६४ ॥
–मूलाराधना

अर्थ—जैसे जैसे निर्वेद, प्रशम, दया और इन्द्रियोंका दमन बढ़ता है वैसे-वैसे ही पुरुषके पास मोक्ष आता जाता है ॥ १८६४ ॥

जीवदया संयम है और संयम केवल बंधका ही कारण नहीं, किन्तु संवर-निर्जराका भी कारण है, क्योंकि संयम आत्मधर्म है। उत्तम क्षमा आदि दस धर्मोंमें संयम भी एक धर्म है। संयम धर्मके स्वरूपका कथन करते हुए श्रीपद्मनन्दि आचार्य कहते हैं—

जन्तुकृपार्दितमनसः समितिषु साधोः प्रवर्तमानस्य ।
प्राणेन्द्रियपरिहारं संयममाहुर्महामुनयः ॥ ११९६ ॥

अर्थात्—जिसका मन जीवदयासे भीग रहा है तथा जो ईर्या-भाषा आदि पांच समितियोंमें प्रवर्तमान है ऐसे साधुके द्वारा जो षट्काय जीवोंकी रक्षा और अपनी इन्द्रियोंका दमन किया जाता है उसे गणधर देवादि महामुनि संयम कहते हैं।

इसी बातको श्री पं० फूलचन्द्रजीने स्वयं इन शब्दोंमें लिखा है—

षट्कायके जीवोंकी भले प्रकारसे रक्षा करना और इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंमें नहीं प्रवृत्त होने देना संयम है।

–तत्त्वार्थसूत्र पृ० ४१७ वर्णी ग्रन्थमालासे प्रकाशित

मिथ्यादृष्टिके जो दया आदिक शुभभाव सांसारिक सुखकी प्राप्तिके उद्देश्यसे किये जाते हैं वे मात्र रागरूप होनेसे और इन्द्रिय सुखकी इच्छा लिये हुए होनेसे केवल बन्धके ही कारण हैं। ऐसे ही शुभभावोंको श्री प्रवचनसार प्रथम-अध्याय आदिक ग्रन्थोंमें हेय बतलाया है। जो शुभभाव सम्यग्दृष्टिके वीतरागता एवं मोक्षप्राप्तिके लिये होते हैं उनसे संवर निर्जरा भी होती है। उन्हींसे सम्बन्धित यह प्रश्न है। उनका कथन प्रवचनसार तृतीय अध्याय आदिक ग्रन्थोंमें है। इन्हींको निरतिशय तथा सातिशयके नामसे भी कहा जा सकता है। सम्यग्दृष्टिका दया आदि शुभभाव, कर्मचेतना न मानकर ज्ञानचेतना माना गया है, इसलिये उसे मात्र बन्धका कारण मानना आगमविरुद्ध है।

आपने अन्तमें लिखा है—यदि 'प्रकृतमें दयासे वीतराग परिणाम स्वीकार किया जाता है...........' आदि। इसके विषयमें हमारा कहना है कि जब आगमके आधार पर सैद्धान्तिक चर्चा होती है तब किसी व्यक्ति विशेषकी मान्यताका प्रश्न नहीं रह जाता। हमारी तो आगम पर ही पूर्ण श्रद्धा है और आगमके उल्लेखोंकी संगति बैठानेका ही प्रयत्न करते हैं यही हमारी मान्यता है। किसी व्यक्ति विशेषकी स्वेच्छानुसार मान्यता या प्रतिपादनके अनुसार अपना पूर्वका आगमानुकूल श्रद्धान बदला नहीं जा सकता है और न बदलना ही चाहिये। आगममें क्या माना गया है यह सिद्ध करनेके लिये आपके समक्ष आर्ष ग्रन्थोंके प्रमाण उपस्थित हैं, उन पर आप विचार करेंगे ऐसी आशा है।

अन्तमें आपने समयसार कलश १०६-१०७ वें श्लोक उद्धृत कर मथितार्थके रूपमें निम्नलिखित शब्द लिखे हैं—'इसलिये ज्ञान ही मोक्षका कारण है।' इसपर हमारा इतना ही संकेत है कि आपने जैसा समझा है वह ठीक नहीं है।

यदि ज्ञानमात्र ही मोक्षका कारण होता तो श्री कुन्दकुन्द आचार्य मोक्षपाहुड़ ग्रन्थमें यों न लिखते—

धुवसिद्धी तित्थयरा चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥६०॥

अर्थ—तीर्थंकरको उसी भवसे अवश्य आत्मसिद्धि (मुक्ति) होती है, तथा वे जन्मसे मति, श्रुत, अवधि ज्ञान सहित और मुनिदीक्षा लेते ही मनःपर्ययज्ञानसहित चार ज्ञानधारक हो जाते हैं, चार ज्ञानधारक होकर भी वे तपश्चरण करते हैं। (तपस्या करनेके बाद ही तीर्थंकर मुक्त होते हैं।) ऐसा जानकर ज्ञानसहित व्यक्तिको अवश्य तपस्या करनी चाहिये। यानी बिना चारित्रके ज्ञानमात्रसे मुक्ति नहीं होती।

तथात्र—

तीर्थंकरा जगज्ज्येष्ठा यद्यपि मोक्षगामिनः।
तथापि पालितञ्चैव चारित्रं मोक्षहेतुकम् ॥

अर्थ—यद्यपि तीर्थंकर जगत्श्रेष्ठ तथा मुक्तिगामी होते हैं तो भी तीर्थंकरोंने मोक्षके कारणभूत चारित्रका पालन अवश्य किया है। सूत्रपाहुडमें श्री कुन्दकुन्द आचार्य लिखते हैं—

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होइ तित्थयरो।
णग्गो वि मोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे ॥२३॥

अर्थ—जैनधर्ममें वस्त्रधारक (संयमरहित) तीर्थंकर भी क्यों न हों, वह मुक्त नहीं हो सकते। मोक्षमार्ग नग्न दिगम्बर रूप है, शेष सभी उन्मार्ग हैं।

मोक्षप्राभृतमें श्री कुन्दकुन्द आचार्य लिखते हैं—

णाणं चरित्तहीणं दंसणहीणं तवेहिं संजुत्तं।
अण्णेसु भावरहियं लिंगग्गहणेण किं सोक्खं ॥५७॥

अर्थात्—चारित्रसे रहित ज्ञान सुखकारी नहीं है।

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः। तत्त्वार्थसूत्र १–१।

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र (रत्नत्रय) मोक्षका मार्ग है। राजवार्तिकमें इसी सूत्रकी टीकामें श्री अकलंकदेवने लिखा है—

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं, हता चाज्ञानिनां क्रिया।

अर्थ—चारित्र रहित ज्ञान मोक्षमार्गमें कार्यकारी नहीं है।

इत्यादि अनेक आर्ष प्रमाणों द्वारा आपका यह लिखना कि 'ज्ञान ही मोक्षका कारण है।' अप्रामाणिक सिद्ध होता है।

इस विषयमें समयसार (अहिंसा मन्दिर, १ दरयागंज, दिल्लीसे प्रकाशित) के पृष्ठ ११८ की टिप्पणीमें लिखा है—

एकान्तेन ज्ञानमपि न बन्धनिरोधकं, एकान्तेन क्रियापि न बन्धनिरोधिका इति सिद्धं उभाभ्यामेव मोक्षः।

अर्थ—एकान्तसे न तो मात्र ज्ञान ही कर्म-बन्धका रोकनेवाला है और न केवल चारित्र क्रिया ही कर्म-बन्धकी रोकनेवाली है। इससे यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान चारित्र दोनोंके द्वारा ही मोक्ष होता है।

इसी विषयको श्रीकुन्दकुन्द आचार्यने समयसार की १५५वीं गाथामें कहा है—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो॥

अर्थ—जीव अजीव आदि तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, उन तत्त्वोंका जानना ज्ञान है, राग आदि भावोंका परिहार सम्यक्चारित्र है। ये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षमार्ग है।

इस गाथाकी टीकामें श्री अमृतचन्द्र सूरि लिखते हैं—

मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानं। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रं। तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः।

अर्थ—मोक्षका कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र हैं। यहाँ सम्यग्दर्शन तो जीवादिक तत्त्वोंके श्रद्धानस्वभावसे ज्ञानका होना है। जीवादिकके ज्ञानस्वभावसे ज्ञानका होना ज्ञान है। राग आदिके परिहार स्वभावसे ज्ञानका होना चारित्र है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र एक ही ज्ञानरूप होना सिद्ध हुआ। इसलिये ज्ञान ही परमार्थसे मोक्षका कारण है।

श्री अमृतचन्द्र सूरिके इस कथनके अनुरूप ही १०६-१०७ वें कलशका अभिप्राय है। तदनुसार 'ज्ञान मोक्षका कारण है' इसका स्पष्ट अभिप्राय यही है कि 'सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र सहित ज्ञान मोक्षका कारण है'—मात्र ज्ञान (जीवादि तत्त्वोंका अधिगम) मोक्षका कारण नहीं है।

इन उपर्युक्त आर्ष प्रमाणों द्वारा स्पष्ट प्रमाणित होता है कि जीव दया संयमरूप है तथा संवर और निर्जराका कारण होनेसे धर्म है।

आपने व्रतपालनको शुभ भावमें गर्भित करके उससे संवर-निर्जरा तथा मोक्षसिद्धि होना असम्भव बतलाया है। इस विषयका निर्णय करनेके लिये सर्व प्रथम व्रतोंका स्वरूप देखना आवश्यक हो जाता है। श्री तत्त्वार्थसूत्रके अध्याय ७ के सूत्र १ में व्रतोंका लक्षण निम्न प्रकार दिया है—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्।

अर्थ—हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रहसे विरक्ति व्रत है।

उक्त लक्षणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि व्रत विरक्ति अर्थात् निवृत्तिरूप हैं, प्रवृत्तिरूप नहीं हैं। इसी कारण यह सम्यक्चारित्रमें गर्भित हैं। जितनी भी निवृत्ति है वह केवल संवर तथा निर्जराकी ही कारण है, वह कभी भी बन्धका कारण नहीं हो सकती है। अतः व्रतोंका पालन संवर-निर्जराका कारण है। सिद्धान्तमें अणुव्रती एवं महाव्रतीके प्रत्येक समय असंख्यातगुणी निर्जरा बतलाई है। अव्रत सम्यग्दृष्टिके लिये ऐसा नियम नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि वहाँ व्रत ही असंख्यातगुणी निर्जराके कारण हैं।

दत्तादान ग्रहण करना या सत्य बोलना आदि व्रतोंका लक्षण नहीं है। इनको व्रतोंका लक्षण स्वीकार कर लेने पर अव्याप्ति दोष आता है, क्योंकि दत्तादानको न ग्रहण करनेकी अवस्थामें या मौनस्थ आदि अवस्थामें मुनियोंके, यह लक्षण घटित न होनेके कारण, महाव्रत ही न रहेंगे। किन्तु यह इष्ट नहीं हो सकता है, क्योंकि मुनियोंके हर समय महाव्रत रहते हैं, श्रेणी आदिके गुणस्थानोंमें स्थित मुनियोंके भी महाव्रत होना स्वीकार किया गया है। १२वें गुणस्थानमें अप्रमाद बतलाते हुये कहा है—

पंच महव्वयाणि पंच समिदीयो तिण्णि गुत्तीओ णिस्सेसकसायाभावो च अप्पमादो णाम।

—धवल पु. १४ पृ० ८९

अर्थ—पंच महाव्रत, पंच समिति, तीन गुप्ति और समस्त कषायोंके अभावका नाम अप्रमाद है।

इससे प्रमाणित होता है कि १२वें गुणस्थानमें भी पंच महाव्रत आदिक होते हैं और वे अप्रमादरूप हैं।

यह व्रत सम्यक्चारित्ररूप हैं। इसके कुछ प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—

हिंसातोऽनृतवचनात् स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कार्त्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥४०॥—पुरुषार्थसिद्धयुपाय

अर्थ—हिंसासे, असत्यभाषणसे, चोरीसे, कुशीलसे और परिग्रहसे सर्वदेश तथा एकदेश त्याग से, वह चारित्र दो प्रकारका होता है।

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४९॥—रत्नकरण्डश्रावकाचार

अर्थ—हिंसा, अनृत, चौर्य, मैथुनसेवन, परिग्रह ये पाप आवनेके प्रनाला हैं, इनसे जो विरक्त होना सो सम्यग्ज्ञानीके चारित्र है।

पावारंभणिवित्ती पुण्णारंभे पउत्तिकरणं पि।
णाणं धम्मज्झाणं जिणभणियं सव्वजीवाणं ॥९७॥ —रयणसार

अर्थ—पापारम्भसे निवृत्ति तथा पुण्यारम्भमें प्रवृत्ति भी सर्व जीवोंके ज्ञान एवं धर्म्यध्यान हैं, ऐसा जिनेन्द्र भगवान्ने कहा है।

इस प्रकार श्री कुन्दकुन्द आचार्यने व्रतोंको ज्ञान एवं धर्म्यध्यान प्ररूपित किया है तथा चारित्रपाहुड़ गा० २७ में इनको संयम और चारित्र बतलाया है—

पंचिंदियसंवरणं पंचवया पंचविंसकिरियासु।
पंचसमिदि तयगुत्ती संजमचरणं निरायारं ॥२७॥

अर्थ—पंचेन्द्रियोंका संवरण, पंच व्रत, पच्चीस क्रिया, पंच समिति तथा तीन गुप्ति मुनियोंके संयम एवं चारित्र है।

प्रत्येक जैन आगम अभ्यासीको यह तो सुविदित ही है कि चारित्र, संयम तथा धर्म्यध्यान संवर-निर्जरा एवं मोक्ष सिद्धिके कारण हैं। व्रत भी चारित्र, संयम एवं धर्म्यध्यानरूप होनेसे संवर-निर्जरा एवं मोक्षसिद्धिके कारण सिद्ध हो जाते हैं। अतः यह कहना कि व्रतपालनसे संवर-निर्जरा तथा मोक्षसिद्धि होना असम्भव है—सर्वथा आगमविरुद्ध है।

यह प्रश्न हो सकता है कि कहीं-कहीं आगममें व्रतोंको शुभ आस्रव-बन्धका भी कारण क्यों बतलाया है ? उसका समाधान यह है कि उन व्रतोंके साथ दत्तादानका ग्रहण, सत्यभाषण आदिरूप जो रागसहित प्रवृत्ति अंश रहता है और जिसका इन व्रतोंमें त्याग नहीं किया गया है, उससे ही शुभ आस्रव-बन्ध होता है। जैसे कि देव आयुके आस्रवके प्रत्ययोंमें तत्त्वार्थसूत्रमें 'सम्यक्त्वं च' अर्थात् सम्यक्त्वसे भी देव आयुका बन्ध होता है, ऐसा कहा गया है। वास्तवमें सम्यक्त्व बन्धका कारण नहीं है, किन्तु सम्यक्त्वके साथ रहनेवाला रागांश ही देव आयुके बन्धका कारण है। जैसे एक मिश्रित अखण्ड पर्याय होनेके कारण सम्यक्त्वको बन्धका कारण कहा जाता है उसी प्रकार एक मिश्रित अखण्ड पर्याय होनेके कारण व्रतोंको भी शुभ बन्धका कारण कहा जाता है।

एक मिश्रित अखण्ड पर्यायमें निवृत्ति तथा प्रवृत्ति (राग) दोनों अंश सम्मिलित हैं। अतः उससे आस्रव-बन्ध भी है और संवर-निर्जरा भी है। क्रमशः प्रवृत्ति (राग) अंशके क्षीण हो जाने पर मात्र संवर-निर्जरा ही होती है। रागके साथ जो पापोंसे निवृत्ति बनी रहती है, उससे उस समय भी संवर-निर्जरा बराबर होती रहती है।

आगममें जिस-जिस स्थानपर व्रतोंको छोड़नेका उपदेश पाया जाता है, वहाँ सविकल्पसे निर्विकल्प समाधिमें पहुँचानेके लिये व्रतोंमें होनेवाला अध्यवसान या उसके प्रवृत्तिरूप रागांश अथवा व्रतोंके विकल्पको ही छुड़ानेका उपदेश है, न कि निवृत्तिरूप स्वयं व्रतोंको छोड़नेका। क्योंकि पापोंसे निवृत्तिरूप व्रतोंके छोड़नेका अर्थ होगा पापोंमें प्रवृत्ति करना, जो कि कभी इष्ट नहीं हो सकता है। जैसे ऊपर सप्रमाण बतलाया गया है—व्रत तो ऊपरके श्रेणीके गुणस्थान आदिमें भी कायम रहते हैं, छोड़े नहीं जाते हैं।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका ३

जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ?

प्रतिशंका ३ का समाधान

१. प्रथम-द्वितीय प्रश्नोत्तरोंका उपसंहार

जीवदया पदके स्वदया और परदया दोनों अर्थ सम्भव हैं। किन्तु प्रकृतमें मूल प्रश्न परदयाको ध्यानमें रखकर ही है, इस बातको ध्यानमें रखकर हमने प्रथम उत्तरमें यह स्पष्टीकरण किया कि यदि

धर्म पदका अर्थ पुण्यभाव लिया जाय तो जीवदयाको पुण्य मानना मिथ्यात्व नहीं है। इस उत्तरमें आगम प्रमाण भी इसी अर्थकी पुष्टिमें दिये गये।

अपर पक्षने अपनी प्रथम प्रतिशंकामें एक अपेक्षासे हमारे उक्त कथनको तो स्वीकार कर लिया। किन्तु साथमें आगमके लगभग बीस प्रमाण उपस्थित कर यह भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया कि जीवदयाका संवर और निर्जरा तत्त्वमें भी अन्तर्भाव होता है, इसलिए वह मोक्षका भी कारण है।

अपर पक्षने जो प्रमाण उपस्थित किये उनमें कुछ ऐसे भी प्रमाण हैं जिनमें धर्मको दयाप्रधान कहा गया है, या करुणाको जीवका स्वभाव कहा गया है या शुभ और शुद्धभावोंसे कर्मोंकी क्षपणा कही गई है और साथ ही ऐसे प्रमाण भी उपस्थित किये जिनमें स्पष्टरूपसे रागरूप पुण्यभावकी सूचना है। किन्तु इनमेंसे किस प्रमाणका क्या आशय है यह स्पष्ट नहीं किया गया। वे कहाँ किस अपेक्षासे लिखे गये हैं यह भी नहीं खोला गया। इसलिए हमें अपने दूसरे उत्तरमें यह टिप्पणी करनेके लिए बाध्य होना पड़ा कि 'ये सब प्रमाण तो लगभग २० ही हैं। यदि पूरे जिनागममेंसे ऐसे प्रमाणोंका संग्रह किया जाय तो स्वतन्त्र ग्रन्थ बन जाय।'

फिर भी उन प्रमाणोंको ध्यानमें रखकर हमने अपने दूसरे उत्तरमें यह स्पष्टीकरण कर दिया कि पुण्य (शुभराग) भावरूप जो दया है वह तो मोक्षका कारण नहीं है। हाँ इसका अर्थ वीतरागभाव यदि लिया जाय तो वह संवर और निर्जरारूप होनेसे अवश्य ही मोक्षका कारण है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि आगममें सराग सम्यक्त्वको या सरागचारित्र आदिको जहाँ बन्धका कारण कहा है वहाँ उन्हें परम्परा मोक्षका कारण भी कहा है। पर उसका आशय दूसरा है, इसलिए प्रकृतमें उसकी विवक्षा नहीं है। यहाँ तो निर्णय इस बातका करना है कि रागरूप शुभभाव या पुण्यभाव भी क्या उसी तरह मोक्षका कारण है जिस तरह निश्चय रत्नत्रय। इन दोनोंमें कुछ अन्तर है या दोनों एक समान हैं। पूरी चर्चाका केन्द्रबिन्दु भी यही है। हमने अपने प्रथम और दूसरे उत्तरमें इसी आशयको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है।

२. प्रतिशंका ३ के आधारसे विचार

तत्काल प्रतिशंका ३ विचारके लिए प्रस्तुत है। इसके प्रारम्भमें हमारे प्रथम उत्तरको लक्ष्यमें रखकर तीन निष्कर्ष फलित किये गये हैं। प्रथम उत्तर हमने अन्य जीवोंकी दयाको लक्ष्यमें रखकर दिया था, इसलिए इस अपेक्षासे अपर पक्षने हमारे प्रथम उत्तरका जो यह निष्कर्ष फलित किया है कि 'जीवदया पुण्यभाव है, जो कि शुभ परिणामरूप तो है, किन्तु धर्मरूप नहीं है।' वह यथार्थ है, पर जीवोंकी दया पर भाव अर्थात् रागभाव है, इसलिए वह धर्म अर्थात् वीतराग भाव कथमपि नहीं हो सकता।

दूसरा निष्कर्ष हमारे आशयको स्पष्ट नहीं करता। परमात्मप्रकाश गाथा ७१ में भावोंके तीन भेद किये गये हैं—धर्म, अधर्म और शुद्ध। स्पष्ट है कि यहाँ धर्म पद शुद्धभावोंसे भिन्न शुभभावके अर्थमें आया है। इसकी टीकाका भी यही आशय है। उसमें स्पष्ट कहा गया है कि शुभभावसे धर्म अर्थात् मुख्यरूपसे पुण्य होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शुभभावसे वीतराग भावरूप धर्म होता है यह उपचार कथन है। किन्तु अपर पक्षने इसका ऐसा अर्थ किया है जिससे भ्रम होना सम्भव है।

तीसरे निष्कर्षके विषयमें मात्र यही खुलासा करना है कि पर जीवोंकी दयाका विकल्प तो सम्यग्दृष्टियों यहाँ तक कि मुनियोंको भी होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो इनके पूजा, भक्ति, व्रतग्रहण

आदि व्यवहार धर्म नहीं बन सकता। हमारी समझसे यह बात अपर पक्षको भी मान्य होगी, अतः अपर पक्षको निःसंकोचरूपसे यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि पुण्यबन्धरूप जीवदया सम्यग्दृष्टियोंके भी होती हैं।

अपर पक्षने अपने प्रतिशंकारूप दूसरे पत्रकमें विविध ग्रन्थोंके अनेक आगमप्रमाण दिये हैं यह सच है और उनमेंसे कुछमें जीवदया धर्म है तथा शुभभावसे कर्मक्षय होता है यह भी कहा गया है। किन्तु कहाँ किस आगमवाक्यका नयदृष्टिसे क्या आशय है इसका स्पष्टीकरण करना विवेकियोंका काम है। हमने अपने दूसरे उत्तरमें वही किया है। क्या इसे आर्ष ग्रन्थोंकी प्रामाणिकता पर अपर पक्ष द्वारा अप्रामाणिकताकी अंगुली उठाना कहना उपयुक्त है। इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। यदि यही बात है तो वह स्वयं अपनेको इस दोषसे बरी नहीं रख सकता। अपर पक्षको यह समझना चाहिए कि किसी आर्षवाक्यको अप्रमाणित घोषित करना अन्य बात है और जहाँ जिस दृष्टिसे विवेचन किया गया है, नयदृष्टिसे उसके आशयको खोलना अन्य बात है।

अपर पक्ष यदि व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म दोनोंको मिलाकर निश्चयधर्म कहना चाहता है और वह हमसे भी ऐसा कहलानेकी यदि आशा रखता है तो उसकी यह आशा कमसे कम हमारे द्वारा कभी भी पूरी नहीं की जा सकेगी। जब कि जिनागममें ये दो भेद किये हैं और उनके कारणों तथा फलका अलग-अलग विवेचन किया है ऐसी अवस्थामें हम तो वही कहेंगे जिसे स्थान-स्थानपर जिनागममें स्पष्ट किया गया है।

श्री प्रवचनसारमें शुभ, अशुभ और शुद्ध भावका निर्देश करते हुए लिखा है—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥

परिणामस्वभाववाला यह जीव जब शुभ या अशुभरूपसे परिणमता है तब शुभ या अशुभ होता है और जब शुद्धरूपसे परिणमता है तब शुद्ध होता है ॥९॥

आगे इनमेंसे किसमें उपादान बुद्धिकी जाय और किसमें त्याग बुद्धि रखी जाय इस अभिप्रायसे इनके फलका निर्देश करते हुए लिखा है—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ॥११॥

धर्मसे परिणित स्वभाववाला यह आत्मा यदि शुद्धोपयोगमें युक्त होता है तो मोक्षसुखको प्राप्त करता है और यदि शुभोपयोगवाला होता है तो स्वर्गसुखको प्राप्त करता है ॥११॥

ये आगम प्रमाण हैं। इनकी प्रामाणिकता पर कोई भी श्रद्धालु बन्धु अप्रामाणिकताकी अंगुली उठानेका साहस नहीं कर सकता। ऐसी अवस्थामें दूसरे जीवोंकी दयारूप शुभभावोंको यदि हमने पुण्यबन्धका कारण लिखा तो आगमकी अवहेलना कहाँ हुई। इस कथन द्वारा तो हमने आगमका रहस्य खोलकर मोक्षमार्ग ही प्रशस्त किया। क्या अपर पक्ष यह चाहता है कि प्रत्येक भव्य जीव पर जीवोंकी दयाको मोक्षका कारण जान उसीमें उलझा रहे और आत्मस्वभावके सन्मुख हो सच्चे आत्मकल्याणके मार्गमें न लगे। हम नहीं समझते कि वह ऐसा चाहता होगा। यदि यही बात है तो उस पक्षको प्रवचनसारके उक्त उल्लेखोंके आधारपर शुभ और शुद्धभावोंमें अन्तर तो करना ही चाहिए। साथ ही उनके कारणभेद और फलभेदको भी अपने दृष्टिपथमें लेना चाहिए।

अपर पक्षने अपने दूसरे पत्रकमें जो आगम प्रमाण दिये हैं, भला वह पक्ष ही बतलावे कि उनकी उपेक्षा करनेका साहस हम कैसे कर सकते थे। तभी तो हमने जीवदयाके स्वदया और परदया ऐसे दो भेद करके स्वदयाका अन्तर्भाव वीतरागभावमें और परदयाका अन्तर्भाव रागरूप पुण्य-भावमें करके अपने दूसरे उत्तरमें उनके फलका भी पृथक्-पृथक् निर्देश कर दिया है। अपर पक्षने सब प्रमाणोंको एक पंक्तिमें रख कर और उनका आशय खोले बिना उन सभी प्रमाणोंसे अपने अभिप्रायकी पुष्टि करनी चाही है। यह देखकर ही हमें अपने दूसरे उत्तरमें यह लिखना पड़ा है कि 'ये सब प्रमाण तो लग-भग २० ही हैं। यदि पूरे जिनागममें-से ऐसे प्रमाणोंका संग्रह किया जावे तो एक स्वतंत्र विशाल ग्रन्थ हो जाय, पर इन प्रमाणोंके आधारसे क्या पुण्यभावरूप दयाको इतने मात्रसे मोक्षका कारण माना जा सकता है।'

हमने अपने पिछले उत्तरमें जो यह लिखा है कि 'शुभभाव चाहे वह दया हो, करुणा हो, जिन-बिम्बदर्शन हो, व्रतोंका पालन हो, अन्य कुछ भी क्यों न हो, यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है। उससे संवर, निर्जरा और मोक्षकी सिद्धि होना असम्भव है।' वह प्रवचनसार गाथा ११ तथा उसकी दोनों आचार्यों द्वारा रचित संस्कृत टीकाओंको लक्ष्यमें रखकर ही लिखा है। हम आशा करते थे कि अपर पक्ष भी इसी प्रकार प्रत्येक आगम प्रमाणको उपस्थित करते हुए आगमका कौन वचन किस आशयसे लिखा गया है इसे सुस्पष्ट करता जाता। उदाहरणार्थ जयधवलामें कहा है—

सुह-सुद्धपरिणामेहिं कम्मक्खयाभावे तक्खयाणुववत्तीदो।

यदि शुभ और शुद्धपरिणामोंसे कर्मोंका क्षय नहीं होता तो कर्मोंका क्षय हो ही नहीं सकता।

इसमें शुभ परिणामोंको शुद्ध परिणामोंके समान कर्मक्षयका कारण कहा है। इसलिए ऐसे स्थलपर अपर पक्षको चाहिए था कि वह इस वचनका आशय अन्य आगम वचनके प्रकाशमें अवश्य ही स्पष्ट कर देता तो इससे कौन कथन किस विवक्षासे किया गया है यह सबकी समझमें सुगमतासे आ जाता। प्रकृतमें कमसे कम इसका खुलासा किस प्रकारसे किया जाना इष्ट था इसके लिए प्रवचनसार गाथा ११ की आचार्य जयसेनकृत टीकापर दृष्टिपात कीजिए—

तत्र यच्छुद्धसंप्रयोगशब्दवाच्यं शुद्धोपयोगस्वरूपं वीतरागचारित्रं तेन निर्वाणं लभते। निर्विकल्प-समाधिरूपशुद्धोपयोगशक्त्यभावे सति यदा शुभोपयोगरूपसरागचारित्रेण परिणमति तदा पूर्वमनाकुलत्व-लक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतमाकुलत्वोत्पादकं स्वर्गसुखं लभते। पश्चात् परमसमाधिसामग्रीसद्भावे मोक्षं च लभते।

वहाँ जो शुद्ध संप्रयोग शब्दका वाच्य शुद्धोपयोग स्वरूप वीतराग चारित्र है उससे निर्वाणको प्राप्त करता है। तथा निर्विकल्प समाधिरूप शुद्धोपयोगरूप शक्तिके अभावमें जब शुभोपयोगरूप सरागचारित्र रूपसे परिणमता है तब पहलेके अनाकुलत्वलक्षण पारमार्थिक सुखसे विपरीत आकुलताके उत्पादक स्वर्गसुख-को प्राप्त करता है। पश्चात् परम समाधिरूप सामग्रीके सद्भावमें मोक्षसुखको प्राप्त करता है।

यह आगमप्रमाण है। इस द्वारा शुभ और शुद्ध दोनों प्रकारके भावोंका क्या फल है यह स्पष्ट किया गया है। इस द्वारा हम यह अच्छी तरह जान लेते हैं कि शुभ भावोंको जो श्रीजयधवलामें कर्मक्षयका हेतु कहा है वह किस रूपमें कहा है। वस्तुतः तो वह पुण्यबन्धका ही हेतु है। उसे जो कर्मक्षयका हेतु कहा गया है वह इस अपेक्षासे ही कहा गया है कि उसके अनन्तर जो शुद्धोपयोग होता है वह वस्तुतः कर्मक्षयका

हेतु है, इसलिए उपचारसे उसे भी कर्मक्षयका हेतु कहा गया है। शुभभाव बन्धका कारण है इसका निर्देश करते हुए पंचास्तिकायमें भी कहा है—

जं सुहमसुहमुदिण्णं भावं रत्तो करेदि जदि अप्पा।
सो तेण हवदि बद्धो पोग्गलकम्मेण विविहेण ॥१४७॥

यदि आत्मा विकारी वर्तता हुआ उदीर्ण शुभ--अशुभ भावको करता है तो वह उस भावके निमित्तसे नाना प्रकारके पुद्गल कर्मोंसे बद्ध होता है ॥१४७॥

इससे शुभ परिणाम करनेका क्या फल है इसका सहज पता लग जाता है।

यह अपर पक्ष द्वारा अपने द्वितीय पत्रकमें उपस्थित किया गया एक उदाहरण है जिसका यहाँ हमने दो आगम प्रमाणोंके प्रकाशमें स्पष्टीकरण किया है। अपर पक्ष द्वारा उपस्थित किये गये प्रमाणोंके विषयमें भी इसी प्रकार स्पष्टीकरण जान लेना चाहिए। हमारी तो दृष्टि सदा कालसे तत्त्वविमर्शकी रही है और रहेगी। इसका विचार तो अपर पक्षको ही करना है कि कोई भी जिनवाणीका भक्त महान् आचार्य और महान् ग्रन्थोंके नयविशेषसे किये गये कथनको उसी रूपमें ग्रहण न कर उसे सर्वथा रूपमें क्यों स्वीकार करता है? इसका हमें विशेष आश्चर्य है।

हमने तो जीवदया किस अपेक्षासे शुभभाव है और किस अपेक्षासे वीतराग भाव है, मात्र इसका अपने पिछले उत्तरोंमें खुलासा किया। यदि अपर पक्ष उसे हमारा मूल विषयको छुए बिना विषयान्तरमें प्रवेश करना मानता है तो भले ही मानता रहे, उसकी इच्छा। किन्तु जिसका हमने पिछले उत्तरोंमें निर्देश किया है वह हमारा विषयान्तरमें प्रवेश करना नहीं है, अपि तु मूल प्रश्नका स्पष्टीकरणमात्र है।

जीवदया स्वतन्त्र कोई द्रव्य नहीं है। वह जीवका परिणाम है जो नयविशेषसे शुभ भी हो सकता है और शुद्ध भी। पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आदि शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा इसीका स्पष्टीकरण किया गया है कि यदि जीवदयाको शुभ परिणामरूप लिया जाता है तो उसका अन्तर्भाव आस्रव और बन्धतत्त्वमें होता है और उसे शुद्ध परिणामरूप लिया जाता है तो उसका अन्तर्भाव संवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वमें होता है। अपर पक्ष इसे निर्विवादरूपमें स्वीकार करले यही इस प्रयासका फल है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए प्रवचनसारमें लिखा है—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति भणियमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥१८१॥

परके प्रति शुभ परिणाम पुण्य है और अशुभ परिणाम पाप है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है। तथा जो परिणाम अन्यको लक्ष्यकर नहीं होता है उसे शास्त्रमें दुःखके क्षयका कारण कहा है ॥१८१॥

हमने पिछले उत्तरमें इसी जिनागमको लक्ष्यमें रखकर दूसरे जीवोंकी दयाको पुण्यभाव और स्वदयाको वीतराग भाव कहा है। शुभभावका फल कर्मास्रव है और शुद्धभावका फल कर्मनिरोध है, इसके लिए प्रवचनसार गाथा १५६ तथा २४५ पर दृष्टिपात कीजिए।

दया कहो, करुणा कहो या अनुकम्पा कहो इन तीनोंका आशय एक ही है। आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसारमें जीवोंमें की गई अनुकम्पाको शुभोपयोग बतलाते हुए लिखते हैं—

जो जाणदि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे ।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥१५७॥

जो जिनेन्द्रको जानता है, सिद्धों तथा अनगारोंकी श्रद्धा करता है और जीवोंके प्रति अनुकम्पायुक्त है उसका वह शुभोपयोग है ॥१५७॥

यदि अपर पक्ष कहे कि हम इन सब प्रमाणोंको प्रकृतमें उपयोगी नहीं मानते। हमें तो ऐसा प्रमाण दीजिए जिसमें स्पष्टरूपसे दयाका उल्लेख हो और उसे आस्रव भाव बतलाया गया हो तो इसके लिये तत्त्वार्थसारके आस्रव प्रकरणके इस वचन पर दृष्टिपात कीजिए :—

दया दानं तपः शीलं सत्यं शौचं दमः क्षमा ।
वैयावृत्त्यं विनीतिश्च जिनपूजार्जवं तथा ॥ २५ ॥
सरागसंयमश्चैव संयमासंयमस्तथा ।
भूतव्रत्यनुकम्पा च सद्वेद्यास्रवहेतवः ॥ २६ ॥

दया, दान, तप, शील, सत्य, शौच, दम, क्षमा, वैयावृत्य, विनय, जिनपूजा, आर्जव, सरागसंयम, संयमासंयम तथा जीवों और व्रतियोंपर अनुकम्पा ये सब सातावेदनीयके आस्रवके हेतु हैं ॥ २५–२६ ॥

इस प्रकार उक्त प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि हम प्रथम और द्वितीय उत्तरमें जो कुछ भी लिख आये हैं वह आगमका आशय होनेसे प्रमाण है।

अपर पक्षने बोधप्राभृतका उद्धरण उपस्थित कर जो धर्मको दयाप्रधान बतलाकर अपने अभिमतकी सिद्धि करनी चाही है, वह युक्त नहीं है, क्योंकि जहाँ भी धर्मको दयाप्रधान कहा है वहाँ 'दया' पद मुख्यतया वीतरागभावका सूचक ही लिया गया है। यह इसीसे स्पष्ट है कि स्वयम्भूस्तोत्रमें अभिनन्दन जिनकी स्तुति करते समय उन्हें दयावधूका आश्रय करनेवाला तथा शान्ति जिनकी स्तुति करते समय उन्हें दयामूर्ति कहा गया है। जिन सहस्रनाम तो स्पष्टतः सर्वज्ञ वीतराग जिनकी स्तुति है। इसमें जिनदेवको दयाध्वज, महाकारुणिक, दयागर्भ, दयायाग और दयानिधि नामों द्वारा सम्बोधित किया गया है। जिनदेवके ये सब नाम अर्थगर्भ अर्थात् गुणनाम हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि 'दया' यह शब्द जहाँ जिनागममें शुभ रागरूप पुण्यभावके अर्थमें आता है वहाँ वह वीतरागरूप धर्मके अर्थमें भी आता है। इसलिए बोधप्राभृतके 'धम्मो दयाविसुद्धो' इस उल्लेखके आधार पर 'धर्म' पदका अर्थ मुख्यरूपसे वीतराग भाव ही लेना चाहिए, क्योंकि जिससे रागकी पुष्टि होती हो वह जिनागम ही नहीं हो सकता।

धवल पुस्तक १३ के 'करुणाए जीवसहावस्स' इत्यादि उल्लेखका भी यही आशय है। तभी तो उसमें करुणाके कर्म जनित होनेका विरोध किया गया है। जो कर्मको निमित्त कर उत्पन्न नहीं होता वह तो मात्र निश्चय रत्नत्रयरूप आत्मपरिणाम ही हो सकता है।

अपने अभिमतकी पुष्टिमें अपर पक्षने भावसंग्रहको 'सम्माइट्ठीपुण्णं' इत्यादि गाथा उपस्थित की है। यदि अपर पक्ष इसके अन्तिम चरणपर ध्यान दे तो नयविशेषसे कहे गये इस वचनका अर्थ सहज ही स्पष्ट हो जाय। आगममें व्यवहार रत्नत्रयको व्यवहारसे मोक्षका हेतु बतलाया ही है। इस वचनसे उसी अभिप्रायकी पुष्टि होती है। अथवा सम्यग्दृष्टिका पुण्य दीर्घ संसारका कारण नहीं है, अल्प कालमें ही वह मोक्षका पात्र होगा यह आशय भी इस गाथाका हो सकता है।

जयधवला पु० १ पृ० ६ के 'शुभ-शुद्धपरिणामेहिं' का क्या आशय है इसका स्पष्टीकरण इसी उत्तरमें हम पहले ही कर आये हैं।

अब तक प्ररूपित समग्र कथनका सार यह है—

१. दया पद आगममें दोनों अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है—शुभ भावके अर्थमें भी और वीतरागभावके अर्थमें भी।

२. शुभभाव परभाव होनेके कारण उसका यथार्थमें आस्रव और बन्ध तत्त्वमें ही अन्तर्भाव होता है। जहाँ भी इसे निर्जराका हेतु कहा है वहाँ वैसा कथन व्यवहारनयसे ही किया गया है।

३. वीतरागभाव निजभाव होनेसे उसका अन्तर्भाव संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्वमें ही होता है।

४. वीतरागभाग व्यवहारसे आस्रव और बन्धका कारण है यह व्यवहार वीतरागभाव पर लागू नहीं होता, क्योंकि वह सब प्रकारके व्यवहारको दृष्टिमें गौण कर एकमात्र निश्चयस्वरूप ज्ञायक आत्माके आलम्बनसे तन्मयस्वरूप उत्पन्न होता है। अतः वह स्वरूपसे ही सब प्रकारके व्यवहारसे अतीत है। उस पर किसी प्रकारका उपचार लागू नहीं होता।

अपर पक्ष जिस प्रकार आशावादी है, उसी प्रकार हम भी आशावादी हैं। क्या ही अच्छा हो कि अपर पक्ष रागरूप पुण्यभाव और वीतराग भावमें वास्तविक अन्तरको समझकर 'दया' पदका जहाँ जो अर्थ इष्ट हो उसे उसीरूपमें स्वीकार कर ले और इस प्रकार शुभभाव और वीतरागभावमें एकत्व स्थापित करनेसे अपनेको जुदा रखे।

हमें शुभ भावोंकी अवान्तर परिणतियोंका पूरा ज्ञान हो या न हो। पर हम इतना निश्चयसे जानते हैं कि जो भी शुभभाव उत्पन्न होता है वह कर्म तथा नोकर्मके सम्पर्कके फलस्वरूप ही उत्पन्न होता है, इसलिए वह कर्मस्वभाववाला होनेसे नियमसे कर्मबन्धका हेतु है वह मोक्षका हेतु त्रिकालमें नहीं हो सकता। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र समयसार गाथा १५६ की टीकामें लिखते हैं—

यःखलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रततपःप्रभृतिशुभकर्मात्मा केषांचिन्मोक्षहेतुः स सर्वोऽपि प्रतिसिद्धः, तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभवनात्।

कितने ही प्राणी परमार्थरूप मोक्षहेतुके सिवाय व्रत, तप आदि शुभकर्म मोक्षके हेतु हैं ऐसा मानते हैं। किन्तु वह सभी निषिद्ध हैं, क्योंकि वह द्रव्यान्तरस्वभाव है, उसके स्वभावसे ज्ञानका होना नहीं बनता।

इसी अर्थको स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए इस कलश पर दृष्टिपात कीजिए—

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥ १०७ ॥

कर्मस्वभावसे वर्तना ज्ञानका होना नहीं है, इसलिए वह (शुभ भाव) मोक्षका हेतु नहीं है, क्योंकि वह अन्य (पुद्गल) द्रव्यके स्वभाववाला है ॥ १०७ ॥

हमें प्रसन्नता है कि अपर पक्षने रागमात्रको बन्धका हेतु मान लिया है। किन्तु इतना स्वीकार करनेके बाद भी उसकी ओरसे जो रागांश और रत्नत्रयांशमें एकत्व स्थापित करनेके लिए युक्ति दी गई है वह सर्वथा अयोग्य है। इस सम्बन्धमें उस पक्षका कहना है—

'तथा च अमृतचन्द्रसूरिने जो असंयत सम्यग्दृष्टि, संयमासंयमी एवं सरागसंयतके मिश्रित भावोंको अपनी प्रज्ञा छैनीसे भिन्न-भिन्न करते हुए रागांश और रत्नत्रयांश द्वारा कर्मके बन्धन और अबन्धनकी सुन्दर व्यवस्था पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रन्थके तीन श्लोकोंमें की है उनमें एक अखण्डित मिश्रित भावका विश्लेषण समझानेके लिए प्रयत्न किया गया है। यह मिश्रित अखण्ड भाव ही शुभ भाव है, अतः उससे आस्रव-बन्ध भी होता है तथा संवर-निर्जरा भी होती है।'

अपने इस अभिप्रायकी पुष्टिके लिये अपर पक्षने भोजन, काढ़ा और कर्मको दृष्टान्त रूपमें उपस्थित किया है। किन्तु उसका यह सब कथन वस्तुस्वरूपको स्पष्ट करनेवाला न होनेसे प्रकृतमें ग्राह्य नहीं है। खुलासा इस प्रकार है—

सर्व प्रथम विचार यह करना है कि आचार्य अमृतचन्द्रने रागांश और रत्नत्रयांशको भिन्न-भिन्न क्यों बतलाया। आचार्य श्री कुन्दकुन्द समयसारमें लिखते हैं—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥२९४॥

जीव और बन्ध ये दोनों निश्चित अपने-अपने लक्षणों द्वारा बुद्धिरूपी छैनीसे इस तरह छेदने चाहिए कि जिस तरह छेदे हुए वे दोनों नाना हो जांय ॥२९४॥

इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

आत्मा और बन्धके द्विधा करनेरूप कार्यमें कर्ता आत्माके करण सम्बन्धी विचार करनेपर निश्चयतः अपनेसे भिन्न करणका अभाव होनेसे भगवती प्रज्ञा ही छेदनात्मक करण है। उसके द्वारा छिन्न हुए वे दोनों नानापनेको अवश्य ही प्राप्त होते हैं। इसलिए प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बन्ध भिन्न-भिन्न किये जाते हैं।

शंका—आत्मा और बन्ध चेत्य-चेतकभावके कारण अत्यन्त प्रत्यासन्न होनेसे एकीभूत हैं तथा भेदविज्ञानका अभाव होनेके कारण वे एक चेतक ही हों ऐसे व्यवहारको प्राप्त होते हैं, अतः उनका प्रज्ञाके द्वारा छेदना कैसे शक्य है?

समाधान—आत्मा और बन्धके नियत स्वलक्षण है, उनकी सूक्ष्म अन्तःसन्धिमें प्रज्ञारूपी छैनीको सावधान होकर पटकनेसे उनको छेदा जा सकता है ऐसा हम जानते हैं।—गाथा २९४ की टीकाके कुछ अंशका अर्थ।

ऐसा करनेका फल (प्रयोजन) क्या है इसका स्पष्टीकरण करते हुए गाथा २९५ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

आत्मा और बन्धको प्रथम तो उनके नियत स्वलक्षणोंके ज्ञान द्वारा सर्वथा ही छेदना चाहिए। तत्पश्चात् रागादिलक्षणवाले समस्त बन्धको तो छोड़ना चाहिए और उपयोग लक्षणवाले शुद्ध आत्माको ही ग्रहण करना चाहिए। आत्मा और बन्धके द्विधा करनेका वास्तवमें यही प्रयोजन है कि बन्धके त्यागसे शुद्ध आत्माका ग्रहण हो जाय।

अत्यन्त प्रत्यासन्न दो को भिन्न-भिन्न करनेकी यह रीति हैं। एकमात्र इसी पद्धतिसे दोको भिन्न-भिन्न जाना जाता है। जो उत्पाद है वही व्यय है ऐसा होनेपर भी लक्षण भेदसे आगममें उन्हें दो बतलाया है।

(आप्तमीमांसा कारिका ५८ ।) प्रकृतमें आचार्य अमृतचन्द्रने इसी न्यायसे पुरुषार्थसिद्धयुपायमें 'येनांशेन विशुद्धिः' इत्यादि वचन लिखे हैं ।

रागका कारण कर्मोपाधिसे संपृक्त होकर परिणमना है और निश्चय रत्नत्रयका कारण ज्ञायक स्वभाव आत्माके आलम्बन द्वारा तन्मय होकर परिणमना है । रागका (शुभाशुभका) लक्षण पराश्रय भाव करना है और रत्नत्रयका लक्षण शुद्ध चैतन्यका स्वाश्रय प्रकाशमात्र है । रागका फल संसारकी परिपाटी है और निश्चय रत्नत्रयका फल शुद्ध आत्माकी प्राप्ति है । इस प्रकार कारणभेद, लक्षणभेद और कार्यभेदसे ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं हैं । ऐसी अवस्थामें इन्हें मिश्रित कहकर दोनोंका कार्य आस्रव और बन्ध तथा संवर और निर्जरा मानना संगत नहीं है ।

जब कि अपर पक्ष ही उन्हें मिश्रित स्वीकार करता है तो इससे वे दो अंश सुतरां सिद्ध हो जाते हैं । इससे तो वे दोनों अंश मिले हुए सरीखे दीखते हैं, एक नहीं हैं यही सिद्ध होता है । और जब कि वे दोनों एक नहीं हैं, दो हैं तो उनके दो होनेका कारणभेद, कार्यभेद और लक्षणभेद भी अपर पक्षको निर्विवाद रूपमें स्वीकार कर लेना चाहिए । स्पष्ट है कि शुभभावका कार्य निश्चयसे एकमात्र आस्रव और बन्ध है तथा निश्चय रत्नत्रयका कार्य एकमात्र संवर और निर्जरा तथा अन्तमें मोक्ष है यही सिद्ध होता है ।

एक बात और है कि **रागभाव और रागपर्याय विकार संपृक्त और विभावभाव होनेसे स्वयं बन्धस्वरूप हैं । ऐसी अवस्थामें वह संवर और निर्जराका हेतु कैसे हो सकता है, अर्थात् त्रिकालमें नहीं हो सकता । संवर और निर्जराका हेतु वही हो सकता है जो स्वयं संवर-निर्जरास्वरूप है ।** फिर भी अपर पक्ष निश्चयसे रागको यदि संवर और निर्जराका हेतु मानना चाहता है तो उसका यह मानना रागको संवर, निर्जरा और मोक्षस्वरूप मानना ही कहा जायगा, क्योंकि आगमका ऐसा अभिप्राय है कि निश्चयसे जो जिसका हेतु होता है वह स्वयं तत्स्वरूप ही होता है । किन्तु जहाँ जितने अंशमें वीतरागता उत्पन्न होती है वह उतने अंशमें रागका अभाव होकर ही उत्पन्न होती है, अतः राग निश्चयसे वीतरागताको त्रिकालमें उत्पन्न नहीं कर सकता ऐसा ही यहाँ निर्णय करना चाहिए । फिर भी आगममें जो रागको निश्चय रत्नत्रयका व्यवहारनयसे हेतु कहा गया है वह सहचर सम्बन्धको देखकर उपचारसे ही कहा गया है । विवक्षित रत्नत्रयके साथ विवक्षित रागांशके रहनेमें कोई हानि नहीं यह ज्ञान कराना ही इसका प्रयोजन है । इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए समयसार कलशमें कहा है—

> यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा
> कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचिन्क्षतिः ।
> किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय तन्
> मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ।। ११० ।।

जब तक ज्ञानकी कर्मविरति भलीभाँति पूर्णताको नहीं प्राप्त होती तबतक कर्म और ज्ञानका समुच्चय भी विहित है, उसमें कोई हानि या विरोध नहीं । किन्तु इस अवस्थामें भी आत्मामें अवशपने जो कर्म उदित होता है वह तो बन्धका हेतु है और पर द्रव्य-भावोंसे स्वयं भिन्न जो परम ज्ञान है वह एक ही मोक्षका हेतु है ।। ११० ।।

इस प्रकार पूर्वोक्त कथनसे अपर पक्षके इस मतका खण्डन हो जाता है कि चतुर्थादि गुणस्थानोंमें रागांश और रत्नत्रयांशरूप जो मिश्रित शुभभाव है वह आस्रव और बन्धका भी हेतु है तथा संवर और

निर्जराका भी हेतु है। किन्तु इससे यही सिद्ध होता है कि जो रागांश है वह एकमात्र आस्रव और बन्धका हेतु है और जो रत्नत्रयांश है वह संवर और निर्जराका हेतु है।

यह तो अपर पक्षने भी स्वीकार कर लिया है कि रागांश १०वें गुणस्थानके अन्त तक पाया जाता है ऐसी अवस्थामें वह रागांश और रत्नत्रयांशके मिश्रित रूप शुभभावको छठे गुणस्थान तक ही क्यों स्वीकार करता है, आगे क्यों स्वीकार नहीं करता? यदि वह कहे कि आगे ध्यानकी भूमिका है, इसलिए वहाँ पर लक्ष्यमें बुद्धिपूर्वक रागकी प्रवृत्ति नहीं पाई जाती है। अतः वहाँ रागांश एकमात्र बन्धका ही हेतु है। तब तो इससे यही सिद्ध होता है कि अबुद्धिपूर्वक जितना भी रागांश है वह तो मात्र बन्धका कारण है ही। बुद्धिपूर्वक राग भी बन्धका ही कारण है। और इस कथनसे यह तथ्य सुतरां फलित हो जाता है कि रत्नत्रयांश स्वयं आत्मस्वरूप होनेसे अणुमात्र भी बन्धका हेतु नहीं।

अपर पक्षने अपने विचारोंके समर्थनमें एक भोजनका उदाहरण दिया है और दूसरा काढ़ेका उदाहरण दिया है। किन्तु ये उदाहरण हो इस बातका समर्थन करते है कि भोजनमें या काढ़में जिन तत्त्वोंका समावेश होता है उनसे उन्हीं तत्त्वोंकी पुष्टि होती है। उदाहरणार्थ काढ़ेमें कफ क्षयकारक द्रव्यका समावेश करने पर ही उस काढ़ेके पान करने पर कफकी हानि होती है, अन्यथा नहीं होती। इससे सिद्ध है कि प्रत्येक तत्त्व अपना-अपना ही कार्य करता है, अन्यका नहीं। कर्मशास्त्र भी इसी आशयका समर्थन करता है। बारहवें गुणस्थानमें ज्ञानावरणका उदय है। पर उससे मोह या रागपर्यायकी उत्पत्ति त्रिकालमें नहीं हो सकती। कर्मका विपाक किस प्रकार होता है इसका ज्ञान कराते हुए तत्त्वार्थसूत्र अ० ८ सू० २२ में बतलाया है— **'स यथानाम।'** जिस कर्मका जो नाम है, उसके अनुसार हो उसका फल होता है। इससे सिद्ध है कि जिसका जो कार्य है उससे उसी कार्यकी निष्पत्ति होती है, अन्यके कार्यकी निष्पत्ति होना त्रिकालमें सम्भव नहीं। फिर भले ही वे मिलकर ही क्यों न रहें। किन्तु करेंगे अपना-अपना ही कार्य। इसी प्रकार रागभाव और रत्नत्रयके विषयमें भी जान लेना चाहिए।

अपर पक्षने चौथेसे लेकर सातवें गुणस्थान तकके परिणामको मिश्रगुणस्थानके परिणामके समान बतलाते हुए लिखा है कि 'उन गुणस्थानोंमें सम्मिलित एक विचित्र प्रकारका परिणाम होता है जैसा कि मिश्र गुणस्थानमें सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्वभावसे पृथक् विचित्र प्रकारका परिणाम होता है, उस मिश्र गुण-स्थानके विचित्र मिश्रित परिणाममें श्रद्धा अश्रद्धाका क्रियात्मक विभाजन अशक्य होता है। तदनुसार शुभ परिणतिकी मिश्रित अवस्था हुआ करती है जिससे कि कर्मबन्ध, कर्मसंवर और कर्मनिर्जरा ये तीनों कार्य एकसाथ हुआ करते हैं।' किन्तु अपर पक्षका यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि इससे पूरी मोक्षमार्गकी व्यवस्था ही गड़बड़ा जाती है। जो कर्मशास्त्रका साधारण जानकार भी होगा वह भी ऐसे विचित्र कथनको त्रिकालमें स्वीकार नहीं करेगा।

यह तो सभी जानते है कि तीसरे गुणस्थानमें कारण एक है—सर्वघाति मिश्र प्रकृतिका उदय। तदनुसार उसका कार्य भी एक है—मिश्र परिणाम। इसलिए उसे अशक्यविवेचन कहा है। गोम्मटसार जीवकाण्डमें कहा भी है—

सम्मामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण।
ण य सम्मं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥२१॥

जात्यन्तर सर्वघातिके कार्यस्वरूप सम्यग्मिथ्यात्वके उदयसे जो सम्यक्त्व भी नहीं है, मिथ्यात्व भी नहीं है ऐसा सम्मिश्र परिणाम होता है ॥२१॥

किन्तु यह स्थिति चतुर्थादि गुणस्थानोंमें क्षायोपशमिक भावोंकी नहीं है। वहाँ कारणभेदके अनुसार कार्यभेदका आगममें स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणस्वरूप वेदक सम्यक्त्वको लीजिए। इसे वेदक इसलिए कहा जाता है, क्योंकि इसमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय बना रहता है। और सम्यक्त्व इस-लिए है, क्योंकि यह मिथ्यात्व आदि छह प्रकृतियोंके उदयाभावी क्षय और सदवस्थारूप उपशमसे होता है। अब विचार कीजिए कि क्या वेदक सम्यक्त्वकी तुलना मिश्र गुणस्थानके मिश्रभावसे की जा सकती है? दोनोंका लक्षण भिन्न है। मिश्र गुणस्थानका मिश्रभाव सर्वघाति प्रकृतिके उदयसे होनेके कारण विभाव भाव है। और वेदक सम्यक्त्व सर्वघाति प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे होनेके कारण आत्माका स्वभावभाव है। इसी प्रकार पाँचवें गुणस्थानके विरताविरत परिणामकी स्थिति है। यहाँ अप्रत्याख्यानावरण कषायका उदय नहीं है, इसलिए तो विरत भाव है और प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय है, इसलिए अविरतभाव है। तदनुसार इनके कार्य भी पृथक्-पृथक् देखे जाते हैं। विरतभावके कारण यह जीव त्रसहिंसासे विरत रहता है और अविरतभावके कारण स्थावर हिंसाका त्याग नहीं कर पाता। इस प्रकार जब यहाँ कार्यभेद है तो उससे होनेवाले फलमें भी भेद हो जाता है। जितने अंशमें आत्मस्थितिरूप चारित्र प्रगट हुआ है उतने अंशमें इस जीवके संवर-निर्जरा है और जितने अंशमें अविरतिभाव है उतने अंशमें आस्रव-बन्ध है। इसलिए चतुर्थादि गुणस्थानोंके क्षायोपशमिक भावोंकी मिश्र गुणस्थानके मिश्रभावके साथ तुलना करना सर्वथा असंगत है। मिश्र गुणस्थानका मिश्रभाव जहाँ अशक्यविवेचन है, वहाँ चतुर्थादि गुणस्थानोंका क्षायोपशमिकभाव शक्यविवेचन है।

अपर पक्षका कहना है कि चौथेसे सातवें गुणस्थान तक शुभोपयोग ही होता है। अन्य कोई शुद्धो-पयोग आदि उन गुणस्थानोंमें नहीं होता। किन्तु यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि चतुर्थादि गुणस्थानोंमें आत्मानुभूति होती ही नहीं यह मानना आगमविरुद्ध है। वृहद्द्रव्यसंग्रहमें गाथा ४७ की टीकामें लिखा है—

तद् द्विविधमपि निर्विकारस्वसंवित्त्यात्मकपरमध्यानेन मुनिः प्राप्नोति।

उस दोनों प्रकारके मोक्षमार्गको मुनि निर्विकार स्वसंवित्तिस्वरूप परम ध्यानके द्वारा प्राप्त करता है।

यह सम्यक्चारित्रका प्रकरण है, इसलिए यहाँ मुनिको लक्ष्य कर उक्त कथन किया गया है। इससे विदित होता है कि निर्विकार स्वसंवित्तिरूप परम ध्यान मुनिके नियमसे होता है।

इसी आर्षग्रन्थकी ४६वीं गाथामें 'णाणिस्स' पद आया है। इसको व्याख्या करते हुए टीकामें लिखा है—

इत्युभयक्रियानिरोधलक्षणचारित्रं कस्य भवति? 'णाणिस्स' निश्चयरत्नत्रयात्मकाभेदज्ञानिनः।

शंका—उभय क्रियानिरोधलक्षण चारित्र किसके होता है?

समाधान—ज्ञानीके अर्थात् निश्चय रत्नत्रयात्मक अभेद ज्ञानीके होता है।

इन प्रमाणोंसे हम जानते हैं कि सातवें गुणस्थानमें मुनिके शुद्धोपयोग नियमसे होता है, क्योंकि वहाँ पर बाह्य विषयमें शुभाशुभ वचन-काय व्यापाररूप क्रियाव्यापारका तथा भीतर शुभाशुभ मानसिक विकल्परूप क्रियाव्यापारका सर्वथा निरोध होकर यह आत्मा निष्क्रिय नित्य निरंजन विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभाव द्वारा

अपने आत्मामें तन्मय होकर परिणम जाता है। इसीका नाम परम ध्यान है और इसीका नाम आत्मानुभूति है। ऐसी आत्मानुभूति यदि मुनिके न हो तो वह मुनि कहलानेका पात्र नहीं।

किन्तु ज्ञानी यह संज्ञा तो सम्यग्दृष्टिकी भी है। कोई अपने आत्माको न जाने (न अनुभवे) और रागके परवश हुआ बाह्य विषयोंमें ही इष्टानिष्ट या हेयोपादेय बुद्धि करता रहे तो वह सच्चा ज्ञानी नहीं। **ज्ञानीका लक्षण ही यह है कि जो ज्ञान स्वभावरूपसे परिणमता है वह ज्ञानी।** और इसके विपरीत जो रागस्वभावरूपसे परिणमता है वह अज्ञानी। ज्ञानी यह सम्यग्दृष्टिकी संज्ञा है और अज्ञानी मिथ्यादृष्टिको कहते है। सर्वार्थसिद्धि अ० १ सू० ३२ में कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्याय इन तीनका निर्देश किया है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सम्यग्दृष्टिको कारणविपर्यास, भेदाभेदविपर्यास और स्वरूपविपर्यास नहीं होता। वह परसे भिन्न आत्मस्वरूपको यथावत् जानता है और **परद्रव्य-भावोंसे भिन्न जाननक्रियारूप आत्माका परिणमना इसीका नाम आत्मानुभूति है।** स्पष्ट है कि ऐसी आत्मानुभूति सम्यग्दृष्टिके भी होती है जिसे शुभोपयोग कहना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि शुभोपयोगका विषय पर पदार्थ है। आत्मानुभूति उससे भिन्न है। अतएव सिद्ध हुआ कि चतुर्थादि गुणस्थानोंमें भी शुद्धोपयोग होता है।

अपर पक्ष कहेगा कि चतुर्थादि गुणस्थानोंमें शुद्धोपयोग होता है इसका आगममें कहाँ निर्देश है? समाधान यह है कि चतुर्थादि गुणस्थानोंमें धर्मध्यान बहुलतासे होता है और आत्मानुभूति दीर्घकाल बाद अल्प होती है, इसलिए इन गुणस्थानोंमें उसका निर्देश नहीं किया। इसी विषयको स्पष्ट करते हुए पण्डितप्रवर टोड़रमलजी अपनी रहस्यपूर्ण चिट्ठीमें लिखते हैं—

यहाँ प्रश्न—जो ऐसे अनुभव कौन गुणस्थानमें कहे है?

ताका समाधान—चौथे ही से होय हैं, परन्तु चौथे तो बहुत कालके अन्तरालमें होय हैं और ऊपरके गुणठाने शीघ्र-शीघ्र होय हैं।

बहुरि प्रश्न—जो अनुभव तो निर्विकल्प है तहाँ ऊपरके और नीचेके गुणस्थाननिमें भेद कहा?

ताका उत्तर—परिणामनकी मग्नता विषै विशेष हैं। जैसे दोय पुरुष नाम ले हैं अर दो ही का परिणाम नाम विषै है, तहाँ एक कै तो मग्नता विशेष है अर एक कै स्तोक है तैसे जानना।

इससे स्पष्ट है कि चौथेसे सातवें गुणस्थान तक केवल शुभोपयोग ही होता है ऐसा जानना-समझना मिथ्या है। इतना अवश्य है कि इन गुणस्थानोंमें जो आत्मानुभूति होती है उसे धर्मध्यान ही कहते हैं, शुक्लध्यान नहीं। शुक्लध्यानमें एक मात्र शुद्धोपयोग ही होता है, परन्तु धर्मध्यानमें शुभोपयोग भी होता है और शुद्धोपयोग भी यही इन दोनोंमें विशेषता है।

चतुर्थादि गुणस्थानोंमें शुभोपयोगके कालमें उससे आस्रव बन्ध तथा संवर-निर्जरा दोनों होते होंगे ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि तब आत्मामें जो सम्यग्दर्शनादिरूप विशुद्धि होती है इसके कारण संवर-निर्जरा होती है और शुभोपयोगके कारण आस्रव-बन्ध होता है। तथा जब आत्मानुभूति होती है तब इसके कारण संवर-निर्जरा होती है और अबुद्धिपूर्वक रागके कारण आस्रव-बन्ध होता है। इससे एक कालमें एक ही उपयोग होता है यह व्यवस्था भी बन जाती है और किसका कौन यथार्थ कारण है इसका भी ज्ञान हो जाता है।

अपर पक्षका कहना है कि एक कारणसे अनेक कार्य होते हुए देखे जाते हैं। समाधान यह है कि शुभोपयोग संवर-निर्जराका विरोधी है। पंचास्तिकाय गाथा १४४ की टीकामें बतलाया है—

शुभाशुभपरिणामनिरोधः संवरः ।

शुभ और अशुभ परिणामका निरोध करना संवर है ।

इसी तथ्यको और भी स्पष्ट करते हुए पंचास्तिकाय गाथा १२४ में कहा है—

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ।। १४२ ।।

जिसका सब द्रव्योंमें राग, द्वेष या मोह परिणाम नहीं है, सुख-दुखमें सम परिणामवाले उस भिक्षुके शुभ और अशुभ कर्मका आस्रव नहीं होता ।। १४२ ।।

इसलिए शुभोपयोगसे संवर निर्जरारूप कार्य मानना योग्य नहीं है ।

अपर पक्षका कहना है कि 'पहला गुणस्थानवर्ती मिथ्यादृष्टि जीव जब सम्यक्त्वके सन्मुख होता है तब शुद्ध परिणामोंके अभावमें भी असंख्यातगुणी निर्जरा, स्थितिकाण्डकघात और अनुभागकाण्डकघात करता ही है । तद्वत् शुभोपयोगरूप पुण्यका प्रत्येक भाव कर्मसंवर, कर्म-निर्जरा, कर्मबन्धरूप तीनों कार्य प्रतिसमय किया करता है । अतः जीवदया, दान, पूजा, व्रत आदि कार्य गुणस्थानानुसार संवर, निर्जराके भी निर्विवाद कारण हैं ।'

समाधान यह है कि प्रथम गुणस्थानमें इस जीवके परद्रव्य-भावोंसे भिन्न आत्मस्वभावके सन्मुख होनेपर जो विशुद्धि उत्पन्न होती है वह विशुद्धि ही असंख्यातगुणी निर्जरा आदिका कारण है, परद्रव्य-भावोंमें प्रवृत्त हुआ शुभोपयोग परिणाम नहीं । यह जीव जब कि मिथ्यादृष्टि है, ऐसी अवस्थामें उसके शुद्धोपयोगके समान शुभोपयोग कहना भी उपयुक्त नहीं है । फिर भी वहाँपर जो भी विशेषता देखी जाती है वह आत्मस्वभाव सन्मुख हुए परिणामका ही फल है ।

अपर पक्षने दया धर्म है इसकी पुष्टिमें स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, उसकी टीका, नियमसार गाथा ६ की टीका, आत्मानुशासन, यशस्तिलक, आचार्य कुन्दकुन्दकृत द्वादशानुप्रेक्षा, भावपाहुड, शीलपाहुड और मूलाराधनाके अनेक प्रमाण उपस्थित किये हैं । किन्तु उन सब प्रमाणोंसे यही प्रज्ञापन होता है कि जो निश्चय दया अर्थात् वीतरागपरिणाम है वही आत्माका यथार्थ धर्म है, सराग परिणाम आत्माका यथार्थ धर्म नहीं है, फिर चाहे वह व्रत परिणाम हो, भूतदया हो, अन्य कुछ भो क्यों न हो । सरागभाव होनेसे वह जीवका निश्चयस्वरूप यथार्थ धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि मोह, राग और द्वेषरूपसे परिणत हुए जीवके नाना प्रकारका बन्ध होता है, इसलिए उनका क्षय करना ही उचित है । प्रवचनसारमें इसी अभिप्रायको व्यक्त करते हुए लिखा भी है—

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि विविहो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥८४॥

मोहसे, रागसे और दोषसे परिणत हुए जीवके विविध प्रकारका बन्ध होता है, इसलिए उन्हें उत्तरोत्तर घटाना चाहिए ॥८४॥

अतएव पर जीवोंमें किये गये करुणाभाव या दयाभावको धर्म माननेके प्रति ज्ञानी जीवोंकी क्या दृष्टि होनी चाहिए इसके लिए प्रवचनसारके इस वचनपर दृष्टिपात कीजिए—

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य मणुव-तिरिएसु ।
विसएसु अ प्पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥८५॥

पदार्थोंका अयथाग्रहण, तिर्यञ्चों तथा मनुष्योंमें करुणाभाव और विषयोंकी संगति ये मोहके लक्षण हैं ॥ ८५ ॥

इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

पदार्थोंकी अयथातथ्य प्रतिपत्ति द्वारा तथा तिर्यंच और मनुष्यमात्र प्रेक्षायोग्य हैं फिर भी उनमें करुणाबुद्धि द्वारा मोहको, अभीष्ट विषयोंके प्रसंगसे रागको और अनभीष्ट विषयोंमें अप्रीतिसे द्वेषको इस प्रकार इन तीन लिंगोंसे इन तीनोंको जानकर जैसे ही यह तीन प्रकारका मोह उत्पन्न हो वैसे ही उसे नष्टकर देना चाहिए। संस्कृत टीका ग्रन्थमें देखिए।

इसी गाथापर टीका करते हुए आचार्य जयसेन लिखते हैं—

शुद्ध आत्मादि पदार्थ यथास्वरूप अवस्थित हैं, फिर भी उन्हें विपरीताभिनिवेश वश अयथार्थरूपसे ग्रहण करना तथा मनुष्यों और तिर्यंचोंमें शुद्धात्मोपलब्धिलक्षण परम उपेक्षासंयमके विपरीत करुणाभाव और दयाभाव करना अथवा व्यवहारसे करुणा नहीं करना यह दर्शनमोहका चिन्ह है। निर्विषय सुखके आस्वादसे रहित बहिरात्मा जीवोंका जो मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयोंमें प्रकर्परूपसे संसर्ग होता है उसे देखकर प्रीति और अप्रीतिलक्षण चारित्रमोहसंज्ञावाले राग-द्वेष जाने जाते हैं। विवेकी जन उक्त चिन्हों द्वारा मोह, राग और द्वेषको जान लेते हैं। इसलिए उनका परिज्ञान होनेके अनन्तर ही निर्विकार स्वशुद्धात्मभावना द्वारा राग, द्वेष और मोहका नाशकर देना चाहिए। संस्कृत टीका मूलमें देखिए।

आशय यह है पर जीवोंके लक्ष्यसे उत्पन्न हुई दया शुभराग है, उसे आत्माका निश्चयधर्म मानना मिथ्यात्व है और व्यवहारधर्म मानना मिथ्यात्व नहीं है।

ज्ञानी जीवके कृपा या करुणाभावसे जीवोंमें अनुकम्पा होती है पर वह मनःखेद ही है इसे स्पष्ट करते हुए पंचास्तिकाय गाथा १३७की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

कश्चिदुदन्यादिदुःखप्लुतमवलोक्य करुणया तत्प्रतिचिकीर्षाकुलितचित्तत्वमज्ञानिनोऽनुकम्पा। ज्ञानिनस्त्वधस्तनभूमिकासु विहरमाणस्य जन्मार्णवनिमग्नजगदवलोकनान्मनाग्मनःखेद इति।

तृषादि दुःखसे पीड़ित प्राणीको देखकर करुणाके कारण उसका प्रतीकार करनेकी इच्छासे आकुलित चित्त होना अज्ञानीकी अनुकम्पा है तथा जन्मार्णवमें निमग्न जगत्के अवलोकनसे किंचित् मनःखेद होना यह सविकल्प भूमिकामें वर्तते हुए ज्ञानीकी अनुकम्पा है।

दया, करुणा, क्षमा, व्रत, संयम, दम, यम, नियम और तप इत्यादि शब्द निश्चय धर्मके अर्थमें भी आगममें प्रयुक्त हुए हैं और व्यवहार धर्मके अर्थमें भी प्रयुक्त हुए हैं। यह विवेकियोंका कर्तव्य है कि कहाँ किस अर्थमें इनका प्रयोग हुआ है इसे जानकर यथार्थका निर्णय करें। दोनोंको मिलाकर एक कहना और मानना उचित नहीं है।

अज्ञानीका शुभ और अशुभभाव बन्धका हेतु है ही। ज्ञानीका भी शुभ भाव पुण्यरूप और अशुभ भाव पापरूप होनेसे निश्चयसे एकमात्र बन्ध करानेवाला ही है। पुण्य और पापपदार्थका निर्णय करते हुए पंचास्तिकाय गाथा १०८ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

शुभपरिणामो जीवस्य तन्निमित्तः कर्मपरिणामः पुद्गलानां च पुण्यम्। अशुभपरिणामो जीवस्य तन्निमित्तः कर्मपरिणामः पुद्गलानां च पापम्।

जीवका शुभ परिणाम और तन्निमित्तक पुद्गलोंका कर्मपरिणाम पुण्य है। तथा जीवका अशुभपरिणाम और तन्निमित्तक पुद्गलोंका कर्मपरिणाम पाप है।

अपर पक्षने सम्यग्दृष्टिके शुभभावोंको वीतरागता और मोक्ष प्राप्तिका हेतु कहा है और उसकी पुष्टिमें प्रवचनसार आदि ग्रन्थोंका नामोल्लेख भी किया है। साथ ही यह भी लिखा है कि 'सम्यग्दृष्टिका शुभभाव कर्मचेतना न होकर ज्ञानचेतना माना गया है।' किन्तु यह सब कथनमात्र हैं, क्योंकि आगममें न तो कहीं शुभभावोंको वीतरागता और मोक्षप्राप्तिका निश्चय हेतु बतलाया है और न कर्मचेतनाका अन्तर्भाव ज्ञानचेतनामें ही किया है। इन दोनोंके लक्षण ही आगममें जुदे-जुदे प्ररूपित किये गये हैं। समयसार गाथा ३८७ आदि-की टीकामें कर्मचेतनाका लक्षण करते हुए लिखा है—

तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना।

उसमें, ज्ञानसे भिन्न अन्य भावोंमें ऐसा चेतना कि 'मैं इसको करता हूँ।' कर्म चेतना है।

इससे स्पष्ट है कि शुभभावोंका ज्ञानचेतनामें कथमपि अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

दया शब्द सरागभाव और वीतरागभाव दोनोंके अर्थमें आगममें प्रयुक्त हुआ है, जैसा कि अपर-पक्ष द्वारा उपस्थित किये गये आगमप्रमाणोंसे भी विदित होता है, मात्र इसी अभिप्रायसे हमने 'यदि प्रकृतमें दयासे वीतराग परिणाम स्वीकार किया जाता है' इत्यादि कथन अपने दूसरे उत्तरमें किया था। इस आधारसे अपर पक्षने जो अभिप्राय व्यक्त किया है वह प्रधानतासे स्वयं उस पक्षको ही ध्यान देने योग्य है, हमारा तो उस ओर ध्यान सदासे रहा है और इसीलिए हम शुद्ध परिणति और शुभपरिणतिको मिला-कर एक नहीं लिख या कह रहे हैं। अपर पक्षको भी इन दोनोंके वास्तविक भेदको स्वीकार कर लेना चाहिए। समग्र आगममें सुमेल बिठलानेका एकमात्र यही मार्ग है।

ज्ञान आत्माका प्रधान गुण है, उस द्वारा अखण्ड आत्माका कथन हुआ है, इसलिए मोक्षप्राभृतके साथ संगति बैठ जाती है। समयसार कलश १०६-१०७ में इसी अर्थमें 'ज्ञान' शब्द आया है। अन्यत्र भी ऐसा ही समझना चाहिए। इसका विशेष खुलासा आचार्य अमृतचन्द्रने समयसारके परिशिष्टमें किया ही है। उस पर दृष्टिपात कीजिए।

मोक्षप्राभृत गाथा ६० में जो तपश्चरण करनेकी प्रेरणा की है वह इच्छानिरोधरूप तपश्चरण करनेके लिए ही कहा गया है। इच्छानिरोधस्तपः' यह प्रसिद्ध आगम वचन है 'चारित्र भी 'स्वरूपस्थिति' का दूसरा नाम है—'स्वरूपे चरणं चारित्रम्।' प्रवचनसार गाथा ७, आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका। बाह्य तप या चारित्रको जो तप या चारित्र संज्ञा प्राप्त है वह निश्चयतप और निश्चय चारित्रका सहचर होनेसे ही प्राप्त है। आचार्यने मोक्षप्राभृत गा० ६० में ऐसे ही तपश्चरण करनेकी प्रेरणा की है। मुनिदीक्षा स्व-रूपस्थितिका दूसरा नाम है। वह न हो और बाह्य तप करनेका विकल्प और क्रियाकाण्ड मात्र हो तो वह न सच्ची मुनिदीक्षा है और न सच्चा तपश्चरण ही है।

अपर पक्षने आगे सूत्रप्राभृत, मोक्षप्राभृत तथा तत्त्वार्थसूत्र-तत्त्वार्थवार्तिकके जो प्रमाण दिये हैं वे पूर्वोक्त अभिप्रायकी ही पुष्टि करते हैं। तभी तो तत्त्वार्थवार्तिकमें चारित्रका यह लक्षण किया है—

संसारकारणनिवृत्तिं प्रत्यागूर्णस्य ज्ञानवतो बाह्याभ्यन्तरक्रियाविशेषोपरमः सम्यक्चारित्रम्।

संसारके कारणोंकी निवृत्तिके प्रति उद्यत हुए ज्ञानीके बाह्य और अभ्यन्तर क्रियाका उपरम होना सम्यक्चारित्र है।

देखिए, इस वचनमें बाह्य अनशनादि और आभ्यन्तर विकल्परूप क्रियाके प्रति उपरमभावको सम्यक्चारित्र कहा है, इन क्रियाओंको नहीं। इससे स्पष्ट है कि यथार्थ ज्ञानी वही है जो इन क्रियाओंके करनेमात्रसे आत्माका हित न मानकर स्वरूपमें रमणता करनेके लिए प्रयत्नशील रहता है। अन्तस्तत्व समझनेके लिए कठिन तो है पर वह हितकारी होनेसे समझने योग्य अवश्य है।

अपर पक्षने अहिंसा मन्दिर दरियागंज १ दिल्लीसे प्रकाशित समयसार पृ० ११८ की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया सो वहाँ पर 'क्रिया' शब्द आत्मा और आस्रवोंमें भेदको जानकर आत्मस्वरूप परिणमनेके अर्थमें ही आया है। इसे गाथा ७२ की अमृतचन्द्र आचार्यकृत टीकासे समझा जा सकता है। ४७ संख्याक कलश भी इसी अभिप्रायको सूचित करता है।

अपर पक्षने समयसार गाथा १५५ और उसकी टीकाका प्रमाण दिया है, उससे हमारे इसी अभिप्रायकी ही पुष्टि होती है कि रागादिकी निवृत्तिका नाम ही सच्चा चारित्र है। ज्ञान पदसे सम्यग्दर्शनादि तीनरूप परिणत आत्मा ही लिया गया है इसमें हमें तो विवाद नहीं, अपर पक्ष भी इस विकल्पको छोड़ दे कि समयसार कलश १०६-१०७ में 'ज्ञान' पद अकेले ज्ञानके अर्थमें आया है। यदि वह ऐसा नहीं समझता था तो उसकी ओरसे यह शंका ही उपस्थित नहीं की जानी चाहिए थी, क्योंकि प्रकृत विषयसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं।

यहाँ पर अपर पक्षने उक्त प्रमाणोंके आधारसे जो यह फलित किया है कि 'जीवदया संयम तपरूप है तथा संवर और निर्जराका कारण होनेसे धर्म है,' वह ठीक नहीं, क्योंकि एक तो उन प्रमाणों द्वारा दूसरी वस्तु कही गई है, दूसरे जीवदया पदसे वह पक्ष यदि शुभभावको ग्रहण करता है तो न तो वह यथार्थ तपसंयमरूप है और न ही निश्चयधर्मका यथार्थ हेतु है, अतएव उसे यथार्थ धर्म नहीं माना जा सकता। हाँ उसे व्यवहार धर्म माननेमें आगमसे कोई बाधा नहीं आती और इसीलिए उसे आगममें निश्चय धर्मका उपचरित हेतु कहा गया है।

अपर पक्षने हमारे एक कथनको गलतरूपमें उपस्थित कर जो आशय लिया है वह ठीक नहीं। दूसरे उत्तरमें हमारा कहना यह है—'शुभभाव चाहे वह दया हो, करुणा हो, जिनबिम्बदर्शन हो, व्रतोंका पालन करना हो, अन्य कुछ भी क्यों न हो यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है, उससे संवर, निर्जरा और मोक्षकी सिद्धि होना असम्भव है।'

इसके स्थानमें अपर पक्षने हमारे इस कथनको इन शब्दोंमें उपस्थित किया है—

'आपने व्रतपालनको शुभभावमें गर्भित करके उससे संवर-निर्जरा तथा मोक्षसिद्धि होना असम्भव बतलाया है।'

अपर पक्षको हम बतला देना चाहते हैं कि हमने व्रत पालनको शुभभावमें गर्भित नहीं किया है। किन्तु हमने यह लिखा है 'शुभभाव चाहे वह........व्रतोंका पालन करना हो,........यदि वह शुभ परिणाम है तो उससे मात्र बन्ध ही होता है, उससे संवर, निर्जरा मोक्षकी सिद्धि होना असम्भव है।'

कोई भी निष्पक्ष विचारक यह जान सकता है कि अपर पक्षके उक्त वाक्यमें और हमारे इस कथनमें कितना अन्तर है। अस्तु,

अपर पक्षने यहाँ तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ सू० १ को उपस्थितकर और उस द्वारा प्रतिपादित व्यवहार

चारित्रको निवृत्तिरूपसे सम्यक्चारित्रमें गर्भितकर लिखा है कि 'जितनी भी निवृत्ति है वह केवल संवर तथा निर्जराकी ही कारण है, वह कभी भी बन्धका कारण नहीं हो सकती है। अतः व्रतोंका पालन संवर-निर्जरा है।'

किन्तु अपर पक्ष यह भूल जाता है कि इस सूत्र द्वारा मात्र अशुभसे निवृत्ति कही गई है, शुभ और अशुभ दोनोंसे निवृत्ति नहीं कही गई है। अतः इस सूत्र द्वारा आस्रव तत्त्वका ही निरूपण हुआ है, संवर-निर्जरा या मोक्षतत्त्वका नहीं। हमारे इस कथनकी पुष्टि उस सूत्रकी उत्थानिकासे हो जाती है। सर्वार्थसिद्धिमें इसकी उत्थानिकामें लिखा है—

आस्रवपदार्थो व्याख्यातः। तत्प्रारम्भकाले एवोक्तं 'शुभः पुण्यस्य' इति तत् सामान्येनोक्तम्। तद्विशेषप्रतिपत्त्यर्थं कः पुनः शुभः इत्युक्ते इदमुच्यते।

आस्रव पदार्थका व्याख्यान किया। इसके प्रारम्भ कालमें ही कहा है—'शुभः पुण्यस्य।' पर वह सामान्यरूपसे कहा है। उसके भेदोंका ज्ञान करानेके लिए 'शुभ क्या है' ऐसी पृच्छा होनेपर यह सूत्र कहते हैं।

इससे स्पष्ट है कि इस सूत्र द्वारा आस्रवतत्त्वका ही कथन किया गया है, संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्वका नहीं।

तत्त्वार्थसूत्रके उक्त सूत्रमें किस प्रकारकी निवृत्ति कही गई है इसके लिए बृहद्द्रव्यसंग्रहके इस वचनपर दृष्टिपात कीजिए—

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।
वदसमिदिगुत्तिरूवं ववहारणया दु जिणभणियं ॥४५॥

जो अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्ति है उसे चारित्र जानो। इसे जिनदेवने व्यवहारनयसे व्रत, समिति और गुप्तिरूप कहा है ॥४५॥

अपर पक्षका कहना है कि 'दत्तादानग्रहण करना या सत्य बोलना आदि व्रतोंका लक्षण नहीं है। इनको व्रतोंका लक्षण स्वीकार कर लेनेपर अव्याप्ति दोष आता है।' किन्तु अपर पक्षका यह लिखना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि इसे स्वीकार कर लेनेपर एक तो बृहद् द्रव्यसंग्रहके उक्त आगम वचनके साथ विरोध आता है। उसमें स्पष्ट शब्दों द्वारा शुभमें प्रवृत्तिको चारित्र घोषित किया गया है। दूसरे साधुके जबतक आहार आदिके ग्रहणका विकल्प या कषायांश बना हुआ है तब तक व्यवहारसे शुभ प्रवृत्तिका सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता। आगेके गुणस्थानोंमें यथायोग्य संज्ञाओंका सद्भाव और छेदोपस्थापना संयम इसी आधारपर स्वीकार किया गया हैं। इसके लिए नौवें अध्यायमें २२ परीषहोंका प्रकरण द्रष्टव्य है।

धवल पु० १४ पृ० ८९ में जो अप्रमादका लक्षण दिया है, उसका आशय इतना ही है कि पाँच महाव्रत और पाँच समितिरूप विकल्प तो ६वें गुणस्थानमें होता है। आगे छेदोपस्थापना संयम रूपसे इनका सद्भाव स्वीकार किया गया है। उसके भी आगे सूक्ष्मसांपराय संयम और यथाख्यात संयममें इन्हें गर्भित कर लिया है।

इससे स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्रके ७वें अध्यायके प्रारम्भमें जिन व्रतोंका निर्देश है उनका आस्रव तत्त्वमें ही अन्तर्भाव होता है। यही कारण है कि देवायुके आस्रवोंमें सरागसंयम और संयमासंयमको भी परिगणित किया गया है। तत्त्वार्थवार्तिक अ० ६ सू० २० में लिखा है—

प्राक् शुभपरिणामाः सरागसंयमादयः व्याख्याताः । ते दैवस्यायुष आस्रवहेतवो भवन्तीति संक्षेपः ।

पहले शुभपरिणाम सरागसंयमादिक कह आये हैं, वे देवायुके आस्रवके हेतु हैं यह इस सूत्रका संक्षेप है ।

अतः तत्त्वार्थसूत्रके उक्त वचनके आधारपर तो अशुभसे निवृत्तिरूप और शुभमें प्रवृत्तिरूप व्रतोंको संवर-निर्जराका कारण कहा नहीं जा सकता । अब रहे पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, रत्नकरण्डश्रावकाचार, रयणसार और चारित्रप्राभृतके अन्य प्रमाण सो इन प्रमाणोंका भी पूर्वोक्त कथनमें ही अन्तर्भाव होता है । इन सभी प्रमाणों द्वारा निश्चय सम्यक्चारित्रके साथ होनेवाले व्यवहार सम्यक्चारित्रका ही स्वरूप निर्देश किया गया है ।

प्रत्येक जैन आगमाभ्यासीको उक्त प्रमाणोंके प्रकाशमें यह अच्छी तरह ज्ञात है कि निश्चयस्वरूप चारित्र, संयम तथा धर्मध्यान संवर-निर्जरा एवं मोक्षसिद्धिके कारण हैं । व्यवहार नयसे कहे गये चारित्र, संयम तथा धर्मध्यान नहीं । ये तो स्वयं आस्रव होनेसे बन्धके ही कारण हैं । व्यवहार नयसे कहे गये व्रतोंका व्यवहार चारित्र, संयम और धर्मध्यानमें ही अन्तर्भाव होता है, अतः इनसे संवर-निर्जरा और मोक्षकी निश्चयसे सिद्धि होती है ऐसा कहना सर्वथा आगमविरुद्ध है ।

हमें प्रसन्नता है कि रागसहित प्रवृत्त्यंशकी अपेक्षा अपर पक्षने व्रतोंको आस्रव-बन्धका हेतु मान लिया है । किन्तु उस पक्षका यह लिखना कि 'दत्तादानग्रहण, सत्यभाषण आदि रूप जो रागसहित प्रवृत्त्यंश है उसका इन व्रतोंमें ग्रहण नहीं किया गया है' सर्वथा आगमविरुद्ध है । मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष ऐसा लिखकर व्यवहारमें व्रतरूपसे स्वीकृत पूजा, भक्ति, दान, स्वाध्याय, दया आदि सभी सत्प्रवृत्तिरूप व्यवहार धर्मकी उपेक्षा कर देना चाहता है । ये सभी दत्तादान और सत्यभाषणके समान सत्प्रवृत्तियाँ व्रत ही तो हैं । मोक्षमार्गमें निश्चयधर्मके साथ होनेवालीं इन सभी सत्प्रवृत्तियोंको आचार्योंने व्यवहारधर्म ही तो कहा है । हम इसी उत्तरमें बृहद्द्रव्यसंग्रहका उद्धरण उपस्थित कर आये हैं, उसमें स्पष्टतया बतलाया है कि जिस प्रकार अशुभरूप हिंसा, असत्य आदिसे निवृत्ति व्यवहार सम्यक्चारित्र है उसी प्रकार अहिंसा, सत्यभाषण आदि शुभमें प्रवृत्ति भी व्यवहार सम्यक्चारित्र है ।

अपर पक्षने जीवदयाको धर्म मानना मिथ्यात्व है क्या ? यह प्रश्न किया है । साथ ही इसकी पुष्टिमें अनेक आगमप्रमाण देकर यह भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि जीवदया धर्म है और उससे संवर-निर्जरा भी होती है । अब पूछना यह है कि अपर पक्षके मतानुसार यदि जीवदया धर्म है तो सत्यभाषण और दत्ता-दानादि धर्म क्यों नहीं ? क्या जीवदया रागसहित प्रवृत्त्यंश नहीं है ? हम यह अच्छी तरह समझ रहे हैं कि अपर पक्ष अशुभसे निवृत्तिको धर्म कह कर उसे संवररूप सिद्ध करनेकी चेष्टामें है, परन्तु इससे उसने जिस अन्यथा प्ररूपणाको जन्म दिया है उससे वह परस्पर विरुद्ध कथनके दोषसे अपनी रक्षा नहीं कर सकता । एक ओर तो जीवदयाको धर्म मानना और दूसरी ओर सत्यभाषण तथा दत्तादानादिको व्रत नहीं मानना यह परस्पर विरुद्ध कथन नहीं है तो और क्या है ? इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे ।

अपर पक्षका हमारे पक्षके ऊपर यह दोषारोपण है कि हमारा पक्ष व्यवहार धर्मका लोप करने पर तुला हुआ है । किन्तु उसके उक्त आगमविरुद्ध कथनसे जिस अनर्थ परम्पराको जन्म मिलेगा उसे वह पक्ष अभी नहीं समझ रहा है । पक्षव्यामोह इसीका दूसरा नाम है । यदि इसे उल्टी गंगा बहाना कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी । हम तो अपर पक्षके उक्त कथनसे यह समझे हैं कि हमारा पक्ष व्यवहार धर्मका लोप करना चाहता है यह तो उस पक्षका प्रचारमात्र है । वस्तुतः वह पक्ष स्वयं लोकमेंसे पूजा,

भक्ति, दान आदि सभी सत्प्रवृत्तियोंका लोप कर देना चाहता है तभी तो वह पक्ष सत्यभाषण आदिको व्रतरूपसे स्वीकार करनेके लिए तैयार नहीं दिखाई देता।

अपर पक्षका कहना है कि 'दत्तादान ग्रहण करना या सत्य बोलना व्रतोंका लक्षण नहीं है, इनको व्रतोंका लक्षण स्वीकार करनेपर अव्याप्ति दोष आता है। कारण कि दत्तादानको न ग्रहण करनेकी अवस्था-में या मौनस्थ आदि अवस्थामें मुनियोंके यह लक्षण घटित न होनेके कारण महाव्रत ही न रहेंगे।'

समाधान यह है कि अभिप्रायमें दत्तादानका ग्रहण या सत्य बोलनेरूप परिणामके बने रहनेके कारण दत्तादानको न ग्रहण करनेको अवस्थामें या मौनस्थ अवस्थामें भी व्रतोंका लक्षण घटित हो जाता है, इसलिए अव्याप्ति दोष नहीं आता।

साधुओंके २८ मूलगुण बतलाये हैं। उनमें पाँच समितियाँ भी सम्मिलित हैं। ये पाँचों समितियाँ प्रवृत्तिरूप ही स्वीकार की गई हैं। इसी प्रकार गृहस्थोंके १२ व्रतोंमें अतिथिसंविभाग व्रत भी प्रवृत्तिरूप ही स्वीकार किया गया है। इससे स्पष्ट है कि व्यवहार धर्ममें अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्ति ही मुख्यरूपसे ली गई है, क्योंकि अशुभ निवृत्तिका अर्थ ही शुभप्रवृत्ति है। इनको इस प्रकार पृथक् नहीं किया जा सकता जैसा कि अपर पक्षने इनका पृथक् रूपसे विधान किया है। इतने विवेचनके बाद भी यदि अपर पक्ष सत्य-भाषण आदिको व्यवहार व्रतरूपसे स्वीकार नहीं करना चाहता तो इन्हें अव्रत तो कहा जा सकता नहीं और व्रतोंमें इनकी गणना आप करना चाहते नहीं ऐसी अवस्थामें इनकी क्या स्थिति होगी इसका अपर पक्ष स्वयं निर्णय करे।

यहाँ पर अपर पक्षने जिस प्रकार यह स्वीकार कर लिया है कि वास्तवमें सम्यक्त्व बन्धका कारण नहीं है, किन्तु सम्यक्त्वके साथ रहनेवाला रागांश ही देवआयुके बन्धका कारण है। उसी प्रकार वह यह भी स्वीकार कर लेगा कि शुभ-अशुभकी निवृत्तिरूप निश्चय चारित्रांश या रत्नत्रयांश वास्तवमें बन्धका कारण नहीं है, किन्तु उसके साथ रहनेवाला रागांश ही वास्तवमें बन्धका कारण है। इसे स्वीकार कर लेने पर उस पक्षने जो यह लिखा है कि एक मिश्रित अखण्ड पर्यायमें निवृत्ति तथा प्रवृत्ति (राग) दोनों अंश सम्मिलित है। अतः उससे आस्रव-बंध भी है और संवर निर्जरा भी है।' इसका सुतरां निरास हो जायगा। निश्चय रत्नत्रयांशमें केवल अशुभकी ही निवृत्ति नहीं है, किन्तु शुभकी भी निवृत्ति है। अतः सिद्ध हुआ कि जो निश्चय रत्नत्रयांश है उससे संवर और निर्जरा है और गृहस्थों तथा मुनियोंके उस उस पदके योग्य जो शुभ-अशुभरूप प्रवृत्त्यंश या रागांश है उससे आस्रव और बन्ध है।

आगममें अपर पक्षके कथनानुसार व्रतोंके छोड़नेका उपदेश तो कहीं नहीं है। इन व्रतोंके धारण करनेमात्रसे ही मैं मुक्तिका पात्र बनूँगा ऐसे विकल्पके छुड़ानेका उपदेश अवश्य है। जब यह जीव स्वभाव सम्मुख हो निर्विकल्प समाधिका अधिकारी बनता है तब व्रतरूप विकल्प स्वयं विलयमान हो जाते है इतना अवश्य है। **शुभ-अशुभकी निवृत्तिरूप जो व्रत है वह तो एक मात्र वीतरागभाव है।** उसकी संज्ञा कुछ भी रख ली जाय, है वह स्वयं एक मात्र वीतराग भाव ही। सप्तमादि गुणस्थानोंमें यदि व्रतोंका सद्भाव है भी तो एक मात्र इसी रूपमें है।

इस प्रकार किस रूपमें दया आत्मधर्म है और किस रूपमें पुण्यभाव है इसका स्पष्टीकरण किया।

प्रथम दौर

: १ :

शंका ४

व्यवहार धर्म निश्चय धर्ममें साधक है या नहीं ?

समाधान

निश्चय रत्नत्रयस्वरूप निश्चय धर्मकी उत्पत्तिकी अपेक्षा यदि विचार किया जाता है तो व्यवहार धर्म निश्चय धर्ममें साधक नहीं है, क्योंकि निश्चय धर्मको उत्पत्ति परनिरपेक्ष होती है। श्री नियमसारजी में कहा भी है—

तह दंसणउवओगो ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं असहायं तं सहावमिदि भणिदं ॥ १३ ॥
चक्खु अचक्खू ओही तिण्णि वि भणिदं विभावदिच्छि त्ति।
पज्जाओ दुवियप्पो सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ॥ १४ ॥

अर्थ—उसी प्रकार दर्शनोपयोग स्वभाव और विभावके भेदसे दो प्रकारका है। जो केवल इन्द्रिय रहित और असहाय है वह स्वभाव दर्शनोपयोग कहा गया है। तथा चक्षु अचक्षु और अवधि ये तीनों विभाव दर्शन कहे गये हैं, क्योंकि पर्याय दो प्रकारकी है—स्वपरसापेक्ष और निरपेक्ष ॥ १३-१४ ॥

तात्पर्य यह है कि सर्वत्र विभाव पर्याय स्वपरसापेक्ष होती है और स्वभाव पर्याय परनिरपेक्ष होती है।

पुद्गल द्रव्यकी अपेक्षा इसी बातको स्पष्ट करते हुए इसी नियमसारकी गाथा २८ में भी कहा है—

अण्णणिरावेक्खो जो परिणामो सो सहावपज्जावो।
खंधसरूवेण पुणो परिणामो सो विहावपज्जावो ॥ २८ ॥

अर्थ—अन्य निरपेक्ष जो परिणाम होता है वह स्वभावपर्याय है और स्कन्धरूप जो परिणाम होता है वह विभाव पर्याय है ॥ २८ ॥

यतः निश्चय रत्नत्रय स्वभाव पर्याय है, अतः उसकी उत्पत्तिका साधक व्यवहार धर्म नहीं हो सकता यह उक्त प्रमाणसे स्पष्ट है।

तथापि चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सविकल्प दशामें व्यवहार धर्म निश्चय धर्मके साथ रहता है, इसलिये व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका सहचर होनेके कारण साधक (निमित्त) कहा जाता है।

●

द्वितीय दौर

: २ :

शंका ४

व्यवहार धर्म निश्चय धर्मका साधक है या नहीं ?

प्रतिशंका २

इसका उत्तर आपने यह दिया है—'निश्चय रत्नत्रयस्वरूप निश्चयधर्मकी उत्पत्तिकी अपेक्षा यदि विचार किया जाता है तो व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधक नहीं है, क्योंकि निश्चयधर्मकी उत्पत्ति पर निरपेक्ष होती है।'

आपके इस अभिप्रायकी सिद्धिके लिये नियमसारकी गाथा १३ और १४ का प्रमाण उपस्थित किया है, जिसके आधार पर आपने यह निष्कर्ष निकाला है कि चूँकि स्वभाव पर्याय परनिरपेक्ष है और इस तरह निश्चयधर्म जब पर निरपेक्ष सिद्ध होता है तो इसे व्यवहारधर्म सापेक्ष कैसे माना जा सकता है।

आपके उत्तरसे यह मालूम होता है कि सबसे बड़ी चिन्ता आपको यही है कि यदि निश्चयधर्मको व्यवहारधर्म सापेक्ष माना जाता है तो फिर निश्चयधर्मको आत्माको विभाव पर्याय माननेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा, परन्तु इस पर हमारा कहना यह है कि व्यवहारधर्म और निश्चयधर्म दोनों आत्माके ही धर्म हैं। निश्चयधर्ममें व्यवहारधर्मकी साध्यता मान लेने पर भी परनिरपेक्षताका सद्भाव बना रहनेसे (निश्चय धर्मके समान व्यवहारधर्म भी पर नहीं है, इसलिये) निश्चयधर्मको आत्माकी स्वभावपर्यायताका अभाव नहीं हो सकता।

आगममें व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक बतलाया है। जिसके कुछ प्रमाण निम्नलिखित हैं—

निश्चय-व्यवहारयोः साध्य-साधनभावत्वात्सुवर्णसुवर्णपाषाणवत्।

अर्थ—निश्चय और व्यवहारमें परस्पर साध्य-साधनभाव है, जैसे सोना साध्य है और सुवर्णपाषाण साधन है। पंचास्तिकाय गा० १५९, श्री अमृतचन्द्रजीकृत टीका तथा परमात्मप्रकाश अ० २-१२ टीका।

भिन्नविषयश्रद्धान-ज्ञान-चारित्रैरधिरोप्यमाणसंस्कारस्य भिन्नसाध्य-साधनभावस्य रजकशिला-तलस्फाल्यमानविमलसलिलाप्लुतविहितोपपरिष्वङ्गमलिनवासस इव मनाङ्मनाग्विशुद्धिमधिगम्य निश्चय-नयस्य भिन्नसाध्य-साधनभावाभावाद्दर्शन-ज्ञान-चारित्रसमाहितस्वरूपे विश्रान्तसकलक्रियाकाण्डाडम्बर-निस्तरंगपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवत्यात्मनि विश्रान्तिमासूत्रयन्तः।

—पंचास्तिकाय गा० १७२ अमृतचन्द्रसूरिकृत टीका

अर्थ—जीव पहले भिन्नस्वरूप श्रद्धान-ज्ञान-चारित्ररूप व्यवहाररत्नत्रयसे शुद्धता करते हैं—जैसे मलीन वस्त्रको धोबी भिन्न साध्य-साधनभावकर शिलाके ऊपर साबुन आदि सामग्रियोंसे उज्ज्वल करता है, तैसे ही जीव व्यवहार नयका अवलम्बन पाय भिन्न साध्यसाधन भावके द्वारा क्रमसे विशुद्धताको प्राप्त होता है। तदनन्तर निश्चय नयकी मुख्यतासे भिन्न साध्य-साधनभावका अभाव होनेसे दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वरूप विषै सावधान होकर अन्तरंग गुप्त अवस्थाको धारण करता है।

श्री जयसेनजीने भी पंचास्तिकाय गा० १०५ की टीकामें लिखा है—

निश्चयमोक्षमार्गस्य परम्परया कारणभूतं व्यवहारमोक्षमार्गः ।

अर्थ—व्यवहार मोक्षमार्ग परम्परा करके निश्चय मोक्षमार्गका कारणभूत है।

इसी ग्रन्थकी गाथा १६० तथा १६१ के शीर्षकमें सूरिजीने निम्नप्रकार दिये हैं—

निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन व्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम् । तथा व्यवहारमोक्षमार्गसाध्यभावेन निश्चयमोक्षमार्गोपन्यासोऽयम् ।

अर्थ—निश्चय मोक्षमार्गका साधनरूप व्यवहार मोक्षमार्ग तथा व्यवहार मोक्षमार्गसे साध्यरूप निश्चय मोक्षमार्ग ।

इसी प्रकार इन्हीं गाथाओंकी टीकामें श्री जयसेनजीने भी स्पष्टरूपसे व्यवहार मोक्षमार्गको निश्चयका साधक बतलाया है।

निश्चय मोक्षमार्गसाधकव्यवहारमोक्षमार्गकथनरूपेण ।—पृष्ठ २६२

श्री प्रवचनसार गा० २०२ की टीकामें सूरिजीने व्यवहार ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचारके विषयमें स्पष्ट कहा है कि इनके प्रसादसे जीव शुद्धात्मस्थितिको प्राप्त होता है।

श्री परमात्मप्रकाशजी श्लोक ७ की टीकामें भी व्यवहार पंचाचारको निश्चय पंचाचारका साधक बतलाया है।

अध्याय २ श्लोक की टीका में भी व्यवहार रत्नत्रयको निश्चयरत्नत्रयका साधक बतलाया है—

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूपनिश्चयरत्नत्रयलक्षणनिश्चयमोक्षमार्गसाधकं व्यवहारमोक्षमार्गं जानीहि ।

श्रीद्रव्यसंग्रहजीको टीकाके प्रमाण निम्न प्रकार हैं—

निश्चयरत्नत्रयं तत्साधकं व्यवहाररत्नत्रयरूपं ।—पृ० ८१

निश्चयरत्नत्रयपरिणतं स्वशुद्धात्मद्रव्यं तद्बहिरंगसहकारिकारणभूतं पंचपरमेष्ठ्याराधनञ्च शरणम् ।'
—पृ० १०२

अर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चय-व्यवहारनयसाध्य-साधकभावेन मन्यते............सम्यग्दृष्टेर्लक्षणम् ।
—पृ० २३

अत्र व्यवहारसम्यक्त्वमध्ये निश्चयसम्यक्त्वं किमर्थं व्याख्यातमिति चेत् ? व्यवहारसम्यक्त्वेन निश्चयसम्यक्त्वं साध्यत इति साध्य-साधकभावज्ञापनार्थमिति ।—पृ० १७६

निश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं यच्छुभोपयोगलक्षणं व्यवहारध्यानम् ।—पृ० २०४

निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयध्यानस्य परम्परया कारणभूतं बाह्याभ्यन्तरमोक्षमार्गसाधकं परमसाधुभक्तिरूपं ।—पृ० २१५

द्वादशविधं तपः । तेनैव साध्यं शुद्धात्मस्वरूपे प्रतपनं विजयनं निश्चयतपश्च ।—पृ० २२३

आपने अपने उत्तरके अन्तमें जो यह लिखा है कि 'चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सविकल्प दशामें व्यवहार धर्म निश्चयधर्मके साथ रहता है, इसलिए व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका सहचर होनेके कारण साधक कहा गया है।' इसके विषयमें हमारा आपसे यह निवेदन है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका सहचर होनेके कारण साधक किस उद्देश्यसे माना जाता है? कृपया इसका स्पष्टीकरण कीजिये। पदार्थोंमें सहचरभाव तो

बहुतसे विद्यमान रहते हैं फिर भी उनमें एकका दूसरेके साथ साध्य-साधकभाव माना जाना अनिवार्य नहीं होता है। दूसरी बात यह है कि जिस तरह आप सहचर होनेके कारण व्यवहार धर्मको निश्चयधर्मका साधक कहते हैं उसी तरह सहचर रहनेवाले निश्चयधर्मको क्या आप व्यवहारधर्मका साधक मानते हैं ?

उपरोक्त प्रमाणोंके आधारपर यह सिद्ध होता है कि आगममें व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधक सहचर होनेके कारण नहीं माना गया है। यदि माना गया हो तो कृपया आप स्पष्ट कीजिये।

●

शंका ४

व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है, या नहीं ?

प्रतिशंका ३ का समाधान

शंका ४ में व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधक है या नहीं ? यह पृच्छा की गई थी। इसके उत्तर स्वरूप बतलाया गया था कि उत्पत्तिकी अपेक्षा तो व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधक नहीं हैं, क्योंकि निश्चय-धर्मकी सर्वदा सर्वत्र एकमात्र स्वभावके आश्रयसे ही उत्पत्ति होती है। नयचक्रमें कहा भी है—

ववहारदो बंधो मोक्खो जम्हा सहावसंजुत्तो।
तम्हा कुरु तं गउणं सहावमाराहणाकाले ॥७७॥

अर्थ—यतः व्यवहारसे बन्ध होता है और स्वभावका आश्रय लेनेसे मोक्ष होता है, इसलिए स्वभाव-की आराधनाके कालमें अर्थात् मोक्षमार्गमें व्यवहारको गौण करो ॥७७॥

इस सम्बन्धी प्रतिशंकामें प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, परमात्मप्रकाश और द्रव्यसंग्रहके विविध प्रमाण उपस्थितकर जो यह सिद्ध किया गया है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधक है सो वह कथन असद्भूत व्यवहारकी अपेक्षासे ही किया गया है। यही कारण है कि श्रीजयसेनाचार्यने पञ्चास्तिकाय गाथा १०५ की टीकामें और द्रव्यसंग्रह पृ० २०४ में व्यवहार रत्नत्रयको परंपरासे निश्चयरत्नत्रयका साधक कहा है। श्री पण्डितप्रवर टोडरमलजी सा० ने मोक्षमार्गप्रकाशकमें इस विषयको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

सम्यग्दृष्टिके शुभोपयोग भए निकट शुद्धोपयोग प्राप्ति होय ऐसा मुख्यपना करि कहीं शुभो-पयोगकौं शुद्धोपयोगका कारण भी कहिए है। पृ० ३७७ दिल्ली संस्करण

श्री पंचास्तिकाय गाथा १०५ की जयसेनाचार्यकृत टीकामें और बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका पृ० २०४ में जो व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका परम्परासे साधक कहा है सो वह इसी अभिप्रायसे कहा है। वस्तुतः मोक्षमार्ग एक ही है। उसका निरूपण दो प्रकारका है। इसलिए जहाँ निश्चय मोक्षमार्ग होता है वहाँ उसके साथ होनेवाले व्यवहारधर्मरूप रागपरिणामको व्यवहार मोक्षमार्ग आगममें कहा है और यतः वह सहचर होनेसे निश्चय मोक्षमार्गके अनुकूल है, इसलिए उपचारसे निश्चय मोक्षमार्गका साधक भी कहा है। श्रीपंडित-प्रवर टोडरमलजीने खुलासा करते हुए लिखा है—

जहां सांचा मोक्षमार्गकौ मोक्षमार्ग निरूपण सो निश्चय मोक्षमार्ग है और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो

है नाहीं, परन्तु मोक्षमार्गका निमित्त है वा सहचारी है ताकौ उपचार करि मोक्षमार्ग कहिए सो व्यवहार मोक्षमार्ग है। जातैं निश्चय व्यवहारका सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सांचा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार, तातैं निरूपण अपेक्षा दोय प्रकार मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है ऐसे दोय मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है। बहुरि निश्चय व्यवहार दोऊनिकूं उपादेय मानैं है सो भी भ्रम है। जातैं निश्चय-व्यवहारका स्वरूप तौ परस्पर विरोध लिए है।

—मोक्षमार्गप्रकाशक पृ० ३६५-३६६ देहली संस्करण

तात्पर्य यह है कि निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म दोनों ही आत्माके धर्म अर्थात् पर्यायांश हैं। किन्तु निश्चयधर्म आत्माका स्वाश्रित पर्यायांश है और व्यवहार धर्म आत्माका पराश्रित पर्यायांश है। प्राथमिक भूमिकामें ये दोनों मिश्ररूप होते हैं। ऐसी अवस्थामें निश्चयधर्मकी उत्पत्ति व्यवहार धर्मके द्वारा मानने पर आत्माको स्वभाव सन्मुख होनेका प्रसंग ही नहीं आ सकता। अतएव इस सम्बन्धमें जो पूर्वमें स्पष्टीकरण किया है वैसा श्रद्धान और ज्ञान करना ही शास्त्रानुकूल है।

श्री प्रवचनसारमें इन दोनोंमें महान् भेद है इस तथ्यका बहुत सारगर्भित शब्दों द्वारा स्पष्टीकरण किया गया है। उसे अपनी सूक्ष्मेक्षणिकासे ध्यानमें लेनेपर व्यवहार धर्मको निश्चय धर्मका जो साधक कहा है वह कथन उपचरितमात्र है यह तथ्य अच्छी तरहसे स्पष्ट हो जाता है। वहाँ कहा है—

संपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः। तत एव च सरागाद्देवासुरमनुजराजविभवक्लेशरूपो बन्धः। अतो मुमुक्षुणेष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयमनिष्टफलत्वात्सरागचारित्रं हेयम् ॥ ६ ॥

अर्थ—दर्शन-ज्ञानप्रधान चारित्रसे, यदि वह (चारित्र) वीतराग हो तो मोक्ष प्राप्त होता है, और उससे ही, यदि वह सराग हो तो देवेन्द्र-असुरेन्द्र-नरेन्द्रके वैभवक्लेशरूप बन्धकी प्राप्ति होती है। इसलिये मुमुक्षुओंको इष्टफलवाला होनेसे वीतराग चारित्र ग्रहण करने योग्य (उपादेय) है, और अनिष्ट फलवाला होनेसे सराग चारित्र त्यागने योग्य (हेय) है ॥ ६ ॥

●

तृतीय दौर

: ३ :

शंका ४

हमारा प्रश्न था—

व्यवहार धर्म निश्चय धर्मका साधक है या नहीं?

प्रतिशंका ३

इस प्रश्नके उत्तरमें आपके पत्रकमें मूल प्रश्नको न छूते हुए स्वभाव और विभाव दर्शनोपयोगपर तथा पुद्गल द्रव्यकी स्वभाव विभाव पर्यायपर प्रकाश डालकर नियमसारकी तीन गाथाएँ उद्धृत की गई थीं, परन्तु उन प्रमाणोंका मूल विषयसे कुछ सम्बन्ध नहीं है।

आपके उस पत्रकपर हमने प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, परमात्मप्रकाश और द्रव्यसंग्रह ग्रन्थोंके अनेक प्रमाण देकर यह सिद्ध किया था कि व्यवहारधर्म (व्यवहार रत्नत्रय) साधन है और निश्चयधर्म (निश्चय रत्नत्रय) साध्य है। परम प्रमाणभूत, मूलसंघके प्रतिष्ठापक श्रीकुन्दकुन्दाचार्य तथा अन्य आध्यात्मिक प्रामाणिक आचार्योंके आर्ष प्रमाण देखकर जिनवाणीका श्रद्धालु तत्ववेत्ता नतमस्तक होकर उन्हें स्वीकार कर लेता है, ऐसी ही आशा आपसे भी थी; किन्तु आपने उन प्रमाणोंको स्वीकार नहीं किया और असद्भूत व्यवहारनयकी आड़ लेकर उन्हें टाल दिया है जब कि उक्त कथन असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षासे नहीं है और न उसकी अपेक्षासे हो ही सकता है। इसके लिये आलापपद्धतिके अन्तमें दिया हुआ अध्यात्म नयोंका प्रकरण द्रष्टव्य है। वहाँ सद्भूत तथा असद्भूत व्यवहारनयका निम्न प्रकार लक्षण दिया है—

व्यवहारो भेदविषयः, एकवस्तुविषयः सद्भूतव्यवहारः, भिन्नवस्तुविषयोऽसद्भूतव्यवहारः।

अर्थ—व्यवहारनय भेद विषयवाला है। एक ही वस्तु जिसका विषय है वह सद्भूतव्यवहारनय है और भिन्न वस्तु जिसका विषय है वह असद्भूतव्यवहारनय है।

इस विवेचनसे आत्माका व्यवहार रत्नत्रय है यह सद्भूतव्यवहारनयका विषय ठहरता है। अपनी पक्षपुष्टिके लिये आपने कोई भी ऐसा आगम प्रमाण उपस्थित नहीं किया जो व्यवहार धर्मको निश्चयधर्मका साधन न मानता हो।

हमारे प्रश्न १२ के उत्तरमें आपने स्पष्टरूपसे स्वीकार कर लिया है कि 'कुगुरु कुधर्म कुशास्त्रकी श्रद्धा गृहीत मिथ्यात्व है तथा सुदेव सुशास्त्र सुगुरुकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है।' इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए श्री नियमसारमें निम्न गाथा दी है—

अत्तागमतच्चाणं सद्दहणादो हवेइ सम्मत्तं ॥५॥

अर्थ—आप्त, आगम और तत्त्वोंकी श्रद्धासे सम्यक्त्व होता है।

उसकी टीकामें स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

व्यवहारसम्यक्त्वाख्यानमेतत्।

यह व्यवहार सम्यक्त्वके स्वरूपका कथन है।

'सम्यग्दृष्टिके ऐसी श्रद्धा अवश्य होती है और वह ऐसे कथनको शास्त्रोक्त मानता है' आपका यह उत्तर ठीक है, अतः हमने इसे स्वीकार कर लिया है। परन्तु आपने हमारे चौथे प्रश्नके उत्तरमें जो लिखा है वह आपके इस उक्त १२ वें प्रश्नके उत्तरसे विरुद्ध है।

आपने इस चौथे प्रश्नके उत्तरमें लिखा है कि 'व्यवहार धर्मरूप रागपरिणामको व्यवहार मोक्षमार्ग आगममें कहा है' तथा यह भी कहा है कि 'वह (रागपरिणाम) सहचर होनेसे निश्चय मोक्षमार्गके अनुकूल है।' आपका राग परिणामको निश्चय मोक्षमार्गके अनुकूल लिखना उचित नहीं है। राग परिणाम तो निश्चय मोक्षमार्गके अनुकूल नहीं हो सकता। अतः आपका यह लिखना आगम सम्मत नहीं है, क्योंकि किसी भी आगम ग्रन्थमें मात्र राग परिणामको व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं कहा है। यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग अर्थात् व्यवहार रत्नत्रयके साथ प्रशस्त रागभाव रहता है, परन्तु मोक्षमार्ग मात्र रागभावको नहीं बतलाया गया है। सर्वत्र सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको रत्नत्रय या मोक्षमार्ग कहा है। जैसा कि निम्न प्रमाणोंसे स्पष्ट सिद्ध होता है—

नियमसारकी उल्लिखित ५ वीं गाथामें व्यवहार सम्यक्त्वका लक्षण आप्त, आगम और तत्त्वकी श्रद्धा बतलाया है, रागको नहीं।

श्रीपञ्चास्तिकायमें गाथा १०६ के पश्चात् श्रीजयसेनाचार्यकृत टीकामें भी एक गाथा आई है, जो इस प्रकार है—

एवं जिणपण्णत्ते सद्दहमाणस्स भावदो भावे।
पुरिसस्साभिणिबोधे दंसणसद्दो हवदि जुत्ते॥

अर्थ—इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रणीत पदार्थोंमें रुचिरूप श्रद्धान करते हुए पुरुषको जो मति श्रुत ज्ञान होते हैं उनसे युक्त जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

श्रीजयसेनाचार्य इसकी टीकामें लिखते हैं—

अत्र सूत्रे यद्यपि क्वापि निर्विकल्पसमाधिकाले निर्विकारशुद्धात्मरुचिरूपं निश्चयसम्यक्त्वं स्पृशति तथापि प्रचुरेण बहिरंगपदार्थरुचिरूपं यद् व्यवहारसम्यक्त्वं तस्यैव तत्र मुख्यता।

अर्थ—इस आगम वाक्यमें यद्यपि कभी निर्विकल्प समाधिकालमें निर्विकार शुद्धात्मरुचिरूप निश्चय सम्यक्त्वका स्पर्श होता है तो भी अधिकतासे बहिरंग पदार्थ रुचिरूप जो व्यवहार सम्यक्त्व रहता है उसीकी यहाँ पर मुख्यता है।

रुचि, प्रतीति, श्रद्धा एक पर्यायवाची शब्द हैं।

इसी ग्रन्थमें व्यवहार मोक्षमार्गका स्वरूप निम्न प्रकार बतलाया है—

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चिट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति॥१६०॥

अर्थ—धर्मादि द्रव्योंके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन, अंग-पूर्वगत ज्ञान और तपश्चरणरूप चारित्र यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

इस गाथाका शीर्षक वाक्य श्री अमृतचन्द्र सूरिने निम्न प्रकार दिया है—

निश्चयमोक्षमार्गसाधनभावेन पूर्वोद्दिष्टव्यवहारमोक्षमार्गनिर्देशोऽयम्।

अर्थ—आगे निश्चय मोक्षमार्गके साधनरूपसे पहले कहे गये व्यवहार मोक्षमार्गका निर्देश है।

श्री अमृतचन्द्रसूरिने टीकामें इसीका विस्तारसे कथन किया है तथा व्यवहार मोक्षमार्गका साधकभाव और निश्चय मोक्षमार्गका साध्यभाव सिद्ध किया है।

द्रव्यसंग्रहकी १३वीं गाथाको टीकामें भी स्पष्ट लिखा है—

अर्हत्सर्वज्ञप्रणीतनिश्चय-व्यवहारनयसाध्य-साधकभावेन मन्यते.................................. सम्यग्दृष्टिलक्षणम्।

अर्थ—श्री अर्हन्त सर्वज्ञ भगवान्के द्वारा कहे हुए निश्चय-व्यवहारनयको जो साध्यसाधक भावसे मानता है वह सम्यग्दृष्टिका लक्षण है।

इसका स्पष्ट आशय यह हुआ कि जो निश्चयनयको साध्य और व्यवहार नयको साधकभावसे नहीं मानता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकता है।

परमात्मप्रकाशके दूसरे अध्यायको १४ वीं गाथा की टीका देखिये—

वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादिसम्यक्श्रद्धानज्ञानव्रताद्यनुष्ठानरूपो व्यवहारमोक्षमार्गः।

अर्थ—वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित छह द्रव्यादिका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा व्रतादिका अनुष्ठानरूप व्यवहार मोक्षमार्ग है।

श्री नियमसारमें पूर्वोक्त ५ वीं गाथाके अतिरिक्त ५१ से ५५ तक पांच गाथाओंमें भी रत्नत्रयका विस्तृत स्वरूप कथन है—

विवरीयाभिणिवेसविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ।
संसयविमोहविब्भमविवज्जियं होदि सण्णाणं ॥ ५१ ॥
चल-मलिनमगाढत्तविवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्तं ।
अधिगमभावे णाणं हेयोपादेयतच्चाणं ॥ ५२ ॥
सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा ।
अंतरहेऊ भणिदा दंसणमोहस्स खयपहुदी ॥ ५३ ॥
सम्मत्तं सण्णाणं विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरणं ।
ववहार-णिच्छएण दु तम्हा चरणं पवक्खामि ॥ ५४ ॥
ववहारणयचरित्ते ववहारणयस्स होदि तवचरणम् ।
णिच्छयणयचारित्ते तवयरणं होदि णिच्छयदो ॥ ५५ ॥

अर्थ—विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व है, संशय-विमोह-विभ्रम रहित सम्यग्ज्ञान होता है ॥ ५१ ॥ चल-मलिन-अगाढ़ रहित श्रद्धान ही सम्यक्त्व होता है। हेय उपादेय तत्त्वोंका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है ॥ ५२ ॥ जिनसूत्र तथा उनका ज्ञायक पुरुष सम्यक्त्वका बहिरंग निमित्त है, और दर्शनमोहके क्षयादिक अन्तरंग हेतु कहे गये हैं ॥ ५३ ॥ हे भव्य जीव ! सुन, मोक्षके लिये सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र होते हैं, इसलिये व्यवहार तथा निश्चय चारित्रका कथन करता हूँ ॥ ५४ ॥ व्यवहार नयके चारित्रमें व्यवहार नयका तपश्चरण होता है और निश्चय नयके चारित्रमें निश्चय नयका तपश्चरण होता है ॥ ५५ ॥

इन गाथाओंके टीकाकारने निम्नलिखित टीका द्वारा गाथार्थका विस्तार करते हुए स्पष्ट किया है कि ५५वीं गाथाके उत्तरार्धके अतिरिक्त शेष सब व्यवहार रत्नत्रयके स्वरूपका कथन है। टीका देखिये—

भेदोपचाररत्नत्रयमपि तावद् विपरीताभिनिवेशविवर्जितश्रद्धानरूपं भगवतां सिद्धिपरम्पराहेतुभूतानां पञ्चपरमेष्ठिनां चलमलिनागाढविवर्जितसमयजनितनिश्चलभक्तियुक्तत्वमेव । विपरीते हरिहरहिरण्यगर्भादिप्रणीते पदार्थसार्थे ह्यभिनिवेशाभाव इत्यर्थः । संज्ञानमपि च संशयविमोहविभ्रमविवर्जितमेव । तत्र संशयस्तावत् जिनो वा शिवो वा देव इति । विमोहः शाक्यादिप्रोक्ते वस्तुनि निश्चयः । विभ्रमो ह्यज्ञानमेव । पापक्रियानिवृत्तिपरिणामश्चारित्रम् । इति भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतिः । तत्र जिनप्रणीतहेयोपादेयतत्त्वपरिच्छित्तिरेव सम्यग्ज्ञानम् ।

अर्थ—भेदोपचार रत्नत्रय भी विपरीताभिनिवेश रहित श्रद्धान, आत्मसिद्धिके परम्परा कारणभूत पञ्च परमेष्ठी भगवान्की चल, मलिन एवं अगाढ़ रहित निश्चल भक्ति ही है, जो कि हरि हर ब्रह्मादिप्रणीत विपरीत पदार्थसमूहमें अभिनिवेशका अभावरूप है और सम्यग्ज्ञान भी संशय विमोह विभ्रमसे रहित ही है। इनमें संशयका रूप यह है कि 'जिन' देव हैं ? या 'शिव' देव हैं ? शाक्यादि—बौद्धादि द्वारा कही हुई वस्तुओंमें निश्चय होना विमोह है। विभ्रम अज्ञानता ही है और पापक्रियासे निवृत्तिरूप परिणाम चारित्र है। ये भेदोपचार रत्नत्रयकी परिणति है। इनमें जिन प्रणीत हेयोपादेय तत्त्वका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

आगे चलकर इसी ग्रन्थके चौथे अध्यायमें व्यवहारचारित्रका कथन है, जिसमें पाँच पापोंसे निवृत्ति अर्थात् पञ्च व्रत, पाँच समिति तथा तीन गुप्तिको व्यवहार चारित्र कहा है। इस अध्यायकी अन्तिम गाथा ७६ द्वारा यह स्पष्ट किया है कि इस अध्यायमें व्यवहार चारित्रका कथन किया है। पञ्च पापोंके त्यागका नाम व्रत बतलाया है, क्रिया करते समय प्रमाद असावधानीका त्याग समिति है और मन वचन कायकी क्रियाका निरोध करना गुप्ति है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य दर्शनपाहुडमें लिखते हैं—

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ॥ १९ ॥

अर्थ—जिनेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट छह द्रव्य, नव पदार्थ पाँच अस्तिकाय तथा सप्त तत्त्वोंके स्वरूपका जो श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि जानना चाहिये ॥ १९ ॥

श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्डश्रावकाचारमें लिखते हैं—

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥ ४ ॥

अर्थ—सत्यार्थ आप्त, आगम और गुरुका श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। यह तीन मूढता रहित, आठ अंग सहित और आठ मद रहित होता है।

ऐसे अन्य भी बहुत प्रमाण हैं। इन सब प्रमाणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार रत्नत्रयको मात्र रागरूप कहना अर्थात् 'निश्चय रत्नत्रयके साथ जो राग रहता है उस रागांशका नाम व्यवहार रत्नत्रय है' कहना आगम विरुद्ध है। प्रत्युत 'राग, भेद या विकल्प सहित जो सप्त तत्त्व आदिका श्रद्धान व ज्ञान तथा पापोंसे निवृत्तिरूप चारित्र है वह व्यवहार रत्नत्रय या व्यवहार मोक्षमार्ग है।' इसीको उपचार रत्नत्रय भी कहा जाता है। यह निश्चय रत्नत्रय एवं मोक्षका हेतु है। जिसके कुछ प्रमाण पहले पत्रकमें तथा इसी लेखमें ऊपर दिये हैं। और भी देखिये—

श्री अमृतचन्द्र सूरि पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थमें निश्चयके साथ व्यवहार रत्नत्रयको मुक्तिका कारण बतलाते हैं—

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येषः।
मुख्योपचाररूपः प्रापयति परं पदं पुरुषम् ॥ २२ ॥

अर्थ—इस प्रकार यह पूर्व कथित निश्चय और उपचार-व्यवहाररूप सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र लक्षणवाला मोक्षमार्ग आत्माको परमात्मपद प्राप्त कराता है।

पञ्चास्तिकायकी गाथा ७० की टीकामें जयसेनाचार्य लिखते हैं—

निश्चय-व्यवहारमोक्षमार्गचारी······गच्छति······निर्वाणनगरम्।

अर्थ—निश्चय तथा व्यवहार मोक्ष मार्गपर चलनेवाला व्यक्ति मोक्ष नगरको पहुँच जाता है।

निश्चय-व्यवहारमोक्षकारणे सति मोक्षकार्यं संम्भवति।

—पञ्चास्तिकाय गाथा १०६ जयसेनीया टीका

वीतरागत्वं निश्चय-व्यवहारनयाभ्यां साध्यसाधकरूपेण परस्परसापेक्षाभ्यामेव भवति मुक्तिसिद्धये न च पुनर्निरपेक्षाभ्यामिति वार्तिकम् ।

—पञ्चास्तिकाय १७२ गाथा श्री जयसेनाचार्यकृत टीका

अर्थ—वीतरागता, निश्चय तथा व्यवहार नयके साध्यसाधक भावसे परस्पर सापेक्ष होनेपर ही मुक्तिकी सिद्धिके लिये होती है, दोनों नयोंके निरपेक्ष होनेपर वह वीतरागता मुक्तिसिद्धिके लिये नहीं होती।

श्री पं० दौलतरामजी छहढाला ग्रन्थकी तीसरी ढालमें लिखते हैं—

अब व्यवहार मोक्षमग सुनिये, हेतु नियतको होई ॥ २ ॥

अर्थ—अब व्यवहार मोक्षमार्गका स्वरूप सुनो जो कि निश्चय मोक्षमार्गका कारण है।

छठवीं ढालके अन्तमें वे निष्कर्ष (ग्रन्थका निचोड़) कहते हैं—

मुख्योपचार दुभेद यों बड़भागि रत्नत्रय धरें।
अरु धरेंगे ते शिव लहैं तिन सुयश-जल जगमल हरें ॥

अर्थ—इस प्रकार जो भाग्यशाली पुरुष निश्चय तथा व्यवहार रत्नत्रयको धारण करते हैं अथवा भविष्यमें धारण करेंगे वे मोक्ष प्राप्त करते हैं और उनका स्वच्छ यशरूपी जल संसारके मैलको दूर करता है।

यहाँ दोनों ढालोंमें पं० दौलतरामजीने व्यवहार रत्नत्रयको भी निश्चय रत्नत्रयका कारण बतलाते हुए मोक्षका कारण बतलाया है।

अब प्रसंगवश निश्चय रत्नत्रय (मोक्षमार्ग) का स्वरूप दिखलानेके लिये कुछ प्रमाण दिये जाते हैं—

श्री कुन्दकुन्दाचार्य पञ्चास्तिकायमें लिखते हैं—

जो चरदि णादि पिच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्छिदो होदि ॥१६२॥

अर्थ—जो (आत्मा) आत्माको आत्मासे अनन्यमय आचरता है, जानता है, देखता है वह (आत्मा ही) चारित्र है, ज्ञान है, दर्शन है ऐसा निश्चय रत्नत्रय है।

ये ही कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुडमें लिखते हैं—

अप्पा अप्पम्मि रओ सम्मादिट्ठी हवेइ फुड जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं चरदिह चारित्तमग्गु त्ति ॥३१॥

अर्थ—जो आत्मामें रत है वह सम्यग्दृष्टि है, उसे जानना सम्यग्ज्ञान है और उसमें आचरण करना सो सम्यक्चारित्र है।

अमृतचन्द्र सूरि पुरुषार्थसिद्ध्युपायमें एक प्रश्नका उत्तर देते हुए लिखते हैं—

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥२१६॥

अर्थ—अपनी आत्माका विनिश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्माका विशेष ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्मामें स्थिरता सम्यक्चारित्र है। इन तीनोंसे बन्ध कैसे हो सकता है ?

श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती अपने द्रव्यसंग्रहमें लिखते हैं—

सम्मद्दंसणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे।
ववहारा णिच्छयदो तत्तियमइओ णिओ अप्पा ॥३९॥

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको व्यवहारसे मोक्षका कारण जानो और निश्चयसे सम्यग्दर्शनादि त्रिरूप आत्मा मोक्षका कारण है ॥

परमात्मप्रकाश अध्याय २ दोहक १४ की टीकामें लिखा है—

वीतरागसम्यक्त्वं निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणम्।
वीतरागचारित्राविनाभूतं तदेव निश्चयसम्यक्त्वम् ॥

अर्थ—वीतराग सम्यक्त्वका लक्षण स्वशुद्धात्मानुभूति है और वह वीतराग चारित्रका अविनाभूत है। वह ही निश्चय सम्यक्त्व है।

पं० दौलतराम जी ने भी छहढाला तीसरी ढालमें निश्चय रत्नत्रयका स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

पर द्रव्यनतें भिन्न आपमें रुचि सम्यक्त्व भला है
आप-रूपको जानपनौं सो सम्यग्ज्ञान कला है।
आप-रूपमें लीन रहे थिर सम्यक्चारित्र सोई
अब व्यवहार मोक्ख मग सुनिये हेतु नियतको होई ॥ २ ॥

अर्थ—अन्य द्रव्योंसे पृथक् अपनी आत्माकी रुचि होना निश्चय सम्यग्दर्शन है, केवल निज आत्माको जानना निश्चय सम्यग्ज्ञान है और अपने आत्मामें लीन होना सो निश्चय सम्यक्चारित्र है। अब व्यवहार मोक्षमार्गका वर्णन करते हैं जो कि निश्चय मोक्षमार्गका कारण है।

उपर्युक्त प्रमाणों और व्यवहार तथा निश्चय रत्नत्रयके स्वरूपपर विचार करनेसे यह स्फुट रूपसे प्रकट हो जाता है कि सहचरताके कारण निश्चय व्यवहार रत्नत्रयमें साध्य-साधकभाव नहीं माना गया है, अपि तु कार्य-कारण भावसे माना गया है।

इस प्रकार यह कहना कि 'जहाँ निश्चय मोक्षमार्ग होता है वहाँ उसके साथ होनेवाले व्यवहार धर्मरूप राग परिणामको व्यवहार मोक्षमार्ग आगममें कहा है' आगम संगत नहीं जान पड़ता है, क्योंकि मात्र रागांशका नाम व्यवहार रत्नत्रय नहीं है और न मात्र रागांश निश्चय रत्नत्रयका साधक हो सकता है।

आपसे पहले उत्तरमें निवेदन किया गया था कि 'आप ऐसे प्रमाण देनेकी कृपा करें जहाँ मात्र रागांशको व्यवहार रत्नत्रय कहा गया हो और इस प्रकार सहचरताके कारण साध्य-साधक भाव सिद्ध किया गया हो' किन्तु उसके लिए आपने एक भी प्रमाण नहीं दिया, प्रत्युत पञ्चास्तिकाय गाथा १०५ पर श्री जयसेनाचार्यकृत टीका और बृहद्द्रव्यसंग्रह पृष्ठ २०९ का प्रमाण देकर यही सिद्ध किया है कि व्यवहार रत्नत्रय निश्चय रत्नत्रयका परम्परासे साधक है।

'व्यवहार धर्म निश्चय धर्ममें साधक है या नहीं ? इस प्रश्नके मूलमें आशय यह था कि आज समाजके अन्दर प्रवचनकी ऐसी धारा चल पड़ी है जिसमें कहा जाता है "मैं शुद्ध बुद्ध निरञ्जन हूँ, त्रैकालिक

अखण्ड द्रव्य हूँ, बाह्य चारित्रसे आत्माका कल्याण होनेवाला नहीं, प्रत्युत कर्मबन्ध होता है। इसे धारण कर तो यह जीव अनन्त बार ग्रैवेयकमें उत्पन्न हो चुका है।' इसके फल स्वरूप समाजमें व्यवहार धर्म से अरुचि फैलने लगी है। कितने ही त्यागियोंने गृहीत व्रत छोड़ दिये हैं, जनतामें रात्रिभोजन और अभक्ष्य-भक्षणकी प्रवृत्ति चल पड़ी है। और साधारण गृहस्थका जो कुलाचार है उसे भी लोग छोड़ रहे हैं। फिर देशव्रत और महाव्रतकी ओर लोगोंकी अभिरुचि जागृत हो यह दूरकी बात रह गई है। लोगोंकी यह मान्यता बनती जाती है कि धर्म तो एक निश्चय धर्म है, व्यवहार धर्म कोई धर्म नहीं है। वह तो मात्र बन्धका कारण है, उसके पालनेसे कुछ लाभ नहीं होता। अनादि कालसे लगे हुए मोहके संस्कारवश जनता तो त्याग के मार्गसे दूर रहती है, उस पर उसे ऐसे उपदेश मिलें कि व्यवहार धर्ममें क्या रखा है ? तब तो उसे त्याग की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ हो जायगी। इसी अभिप्रायसे यह प्रश्न था कि "व्यवहार धर्म निश्चय धर्ममें कारण है या नहीं ? पर इस ओर आपका लक्ष्य नहीं गया ऐसा जान पड़ता है।

मोक्षमार्गप्रकाशकके जो अवतरण आपने दिये हैं उनसे यह अभीष्ट सिद्ध नहीं होता कि व्यवहार निश्चयका साधक नहीं है। किन्तु उससे तो यही सिद्ध होता है कि व्यवहार निश्चयका साधक है, क्योंकि वहाँ पर भी व्यवहारको निश्चयका निमित्त कहा गया है। जिनागमका उपदेश नयवादको लिये हुए है और नयवाद पात्रके अनुसार होता है। इसीलिए नयको परार्थ श्रुतज्ञानका भेद माना गया है। श्री अमृतचन्द्र स्वामीने पञ्चास्तिकायके अन्तमें प्राथमिक शिष्योंके विषयमें निम्नांकित पंक्तियाँ बड़ी महत्त्वपूर्ण लिखी हैं—

व्यवहारनयेन भिन्नसाध्यसाधनभावमवलम्ब्यानादिभेदवासितबुद्धयः सुखेनैवावतरन्ति तीर्थं प्राथमिकाः।

अर्थ—जिनकी बुद्धि अनादि कालसे भेदभाव कर वासित हो रही है ऐसे प्राथमिक शिष्य भिन्न साध्यसाधनभावका अवलम्बन लेकर सुखसे ही धर्मतीर्थमें अवतीर्ण हो जाते हैं। धर्मको अनायास प्राप्त हो जाते हैं।

इसके आगेकी पंक्तियाँ भी द्रष्टव्य हैं, जिनमें उन्होंने प्राथमिक शिष्य व्यवहार धर्मसे आत्मसाधना करता हुआ निश्चय धर्मको प्राप्त होता है इसका उल्लेख किया है—

तदाहीदं श्रद्धेयमश्रद्धेयमिदमयं श्रद्धातेदं श्रद्धानमिदमश्रद्धानमिदं ज्ञेयमिदमज्ञेयमयं ज्ञातेदं ज्ञानमिदमज्ञानमिदं चरणीयमिदमचरणीयमयं चरितेदं चरणमिति कर्तव्याकर्तव्यकर्तृकर्मविभागावलोकनोल्लसितपेशलोत्साहाः शनैः शनैर्मोहमल्लमुन्मूलयन्तः कदाचिदज्ञानान्मदप्रमादतन्त्रतया शिथिलितात्माधिकारस्यात्मनो न्याय्यपथप्रवर्तनाय प्रयुक्तप्रचण्डदण्डनीतयः पुनः पुनर्दोषानुसारेण दत्तप्रायश्चित्ताः सन्ततोद्युक्ताः सन्तोऽथ तस्यैवात्मनो भिन्नविषयश्रद्धानज्ञानचारित्रैरधिरोप्यमाणसंस्कारस्य भिन्नसाध्यसाधनभावस्य रजकशिलातलस्फाल्यमानविमलसलिलाप्लुतविहितोषपरिष्वंगमलिनवासस इव मनाक् मनाग्विशुद्धिमधिगम्य निश्चयनयस्य भिन्नसाध्यसाधनभावाभावाद्दर्शनज्ञानचारित्रसमाहितत्वरूपे विश्रान्तसकलक्रियाकाण्डाडम्बरनिस्तरंगपरमचैतन्यशालिनि निर्भरानन्दमालिनि भगवत्यात्मनि विश्रान्तिमासूत्रयन्तः क्रमेण समुपजातसमरसीभावाः परमवीतरागभावमधिगम्य साक्षान्मोक्षमनुभवन्तीति।

अर्थ—'तीर्थ क्या है ? सो दिखाते हैं—जिन जीवोंके ऐसे विकल्प होंहि कि यह वस्तु श्रद्धा करने योग्य है, यह वस्तु श्रद्धा करने योग्य नहीं है, श्रद्धा करनेवाला पुरुष ऐसा है, यह श्रद्धान है, इसका नाम अश्रद्धान है, यह वस्तु जानने योग्य है, यह नहीं जानने योग्य है, यह स्वरूप ज्ञाताका है, यह ज्ञान है,

यह अज्ञान है, यह आचरने योग्य है, यह वस्तु आचरने योग्य नहीं है, यह आचारमयी भाव है, यह आचरण करनेवाला है, यह चारित्र है, ऐसे अनेक प्रकारके करने न करनेके कर्ता कर्मके भेद उपजते हैं, उन विकल्पोंके होते हुए उन पुरुष तीर्थोंको सुदृष्टिके बढ़ावसे बार-बार उन पूर्वोक्त गुणोंके देखनेसे प्रकट उल्लास लिये उत्साह बढ़े हैं। जैसे द्वितीयाके चन्द्रमाकी कला बढ़ती जाती है तैसें ही ज्ञान दर्शन चारित्ररूप अमृत-चन्द्रमाकी कलाओंका कर्तव्याकर्तव्य भेदोंसे उन जीवोंकी बढ़वारी होती है। फिर उन्हीं जीवोंके शनैः शनैः मोहरूप महामल्लका सत्तासे विनाश होता है। किस ही एक कालमें अज्ञानताके आवेश हैं प्रमादकी आधीनतासे उनही जीवोंके आत्मधर्मकी शिथिलता है, फिर आत्माको न्याय मार्गमें चलानेके लिये आपको दण्ड देते हैं। शास्त्र न्यायसे फिर ये ही जिनमार्गी बारंबार जैसा कुछ रत्नत्रयमें दोष लगा होय उसी प्रकार प्रायश्चित्त करते हैं। फिर निरन्तर उद्यमी रहकर अपनी आत्माको जो आत्मस्वरूपसे भिन्न स्वरूप (भिन्न पदार्थोंको विषय करनेवाला) श्रद्धान ज्ञान चारित्ररूप व्यवहार रत्नत्रयसे शुद्धता करते हैं, जैसे मलीन वस्त्रको धोबी भिन्न साध्य-साधनभाव कर शिलाके ऊपर साबुन आदि सामग्रियोंसे उज्ज्वल करता है। तैसें ही व्यवहारनयका अवलम्ब पाय भिन्न साध्यसाधनभावके द्वारा गुणस्थान चढ़नेकी परिपाटीसे क्रमसे विशुद्धताको प्राप्त होता है। फिर उन ही मोक्षमार्गके साधक जीवोंके निश्चयनयकी मुख्यतासे भेदस्वरूप पर अवलम्बी व्यवहारमयी भिन्न साध्य-साधनका अभाव है, इस कारण अपने दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप विषैं सावधान होकर अन्तरंग गुप्त अवस्थाको धारण करता है। और जो समस्त बहिरंग योगोंसे उत्पन्न है क्रियाकाण्डका आडम्बर तिनसे रहित निरन्तर संकल्प-विकल्पोंसे रहित परम चैतन्य भावोंके द्वारा सुन्दर परिपूर्ण आनन्दवंत भगवान् परम ब्रह्म आत्मामें स्थिरताको करे हैं ऐसे जे पुरुष हैं वे ही निश्चयावलम्बी जीव हैं। व्यवहारनयसे अविरोधी क्रमसे परम समरसीभावके भोक्ता होते हैं।

—पांडे हेमराज कृत हिन्दी टीका पृ० २४७-४८

श्रीकुन्दकुन्द स्वामीकी निम्नलिखित गाथा भी हमें यही पथ प्रदर्शन करती है कि कहाँ किसके लिये कौन नय प्रयोजनवान् है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥—समयसार

अर्थ—जो शुद्ध नय तक पहुँचकर श्रद्धावान् हुए तथा पूर्ण ज्ञान चरित्रवान् हो गये उनको तो शुद्ध नयका उपदेश करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है। और जो अपरमभाव अर्थात् श्रद्धा ज्ञान और चारित्रके पूर्णभावको नहीं पहुँच सके तथा साधक अवस्थामें ही ठहरे हुए हैं वे व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

लोकमें जिनधर्मकी देशना ,परस्पर सापेक्ष उभयनयके ही आधीन है, एकनयके आधीन नहीं। जैसा कि कहा है—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

—समयसार गाथा १२ की आत्मख्यातिटीका

अर्थ—यदि तुम जैनधर्मका प्रवर्तन चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयोंको मत छोड़ो,

क्योंकि व्यवहारनयके बिना तो तीर्थ—व्यवहार मार्गका नाश हो जायगा और दूसरे निश्चयके बिना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायगा।

नोट—निश्चयनय और व्यवहारनयके स्वरूपको समझनेके लिये प्रश्न संख्या, १,५,६,१६ व १७ भी देखिये। इसके साथ इसका परिशिष्ट भी है।

प्रश्न चारका परिशिष्ट

संक्षेपमें इसका अन्तिम फलितार्थ यह है कि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि, पंचम गुणस्थान वर्ती श्रावक और संयमी मुनियोंका जो बाह्य आचार जैन संस्कृतिमें निश्चित किया गया है वह तो व्यवहार धर्म कहलाता है तथा सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्ररूप आत्माकी विशुद्ध अविकारी-वीतरागता पूर्ण जो स्थिति बनती है उसे निश्चय धर्म कहते हैं।

वीतरागी देव, वीतरागी गुरु और वीतरागताके पोषक आगमके प्रति भक्ति प्रगट करना, इनके प्रति आकृष्ट हो जाना यह सब अविरत सम्यग्दृष्टिका बाह्य आचार अर्थात् व्यवहार सम्यग्दर्शन रूप व्यवहार धर्म कहलाता है और सांसारिक प्रवृत्तियोंके एकदेश त्यागने रूप अणुव्रतोंको धारण करना यह सब श्रावकका बाह्य आचार अर्थात् व्यवहार चारित्र रूप व्यवहारधर्म तथा उन्हीं सांसारिक प्रवृत्तियोंके सर्वदेश त्यागने रूप महाव्रतोंको धारण करना यह सब संयमी मुनियोंका बाह्य आचार अर्थात् व्यवहार चारित्र रूप व्यवहार धर्म कहलाता है।

प्राणीका लक्ष्य आत्माको विशुद्ध-निर्विकार-वीतराग और स्वतन्त्र बनानेका जैन संस्कृतिमें निर्धारित किया गया है इसलिये इस प्रकारका निश्चयधर्म प्राणीके सामने साध्यके रूपमें उपस्थित होता है और जब वह प्राणी यथायोग्य प्रकारसे क्रमशः अविरतसम्यग्दृष्टि, श्रावक तथा मुनियोंके उपर्युक्त बाह्याचारके रूपमें व्यवहारधर्मको अपनाता है।

अविरतसम्यग्दृष्टि, श्रावक और मुनियोंके बाह्याचार रूप व्यवहारधर्मको द्रव्यलिंग और इनके अन्तरंग आत्मविशुद्धिमय निश्चयधर्मको भावलिंग भी कहते हैं। व्यवहारधर्मका प्रतिपादक चरणानुयोग है और निश्चयधर्मका प्रतिपादक करणानुयोग है। चतुर्थ, पंचम और षष्ठ गुणस्थानवर्ती जीव जीवनकी बाह्य स्थितिमें प्रवर्तमान रहते हैं, अतः ऐसे जीवोंका मुख्यतया बाह्य पुरुषार्थ पर लक्ष्य रहना आवश्यक हो जाता है और यही कारण है कि इन जीवोंके व्यवहार धर्मकी मुख्यता तथा निश्चयधर्मकी गौणता स्वभावतः रहती है। सप्तम गुणस्थानसे लेकर आगेके गुणस्थानोंमें रहनेवाले जीव जीवनकी अन्तरंग स्थितिमें प्रवर्तमान हो जाते हैं, अतः ऐसे जीवोंकी वृत्ति बाह्य पुरुषार्थसे हटकर अन्तरंग पुरुषार्थके उन्मुख हो जाती है। यही कारण है कि सप्तम आदि गुणस्थानोंमें पहुँचे हुए जीवोंके निश्चय धर्मकी प्रधानता तथा व्यवहार धर्मकी गौणता स्वभावतः हो जाती है। इस अभिप्रायको ध्यानमें रखकर ही आचार्य कुन्दकुन्दने निम्नलिखित गाथाकी रचना की है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥ १२ ॥—समयसार

अर्थ—जो जीव जीवनकी बाह्य स्थितिसे हटकर अन्तरङ्ग स्थितिमें पहुँच गये हैं उन्हें अपने परम (उत्कृष्ट) स्वाश्रित भावके दर्शन होते ही इस कारण उन जीवोंके शुद्ध (स्वाश्रित) निश्चयधर्मकी प्रमुखता

पायी जाती है। तथा जो अभी अपने जीवनकी बाह्य स्थितिमें ही प्रवर्तमान हैं उन्हें इस हालतमें अपरम भावके ही दर्शन हुआ करते हैं, अतः इन जीवोंके पराश्रित व्यवहार धर्मकी ही प्रमुखता पायी जाती है।

व्यवहार धर्मका सद्भाव निश्चय धर्मके अभावमें भी पाया जाता है और जहाँ निश्चय धर्मका सद्भाव होगा वहाँ व्यवहार धर्मका सद्भाव रहना ही चाहिए। इससे व्यवहार धर्मकी कारणता और निश्चय धर्मकी कार्यतामें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है, क्योंकि आगमका अभिप्राय व्यवहार धर्मको कारण और निश्चय धर्मको उसका कार्य स्वीकार करनेमें यह है कि निश्चय धर्मकी उत्पत्ति और स्थिति व्यवहार धर्मको अंगीकार किये बिना असम्भव है, इसलिये आपका ऐसा सोचना भी गलत है कि निश्चय धर्मको प्राप्त होनेपर व्यवहार धर्मकी प्राप्ति अपने आप हो जाती है। समयसारको "अपडिक्कमणं दुविहं" इत्यादि २८३ से २८५ वीं गाथाओंकी आत्मख्याति टीकासे स्पष्ट रूपमें यह बात सिद्ध होती है कि व्यवहार धर्म निश्चय धर्मकी उत्पत्ति और स्थितिमें कारण होता है। वह टीका निम्न प्रकार है—

ततः एतत् स्थितं, परद्रव्यं निमित्तं, नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावाः। यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्। तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषंगान्मोक्षाभावः प्रसजेच्च। ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभाव-निमित्तमस्तु। तथा सति तु रागादिनामकारक एवात्मा, तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च। तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च। यावत्तु भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे तावत्तत्कर्तैव स्यात्। यदैवं निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च। यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षात् अकर्तैव स्यात्॥ २८३, २८४, २८५॥

अर्थ—इस तरह यह निश्चित हो जाता है कि पर द्रव्य निमित्तकारण है और आत्माके रागादि-विकार पर द्रव्यके निमित्तसे उत्पन्न होनेवाले हैं। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो आगममें द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यानमें जो आत्माके राग-द्वेषादि विकारोंकी उत्पत्तिकी निमित्तता प्रतिपादित की गयी है वह अनर्थक हो जायगी। इसके अनर्थक हो जाने पर एक आत्मामें ही रागादिकी उत्पत्ति-का प्रसंग प्राप्त होजानेपर आत्मामें रागादिके नित्यकर्तृत्वको भी प्रसक्ति हो जानेसे रागादिके अभावका भी प्रसंग उपस्थित हो जायगा, इसलिये आत्मामें उत्पन्न होनेवाले रागादि विकारोंका निमित्त पर द्रव्य ही ठहरता है। इस तरह यद्यपि आत्मा स्वयं तो रागादिका अकारक ही है तो भी जब तक जीव निमित्तभूत पर द्रव्यका प्रत्याख्यान और प्रतिक्रमण नहीं करेगा तब तक भावरूप रागादि विकारोंका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान नहीं हो सकता है। इस तरह तब तक आत्मा रागादिका कर्ता ही बना रहता है और जब निमित्तभूत पर द्रव्यका प्रतिक्रमण व प्रत्याख्यान जीव करता है तभी वह उसके निमित्तसे होनेवाले रागादिका भी प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करता है। इस प्रकार जब रागादि विकारोंका भी प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान हो जाता है तब आत्मा रागादिका साक्षात् अकर्ता हो जाता है। २८३, २८४,२८५॥

इससे एक बात यह भी सिद्ध होती है कि आत्माकी परिणतिमें जो क्रोधादिरूपता पायी जाती है उसका कारण क्रोधादि द्रव्यकर्मोंका उदय ही होता है। आत्मामें क्रोधादि विकारोंकी उत्पत्ति स्वतः अपने आप नहीं हो जाती है। पण्डित दौलतरामजीने छहढालाकी तीसरी ढालमें व्यवहार धर्मकी निश्चय धर्ममें कारणताका स्पष्ट उल्लेख किया है—

जो सत्यारथ रूप सो निश्चय कारण सो ववहारो॥

इसी प्रकार स्वामी समन्तभद्रने भी लिखा है—

बाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरंस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ॥८३॥

—स्वयंभूस्तोत्र

अर्थ—हे भगवन् ! आपने आध्यात्मिक (निश्चय) तप की वृद्धिके लिये बाह्य (व्यवहार) तपका कठोरताके साथ आचरण किया था ।

नोट—व्यवहारनय और निश्चयनयके स्वरूपको समझनेके लिये अन्य प्रश्नोंपर भी दृष्टि डालिये ।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी ।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका ४

व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नहीं ?

प्रतिशंका ३ का समाधान

१. उपसंहार

हमने अपने प्रथम उत्तरमें लिखा है कि निश्चय रत्नत्रय स्वभावभाव है, इसलिए निश्चयसे व्यवहार धर्म उसका साधक नहीं है । तथापि सहचर सम्बन्धके कारण व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका साधक (निमित्त) कहा जाता है ।

अपर पक्षने इसपर शंका करते हुए अपने दूसरे पत्रकमें कुछ आगम प्रमाण देकर व्यवहार धर्म निश्चयधर्मका साधक है यह सिद्ध किया है । साथ ही यह भी लिखा है कि व्यवहार धर्मको निश्चयधर्मका साधक मान लेनेपर भी निश्चयधर्म परनिरपेक्ष बना रह सकता है ।

इसका उत्तर देते हुए हमने अपने दूसरे उत्तरमें लिखा कि व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका असद्भूत व्यवहार नयसे साधक बतलाया है । साथ ही व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्गका सहचर होनेसे अनुकूल है, इसलिए इसमें निश्चय मोक्षमार्गके साधकपनेका व्यवहार किया है यह भी बतलाया है ।

२. प्रतिशंका ३ के आधारसे विवेचन

तत्काल प्रतिशंका ३ के आधारसे तृतीय पत्रक पर विचार करना है । इसके प्रारम्भमें अपर पक्षने यह संकेत किया है कि हमने प्रथम उत्तरमें नियमसारकी जो तीन गाथाएँ उद्धृत की हैं उनका प्रकृत विषयसे कोई सम्बन्ध नहीं, किन्तु बात ऐसी नहीं है । उन गाथाओं द्वारा हमारा यह दिखलाना ही प्रयोजन था कि निश्चय मोक्षमार्ग निश्चय रत्नत्रय परिणत आत्मा है वह आत्मस्वभावके अवलम्बन करनेसे ही उत्पन्न होता है । अतः व्यवहार धर्मको उसका साधक व्यवहार नयसे ही माना जा सकता है । यह परमार्थ कथन नहीं है, निमित्तका ज्ञान कराना मात्र इसका प्रयोजन है ।

अपने दूसरे पत्रकमें अपर पक्षने प्रवचनसार आदि अनेक ग्रन्थोंके प्रमाण दिये हैं इसमें सन्देह नहीं, किन्तु किस नयसे उन शास्त्रोंमें वे प्रमाण उल्लिखित किये गये हैं और उनका आशय क्या है इस विषयमें अपर पक्षने एक शब्द भी नहीं लिखा है। हमारी दृष्टि तो नयदृष्टिसे उनका आशय स्पष्ट करनेकी है, जब कि अपर पक्ष उस स्पष्टीकरणको उपेक्षाकी दृष्टिसे देखकर उसकी अवहेलना करता है। क्या इसे ही परम प्रमाणभूत, मूलसंघके प्रतिष्ठापक श्री कुन्दकुन्दाचार्य तथा अन्य आध्यात्मिक प्रामाणिक आचार्योंके आर्ष वाक्योंको परम श्रद्धालु और तत्त्ववेत्ता बनकर स्वीकार करना कहा जाय इसका अपर पक्षको ही निर्णय करना है। पूरे जिनागमको दृष्टिमें रखकर उसके हार्दको ग्रहण कर अपने कल्याणके मार्गमें लगा जाय यह हमारी दृष्टि है और इसी दृष्टिसे प्रत्येक उत्तरमें हम यथार्थका निर्णय करनेका प्रयत्न करते आ रहे हैं। अपर पक्ष भी इसी मार्गको स्वीकार कर ले ऐसा मानस है। स्व-परके कल्याणका यदि कोई मार्ग है तो एकमात्र यही है।

हमने अपने दूसरे उत्तरमें व्यवहारधर्मको असद्भूत व्यवहार नयसे निश्चयधर्मका साधक लिखकर उन प्रमाणोंको टालनेका प्रयत्न नहीं किया है, किन्तु उनके हार्दको ही स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। व्यवहारधर्म आत्माका धर्म किस नयकी अपेक्षा कहा गया है इसका स्पष्टीकरण करते हुए बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४५ में बतलाया है—

तत्र योऽसौ बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिपरित्यागः स उपचरितासद्भूतव्यवहारेण।

उसमें बाह्यमें जो पाँचों इन्द्रियोंके विषय आदिका त्याग है वह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे चारित्र है।

यह आगम प्रमाण है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उपचरित असद्भूतव्यवहारनयकी अपेक्षा ही व्यवहारधर्म चारित्र या धर्म संज्ञाको धारण करता है। वह वास्तवमें आत्माका धर्म नहीं है। ऐसी अवस्थामें उसे निश्चय धर्मका साधक उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे ही तो माना जा सकता है। निश्चय-धर्म केवल हो और व्यवहारधर्म न हो ऐसा नहीं है। ये चतुर्थादि गुणस्थानोंमें युगपत् वर्तते हैं ऐसा एकान्त नियम है। परस्पर अविनाभावी हैं। इसीसे आगममें व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधन (निमित्त) कहा गया है ऐसी जिसकी श्रद्धा होती है उसके निश्चयधर्मके साथ व्यवहारधर्म होता ही है। किन्तु इसके विपरीत जिसकी यह श्रद्धा बनी हुई है कि व्यवहारधर्मको अंगीकार करना मेरा परम कर्तव्य है, मात्र उसके पालन करनेसे आत्मधर्मकी उत्पत्ति हो जायगी और ऐसी श्रद्धावश ज्ञायकस्वभाव स्वरूप यथार्थ साधन आत्माके अवलम्बनकी ओर दृष्टिपात नहीं करता वह त्रिकालमें निश्चयधर्मका अधिकारी बननेका पात्र नहीं होता। इससे यह बात आसानीसे समझमें आ जाती है कि मोक्षमार्गकी प्राप्तिका यथार्थ साधन तो निर्विकार चिद्घनस्वरूप आत्माका अवलम्बन ही है। वही मेरा परम कर्तव्य है, उसका अवलम्बन लेनेपर निश्चय मोक्षमार्गकी उत्पत्तिमें व्यवहारधर्म निमित्तमात्र है, निश्चय मोक्षमार्गकी प्राप्तिका निश्चय साधन नहीं। पंचास्तिकाय आदि परमागममें इसी रहस्यको स्पष्ट किया गया है और इसीलिए ही पारमेश्वरी तीर्थप्रवर्तनाको उभयनयायत्त कहा गया है। पंचास्तिकाय गाथा १५९ की सूरिरचित टीका।

निश्चयधर्मकी प्राप्ति तभी निरपेक्ष समझमें आती है जब कि अभेदरत्नत्रयस्वरूप आत्मा की प्राप्ति आत्मामें अभेदरत्नत्रयके परम साधनभूत आत्मासे स्वीकार की जाय और इसके विपरीत व्यवहारधर्मसे उसकी

उत्पत्ति यथार्थमें मानी जाय तो वह निरपेक्षता कैसी ? वह तो निरपेक्षताका उपहासमात्र है। यही कारण है कि आगममें उपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे ही व्यवहारधर्मको निश्चयधर्मका साधन कहा है।

अपर पक्षने आलापपद्धतिका उद्धरण उपस्थित कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि आत्माका व्यवहार रत्नत्रय असद्भूत व्यवहारनयका विषय नहीं है, किन्तु अपर पक्षका यह लिखना इसलिए ठीक नहीं है, क्योंकि व्यवहार रत्नत्रय आत्माका यथार्थ रत्नत्रय नहीं है। उसमें यथार्थ रत्नत्रयका समारोप करके उसे रत्नत्रय कहा गया है, इसलिए तो वह (व्यवहार रत्नत्रय) असद्भूत व्यवहारनयका विषय ठहरता है, क्योंकि निश्चय रत्नत्रय भिन्न वस्तु है और व्यवहार रत्नत्रय भिन्न वस्तु है। ये दोनों एक नहीं। यदि एक होते तो ये दो कैसे कहलाते और एक आत्मामें एक साथ अपनी-अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखते हुए कैसे रहते ?

इसकी पुष्टिमें अपर पक्षने प्रमाण न देनेकी शिकायत की है सो एक प्रमाण तो हमने बृहद्द्रव्यसंग्रहका पूर्वमें दिया ही है। दूसरा प्रमाण यह है—

पापक्रियानिवृत्तिश्चारित्रं इति भेदोपचाररत्नत्रयपरिणतिः।

पापक्रिया निवृत्ति चारित्र है यह भेदोपचार रत्नत्रय परिणति है।

अपर पक्षने लिखा है कि हमने प्रश्न १२ के उत्तरमें 'कुगुरु कुधर्म कुशास्त्रकी श्रद्धा गृहीत मिथ्यात्व है तथा सुदेव सुशास्त्र सुगुरुकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है।' ऐसा स्वीकार किया है। निवेदन यह है कि सुदेवादिकी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है यह कथन हमने व्यवहारनयसे ही स्वीकार किया है। अपर पक्षने यहाँ जो नियमसारका प्रमाण दिया है उससे भी यही सिद्ध होता है।

हमने प्रस्तुत प्रश्नके दूसरे उत्तरमें व्यवहारधर्मको रागपरिणाम लिखकर उसे निश्चय मोक्षमार्गके अनुकूल लिखा है। यह अपर पक्षको मान्य नहीं। उसका कहना है कि 'रागपरिणाम तो निश्चय मोक्षमार्गके अनुकूल नहीं हो सकता।' आदि।

निवेदन है कि अपर पक्षने हमारे कथनका हवाला देते हुए एक तो उसे पूरा उद्धृत नहीं किया, दूसरे उसके एक शब्दको पकड़कर टीका करनी प्रारम्भ कर दी। यह तत्त्वविमर्शका मार्ग नहीं कहा जा सकता। हमारा वह पूरा वाक्य इस प्रकार है—

'वहाँ उसके साथ होनेवाले व्यवहार धर्मरूप रागपरिणामको व्यवहार मोक्षमार्ग आगममें कहा है और यतः वह सहचर होनेसे मोक्षमार्गके अनुकूल है इसलिए उसे उपचारसे निश्चय मोक्षमार्गका साधक भी कहा है।'

अपर पक्षने इसी वाक्यको अपने तीसरे पत्रकमें उद्धृत किया है। किन्तु उसे उद्धृत करते हुए एक तो 'वहाँ उसके साथ होनेवाले' प्रारम्भके इस वचनको छोड़ दिया है। दूसरे बीचका कुछ अंश छोड़कर दो कथनके रूपमें उसे उद्धृत किया है। तीसरे हमारे वाक्यमें आये हुए 'वह' पदके आगे कौंसमें (रागपरिणाम) यह पद अपनी ओरसे जोड़ दिया है। और इस प्रकार उस वाक्यके आशयको नष्टकर अपनी टीका प्रारम्भ कर दी है।

अपर पक्षका कहना है कि मात्र राग परिणामको किसी भी आगम ग्रन्थमें व्यवहार मोक्षमार्ग नहीं कहा है। किन्तु अपर पक्षका यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि मात्र रागपरिणामको हमने भी मोक्षमार्ग नहीं

लिखा है और ऐसा है भी नहीं कि जो जो रागपरिणाम होता है वह सब मोक्षमार्ग ही होता है। किन्तु ऐसा अवश्य है कि निश्चय मोक्षमार्गके साथ सच्चे देवादिकी श्रद्धा, सच्चे शास्त्रके अभ्यास तथा अणुव्रत-महाव्रत आदिके पालनरूप जो शुभ परिणति होती है उसे परमागममें व्यवहार मोक्षमार्ग कहा है। इससे हमारा यह कथन सिद्ध हो जाता है कि निश्चय मोक्षमार्गके साथ होनेवाला व्यवहार धर्मरूप रागपरिणाम व्यवहार मोक्षमार्ग है। हमारे उक्त कथनकी पुष्टिमें बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ३९के इस वचन पर दृष्टिपात कीजिए—

वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थसम्यक्श्रद्धान-ज्ञानव्रताद्यनुष्ठानविकल्परूपो व्यवहारमोक्षमार्गः। निजनिरंजनशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणैकाग्र्यपरिणतिरूपो निश्चय मोक्षमार्गः।

श्री वीतराग सर्वज्ञदेव कथित छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थोंके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और व्रत आदि रूप आचरणके विकल्परूप व्यवहार मोक्षमार्ग है तथा निज निरंजन शुद्ध आत्मतत्त्वके सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरणकी एकाग्र परिणतिरूप निश्चय मोक्षमार्ग है।

सराग चारित्रका लक्षण करते हुए इसी ग्रन्थकी ४५वीं गाथामें अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिको व्यवहार चारित्र कहा है और उसे व्रत, समिति तथा गुप्तिरूप बतलाया है। तथा इसकी व्याख्यामें देशचारित्रको इसका एक अवयवरूप बतलाया है।

आगे इसी गाथाकी व्याख्यामें यह भी लिखा है—

तच्चाचाराराधनादिचरणशास्त्रोक्तप्रकारेण पंचमहाव्रतपंचसमिति-त्रिगुप्तिरूपमप्यपहृतसंयमाख्यं शुभोपयोगलक्षणं सरागचारित्राभिधानं भवति।

और वह आचार-आराधना आदि चरणानुयोगके शास्त्रोंमें कहे अनुसार पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप होता हुआ भी अपहृतसंयम नामक शुभोपयोग लक्षणवाला सरागसंयम नामवाला होता है।

पंचास्तिकायमें लिखा है—

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति॥ १३६॥

अरिहन्त, सिद्ध और साधुओंके प्रति भक्ति, धर्ममें नियमसे चेष्टा और गुरुओंका अनुगमन वह प्रशस्त राग कहलाता है॥ १३६॥

यहाँ टीकामें धर्मका अर्थ व्यवहार धर्म किया है और लिखा है कि प्रशस्त (अरिहन्तादि) इसके विषय हैं, इसलिए यह प्रशस्त राग है।

प्रशस्त राग क्या है इसका निर्देश करते हुए मूलाचार (षडावश्यक अधिकार) में भी लिखा है—

अरहंतेसु य राओ ववगदरागेसु दोसरहिएसु।
धम्मम्हि य जो राओ सुदे यजो बारसविधम्हि॥७३॥
आइरिएसु य राओ समणेसु य बहुसुदे चरित्तड्ढे।
एसो पसत्थराओ हवदि सरागेसु सव्वेसु॥७४॥

राग-द्वेषसे रहित अरिहंतोंमें जो राग है, धर्ममें और बारह प्रकारके श्रुतमें जो राग है, तथा

चारित्रसे विभूषित आचार्यों, श्रमणों और उपाध्यायोंमें जो राग है वह प्रशस्त राग है। यह सब सराग जीवोंके होता है ॥ ७३-७४ ॥

यहाँ तक हमने जो प्रमाण उपस्थित किये हैं उनको ध्यानमें रखकर यदि विचारकर देखा जाय तो निश्चय सम्यक्त्वके साथ होनेवाला यह प्रशस्त राग ही व्यवहार सम्यग्दर्शन और व्यवहार सम्यग्ज्ञान है। तथा अशुभसे निवृत्तिपूर्वक शुभमें प्रवृत्तिरूप जो प्रशस्त राग है वही व्यवहार सम्यक् चारित्र है। यह व्यवहार सम्यक् चारित्र भी नियमसे निश्चय सम्यक् चारित्रका अविनाभावी है।

मूलाचार मूलगुणाधिकार गाथा ३ की टीकामें व्रतका लक्षण करते हुए लिखा है—

व्रतशब्दोऽपि सावद्यनिवृत्तौ मोक्षावाप्तिनिमित्ताचरणे वर्तते।

व्रत शब्द भी सावद्यकी निवृत्ति होने पर मोक्ष प्राप्तिके निमित्तभूत आचरणमें व्यवहृत होता है।

ये जितने भी व्रत हैं वे अशुभसे निवृत्तिरूप और शुभमें प्रवृत्तिरूप ही हैं। इसीसे द्रव्यसंग्रहमें अशुभसे निवृत्ति और शुभमें प्रवृत्तिको चारित्र बतलाया है। व्रतोंका आस्रव तत्त्वमें अन्तर्भाव करनेका कारण भी यही है। इनके लक्ष्यसे शुभोपयोग होता है, शुद्धोपयोग नहीं होता, इसका भी यही कारण है। शुभोपयोग संवर और निर्जराका कारण न होकर मात्र आस्रव बन्धका हेतु है इसका विशेष खुलासा हम तीसरे प्रश्नके तीसरे उत्तरमें विशेष रूपसे कर आये हैं।

नियमसारमें जो आप्त, आगम और पदार्थोंके श्रद्धानको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है उसका आशय ही इतना है कि इनके यथार्थ स्वरूपको जानकर इनमें प्रगाढ़ रुचि अर्थात् प्रगाढ़ भक्ति रखनी चाहिए और भक्ति प्रशस्त रागका उद्रेक विशेष है। अरिहन्तादिकमें ऐसा प्रशस्त राग सम्यग्दृष्टिके ही होता है, इसलिए इसे निश्चय सम्यक्त्वसे भिन्न व्यवहार सम्यक्त्व कहा है। मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियोंके उपशम, क्षय, क्षयोपशम होनेपर जो श्रद्धा गुणकी मिथ्यात्व पर्यायका व्यय होकर सम्यक्त्वरूप परिणाम होता है, जो कि आत्माकी विशुद्धिरूप है वह निश्चय सम्यक्त्व है। और उसके होनेपर जो सच्चे देवादिमें विशेष अनुराग होता है वह व्यवहार सम्यक्त्व है। इस प्रकार इन दोनोंमें महान् अन्तर है।

सम्भवतः अपर पक्षका यह ख्याल बना हुआ है कि रागविशेषके कारण निश्चय सम्यक्त्वको ही व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं, किन्तु यह बात नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि निश्चय सम्यक्त्व साथ जो सच्चे देवादि पर द्रव्यविषयक प्रशस्त राग होता है उसे ही व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं। इसी प्रकार व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक् चारित्रके विषयमें खुलासा कर लेना चाहिए। अध्यात्ममें व्यवहारका लक्षण ही यह है कि जो जिस रूप न हो उसको उस रूप कहना व्यवहार कहलाता है। व्यवहारका यह लक्षण सद्भूत और असद्भूत दोनों प्रकारके व्यवहारोंमें घटित होता है। यदि इनमें अन्तर है तो इतना ही कि सद्भूत रूप वस्तु है तो, परन्तु सर्वथा पृथक् नहीं है। पर असद्भूत व्यवहारकी विषयभूत वस्तु मात्र उपचरित होती है उदाहरणार्थ हम पहले बृहद्द्रव्यसंग्रहका प्रमाण उपस्थित कर आये हैं। उसमें व्यवहार चारित्रको चारित्र उपचरित'असद्भूत व्यवहारनयसे बतलाया गया है। उसका आशय ही यह है कि व्यवहार चारित्र वास्तवमें चारित्र नहीं है किन्तु निश्चय चारित्रका सहचर होनेसे व्रतादिरूप प्रशस्त रागको उपचारसे चारित्र कहा गया है।

अपरपक्षने बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा ४७ के 'दुविहं पि मोक्खहेउं'' इस वचनपर तो दृष्टिपात किया ही होगा। उसने आगममें यह भी पढ़ा होगा कि व्यवहार मोक्षमार्ग मोक्षका परम्परा हेतु है और निश्चय मोक्ष-

मार्ग साक्षात् हेतु है। वह यह लिख ही रहा है कि व्यवहार मोक्षमार्ग साधक है और निश्चय मोक्षमार्ग साध्य है। ऐसी अवस्थामें वह पक्ष दो को एक ही क्यों बतलाने लगा है यह हमारी समझके बाहर है। जो निश्चयमोक्षमार्ग है वही यदि व्यवहार मोक्षमार्ग है तो फिर वे दोनों एक हुए। इनमें साधकसाध्यभावकी चरचा करना ही व्यर्थ है। और यदि वह इन्हें वास्तवमें दो मानता है तो इन दोनोंके पृथक्-पृथक् लक्षण भी स्वीकार करने चाहिए। साथ ही उन दोनोंको इस रूपमें मानना चाहिए कि एक आत्मामें उन दोनोंका सद्भाव एक साथ बन जाय। तभी तो उनमें-से एकको साधन (निमित्त) और दूसरेको साध्य कहा जा सकेगा। मिट्टी घटरूप परिणम रही हो, फिर भी उसका बाह्य साधन कुम्भकारादि न हो ऐसा मानना विचित्र बात है। तात्पर्य यह है कि निश्चय रत्नत्रयके साथ उससे भिन्न दूसरी कोई वस्तु अवश्य होनी चाहिए जिसमें साधन व्यवहार किया जा सके और वे दोनों परस्पर अविनाभावी होने चाहिए। स्पष्ट है कि यहाँपर श्रद्धाके विषयभूत देवादिकमें प्रशस्त रागको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा गया है, ज्ञानोपयोगके विषयभूत आगमाभ्यासमें प्रशस्त रागको व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहा गया है और चर्याके विषयभूत व्रतादिके नियमरूप प्रशस्त रागको व्यवहार सम्यक्-चारित्र कहा गया है। तथा आत्माके श्रद्धा, ज्ञान और चारित्रकी शुद्धिरूप परिणतिको निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चयसम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र कहा गया है।

अपरपक्षने तीसरे प्रश्नके अपने तीसरे पत्रकमें तत्त्वार्थसूत्र अ० ७ सू० १ के आधारसे एक बात यह भी लिखी है कि 'व्रत विरक्ति अर्थात् निवृत्तिरूप हैं, प्रवृत्तिरूप नहीं हैं।' मालूम पड़ता है कि इसी कारण अपरपक्षको व्यवहार रत्नत्रयको देवादि विषयक प्रशस्त रागरूप माननेमें बाधा पड़ रही है। परन्तु उस पक्षका यह विधान मोक्षमार्गपर गहरा प्रहार करनेवाला है इसे वह पक्ष नहीं समझ रहा है। यह जीव मोक्षमार्गी कैसे बनता है उसका क्रम यह है कि 'सर्वप्रथम यह जीव तत्त्वज्ञानपूर्वक कुदेवादिका त्यागकर सच्चे देवादिमें रुचि करता है, कुशास्त्रोंको छोड़कर सम्यक् शास्त्रोंका अध्ययन करता है, गुरुका उपदेश सुनता है और मिथ्यात्वकी पोषक क्रियाओंको छोड़कर देवपूजा आदि क्रिया करता है। इस प्रकार अशुभसे निवृत्त होकर शुभमें प्रवृत्त होता है।' किन्तु इतना करनेमात्रसे उसे सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि ये मोक्ष प्राप्तिके साक्षात् साधन नहीं हैं। मोक्षमार्गकी प्राप्तिके कालमें निमित्त-मात्र हैं। इतनी भूमिका तो मिथ्यादृष्टिके ही बन जाती है फिर भी सम्यक्त्व नहीं होता है। कारण यह है कि इतना तो उसने अनन्त बार किया, परन्तु इसके साथ उसने स्वभाव सम्मुख होकर अपने आत्माका अनुभव एक बार भी नहीं किया। सम्यक्त्व-प्राप्तिका जो साक्षात् साधन है उसका अवलम्बन करे नहीं और सम्यक्त्व हो जाय यह नहीं हो सकता। और स्वभाव सम्मुख होनेका उपाय यह है कि उक्त जीवको 'शुभमें न मग्न होय शुद्धता विसरनी नहीं' वचनके अनुसार शुभमें मग्न होकर उपयोगमय चिच्चमत्काररूप आत्माके साथ सतत अनुगमन करनेवाले अपने आत्मस्वभावको दृष्टि ओझल नहीं कर देना चाहिए। कुम्भकारका मिट्टीको संयोगकर व्यापार हो नहीं तथा मनमें घट बनानेका विकल्प रखे नहीं। मात्र क्रिया तो वह दूसरेको लक्ष्यमें रखकर करे और विकल्प भी दूसरेका करता रहे फिर भी घटका निमित्त कहलावे। जैसे यह सम्भव नहीं है उसी प्रकार शुभ क्रियामें रत यह जीव क्रिया तो आत्मासे भिन्न अन्यको लक्ष्यमें रखकर करता रहे और मनमें विचार भी अन्यका करता रहे फिर भी वह क्रिया आत्मशुद्धिका निमित्त कहलावे यह भी सम्भव नहीं है। पहले आत्मप्राप्ति रूप प्रयोजन समझना चाहिए और उस प्रयोजनको लक्ष्यमें रखकर क्रिया होनी चाहिए, तभी वह क्रिया

या वह विचार उसका निमित्त कहलानेका पात्र होता है। यहाँ मुख्य प्रयोजन संवर, निर्जरा और मुक्ति है। वह आत्माके अवलम्बन करनेसे ही होते हैं, परके अवलम्बन करनेसे नहीं। सच्चे देव, गुरु और शास्त्र आत्माके प्रतिनिधि हैं, इसलिए उनका गुणानुवाद, भक्ति और श्रद्धा करनेका उपदेश आगममें दिया गया है। जिन पुण्य पुरुषोंने आत्मस्वभावका अवलम्बनकर उसे प्राप्त किया है, निरन्तर उसका अपनी वाणी द्वारा भान कराते रहते हैं ऐसे सत्पुरुषोंके निरन्तर समागम करनेका उपदेश भी आगममें इसीलिए दिया गया है। किन्तु यही करना मुख्य नहीं है, मुख्य तो आत्मस्वभावका अवलम्बनकर तद्रूप परिणमन द्वारा अपनेमें संवरादिरूप शुद्धि उत्पन्न करना है। अतएव प्रकृतमें यही तात्पर्य समझना चाहिए कि अशुभ क्रियाके निरोधसे शुभ क्रिया होती है। स्वभाव सन्मुख होनेके लक्ष्यसे की गई वही क्रिया व्यवहारधर्म कहलाती है। संवर शुभाशुभपरिणामके निरोधस्वरूप होनेके कारण इन दोनोंसे भिन्न है। अनगारधर्मामृत अ० २ श्लोक ४१ की टीकामें कहा भी है—

भावसंवरः शुभाशुभपरिणामनिरोधः द्रव्यपुण्य-पापसंवरस्य हेतुरित्यर्थः।

शुभाशुभ परिणामका निरोध भावसंवर है। वह द्रव्य पुण्य-पापके संवरका निमित्त है।

जो जीव मोक्षमार्गके सन्मुख होता है या उत्तरोत्तरभाव संवर-निर्जरारूप विशुद्धि उत्पन्न करता है उसके लिए उसे प्राप्त करनेका क्रम ही यही है कि स्वभावके लक्ष्यसे पहले यह जीव अशुभसे निवृत्त होकर शुभमें जाता है। किन्तु शुभमें जाना ही इसका मुख्य प्रयोजन न होनेसे उसमें भी अशुभके समान हेय बुद्धि रखता हुआ स्वभाव सन्मुख होनेका उपक्रम करता रहता है। ऐसा करते रहनेसे कोई ऐसा अपूर्व अवसर आता है जब वह स्वभावमें मग्न हो तत्स्वरूप परिणमन द्वारा अपने संवरादिरूप शुद्धिको उत्पन्न करता है या उसमें वृद्धि करता है।

अपरपक्षने पंचास्तिकाय गाथा १०६ तथा जयसेनाचार्य कृत उसकी टीकाका जो उद्धरण दिया है उनका भी यही आशय है। आचार्य जयसेनने व्यवहार सम्यक्त्वका स्वरूप निर्देश करते हुए स्पष्ट कहा है—'बहिरंगपदार्थरुचिरूपम्।' यह वचन ही सच्चे आप्त, आगम, पदार्थ विषयक प्रगाढ़ अनुरागको सूचित करता है। यहाँ रुचि शब्द प्रगाढ़ अनुरागके अर्थमें व्यवहृत हुआ है। यही भाव पंचास्तिकाय गाथा १६० का भी है। उसमें अन्य बात नहीं कही गई है। उस गाथाके शीर्षकके भावको हम मनसा स्वीकार करते हैं। वहाँ साधन शब्द निमित्तके अर्थमें आया है इसे अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा और एकको दूसरेका निमित्त कहना यह उपचार है। तभी वह व्यवहार मोक्षमार्ग संज्ञाका अधिकारी है और तभी उस रूप परिणामको आस्रवतत्त्वमें गर्भित कर उसे बन्धका हेतु कहा गया है और तभी उसे संवर तत्त्वसे विलक्षण बतलाया गया है। उसकी आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकाका यही आशय है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जो बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा १३ की टीकाके वचनानुसार व्यवहारनयको साध्यभूत निश्चयनयका उपचरित हेतु स्वीकार न कर उसे परमार्थरूप मानता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। हमने परमात्मप्रकाशके दूसरे अध्यायकी गाथा १४ पर दृष्टिपात किया है, उस द्वारा उसी व्यवहार मोक्षमार्गका निर्देश किया गया है जिसका हम पूर्वमें स्पष्टीकरण कर आये हैं। नियमसारकी ५१ प्रभृति पाँच गाथाओंपर हमने दृष्टिपात किया है। इनको टीका करते हुए श्री पद्मप्रभमलधारीदेव भेदोपचार रत्नत्रयको निश्चयभक्ति रूप घोषित कर रहे हैं। टीका पर दृष्टिपात कीजिए। पदकी श्रद्धा आदि इसके सिवा और अन्य क्या हो सकता है। अपर पक्ष यदि इसे दृष्टिपथमें ले तो उसे यह स्वीकार करनेमें देर न लगे कि निश्चय रत्नत्रयसे भिन्न वह निश्चय भक्तिरूप अनुराग ही हो सकता है, अन्य कुछ नहीं।

नियमसारके चौथे अध्यायमें पाँच पापोंकी निवृत्तिको व्रत बतलाया है और उसे व्रत, समिति, गुप्तिरूप कहा है। इसीसे यह स्पष्ट है कि पापक्रियाओंसे निवृत्ति और व्रतादिरूप पुण्यक्रियाओंमें प्रवृत्तिका नाम ही व्रत है। दर्शनप्राभृतके उल्लेखसे भी यही सिद्ध होता है कि छह द्रव्यादिकी सच्ची श्रद्धा सम्यग्दृष्टिके ही होती है। यही बात रत्नकरण्डश्रावकाचारके वचनसे भी ज्ञात होती है। इसमें विरोध किसे है यह हमारी समझमें नहीं आया। यहाँ तो विचार इस बातका हो रहा है कि व्यवहार रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रय क्या वस्तु है, क्या वे दोनों एक हैं या भिन्न-भिन्न वस्तु हैं और उनमें साध्य-साधन भाव किस नयसे कहा गया है। यह अपर पक्ष ही विचार करे कि क्या उल्लेखोंका आशय स्पष्ट किये विना उनके उपस्थित कर देने मात्रसे देवादिविषयक प्रशस्त राग व्यवहार रत्नत्रय नहीं है इसकी पुष्टि हो जाती है? पूर्वोक्त प्रमाणोंके प्रकाशमें विचार कर देखा जाय तो अपर पक्षको विदित होगा कि आगम विरुद्ध हमारा कथन न होकर वस्तुतः अपर पक्ष ही ऐसा प्रयत्न कर रहा है जिसे आगम विरुद्ध कहना उपयुक्त होगा। दूसरेको शब्दों द्वारा लांछित करनेकी चेष्टा करना अन्य बात है और आगम प्रमाणोंके प्रकाशमें यथार्थका निर्णय करना अन्य बात है।

अपर पक्षने लिखा है कि 'राग, भेद या विकल्प सहित जो सप्ततत्त्व आदिका श्रद्धान व ज्ञान तथा पापोंसे निवृत्तिरूप चारित्र है वह व्यवहार रत्नत्रय या व्यवहार मोक्षमार्ग है।'

हमने अपर पक्षके इस कथन पर दृष्टिपात किया। किन्तु अपर पक्ष हमारी इस धृष्टताको क्षमा करेगा कि वह जो कहना चाहता है वह शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं हो पा रहा है। हमारी समझसे सद्भूत व्यवहार नयका आश्रय लेकर वह कहना यह चाहता है कि निश्चय सम्यक्त्वादि तीनोंमें-से एक-एकको मुक्तिका साधन कहना व्यवहार रत्नत्रय है। यहाँ तीनों मिलकर मुक्तिके साधन हैं, एक-एक नहीं, इसलिए तो यह व्यवहार उपचरित हुआ और प्रत्येकमें मुक्तिको साधनता विद्यमान है, इसलिए वह व्यवहार सद्भूत हुआ। इस प्रकार निश्चय रत्नत्रयमें-से एक-एकको साधन कहना उपचरित सद्भूत व्यवहार नयका विषय है। या मुक्तिरूप परिणत आत्मा कार्य है और रत्नत्रय परिणत आत्मा उसका कारण है ऐसा भेद द्वारा कथन करना सद्भूत व्यवहार नयका विषय है। किन्तु अपर पक्षने वाक्य योजनाकर उस द्वारा जो कथन किया है वह असद्भूत व्यवहार नयसे ही कहा जा सकता है और ऐसी अवस्थामें देवादि विषयक श्रद्धा आदि प्रशस्त रागरूप ही ठहरते हैं। निश्चय नयकी दृष्टिमें प्रथम दो तो उपचरित हैं ही, क्योंकि अन्य कारण हो और अन्य कार्य हो या एक-एक कारण हो और मुक्ति कार्य हो यह यथार्थ न होनेसे इसे यह नय स्वीकार नहीं करता, प्रत्युत उसका निषेध ही करता है। इसके लिए समयसार गाथा २७२ पर दृष्टिपात कीजिए। किन्तु उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे जो कुछ कहा जाता है, वस्तु वैसी न होनेसे यह निश्चयनयकी दृष्टिमें सर्वथा हेय है। क्योंकि एक तो यह नय वस्तु जैसी नहीं है वैसी कहता है। दूसरे उसका साधन-साध्य आदि भावसे अन्यके साथ सम्बन्ध स्थापित करता है, अतएव यह उपचरित असद्भूत व्यवहार नयका ही विषय है।

अपर पक्षने यहाँ जो पुरुषार्थसिद्ध्युपाय पंचास्तिकायकी आचार्य जयसेन कृत टीका तथा छहढालाके जो उदाहरण उपस्थित किये हैं वे सब उक्त कथनको ही पुष्टि करते हैं। **कोई समझे कि मोक्षमार्गीके व्यवहार रत्नत्रय होता ही नहीं, मात्र निश्चय रत्नत्रय ही होता है इस एकान्तका परिहार उन वचनोंसे होता है।** किन्तु इन दोनोंका स्वरूप क्या है इसे समझना अन्य बात है। परमात्मप्रकाशमें धर्मपुरुषार्थ (व्यवहारधर्म) से मोक्षपुरुषार्थ (निश्चयधर्म) भिन्न है यह बतलाते हुए लिखा है—

धम्मह अत्थहँ कामहँ वि एवहँ सयलहँ मोक्खु ।
उत्तमु पभणहिं णाणि जिय अण्णें जेण ण सोक्खु ॥ २-३ ॥

हे जीव ! धर्म, अर्थ और काम इन सब पुरुषार्थोंसे ज्ञानी पुरुष मोक्षको उत्तम कहते हैं, क्योंकि अन्य पुरुषार्थोंसे परम सुख नहीं मिलता ॥ २-३ ॥

व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्गमें साधन-साध्यभाव किस रूपमें है इसके लिए परमात्मप्रकाश अ० २ दोहा १४ के इस टीकावचन पर दृष्टिपात कीजिए—

अत्राह शिष्यः—निश्चयमोक्षमार्गो निर्विकल्पः, तत्काले सविकल्पमोक्षमार्गो नास्ति कथं साधको भवतीति । अत्र परिहारमाह—भूतनैगमनयेन परम्परया भवतीति । अथवा सविकल्प-निर्विकल्पभेदेन निश्चयमोक्षमार्गो द्विधा । तत्रानन्तज्ञानरूपोऽहमित्यादि सविकल्पसाधको भवति, निर्विकल्पसमाधिरूपो साध्यो भवतीति भावार्थः ।

यहाँ शिष्य प्रश्न करता है—निश्चय मोक्षमार्ग निर्विकल्प है, उस समय सविकल्प (व्यवहार रत्नत्रयरूप) मोक्षमार्ग नहीं है, वह साधक कैसे होता है ?

यहाँ समाधान करते हैं—भूत नैगमनयकी अपेक्षा परम्परासे साधन है । अथवा सविकल्प और निर्विकल्पके भेदसे निश्चय मोक्षमार्ग दो प्रकारका है । उनमें-से 'मैं अनन्त ज्ञानरूप हूँ' ऐसे विकल्पका नाम सविकल्प मोक्षमार्ग साधक है और निर्विकल्प समाधिरूप साध्य है यह इस कथनका भावार्थ है—

इससे व्यवहार मोक्षमार्ग क्या है और उसे साधन किस रूपमें कहा है इसका कुछ हद तक ज्ञान हो जाता है ।

अपर पक्षने निश्चय रत्नत्रयका ज्ञान करानेके लिए यहाँ पंचास्तिकाय, भावपाहुड, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, द्रव्यसंग्रह, परमात्मप्रकाश और छहढालाके कुछ प्रमाण उपस्थित किये हैं । उनसे इन बातोंका ज्ञान होता है—

१. आत्माकी आत्मा द्वारा आत्मामें जो श्रद्धा, ज्ञान और आत्मस्थितिरूप स्वभाव परिणति होती है उसका नाम निश्चय रत्नत्रय है ।

२. ऐसे रत्नत्रयसे बन्ध कैसे हो सकता है, अर्थात् त्रिकालमें नहीं होता ।

३. निश्चयसे ऐसे रत्नत्रयकी उत्पत्तिका साधन आत्मा ही है । वह करण साधन होकर अपने द्वारा अपने आत्मामें आप कर्ता बनता हुआ निश्चय रत्नत्रयको उत्पन्न करता है ।

किन्तु व्यवहार रत्नत्रय इससे विरुद्ध स्वभाववाला है । इसका विषय स्व नहीं है, पर है, वह बन्ध स्वभाववाला है और वह निश्चय रत्नत्रयके कारण रत्नत्रय कहलाता है । साथ ही वह वीतराग देवादि पर पदार्थोंको साधन बनाकर उत्पन्न होता है, इसलिए वह प्रशस्त रागस्वभाववाला होनेके कारण सहचर सम्बन्धवश साधक कहा गया है । अतएव हमने जो यह लिखा है कि 'जहाँ निश्चय मोक्षमार्ग होता है वहाँ उसके साथ होनेवाले व्यवहार धर्मरूप रागपरिणामको व्यवहार मोक्षमार्ग आगममें कहा है वह आगम संगत ही लिखा है ।

अपर पक्षने उक्त कथनके स्पष्टतः बाधक जिन प्रमाणोंकी जिज्ञासा की थी वे यहाँ दिये ही हैं । हमें विश्वास है कि अपर पक्षको उनके आधार पर यथार्थका निर्णय करनेमें सहायता मिलेगी ।

तत्त्वार्थसूत्रमें हिंसादि क्रियाकी निवृत्तिका आस्रवतत्त्वमें अन्तर्भाव करना और द्रव्यसंग्रहमें व्रत, समिति और गुप्तिको शुभक्रिया लिखकर उस रूप प्रवृत्तिको व्यवहार धर्म कहना ही यह सिद्ध करता है कि व्यवहार धर्म सच्चे देवादिविषयक प्रशस्त राग परिणामका ही दूसरा नाम है। जो भी बन्ध होता है वह पर्यायार्थिक नयसे योग और कषायको निमित्त कर ही होता है और व्यवहारधर्म बन्धका हेतु है, क्योंकि आचार्योंने उसका आस्रव तत्त्वमें अन्तर्भाव किया है; इसलिए उसे सच्चे देवादिविषयक प्रशस्त रागरूप ही जानना चाहिए यह उक्त कथनका तात्पर्य है।

अपर पक्षने 'व्यवहारधर्म निश्चयधर्ममें साधक है या नहीं ?' यह प्रश्न किस अभिप्रायसे किया है इसे हम तत्काल समझ गये थे। किन्तु अपर पक्षने वर्तमानमें प्रवचनकी जो धारा चल रही है उसके आशयकी ओर लक्ष्य न देकर उसके प्रति विरोधका जो वातावरण बतलाया है वह उचित नहीं है। इससे समाजकी जो हानि हो रही है वह वचनातीत है। हम कुछ काल पूर्व हो गये ऐसे मनुष्योंको जानते हैं जिन्होंने मुनिलिंग तक धारण कर अपना पतन तो किया ही, समाजमें मोक्षमार्गके प्रति अश्रद्धा भी उत्पन्न की, पूर्वमें हो गये ऐसे त्यागियोंको भी जानते हैं। वर्तमानकालकी हम बात नहीं करना चाहते, क्या इतने मात्रसे जैसे व्यवहार कथनोंका निषेध नहीं किया जा सकता उसी प्रकार यह देखकर कि कुछ मनुष्योंने निश्चय कथनोंको सुनकर यद्वा तद्वा प्रवृत्तिको प्रारम्भ कर दिया है यह बात सच्ची हो तो, निश्चय कथनोंका निषेध करना और उसके लिए आन्दोलन तकका मार्ग ग्रहण करना कहाँ तक उचित है इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। जहाँतक समाजके उस वर्गका प्रश्न है जो निश्चय कथनोंके शास्त्रोंका विशेषरूपसे अभ्यास करते हैं, उनके अनुरूप प्रवचनोंमें सम्मिलित होते है, उसके सम्बन्धमें हम यह दृढ़तापूर्वक कह सकते है कि न तो उनमेंसे बहुधा आलू आदि कन्दमूल, बेगन और शहद आदि अभक्ष्य भक्षण करते हैं, जो पूर्वमें करते रहे हैं उन्होंने उनका त्याग कर दिया है। प्रतिदिन देवदर्शन करना या देवपूजा करना तथा शास्त्रस्वाध्यायमें सम्मिलित होना यह उनका प्रधान कर्तव्य हो गया है। रात्रिभोजन भी उनमें प्रायः नहीं देखा जाता। किन्तु इसके विपरीत जो स्थिति समाजमें है उसकी हम अपर पक्षके समान लांछनके रूपमें चर्चा नहीं करना चाहते। हम तो यही चाहते हैं कि जिससे समाजमें प्रचलित व्यवहारधर्म प्राणवान् बन जाय और रही सही कुरीतियाँ भी नाम-शेष हो जायँ ऐसे मार्गको अंगीकार करना ही श्रेयस्कर है। क्या हम आशा करें कि अपर पक्ष विरोधके रुखको छोड़कर हमारे इस प्रयत्नमें सहयोगी बनेगा। हमारी ओरसे स्वागत है। वीतरागताकी दृष्टिसे एक मात्र यही मार्ग है जिसपर सबको मिलकर चलनेका संकल्प करना चाहिए।

यदि अपर पक्ष मोक्षमार्गप्रकाशकके आधारसे ही यह स्वीकार कर लेता है कि निश्चय धर्मकी प्राप्तिमें व्यवहारधर्म निमित्तमात्र है तो समस्या ही हल हो जाती है। ऐसी अवस्थामें अपर पक्षको व्यवहार धर्मका वही अर्थ स्वीकार करना होगा जिसका निर्देश हम पूर्वमें कर आये हैं।

अपर पक्षका कहना है कि 'नयवाद पात्रके अनुसार होता है।' इसका आशय इतना ही है कि पात्र उपदेशको सुनकर अपनी शक्तिके अनुसार उसे अंगीकार कर अपने जीवनमें उतारनेका प्रयत्न करता है।

आचार्य अमृतचन्द्रने 'व्यवहारनयेन' इत्यादि पंक्ति सविकल्प बुद्धिवाले जीवोंको लक्ष्यमें रखकर ही लिखी है। यहाँ 'प्राथमिकाः' पदका अर्थ सविकल्प बुद्धिवाले जीव ही है। जब कोई जीव विकल्पकी भूमिकामें होता है तो वह अपना उपयोग क्या श्रद्धान करने योग्य है और क्या श्रद्धान करने योग्य नहीं है इत्यादि तथ्यों के निर्णय करनेमें ही लगाता है। और ऐसा निर्णय करके वह अपने पुरुषार्थ द्वारा क्रमशः निर्विकल्पताकी ओर ढलने लगता है। जो अनादि कालसे भेदबुद्धिसे वासित चित्तवाले हैं उन्हें ऐसे

निर्णय द्वारा तीर्थपर आरोहण करना सुगम होता है यह आचार्यके कथनका सार है। उनके द्वारा दिये गये उदाहरणसे भी यही सिद्ध होता है।

अपर पक्षने समयसारकी १२वीं गाथा उद्धृत की है। उसके द्वारा जिस तत्त्वका प्रतिपादन हुआ है उसके लिए पद्मनन्दिपंचविंशतिकान्तर्गत एकत्वसप्तति अधिकारका यह श्लोक मार्गदर्शक है—

प्रमाण-नय-निक्षेपा अर्वाचीने पदे स्थिताः।
केवले च पुनस्तस्मिंस्तदेकं प्रतिभासिते ॥ १६ ॥

सविकल्प अवस्थामें प्रमाण, नय और निक्षेप सब हैं। केवल निर्विकल्प अवस्थामें तो एक चैतन्य ही अनुभवमें आता है ॥१६॥

यहाँ अर्वाचीन पदका अर्थ व्यवहारपद सविकल्प अवस्था है और 'केवले तस्मिन्' पदसे निर्विकल्प अवस्थाका ग्रहण हुआ है। यही तथ्य समयसारकी १२वीं गाथामें प्ररूपित हुआ है। वहाँ भी "परमभाव-दरसीहिं' पद द्वारा शुद्ध आत्मतत्त्वको अनुभवनेवाले जीवोंका ग्रहण किया गया है और 'अपरमे ट्ठिदा भावे' पद द्वारा सविकल्प अवस्थाका ग्रहण हुआ है। इस तथ्यको समझनेपर ही उक्त गाथाका आशय स्पष्ट समझमें आता है। आचार्य अमृतचन्द्रने सोलह वानके सोनेका उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार यह सोना अत्यन्त निर्मल होता है उसी प्रकार द्रव्यार्थिक नयका विषयभूत आत्मा समस्त परद्रव्य-भावोंसे भिन्न होनेके कारण अत्यन्त निर्मल है। ऐसा आत्मा ही शुद्धनयका विषय है। जो परम भावदर्शी—शुद्धात्म-भावदर्शी-जीव हैं वे ऐसे ही आत्माको अनुभवते हैं। किन्तु जो सविकल्प अवस्थामें स्थित जीव हैं उनका अशुद्ध सोनेके समान अशुद्ध आत्मा जाना हुआ प्रयोजनवान् है। इससे निश्चय-व्यवहार नयके कथनका प्रयोजन क्या है यह समझमें आ जाता है। यही परस्पर सापेक्ष उभय नयकी देशनाका तात्पर्य है। संसारी आत्मा परमभाव-ग्राही द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा अत्यन्त शुद्ध है और पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा अत्यन्त अशुद्ध है। इस प्रकार एक ही आत्मा एक कालमें कथंचित् शुद्ध है और कथंचित् अशुद्ध है। जिनवाणी भी यही है ऐसा जानकर और पर्यायार्थिक नयके विषयको गौण कर जो द्रव्यार्थिक नयके विषयभूत आत्माको दृष्टिमें अवलम्बनकर तत्स्वरूप परिणमता है वही परम पदका अधिकारी होता है। यह १२वीं गाथा और उसकी दोनों टीकाओंका आशय है। इससे व्यवहार नयका विषय जाननेके लिए तो प्रयोजनवान् बतलाया पर आदर करने योग्य नहीं बतलाया यह तथ्य भी समझमें आ जाता है, क्योंकि कौन ऐसा मुमुक्षु जीव है कि जो जिस गुणस्थानमें है उसीमें रहना चाहेगा। उसका प्रयत्न तो निरन्तर आगे बढ़नेका ही होगा। और आगे बढ़ना उसी गुणस्थानके भावोंमें रत रहनेसे बन नहीं सकता। वह जिस गुणस्थानमें है उस गुणस्थानके अनुरूप ही प्रवृत्ति करेगा इसमें सन्देह नहीं। किन्तु उस प्रवृत्तिको आगे बढ़नेका साधन न मानकर अन्तरंगमें उस साधनको अपनानेकी चेष्टा करता रहेगा जो उसे वर्तमान गुणस्थानसे उठाकर यथायोग्य आगेके गुणस्थानोंमें पहुँचा देगा। ऐसा यदि कोई साधन है तो वह एकमात्र ज्ञायक भावका अवलम्बन ले तत्स्वरूप परिणमना ही है। इसमें जितनी प्रगाढ़ता आती जायगी उतना ही वह आगे बढ़ता जायगा। इसके सिवा मोक्षमार्गमें आगे बढ़नेका अन्य कोई साधन नहीं। यही कारण है कि निश्चय धर्मकी प्राप्तिमें व्यवहार धर्मको निमित्त मात्र कहा है। साक्षात् साधन तो ज्ञायक स्वभावका अवलम्बन कर तत्स्वरूप परिणमना ही है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने जो 'जइ जिणमयं' इत्यादि गाथा उद्धृत की है उसका भी यही आशय है। व्यवहार नयके अनुसार गुणस्थान भेद हैं, मार्गणास्थान भेद हैं और जीवसमास भेद हैं आदि। भला ऐसा

कौन मुमुक्षु जीव है जो इसकी सत्ता नहीं मानेगा। यदि इन्हें न स्वीकार किया जाय तो उत्कृष्ट तीर्थकी प्रवृत्ति ही नहीं बन सकती और उसके अभावमें व्यवहार तीर्थकी सिद्धि नहीं होती। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें उत्तम तीर्थका निर्देश करते हुए लिखा है—

रयणत्तयसंजुत्तो जीवो वि हवेइ उत्तमं तित्थं।
संसारं तरेइ जदो रयणत्तयदिव्वणावाए ॥ १९१ ॥

रत्नत्रयसे संयुक्त यही जीव उत्तम तीर्थ है, क्योंकि वह रत्नत्रयरूपी दिव्य नावसे संसारको पार करता है ॥ १९१ ॥

और इसी प्रकार ऐसा कौन मुमुक्षु जीव है जो शुद्ध नयके विषयभूत नित्य चिद्घनस्वभाव शुद्ध आत्मतत्त्वको नहीं स्वीकार करेगा, क्योंकि उसके अभावमें तत्त्वकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती। फिर तो भेदव्यवहार या उपचरित व्यवहारकी बात करना ही व्यर्थ हो जाता है—'मूलो नास्ति कुतः शाखा।'

इस प्रकार दो नय हैं और दोनोंके विषय हैं ऐसा प्रत्येक ज्ञानी जानता ही है। जिनमतकी प्रवृत्तिका यह मूल है।

३. प्रश्न चारके परिशिष्टका ऊहापोह

इस परिशिष्टके प्रारम्भमें यह तो स्वीकार कर लिया है कि सच्चे देवादिविषयक भक्ति प्रमुख उत्कृष्ट अनुराग व्यवहार धर्म है। साथ ही इसमें बाह्य क्रियाको भी व्यवहार धर्ममें गर्भित किया गया है। किन्तु उस बाह्य क्रियासे आत्माकी प्रशस्त रागरूप परिणति ली गई है या पुद्गल द्रव्यकी क्रिया ली गयी है इसका स्पष्टीकरण नहीं किया गया है। क्रिया शब्द परिणामके अर्थमें भी आता है और परिस्पन्दके अर्थमें भी आता है। यदि अपर पक्षको बाह्य क्रियासे सच्चे देवादिविषयक प्रशस्त राग अपेक्षित है तो सम्यग्दृष्टिके ऐसे परिणामको सम्यक् व्यवहार धर्म मानना उपयुक्त ही है। किन्तु यदि बाह्य क्रियासे पुद्गलद्रव्यकी क्रिया ली गयी है तो वह पर द्रव्यका परिणाम है। सम्यग्दृष्टिके उसमें पर बुद्धि हो गई, इसलिए उसे आत्माका व्यवहार-धर्म कहना उचित नहीं है। प्रशस्त राग परिणतिमें वह निमित्त है, इसलिए उसे व्यवहार धर्म कहनेमें आता है यह तो उपचरितोपचारका भी उपचरितोपचार है। तथ्य समझमें आजावे इसलिए यह स्पष्टीकरण किया है।

अपर पक्षने परिशिष्टके तीसरे पैरामें आत्माके विशुद्ध-निर्विकार-वीतराग और स्वतन्त्र बननेके लक्ष्यको निश्चयधर्म संज्ञा दी है। किन्तु ऐसा लिखना ठीक नहीं है, क्योंकि लक्ष्यका नाम निश्चय धर्म न होकर विशुद्ध-निर्विकार-वीतरागरूप परिणतिका नाम निश्चय धर्म है।

अपर पक्षका कहना है कि "अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक और मुनियोंके बाह्याचाररूप व्यवहार धर्मको द्रव्यलिंग और इनके अन्तरंग आत्मविशुद्धिमय निश्चय धर्मको भाव लिंग भी कहते हैं।" समाधान यह है कि अपर पक्षने जो लिखा है उसपर विशेष ऊहापोह न करके मात्र उसका ध्यान भाव प्राभृतके इस वचनकी ओर आकर्षित कर देना चाहते हैं—

भावेण होइ लिंगी ण हु लिंगी होइ दव्वमित्तेण।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ॥ ४८ ॥

भावसे ही मुनि लिंगी होता है, द्रव्य मात्रसे लिंगी नहीं होता। इसलिए भाव लिंगको धारण करना चाहिए, क्योंकि द्रव्य लिंगसे क्या कार्य सध सकता है ॥ ४८ ॥

इस गाथामें द्रव्यलिंगी पद भावशून्य मुनिके लिए ही आया है। गाथा ५० में इसके लिए द्रव्य श्रमण पदका भी प्रयोग किया गया है। गाथा ७२ में तो ऐसे मुनि को ही द्रव्य निर्ग्रन्थ लिखा है जो राग संयुक्त है और जिनभावनासे रहित है। देखिए—

जे रागसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गंथा।
ण लहंति ते समाहिं बोहिं जिणसासणे विमला॥ ७२॥

जो द्रव्य निर्ग्रन्थ राग संगसे युक्त होकर जिन भावनासे रहित हैं वे जिन शासनमें समाधि और बोधिको नहीं प्राप्त होते॥ ७२॥

अपर पक्षका कहना है कि 'निश्चयधर्मका प्रतिपादक करणानुयोग है, किन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि निश्चयधर्मका कथन मुख्यतया द्रव्यानुयोगका विषय है। रत्नकरण्डश्रावकाचारमें द्रव्यानुयोगके स्वरूपका निर्देश करते हुए लिखा है—

जीवाजीवसुतत्त्वे पुण्यापुण्ये च बन्ध-मोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते॥ ४६॥

द्रव्यानुयोगरूपी दीपक जीव, अजीव, पुण्य, पाप, बन्ध और मोक्षतत्त्वरूपसे श्रुतविद्यारूपी आलोकको विस्तारता है॥ ४६॥

निश्चयधर्मका संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्वमें ही अन्तर्भाव होता है। अतः निश्चयधर्मका कथन द्रव्यानुयोगमें किया गया है ऐसा निर्णय करना ही उचित है।

अपर पक्षका कहना है कि 'चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थानवाले जीवोंका लक्ष्य मुख्यतया बाह्य पुरुषार्थ पर रहना आवश्यक है।' किन्तु ऐसा विधान करते हुए अपर पक्षने यहाँ बाह्य पुरुषार्थसे अर्थ पुरुषार्थ और कामपुरुषार्थ लिया है या धर्मपुरुषार्थ लिया है यह उक्त कथनसे ज्ञात न हो सका। जो कुछ भी हो, अपर पक्षका यह कथन है आगमविरुद्ध ही, क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टि और श्रावक जो भी बाह्य क्रिया करता है वह हेयबुद्धिसे ही करता है, अन्यथा वह अविरतसम्यग्दृष्टि और श्रावक कहलानेका पात्र नहीं। समयसार निर्जराधिकारमें ऐसे जीवोंकी बाह्य परिणतिको तीन दृष्टान्तों द्वारा स्पष्ट किया गया है—पहला उदाहरण विष खानेवाले वैद्यका दिया है, दूसरा उदाहरण अरतिभावसे मद्य पीनेवालेका दिया है और तीसरा उदाहरण पर घरमें प्रकरणचेष्टा करनेवालेका दिया है। सागारधर्मामृतमें कोतवालके द्वारा पकड़े गये चोरके समान सम्यग्दृष्टिको बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि उक्त जीवोंके व्यवहार धर्मको करते हुए भी अन्तरंगमें मुख्यता निश्चयधर्मकी ही रहती है। सागारधर्मामृतके मंगलाचरणका 'तद्धर्मरागिणाम्' पद विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है। नीची पदवीमें रहना यह न तो सम्यग्दृष्टिको ही इष्ट होता है और न श्रावकको ही। अब रही मुनिकी बात सो उसके तो संज्वलन कषायजन्य अल्प प्रमादके कालमें ही अन्तर्मुहूर्त कालके लिए बाह्य प्रवृत्ति देखी जाती है। उनको जो सामायिक आदि षट्क्रियाएँ होती हैं वे नियमसे सामायिक पूर्वक ही होती हैं। इसीसे उन्हें निश्चय षट्क्रिया संज्ञा मूलाचारमें दी गई है। मूलाचार प्रथम भाग गा० ३ की टीका में लिखा है—

आवश्यककर्तव्यानि आवश्यकानि निश्चयक्रियाः सर्वकर्मनिर्मूलनसमर्थनियमाः।

इससे स्पष्ट है कि बाह्यक्रिया करते हुए भी मुनिके जीवनमें निश्चयधर्म गौण हो ही नहीं सकता।

अपर पक्षने यहाँ पर अपने विचारोंकी पुष्टिमें समयसार गाथा १२ का उपयोग किया है। किन्तु उस गाथाका आशय ही दूसरा है। इसका स्पष्ट खुलासा थोड़ा ही पहले हम कर आये हैं। अपर पक्षने इसका जो आशय लिया है वह ठीक नहीं यह उक्त विवेचनसे स्पष्ट हो जाता है।

अपर पक्षका यह लिखना भी आगम विरुद्ध है कि व्यवहारधर्मका सद्भाव निश्चयधर्मके अभावमें भी पाया जाता है, क्योंकि जैसे सम्यग्दर्शनके पूर्व जितना भी ज्ञान होता है वह मिथ्याज्ञान माना गया है इसी प्रकार निश्चयधर्मके पूर्व जितनी भी क्रिया होती है वह यथार्थ नहीं मानी गई है। निश्चयधर्मके साथ होनेवाली पुण्यपरिणतिरूप बाह्य क्रियाको ही आगममें व्यवहार धर्म कहा है, अन्यथा अट्ठाईस मूलगुण रूप द्रव्यलिंगकी आगममें निन्दा नहीं की गई होती। इससे स्पष्ट है कि निश्चयधर्मके पूर्व व्यवहारधर्म होता ही नहीं। जो होता है वह उस पदका व्यवहारधर्म नहीं। अन्तरंगमें अनन्तानुबन्धी आदिका उदय बना रहे और कोई जीव मन्दकषाय वश बाह्य क्रिया करने लगे, फिर भी वह निश्चयधर्मके कालमें होनेवाले अविरत सम्यग्दृष्टि आदि पदका व्यवहारधर्म कहलावे यह विचित्र बात है। निमित्त-नैमित्तिक योग एक कालमें होता है। पहले निमित्त था और बादमें नैमित्तिक हुआ ऐसा कार्य-कारणभाव नहीं है। हाँ अपर पक्ष अपने विधान द्वारा यह स्वीकार करना चाहता है कि निश्चयधर्मकी प्राप्तिके पूर्व जो क्रिया होती थी वह निश्चयधर्मकी प्राप्तिके कालमें व्यवहारधर्म संज्ञाको प्राप्त हो जाती है। तो बात दूसरी है किन्तु अपर पक्ष उससे जो यह अर्थ फलित करना चाहता है कि पहलेकी क्रियाके कारण निश्चयधर्मकी प्राप्ति होती है वह गलत है। **कौन कार्य किस क्रमसे होता है इसका कथन करना अन्य बात है और निमित्त-नैमित्तिकपनेके आधार पर कार्य-कारणका विचार करना अन्य बात है।**

अपर पक्षने समयसारकी 'अप्पडिकमणं दुविहं' गाथा उद्धृत कर तीन गाथाओंकी टीका दी है। और उस परसे यह सिद्ध किया है कि 'पर द्रव्य निमित्त कारण है और आत्माके रागादि विकार पर द्रव्यके निमित्तसे होते हैं।' पर अपर पक्ष इस तथ्यको भूल जाता है कि पर द्रव्यमें रागादिकी निमित्तताका व्यवहार कब होता है, उनके प्रति प्रीति-अप्रीति करने पर या सदा काल ही। यदि वे सदा काल निमित्त हैं तो इस जीवके रागादिका परिहार होना सदा काल असम्भव है। यदि इस दोषसे बचनेके लिए अपर पक्षका यह कहना हो कि जब यह जीव उनके प्रति प्रीति-अप्रीतिरूप परिणाम करता है तभी वे रागादिकी उत्पत्तिमें निमित्त हैं, अन्यथा नहीं। तो इससे सिद्ध हुआ कि यह रागाविष्ट जीव आप कर्ता होकर रागादिको उत्पन्न करता है, पर जिनको लक्ष्य कर यह रागादिको उत्पन्न करता है उनके साथ रागादि परिणामोंका निमित्त-नैमित्तिकपना बन जानेसे उनका प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान कराया जाता है। जैसे आत्मा स्वभावसे रागादिकका कर्ता नहीं है, वैसे ही पर द्रव्य भी स्वभावसे रागादिकके उत्पादक नहीं हैं। उनमें उत्पादकताका व्यवहार तभी बनता है जब कि उनके लक्ष्यसे आत्मा रागी, द्वेषी हो परिणमता है। आत्मामें पायी जानेवाली क्रोधादिरूपताके सम्बन्धमें भी इसी न्यायसे विचार कर लेना चाहिए। इसका विशेष ऊहापोह ५वें प्रश्नके तीसरे उत्तरमें करनेवाले हैं ही। पण्डित प्रवर दौलतरामजीने छहढालाकी तीसरी ढालमें व्यवहारधर्ममें जो निश्चयधर्मकी हेतुताका उल्लेख किया है वह व्यवहारहेतुताकी दृष्टिसे ही किया है। व्यवहार धर्म जब कि स्वयं उपचरित धर्म है तो वह निश्चयधर्मका उपचरित हेतु ही हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि व्यवहारधर्म निश्चयधर्मका परमार्थसे साधक नहीं है। उसे निश्चयधर्मका साधक उपचार नयका आश्रय करके ही कहा गया है।

●

प्रथम दौर

: १ :

शंका ५

द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत-क्रमसे ही होती हैं या अनियत क्रमसे भी ?

समाधान

(१) द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं। सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं, इसका स्पष्टीकरण करते हुए स्वामी कार्तिकेय द्वादशानुप्रेक्षामें कहते हैं—

> जं जस्स जम्मि देसे, जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
> णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अह व मरणं वा ॥३२१॥
> तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
> को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥३२२॥
> एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
> सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी ॥३२३॥

अर्थ—जिनेन्द्रदेवने जिस जन्म अथवा मरणको जिस जीवके जिस देशमें जिस विधिसे जिस कालमें नियत जाना है उसे उस जीवके उस देशमें उस विधिसे उस कालमें शक्र अथवा जिनेन्द्रदेव इनमेंसे कौन चलायमान कर सकता है, अर्थात् कोई भी चलायमान नहीं कर सकता। इस प्रकार जो निश्चयसे सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको जानता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो शंका करता है वह कुदृष्टि है ॥३२१–३२३॥

यह आगम प्रमाण है इसमें भिन्न टाईपमें दिये गये पद ध्यान देने योग्य हैं। उनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायें जिस देश और जिस कालमें होती हैं वे उस देश और उस कालमें नियत क्रमसे ही होती हैं, अनियत क्रमसे नहीं होतीं।

(२) आगममें उपादान कारणका जो लक्षण स्वीकार किया है उसका सम्यक् प्रकारसे पर्यालोचन करनेपर भी यही ज्ञात होता है कि सभी द्रव्योंकी सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती है, अनियत क्रमसे नहीं होतीं। लक्षण इस प्रकार है—

> पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
> उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा॥२३०॥

—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थ—अनन्तर पूर्व परिणामसे युक्त द्रव्य कारणरूपसे (उपादान कारण रूपसे) प्रवर्तित होता है और अनन्तर उत्तर परिणामसे युक्त वही द्रव्य नियमसे कार्यरूप होता है ॥२३०॥

यह उपादान कारणका अव्यभिचारी लक्षण है। इसका स्पष्ट रूपसे विश्लेषण करनेपर उससे यही फलित होता है कि सभी द्रव्योंकी सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं, क्योंकि पूर्व-पूर्व क्षणवर्ती उस-उस

पर्याय युक्त द्रव्य यथार्थ उपादान कारण होनेसे उस द्वारा प्रत्येक समयमें नियत क्रमसे ही कार्य उत्पत्तिको प्रसिद्धि होती है, अनियत क्रमसे कार्य उत्पत्तिकी प्रसिद्धि त्रिकालमें होना सम्भव नहीं है।

यहाँपर उपादान कारणके लक्षणका आश्रय लेकर सभी द्रव्योंको होनेवाली सभी पर्यायोंका जो नियत क्रमसे होनेका समर्थन किया गया है वह कथन केवल तर्कका सहारा लेकर ही नहीं किया गया है। किन्तु आगममें ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं जो इस विषयके समर्थनके लिये पर्याप्त हैं। प्रकृतमें इस प्रमाणको पढ़िये—

निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादस्तदेव मुख्यं मोक्षस्य कारणं अयोगिकेवलिचरमसमयवर्तिरत्नत्रयमिति।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० १ पृ० ७१

अर्थ—निश्चयनयका आश्रय लेनेपर तो जिसके अनन्तर मोक्षका उत्पाद होता है, अयोगकेवलीके अन्तिम समयमें होनेवाला वही रत्नत्रय मोक्षका मुख्य (प्रधान-साक्षात्) कारण (उपादान कारण) है।

आचार्यवर्य विद्यानन्दि स्वामी इसके पूर्व इसी तथ्यका दृढ़ता पूर्वक समर्थन करते हुए क्या कहते हैं यह उन्हींके आगमस्वरूप शब्दोंमें पढ़िए—

न हि-द्वत्र्यादिसिद्धक्षणैः सहायोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य कार्य-कारणभावो विचारयितुमुपक्रान्तः येन तत्र तस्यासामर्थ्यं प्रसज्यते। किं तर्हि प्रथमसिद्धक्षणेन सह। तत्र च तत् समर्थमेवेत्यसच्चोद्यमेतत्। कथमन्यथाग्निः प्रथमधूमक्षणमुपजनयन्नपि तत्र समर्थः स्यात्, धूमक्षणजनितद्वितीयादिधूमक्षणोत्पादे तस्यासमर्थत्वेन प्रथमधूमक्षणोत्पादनेऽप्यसामर्थ्यप्रसक्तेः। तथा च न किंचित् कस्यचित् समर्थं कारणम्। न चासमर्थात्कारणादुत्पत्तिरिति क्वेयं वराकी तिष्ठेत् कार्यकारणता।

—श्लोकवार्तिक अ० १ पृ० ७१

अर्थ—प्रकृतमें द्वितीय आदि सिद्धक्षणोंके साथ अयोगकेवलीके अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रयका कार्य-कारणभाव विचार करनेके लिए प्रस्तुत नहीं है, जिससे उसकी उत्पत्तिमें उसकी असामर्थ्य प्राप्त होवे। तो क्या है? प्रथम सिद्धक्षणके साथ ही प्रकृतमें उसका विचार चल रहा है और उसकी उत्पत्तिमें वह समर्थ उपादान कारण ही है, इसलिये पूर्वोक्त शंका ठीक नहीं है। यदि ऐसा न माना जावे तो अग्नि (उपादान कारण बनकर) प्रथम धूमक्षणको उत्पन्न करती हुई भी उसकी उत्पत्तिमें वह समर्थ कैसे हो सकती है, क्योंकि ऐसी स्थितिमें धूमक्षणोंके द्वारा उत्पन्न किये गये द्वितीय आदि धूमक्षणोंके उत्पन्न करनेमें उसके (अग्निके) असमर्थ होनेसे प्रथम धूमक्षणके उत्पन्न करनेमें भी उसकी असामर्थ्यके प्राप्त होनेका प्रसंग आता है। और ऐसा होनेपर कोई भी किसीका समर्थ कारण नहीं बन सकता। और असमर्थ कारणसे कार्यकी उत्पत्ति होती नहीं, ऐसी स्थितिमें यह विचारी कार्य-कारणता कैसे ठहरेगी अर्थात् तब कार्य-कारणताका स्वीकार करना ही निष्फल हो जायगा।

इस प्रकार इस उल्लेखका सम्यक् प्रकारसे विचार करनेपर यही निष्पन्न होता है कि प्रत्येक समयमें नियत कार्यकी ही उत्पत्ति होती है और उसका उपादान कारण भी नियत ही होता है। अतएव समस्त आगमपर दृष्टिपात करनेपर विचारकोंको एकमात्र यही मानना उचित है कि सभी द्रव्योंको होनेवाली सभी पर्यायें नियत-क्रमसे ही होती हैं अनियत क्रमसे त्रिकालमें नहीं होतीं।

द्वितीय दौर

: २ :

शंका ५

द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं या अनियत क्रमसे भी ?

प्रतिशंका २

इस प्रश्नके उत्तरमें जो आपने यह लिखा है कि 'द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं' आपका यह लिखना निराधार है, क्योंकि किसी भी सिद्धान्त ग्रंथमें समस्त पर्यायोंको नियत क्रमसे ही होना नहीं बतलाया है। अतः किसी भी ग्रन्थमें क्रमबद्धपर्यायका उल्लेख नहीं पाया जाता। यदि किसी भी ग्रन्थमें क्रमबद्धपर्यायका उल्लेख हो तो बतलानेकी कृपा करें।

आपने अपने कथनकी पुष्टिमें जो स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की 'जं जस्स जम्मि देसे' आदि तीन गाथाओंका उद्धरण दिया है, उनमें न तो कहीं क्रमबद्ध-पर्यायका उल्लेख है, न उनसे क्रमबद्ध पर्यायका समर्थन होता है।

यदि कोई व्यक्ति अपना मरण टालनेके लिये किसी देवी-देवताकी आराधना द्वारा प्रयास करे तो उसको समझानेके लिये स्वामिकार्तिकेयने इन गाथाओं द्वारा यह अभिव्यक्त किया है कि मरण कालको इन्द्र या देव यहाँ तक कि जिनेन्द्र भी नहीं टाल सकते। इस तरह जीवन बचानेके अभिप्रायसे कुदेव आदिकी आराधनासे बचानेके लिये ग्रन्थकारने गाथाओंको लिखा है, जिसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है।

श्री स्वामिकार्तिकेयने धर्मानुप्रेक्षामें गाथा ३११-३१८ तक 'सम्यग्दृष्टिको तत्त्व श्रद्धान किस प्रकार होता है' उसका कथन किया है। उसमें प्रथम यह कहा है—'जो तच्चमणेयंतं णियमा सद्दहदि' अर्थात् सम्यग्दृष्टि नियमसे तत्त्वोंका अनेकान्तात्मकरूपसे श्रद्धान करता है यानी एकान्त रूपसे श्रद्धान नहीं करता। जब सम्यग्दृष्टि अनेकान्त रूपसे श्रद्धान करता है तो उसको एकान्त नियतिवादका जिसको कि द्वादशाङ्गमें मिथ्यात्व कहा है, कैसे उपदेश दिया जा सकता है।

गाथा ३१९ से ३२२ तक चार गाथाओंमें कुदेवकी पूजाके निषेधके लिए इस प्रकार उपदेश दिया है—

> ण य को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उपयारं।
> उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ॥ ३१९ ॥

अर्थ—न तो कोई जीवको लक्ष्मी देता है और न कोई उसका उपकार करता है, शुभाशुभ कर्म ही जीवका उपकार और अपकार करते हैं ॥ ३१९ ॥

> भत्तीए पुज्जमाणो विंतर-देवो वि देदि जदि लच्छी।
> तो किं धम्मे कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी ॥ ३२० ॥

अर्थ—यदि व्यन्तर देवी-देवता भक्ति-पूजा करनेसे लक्ष्मी देते हैं तो फिर धर्म क्यों किया जावे, सम्यग्दृष्टि ऐसा विचार करता है।

इसी विचारको दृढ़ करनेके लिये यह उपदेश दिया गया है। अथवा सम्यग्दृष्टि यह विचार करता है कि जब इन्द्र व जिनेन्द्र भी तेरे कर्मोंको नहीं टाल सकते तो अन्य तुच्छ देव तेरे कर्मोंको कैसे टाल सकेंगे।

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अह व मरणं वा ॥ ३२१ ॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि।
को सक्कदि चालेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥ ३२२ ॥

अर्थ—जिस जीवके जिस देशमें जिस कालमें जिस विधानसे जो जन्म अथवा मरण जिन देवने नियत रूपसे जाना उस जीवको उसी देशमें उसी कालमें उसी विधानसे वह अवश्य होता है, उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टाल सकनेमें समर्थ है ॥ ३२१-३२२ ॥

इन गाथाओंका जो निष्कर्ष यहाँ बतलाया गया है उसकी पुष्टि गाथा नं० ३१९ से इस तरह होती है कि उसमें एकान्त नियतिवादके विरुद्ध शुभाशुभ कर्मोंको जीवके उपकार-अपकारका निमित्त कारण स्पष्ट बतलाया है। अर्थात् जीवका उपकार या अपकार मात्र काल पर निर्भर नहीं है, किन्तु बाह्य कारणोंके अनुसार शुभाशुभ कर्मोदयके अधीन है।

इसी ग्रन्थ की गाथा नं० २१९ भी है जो हमें यह बतलाती है कि काल, द्रव्य, क्षेत्र, भव, भावादि लब्धियोंसे युक्त और नाना शक्तियोंसे संयुक्त पदार्थोंके परिणमनको कोई भी वारण करनेमें समर्थ नहीं है। इसका भी आशय केवल यह है कि यदि निमित्तभूत और उपादानभूत परिपूर्ण सामग्री जहाँ निराबाध उपस्थित है वहाँ कार्योत्पत्ति टालनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। टीकामें भी इसी प्रकार कहा है—

यथा तण्डुलाः ओदनशक्तियुक्ताः इन्धनाग्निस्थालीजलादिसामग्रीं प्राप्य भक्तपरिणामं लभन्ते।

अर्थ—जैसे भात शक्ति युक्त चावल इंधन, आग, बटलोई, जल आदि सामग्रीके मिलने पर ही भातरूप हो जाते हैं।

इस तरह ये सब प्रमाण ऐकान्तिक नियतिवादका समर्थन करनेमें बिल्कुल असमर्थ है। गाथा २१९ इस प्रकार है—

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहि संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥ २१९ ॥

इस गाथा २१९ में पदार्थोंको नाना शक्तियुक्त बतलाया गया है, किन्तु पदार्थ उत्तर समयमें उसी कार्यरूप परिणत होते हैं जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र आदि निमित्त कारणरूप सामग्री प्राप्त होती है। अर्थात् उत्तर पर्यायका कार्य नियत नहीं।

इसकी पुष्टि इसी ग्रंथको गाथा २२२ की टीकाके निम्नलिखित वाक्योंसे होती है।

द्रव्यं जीवादि वस्तु पूर्वपरिणामयुक्तं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभावेन उपादानकारणत्वेन वर्तते। तदेव द्रव्यं जीवादि वस्तु उत्तरपरिणामयुक्तं उत्तरपर्यायाविष्टं तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभूतं मणि-मन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन उत्तरक्षणे कार्यं निष्पादयत्येव।

अर्थ—जो जीवादि वस्तु पूर्व पर्यायकी हालतमें उपादान कारण रूपसे रहती है वही जीवादि वस्तु यदि निर्मापक संपूर्ण निमित्तोंके साथ मणि मंत्रादिक बाह्य सामग्री और अप्रतिबद्ध सामर्थ्यसे संपन्न हो तो वह उत्तर क्षणमें कार्यको निष्पन्न करती ही है। अर्थात् उसको कोई वारण करनेमें समर्थ नहीं है।

इतना ही अभिप्राय ग्रंथकर्ताका है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा ३१९-३२२ में वस्तु स्वरूप नहीं बतलाया गया है, किन्तु कुदेव आदि की पूजाके निषेधार्थ यह उपदेश दिया गया है। जैसे बारह भावनाओंमें वैराग्य उत्पन्न करानेके लिए 'अनित्य भावना' का उपदेश है। किन्तु वस्तु स्वरूप मात्र अनित्य नहीं है. वस्तु स्वरूप तो नित्यानित्यात्मक है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि इन्द्र या जिनेन्द्र किसी अन्य जीवके कर्मोंको टालनेमें असमर्थ हैं, किन्तु वह जीव तो स्वयं अपने पुरुषार्थ द्वारा कर्मोंके उदयादिको टाल सकता है, अन्यथा मोक्षमार्गका उपदेश निरर्थक हो जावेगा।

श्री पं० फूलचन्दजी इसी ग्रंथकी ३२३ गाथाका सम्बन्ध सिर्फ ३२१ और ३२२ से ही जोड़ना चाहते हैं जो गलत है, कारण कि उसका सम्बन्ध ३११ से ३२२ तककी गाथाओंसे है।

यदि जीव अपने परिणामों द्वारा कर्मोंकी स्थिति-अनुभागको खण्डन करके अविपाक निर्जरा (नियत कालसे पूर्व उदयमें लाकर खिराना) नहीं कर सकता तो मोक्षका अभाव हो जायगा और 'तपसा निर्जरा च।' त० सू० ९-३ सूत्र से विरोध आजायगा।

इसके अतिरिक्त इन गाथाओंमें यह बात कही नहीं बतलाई कि कोई भी व्यक्ति अपने पुरुषार्थसे अपने पूर्वबद्ध कर्मोंको उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा आदि रूपमें घटाना, बढ़ाना, पलटना नियत समयसे पूर्व उदयमें लेआना, कर्मोंकी नियत स्थिति तथा अनुभागका खंडन करना आदि नहीं कर सकता, यानी जिस कर्म पर्यायके पलटनेमें जिनेन्द्र, इन्द्र आदि भी समर्थ नहीं हैं उस पर्याय **परिवर्तन को जीव अपने पुरुषार्थसे करनेमें समर्थ है।**

इसीलिये 'जिनका जहाँ जब जिस प्रकार जिससे जिसके द्वारा जो होना होता है, तब तहाँ तिसका तिस प्रकार उससे उसके द्वारा वह होना नियत है, अन्य कुछ नहीं कर सकता' ऐसा एकान्त नियतिवादका लक्षण करके उसको अमितगति आचार्यने पंचसंग्रह श्लोक ३१२ तथा श्रीसिद्धान्त चक्रवर्तीने गो० क० गाथा ८८२ तथा प्राकृत पंचसंग्रह पृ० ५४७ मे एकान्त मिथ्यात्व कहा है।

इसके सिवाय ऐसा भी एकान्त नहीं है कि पूर्वबद्ध आयुकर्मके अनुसार नियत समय पर ही जीवोंकी मृत्यु अवश्य हो जाती है, क्योंकि सर्वज्ञदेवने अकालमृत्युका भी विधान किया है और जिसका श्री कुन्दकुन्दाचार्यने भावपाहुड की २५-२६-२७ वीं गाथाओंमें स्पष्ट उल्लेख किया है।

श्री उमास्वामी आचार्यने तत्त्वार्थसूत्रके द्वितीयाध्यायके अन्तिम सूत्रमें भी निश्चित आयुकी समाप्ति से पहले भी बाहरी निमित्त कारणों द्वारा मृत्यु (अकाल मृत्यु) हो जाना अनेक जीवोंके बतलाया है। उस सूत्रकी व्याख्या करते हुए श्री अकलंकदेवने तत्त्वार्थराजवार्तिकमें निम्नलिखित रूपसे उल्लेख किया है—

अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्ताभाव इति चेन्न, दृष्टत्वादाम्रफलादिवत् ॥ १० ॥

व्याख्या—यथावधारितपाककालात्प्राक् सोपायोपक्रमे सति आम्रफलादीनां दृष्टः पाकः तथा परिच्छिन्नमरणकालात्प्राक् उदीरणाप्रत्यय आयुषो भवत्यपवर्तः।

अर्थ—शङ्का—अप्राप्त कालवाले जीवका मरण उपलब्ध नहीं होता, इसलिये अकालमृत्यु नहीं है?

उत्तर—यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अप्राप्तकाल मरण भी देखा जाता है। जैसे कि आम्रफल निश्चित कालसे पहले उपाय द्वारा पका लिया जाता है वैसे ही निश्चित मरण कालसे पहले उदीरणा द्वारा आयुका व्याघात होता है।

आयुर्वेदसामर्थ्याच्च ॥ ११ ॥

अर्थ—आयुर्वेदकी सामर्थ्यसे भी अकाल मृत्युकी सिद्धि होती है।

इसका विशेष स्पष्टीकरण इस वार्तिककी वृत्तिमें देखिये। इस अकाल मृत्युके विधानसे प्रमाणित होता है कि आयु समाप्तिसे पूर्व भी दुर्घटनावश आयुकर्मका भंगकर साधारण जीवोंका मरण हो जाता है।

अकाल में दिव्यध्वनि

तीर्थंकरकी दिव्यध्वनिका समय यद्यपि नियत होता है तथापि बाहरी प्रबल निमित्त कारण मिलने पर असमयमें भी उस नियमको भंगकर दिव्यध्वनि खिरा करती है।

जयधवला पु० १ पृ० १२६ में लिखा है—

तिसंज्झविसयछघडियासु णिरंतरं पयट्टमाणिया इयरकालेसु संसयविवज्जासाणज्झवसायभावगयगणहरदेवं पडि वट्टमाणसहावा संकरवदिगराभावादो विसदसरूवा।

अर्थ—जो दिव्यध्वनि प्रातः मध्याह्न और सायंकाल इन तीन संध्याओंमें छह छह घड़ी तक खिरती रहती है और उक्त समयको छोड़कर इतर समयमें गणधरदेवके संशय विपर्यय और अनध्यवसाय भावको प्राप्त होने पर उनके प्रति प्रवृत्ति करना अर्थात् उनके संशयादिकको दूर करना जिसका स्वभाव है तथा संकर व्यतिकर दोषोंसे रहित विशद स्वभाववाली है।

इसी प्रकार चक्रवर्तीके समवसरणमें आ जाने पर भी दिव्यध्वनि असमयमें भी खिरा करती है।

निर्जरा तथा मुक्तिका अनियत समय

राजवार्तिक अ० १ सूत्र ३ पृ० २४ पर लिखा है—

कालानियमाच्च निर्जरायाः ॥ ९ ॥

अर्थ—जीवोंकी कर्मोंकी निर्जराका समय अनियत है।

इससे सिद्ध होता है कि जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा अन्तरङ्ग बहिरङ्ग अनुकूल निमित्त कारण प्राप्त कर कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ मुक्त होता है। अतः कर्मनिर्जरा और कर्ममुक्तिका समय नियत नहीं है।

अनियत गुण-पर्याय

पञ्चास्तिकायमें पर समय जीवकी पर्याय अनियत बतलाते हुए लिखा है—

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जओध परसमयो।
जदि कुणदि सगं समयं पब्भसदि कम्मबंधादो ॥ १५५ ॥

अर्थ—अपने चैतन्य स्वभावमें नियत होता हुआ भी संसारी जीव अनियत गुण-पर्यायवाला होता हुआ पर समय होता है। यदि वह स्वसमय होता है तब कर्मबन्धसे छूट जाता है।

इस तरह संसारी जीवकी नियत तथा अनियत दोनों प्रकारकी पर्यायें हुआ करती हैं। अनियत गुण-पर्यायका निमित्त कारण मोहनीय कर्मको टीकाकारने बतलाया है।

क्रम-अक्रम परिणमन

धवल पुस्तक १३ (५-५-८२) पृष्ठ ३४९ पर लिखा है—

अण्णेसिं दव्वाणं कमाकमेहिं परिणमणहेदुत्तं कालदव्वाणुभागो। एवं दुसंजोगादिणा अणुभागपरूवणा कायव्वा। जहा (मट्टिया) पिंड-दंड-चक्क-चीवर-जल-कुंभारादीणं घडुप्पायणाणुभागो।

अर्थ—अन्य द्रव्योंके क्रम और अक्रमसे परिणमनमें हेतु होना कालद्रव्यानुभाग है।

इसी प्रकार द्विसंयोगादिरूपसे अनुभागका कथन करना चाहिये। जैसे मृत्तिका पिण्ड, दण्ड, चक्र, चीवर, जल, कुम्हार आदिका घटोत्पादनरूप अनुभाग।

इस तरह श्री वीरसेनाचार्यने धवलसिद्धान्तके उक्त विधान द्वारा स्पष्ट बतलाया है कि कालद्रव्यमें यह शक्ति है कि वह अन्य द्रव्योंके निमित्ति कारण वश होनेवाले क्रमिक-अक्रमिक पर्याय-परिणमनमें सहायक होता है। तथा च यह भी उन्होंने बतलाया है कि दो द्रव्योंकी संयुक्त शक्तिसे भी घट आदि बननेरूप कार्य होता है। निमित्त कारणोंके अभावमें केवल उपादानसे घट आदि पर्यायका होना अटक जाता है।

द्रव्यकर्मकी अनियत पर्याय

कर्मबन्ध हो जानेपर प्रकृति, स्थिति, अनुभाग निश्चित (नियत) हो जाने पर भी बहिरङ्ग-अन्तरङ्ग निमित्तकारणोंके बलसे संचित द्रव्यकर्मोंकी प्रकृति-स्थिति-अनुभागमें उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा-रूप परिवर्तन हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि बद्ध कर्मोंकी पर्याय नियत और अनियत दोनों प्रकार की हुआ करती है। तदनुसार सातावेदनीय आदि कर्म असातावेदनीय आदि रूप भी हो जाता है। श्रेणिकने अपनी सातवें नरक की बाँधी हुई ३३ सागरकी आयुको अपने प्रयत्नसे बदलकर प्रथम नरक की ८४ हजार वर्षकी आयुरूप कर दिया। इस तरह कर्मोंकी निकाचित रूपमें नियत पर्याय और संक्रमण, उत्कर्षण, अपकर्षण और उदीरणा (अकाल मरणके समान) रूपमें अनियत पर्याय होती है।

इसके सिवाय द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावके अनुसार कर्म अपना फल नियत और अनियत रूपसे दिया करते हैं।

अर्हन्त भगवान्के असातावेदनीय कर्मका उदय सातारूपसे हुआ करता है। नरकमें सातावेदनीयका उदय (फल) असातावेदनीयके रूपमें होता है। देवगतिमें दुःखदायक साधन न होनेसे असातावेदनीयका उदय दुःखदायक नहीं होता।

इसी बातकी पुष्टि श्री वीरसेन आचार्यके जयधवल सिद्धान्तग्रन्थ पु० १ पृ० २८६ के निम्नलिखित कथनसे होती है—

पागभावस्स विणासो वि दव्व-खेत्त काल-भाव (भावा) वेक्खाए जायदे। तदो ण सव्वद्धं दव्व-कम्माइं सगफलं कुणंति त्ति सिद्धं।

अर्थ—प्रागभावका नाश हुए बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है और प्रागभावका विनाश द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा लेकर होता है, इसलिये द्रव्यकर्म सर्वदा अपने कार्यको उत्पन्न नहीं करते है, यह सिद्ध होता है।

श्री वीरसेनाचार्यके उक्त कथनसे दो बातें सिद्ध होती हैं—

१—कार्य अपने निमित्त-उपादान कारणोंके अनुसार ही होता है, किसी नियतिके अनुसार या केवल-ज्ञानके अनुसार नहीं होता है।

२—द्रव्यकर्मोंका फल भी अपरिवर्तनीय—नियत नहीं है।

निमित्त-उपादान कारण

इसके बाद आपने जो उपादान कारणके अनुसार पर्यायको नियत—क्रमबद्ध ठहरानेका प्रयत्न किया है और उसके लिये स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा तथा श्लोकवार्तिकके वाक्योंको उद्धृत किया है वह कार्य-कारण भावका सूचक होते हुए भी नियत कालका सूचक नहीं है।

जो पर्याय जिस समय होती है वह उसका स्वकाल अवश्य है, किन्तु पर्यायका वह स्वकाल एकान्त-रूपसे नियत नहीं है। उसका कारण यह है कि कार्य केवल उपादान कारणसे ही नहीं होता, उसके लिये निमित्त कारणोंका व्यापार अनिवार्यरूपसे आवश्यक है। कोई भी स्व-परप्रत्यय पर्याय निमित्त कारणके बिना कभी नहीं होती।

निमित्त कारणका व्यापार कालक्रमके अनुसार ही नियत हो ऐसा एकान्त नहीं है, क्योंकि कार्य-सिद्धिके लिये अनुकूल कारण जब भी आगे-पीछे क्रमसे या अक्रमसे उपलब्ध होंगे तब ही उन निमित्त कारणोंके व्यापारके अनुसार कार्य पहले या पीछे, क्रमसे या अक्रमसे होगा। जैसे आम या केले वृक्षपर कालक्रमसे प्राप्त सूर्य आदि अन्य पदार्थोंके निमित्तसे देरमें पका करते हैं, परन्तु मनुष्य अपनी आवश्यकताके अनुसार उन फलोंको पेड़से तोड़कर भुस आदिकी गर्मी द्वारा पहले भी पका लेता है।

रसोई बनानेवाला रसोइया भोजन बनानेके लिये अपनी इच्छानुसार लकड़ी, कोयला, बिजली या गैस की मन्द, तीव्र, तीव्रतर आदि अग्निका निमित्त मिलाकर दाल, चावल, शाक, रोटी आदि शीघ्र या देरसे बना लेता है। अपनी इच्छानुसार चावल, दाल, रोटी आदिमेंसे जिस द्रव्यकी पर्यायको पहले या पीछे करना चाहता है कर डालता है। रोटी बनाते हुए यदि वह पूड़ी बनाना आवश्यक समझता है तो वह आटेकी रोटी पर्यायको बन्द कर पूड़ी पर्यायको करने लगता है।

ऐसे अनियत अनन्त कार्योंको होते हुए हम प्रत्यक्ष देखते हैं। यदि हम ऐसे अनियत कार्योंको सिद्धान्त ग्रन्थोंमें देखें तो वहाँ भी कर्मोंके उत्कर्षण, संक्रमण, उदीरणा आदि अवस्थाओंमें जीवके अनियत भावोंके कारण अनियत कार्य होना उपलब्ध होता है।

इससे फलित होता है कि कार्यका होना कारणके व्यापारके अनुसार है। यतश्च कारण व्यापार काल-क्रमसे तथा कालके अक्रमसे उपलब्ध होता है, अतः कारणभूत पूर्व पर्यायका स्वकाल नियत रूपसे क्रमिक तथा अनियत रूपसे अक्रमिक भी होता है—कारणक्रमाक्रमानुविधायित्वात्कार्यक्रमाक्रमस्य।

केवलज्ञानकी अपेक्षा

उपलब्ध क्रमिक अक्रमिक निमित्त तथा उपादान कारणोंके अनुसार होनेवाली पदार्थोंकी क्रमिक अक्रमिक पर्यायें केवलज्ञानमें उसी क्रम-अक्रमरूपसे झलकती हैं—

दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।

जैसे कि कालमृत्यु तथा अकालमृत्यु। अतः केवलज्ञान द्वारा भी पदार्थोंकी पर्यायें नियत-क्रमिक एवं अनियत-अक्रमिकरूपमें सिद्ध होती हैं। इस तरह पर्याय क्रम-अक्रमके विषयमें एकान्त नहीं है—अनेकान्त है।

यतश्च केवलज्ञान ज्ञापक है, कारक नहीं है और कार्य, कारकके अनुसार होता है ज्ञापकके अनुसार नहीं—

णाणं णेयपमाणं।—प्रवचनसार गाथा २३

अतः पर्याय क्रमका नियामक केवलज्ञान नहीं है, निमित्त-उपादान कारणरूप कारक ही पर्याय-क्रमका नियामक है।

अतः आपका उत्तर युक्ति तथा आगमसे गलत सिद्ध होता है। श्री अमृतचन्द्र सूरिने प्रवचनसारके अन्तमें चरणानुयोग सूचक चूलिकामें नयोंका वर्णन करते हुए निम्नलिखित भङ्गोंका उल्लेख किया है—

यथा कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः ॥३०॥ अकालनयेन कृत्रिमौष्ण्यपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धिः ॥३१॥

अर्थ स्पष्ट है।

इस उल्लेखसे पदार्थके क्रमिक-अक्रमिक परिणमन पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है।

●

नमः श्री वीतरागाय

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका ५

द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे होती हैं या अनियत क्रमसे ?

प्रतिशंका २ का समाधान

इस प्रश्नका उत्तर व्यवहार नय और निश्चय नय दोनों प्रकारसे दिया गया है। व्यवहार नयसे उत्तर देते हुए स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षासे तीन गाथायें उद्धृत कर केवलज्ञानके ज्ञेयरूपसे द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे होती हैं यह सिद्ध किया गया था और निश्चयनयसे उत्तर देते हुए उपादानकी अपेक्षा द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे होती है यह अनेक आगम प्रमाण देकर सिद्ध किया गया था, किन्तु द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे नहीं होतीं इस अभिप्रायकी पुष्टि करते हुए पुनः प्रतिशंका २ उपस्थित की गई है। प्रतिशंका २ में विषयोंका वर्गीकरण इस प्रकार किया गया है—

१—स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी तीन गाथाएँ तथा तत्सम्बन्धी अन्य सामग्री।
२—अकालमें दिव्यध्वनि
३—निर्जरा तथा मुक्तिका अनियत समय
४—अनियत गुण-पर्याय
५—क्रम-अक्रम परिणाम
६—द्रव्य कर्मकी अनियत पर्याय
७—निमित्त-उपादान कारण।

आगे इसका समाधान किया जाता है।

: १ :

स्वामी कार्तिकेयने स्वलिखित द्वादशानुप्रेक्षामें सम्यग्दृष्टि निश्चय नयसे कैसा निर्णय करता है यह बतलानेके लिये जं जस्स जम्मि देसे इत्यादि दो गाथाएँ देकर अन्तमें यह लिखा है कि इस प्रकार सब द्रव्य और उनकी पर्यायोंको जो जानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो इसमें शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है। गाथा इस प्रकार है—

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी ॥३२३॥

इस गाथामें भिन्न टाईपमें दिये गये पद ध्यानमें लेने योग्य हैं। **णिच्छयदो** का अर्थ निश्चयसे (यथार्थमें) है। इससे विदित होता है कि पूर्वोक्त दो गाथाओंमें जिस तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है वह यथार्थ है। आगे **एवं जो दव्वाणि सव्वपज्जाए** पद देकर यह स्पष्ट किया गया है कि पिछली दो गाथाओंमें जिस तत्त्वकी व्यवस्था की गई है वह सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायोंके विषयमें है। **सद्दिट्ठी सुद्धो** पद देकर यह बतलाया गया है कि निश्चयसे सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको जो पूर्वोक्त प्रकारसे जानता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है तथा आगे **कुद्दिट्ठी** पद देकर यह बतलाया गया है कि जो पूर्वोक्त प्रकारसे सब द्रव्यों और उनकी पर्यायोंको निश्चयसे नहीं जानता वह मिथ्यादृष्टि है।

इस गाथामें **णिच्छयदो** पद देनेका एक दूसरा अभिप्राय भी है। इस द्वारा यह ज्ञान कराया गया है कि यह कथन निश्चय (यथार्थ) नयकी (उपादानकी) प्रधानतासे किया गया है। इससे पर्यायान्तरसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि आगममें जहाँ भी अकाल मृत्यु आदिका निर्देश किया गया है, वहाँ वह व्यवहार नयकी (उपचरित नयकी) अपेक्षा ही किया गया है निश्चय नयकी अपेक्षासे नहीं।

इन गाथाओंके आशयको ध्यानमें न रखकर जो यह कहा जाता है कि जो 'कोई व्यक्ति अपना मरण टालनेके लिये किसी देवी-देवताकी आराधना द्वारा प्रयास करे तो उसको समझानेके लिए स्वामिकार्तिकेयने इन गाथाओं द्वारा यह अभिव्यक्त किया है कि मरण कालको भी इन्द्र या देव यहाँ तक कि जिनेन्द्र भी नहीं टाल सकते।' सो उन गाथाओं परसे ऐसा आशय फलित करना उचित नहीं है। कारण कि इन दो गाथाओंके पूर्वमें जो गाथा आई है उसके अन्तमें 'सद्दिट्ठी' पद स्वतन्त्र पड़ा है, अतः इस गाथाका इन दो गाथाओंके साथ सीधा सम्बन्ध नहीं है। दूसरे ३१९ और ३२० गाथाओं द्वारा जो प्रतिपादन किया गया है वह मात्र सम्यग्दृष्टिकी भावना नहीं है, किन्तु उन द्वारा वस्तुस्थितिका ही प्रतिपादन किया गया है। इसके लिये समयसार की २४७ से लेकर २६१ तककी गाथाओंके साथ इन दो गाथाओंका मिलान कीजिए। वहाँ कहा है—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिद-सुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥ २५३ ॥

अर्थ—जो यह मानता है कि अपने द्वारा मैं जीवोंको दुःखी-सुखी करता हूँ वह मूढ़ है, अज्ञानी है। परन्तु जो ऐसा नहीं मानता वह ज्ञानी है॥ २५३॥

अब इसके प्रकाशमें स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी यह गाथा पढ़िए—

ण य को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि ॥ ३१९ ॥

अर्थ—कोई किसीको लक्ष्मी नहीं देता और न कोई जीवका उपकार करता है। उपकार और अपकार शुभ और अशुभ कर्म करते हैं ॥ ३१९ ॥

यों तो श्री समयसार जीमें ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जिन द्वारा यह बतलाया गया है कि न तो कोई किसीको मार सकता है और न जिला सकता है। कर्मके उदयसे जीव मरता और जीता है आदि। उदाहरण-स्वरूप एक गाथा और देखिए।

जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि परेहिं सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५०॥

अर्थ—जो जीव मानता है कि मैं दूसरे जीवोंको जिलाता हूँ और दूसरे जीव मुझे जिलाते हैं वह मूढ़ है—अज्ञानी है और ज्ञानी इससे विपरीत है ॥ २५० ॥

अब इसके प्रकाशमें स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाको ३१९ नं० की गाथा पढ़िए—

भत्तीए पुज्जमाणो विंतरदेवो वि देदि जदि लच्छी।
तो किं धम्मे कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी ॥ ३२० ॥

अर्थ—भक्तिसे पूजित व्यन्तर देव यदि लक्ष्मी देता है तो धर्म क्यों किया जाता है ऐसा सम्यग्दृष्टि विचार करता है ॥ ३२० ॥

इससे ज्ञात होता है कि पूर्वोक्त ३२१ और ३२२ गाथाओं द्वारा तथा ३१९ और ३२० गाथाओं द्वारा ऐसा कोई तत्त्व नहीं कहा गया है जो मात्र भावनासे सम्बन्ध रखता हो। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाको इन सब गाथाओं द्वारा एकमात्र इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है कि अन्य अन्यका अच्छा-बुरा कुछ भी नहीं कर सकता। सब अपने अपने कर्मानुसार ही होता है। यही बात श्री समयसार जी में कही गई है। अतएव सम्यग्दृष्टिकी इस भावना को यथार्थ ही जानना चाहिये। इसी ग्रन्थ में २१९ नं० को एक गाथा और आई है, जिसमें बतलाया गया है कि निश्चय से कालादि लब्धि से युक्त और नाना शक्तियों से स्वयं परिणमन करनेवाले पदार्थों को कोई भी वारण नहीं कर सकता। गाथा इस प्रकार है—

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहिं संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥ २१९ ॥

इसमें 'परिणममाणा हि सयं' पद ध्यान देने योग्य हैं। इन पदों द्वारा यह स्पष्ट शब्दोंमें ज्ञान कराया गया है कि यथार्थमें प्रत्येक यथार्थ स्वयं परिणमन करते हैं, अन्यके द्वारा नहीं परिणमाये जाते हैं। इसलिये इस गाथाके आधारसे यदि कोई यह फलित करे कि कार्य उत्तर समयमें उसी कार्यरूप परिणत होते हैं जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र आदि निमित्त कारणरूप सामग्री प्राप्त होती है। अर्थात् उत्तर पर्यायका कार्य नियत नहीं है। सो यह लिखना पदार्थ व्यवस्थाके प्रतिकूल है। प्रत्येक पदार्थमें प्रत्येक समयमें जो द्रव्य-पर्यायात्मक शक्ति होती है जिसे कि आचार्यों ने यथार्थ (निश्चय) उपादान कहा है उसके अनुसार ही कार्यको उत्पत्ति होती है। तभी तो आचार्य अकलंकदेव और विद्यानन्दि स्वामी जैसे समर्थ आचार्य 'उपादानस्य उत्तरीभवनात्' यह कहनेमें समर्थ हुए। यदि उपादानके इस लक्षणको, जिसे कि सभी आचार्योंने अनेक तर्क देकर सिद्ध किया है, यथार्थ नहीं माना जाता है और यह स्वीकार किया जाता है कि जब जैसा बाह्य निमित्त मिलता है तब उसके अनुसार कार्य होता है तो सिद्धोंको जिनमें वैभाविक शक्ति इस अवस्थामें भी विद्यमान है और लोकमें

सर्वत्र बाह्य निमित्तोंकी भी विद्यमानता है तब उन्हें संसारी बनानेसे कौन रोक सकता है, क्योंकि ऐसा माननेपर जीवके राग-द्वेषरूपसे परिणमन करनेपर ही उसको निमित्त कर द्रव्य कर्मोंका बन्ध होता है यह सिद्धान्त ही खण्डित हो जाता है। इसके साथ तब यही मानना पड़ेगा कि कोई जीव सातवें नरकमें जाने योग्य संक्लेश परिणाम करे परन्तु बाह्य निमित्त देव-गुरु-शास्त्रका सानिध्य आदि देवगतिमें जानेके योग्य हो तो उसे नरकायुका बन्ध न होकर देवायुका ही बन्ध होगा, क्योंकि जब कि यह स्वीकार किया जाता है कि कार्य तो बाह्य निमित्तके अनुसार होता है। ऐसी अवस्थामें अमुक प्रकारके परिणामोंके होनेपर अमुक प्रकार-का बन्ध होता है यह जो आगममें व्यवस्था की गई है वह सबकी सब छिन्न-भिन्न हो जाती है। प्रत्येक द्रव्यकी संयोग कालमें होनेवाली पर्याय बाह्य निमित्तसापेक्ष निश्चय उपादानसे होती है यह तो है, पर साथमें इसके प्रत्येक कार्यके प्रति उपादानकी नियामकता ही स्वीकार की गई है। इसलिये जब कार्यक्षम निश्चय उपादान उपस्थित होता है तब निमित्त भी उसीके अनुसार ही मिलते हैं यह भी नियम है। नियममें अनेकान्त लागू नहीं होता। अनेकान्तकी अपनी मर्यादा है, इसलिये उसे ध्यानमें रख कर ही उसे लागू करना चाहिये। अन्यथा द्रव्यमें सामान्यकी अपेक्षा जो नित्यता और पर्यायअपेक्षा जो अनित्यता स्वीकार की गई है वह अनेकान्त नहीं बनेगा। तब तो यह भी माननेके लिये बाध्य होना पड़ेगा कि—'द्रव्य (सामान्य) स्वयं अपनी अपेक्षा ही कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है।' अतएव ज्ञानी विद्वान् पुरुषोंका कार्य है कि वे शास्त्रकी मर्यादाको ध्यानमें रखकर ही उसकी व्याख्या करें। अतएव स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २२२ नं० की गाथाकी टीकासे, जो उसका यथार्थ तात्पर्य है, वही फलित करना चाहिये। उसमें 'मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्ध-सामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन' के पूर्व यदि 'यदि' अर्थको सूचित करनेवाला कोई पाठ मूल टीकामें होता तब तो निमित्तोंकी अनिश्चितता भी समझमें आती, परन्तु उसमें इस आशयको सूचित करनेवाला कोई पाठ नहीं है, इसलिये उसे 'तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभूतम्' का विशेषण बना कर ही उसका अर्थ करना चाहिये और ऐसा अर्थ करनेपर निमित्त-उपादानके योगकी अच्छी तरह सुसंगति बैठ जाती है।

बारह भावनाओंमें अनित्य भावनाका उपदेश संवेग और वैराग्य उत्पन्न करानेके अभिप्रायसे ही आया है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु अर्पितानर्पितसिद्धेः त० सू० ५-३२ सूत्रके अनुसार नित्य पक्षको गौण कर ही ऐसी भावना कराई गई है। ऐसा करनेका कारण भी है। बात यह है कि संसारमें धन, पुत्र, स्त्री आदिका संयोग होता है। जिसमें कि मिथ्यादृष्टिकी निज बुद्धि बनी आ रही है, उस संयोगके प्रति अरुचि उत्पन्न कराना वहाँ प्रयोजन है। स्त्रीपर्यायविशिष्ट द्रव्य नित्यानित्य हो सकता है, पर स्त्रीपर्याय नहीं, और मिथ्यादृष्टि जीव स्त्रीपर्यायविशिष्ट द्रव्यमें निज बुद्धि नहीं कर रहा है, किन्तु जो जीव उस कालमें स्त्री-पर्यायविशिष्ट है उसकी उस कालमें होनेवाली स्त्रीपर्यायमें निज बुद्धि कर रहा है। अतएव वहाँ उस पर्यायसम्बन्धी आसक्ति छुड़ानेके अभिप्रायसे ही वैसी भावनाका उपदेश दिया गया है। अतएव अनित्य भावनाको उदाहरणस्वरूप उपस्थित कर ३१९-३२२ गाथाओंको उसी अर्थमें लेना उचित नहीं है।

३२३ नं० की गाथाका सम्बन्ध ३२१-३२२ गाथाओंके साथ तो है ही। और यदि इसका सम्बन्ध इसके पूर्वकी ३१९-३२० नं० की गाथाओंके साथ भी जोड़ा जाता है तो भी कोई आपत्ति नहीं है। जैसा कि पूर्वमें श्री समयसार जी के आधारसे सिद्ध कर आये हैं।

अकामनिर्जरा और तपद्वारा होनेवाली निर्जराका शास्त्रमें विधान है इसमें सन्देह नहीं। पर कर्म-शास्त्रके अभ्यासीसे यह बात छिपी हुई नहीं है कि ऐसी निर्जरा किन कर्मोंकी कैसी योग्यताके होने पर कैसी पद्धतिसे होती है। जिस कालमें जिन कर्मोंकी जितने परिमाणमें जिन परिणामोंको निमित्त कर उत्कर्षित,

अपकर्षित, संक्रमित और उदीरित होनेकी योग्यता होती है उस कालमें उन कर्मोंका उतने परिमाणमें उन परिणामोंको निमित्त कर उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण और उदीरणा होती है ऐसा नियम है। जीवके विवक्षित परिणामोंके साथ उन कर्मोंके अपकर्षणादिकी व्यवस्था की गई है यह बात कर्मशास्त्रियोंको सुविदित है।

दूसरे बन्धकालमें जो स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है सो उस कालमें ही उन-उन कर्मोंमें ऐसी योग्यता स्थापित हो जाती है, जिससे नियत काल आनेपर नियत परिणामों तथा बाह्य नोकर्मोंको निमित्त कर उन-उन कर्मोंका अपकर्षणादि रूप परिणमन होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो एक तो कर्मशास्त्रमें जो उपशमकरण, निधत्तिकरण और निकाचितकरणकी व्यवस्थानुसार यह बतलाया गया है कि जो कर्म उदयमें नहीं दिये जा सकते उनकी उपशमकरण संज्ञा है, जो कर्म उदयमें नहीं दिये जा सकते और संक्रमणके अयोग्य होते हैं उनकी निधत्ति संज्ञा है तथा जो कर्म उदयमें नहीं दिये जा सकते और जो संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षणके अयोग्य होते है उनकी निकाचित संज्ञा है वह पूरीकी पूरी व्यवस्था गड़बड़ा जाती है।

दूसरे उदीरणादिमें वह किस क्रमसे होती है और कितने कालमें होती है यह जो व्यवस्था कर्मशास्त्रमें बतलाई है वह व्यवस्था भी गड़बड़ा जायगी। उदाहरणार्थ जो उपशमसम्यग्दृष्टि जीव सम्यक्त्वसे च्युत होकर मिथ्यात्व गुणस्थानमें आता है वह मिथ्यात्वमें रहते हुए सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिकी उद्वेलना पल्यके असंख्यातवें भागप्रमाण कालमें करता है। उसमें भी प्रथम समयमें अमुक परिमाणमें उद्वेलना होती है, द्वितीय समयमें अमुक परिमाणमें उद्वेलना होती है इत्यादि रूपसे जो व्यवस्था बताई गई है वह व्यवस्था भी नहीं बन सकती। देवादिका सम्यक् निमित्त मिलनेपर वह अन्तर्मुहूर्तमें, एक दिन में, एक पक्षमें, एक मासमें, एक वर्षमें या सैकड़ों वर्षोंमें उनकी उद्वेलना क्यों नहीं कर लेता है, क्योंकि उद्वेलनाके योग्य बाह्य सामग्री है ही, फिर अमुक काल ही उसके लिये लगे ऐसा नियम नहीं रहना चाहिये।

तीसरे बन्धके योग्य एक प्रकारका अमुक परिणाम होनेपर जो बन्ध होता है, उस परिणामको निमित्त कर मोहनीयकी सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर स्थिति पड़े और ज्ञानावरणादि कर्मोंकी अन्य स्थितिबन्ध हो, स्थितिबन्धमें यह भेद कौन करता है ?

चौथे एक शुभ परिणामके होने पर विविध कर्मोंमें जो अनुभागबन्धमें या योगके अनुसार प्रदेशबन्धमें भेद होता है यह भेद भी कौन करता है ?

पाँचवें प्रत्येक आत्माके साथ विस्रसोपचय इतना अधिक होता है कि यदि नया विस्रसोपचय संचित न हो और उसीमेंसे नया-नया बन्ध होता रहे तो भी वह चिरकाल तक समाप्त नहीं होगा। ऐसी स्थितिके रहते हुए भी किस समयमें विस्रसोपचयमेंसे किन कर्मवर्गणाओंका कितने परिमाणमें बन्ध होगा यह भेद भी कौन करता है ? आत्मा तो मात्र परिणाम करता है, परन्तु उस समय बन्धयोग्य कर्मवर्गणाओंका ही बन्ध होता है, अन्यका नहीं ऐसा फरक क्यों पड़ता है ?

छठे ऐसा नियम है कि निमित्तकी निमित्तता कार्यके समयमें मानी गई है। अतएव (१) जिस समय उपादान कारण कार्यरूपसे परिणमता है उस समय जो उसका निमित्त कारण है वह स्वयं अपना उपादान बन कर अपनी पर्यायको उत्पन्न करनेके लिये व्यापार करता है या जिसका वह निमित्त है उसके व्यापारमें लगता है ? यदि कहो कि उस समय वह स्वयंका उपादान बनकर करता तो अपना कार्यरूप व्यापार ही है, किन्तु जिसका वह निमित्त है उसके कार्यरूप व्यापारको नहीं करता है तो फिर दोनोंने जब कि उस

समय एक साथ अपने-अपने कार्यको करनेका व्यापार किया। ऐसी अवस्थामें निमित्तके अनुसार उपादानको परिणमना पड़ता है यह नियम कैसे बन सकता है ?

यदि कहो कि (२) जिस समय उपादान अपना कार्य करता है उस समय जो उसका निमित्त है वह स्वयं का उपादान बनकर अपना व्यापार न करके मात्र जिसका वह निमित्त है उसका व्यापार करता है तो फिर दोनोंका मिलकर एक व्यापार दिखलाई देना चाहिये। उदाहरणार्थ जिस समय कुम्भकार घटका निर्माण करता है उस समय उक्त प्रकारसे मिट्टीमें ही दोनोंके परिणमनकी क्रिया दिखलाई देनी चाहिये। मिट्टी में होनेवाली परिणमनरूप क्रियाके साथ कुम्भकारके जो हाथ आदि हिलते हुए दिखलाई देते हैं वे नहीं दिखलाई देने चाहिये।

यदि कहो कि (३) जिस समय उपादान अपना कार्य करता है उस समय उसका जो निमित्त है वह अपना कार्य तो करता ही है पर उसके साथ-साथ जिसका वह निमित्त है उसका भी व्यापार करता है तो इस प्रकार उसे एक साथ उपादान बन कर अपनी और जिसका वह निमित्त है उसकी इस प्रकार एक साथ दो क्रियाएँ करनी पड़ेंगी। परन्तु ऐसा तो जिनागममें माना नहीं गया है, कि एक पदार्थ दो क्रियाका कर्त्ता हो।

अतएव ऐसा मानना ही उचित है कि उपादानके कार्यके प्रति दूसरे एक या एकसे अधिक जिन द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें निमित्त व्यवहार होता है वे सब कार्य तो अपना-अपना ही करते हैं। कोई किसीका कार्य नहीं करता, परन्तु उन सब द्रव्योंके उस-उस कालमें उस-उसरूप परिणमनेकी द्रव्य-पर्यायात्मक उपादान योग्यता सहज ही होती हैं और उनका वैसा ही परिणमन भी होता है, मात्र इन दोनोंकी इस बाह्य व्याप्तिको देखकर ही उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्वीकार किया गया है। ऐसा मानना यहाँ आगमानुकूल है।

शब्द विवक्षित वाक्योंका रूप लेकर सीमित अर्थका ही प्रतिपादन करते हैं, अतः यदि ३२१–३२२ गाथाओं द्वारा मात्र नियति (निश्चय) के अनुसार ही कथन किया गया है तो इसका अर्थ यह नहीं कि उन गाथाओं द्वारा व्यवहार पक्षका भी कथन किया जाना चाहिए था और नहीं किया गया है तो वह कथन एकान्त हो जायगा। कथन कहीं प्रमाणकी अपेक्षा किया गया है। कहीं व्यवहार नयकी अपेक्षा कथन किया गया है और कहीं निश्चय नयकी अपेक्षा कथन किया गया है। इसलिये जहाँ जिस नयकी अपेक्षा कथन हो उसे उसी रूपमें घटित कर विवक्षित प्रमाणरूप अर्थको फलित कर लेना चाहिये। यही शास्त्रके अर्थ करनेकी पद्धति है जो शास्त्रकारोंने सर्वत्र अपनाई है।

कथन करनेकी पद्धति तीन हैं—प्रमाणकी अपेक्षा, निश्चय नयकी अपेक्षा, और व्यवहार नयकी अपेक्षा। ये तीन पद्धतियाँ आगममें यथास्थान सर्वत्र स्वीकार की गई हैं, अतएव उनकी संगति बिठलाते हुए इष्टार्थको फलित करना चाहिये।

प्रकृत में ३२१-३२२ गाथाएँ निश्चय नयकी मुख्यतासे लिखी गई हैं, वह इसीसे स्पष्ट है कि उनसे अगली गाथा में 'एवं जो णिच्छयदो' यह पाठ दिया गया है। हम इस गाथामें पठित णिच्छयदो पदको गौण कर दें और उनका अपने विकल्पके अनुसार अर्थ करें यह उचित नहीं है। अर्थ करनेकी यह पद्धति भी नहीं है। इसी आशयका एक श्लोक पद्मपुराणमें भी उपलब्ध होता है सो उसका भी प्रकृतके अनुरूप अर्थ करना चाहिये। वह श्लोक इस प्रकार है—

यत्प्राप्तव्यं यदा येन यत्र यावत्यतोऽपि वा।
तत्प्राप्यते तदा तेन तत्र तावत्ततो ध्रुवम् ॥२९-८३॥

अर्थ—जिस जीवके द्वारा जहाँ पर जिस कालमें जिस कारणसे जिस परिमाणमें जो प्राप्तव्य है उस जीवके द्वारा वहाँ पर उस कालमें उस कारणसे उस परिमाणमें वह नियमसे प्राप्त किया जाता है।

पण्डितप्रवर भैया भगवतीदास जी तत्त्वज्ञानसे भली-भाँति परिचित लोकोत्तर पुरुष थे। जिनागमका सार वीतरागता जानकर पर्याय और निमित्तोंके प्रति एकत्वबुद्धिका त्याग करानेके अभिप्रायसे उन्होंने भी अपनी समर्थ वाणीके द्वारा निश्चय नयकी अपेक्षा यह वचन कहा है—

जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहुँ न होसी काहे होत अधीरा रे॥

भगवन् ! जीवन में वीतरागता उत्पन्न हो, क्यों कि वह संसारी आत्माका मुख्य कार्य है, इसलिये वर्तमान पर्यायमें अनासक्ति उत्पन्न होने तथा निमित्तोंके प्रति इष्टानिष्ट बुद्धिका त्याग करनेके अभिप्रायसे प्रत्येक संसारी प्राणीको निश्चयके आश्रयसे ऐसी बुद्धि सदा काल बनी रहे यह भावना है। यह सिद्धान्त जीवनका वह प्रेरणास्रोत है जो प्रत्येक प्राणीको आकुलतासे बचाकर निराकुलस्वरूप अनन्त सुखकी ओर ले जाता है। अन्यथा निमित्तोंकी उठाधरीके सिवा जीवनमें आत्मीक लाभ मिलना इतना दुर्लभ है जिस प्रकार बालुका समुद्रमें गिरा हुआ मणिका मिलना दुर्लभ है।

प्राय: हम पुरुषार्थकी बात तो करते हैं; परन्तु परद्रव्यके कार्य करनेमें उसकी सफलता मानते है जो कर सकना असम्भव है। संसारी जीवने विकल्पके अनुसार क्रियाको ही सच्चा पुरुषार्थ मान लिया है। यदि वह इसमें और सच्चे पुरुषार्थमें वास्तविक अन्तरको जान ले तो उसके जीवनमें परके कार्य करनेका विकल्प ही न रहे। स्वामी समन्तभद्र इसी परमार्थभूत तत्त्वका स्मरण कराते हुए स्वयम्भूस्तोत्रमें कहते हैं—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥३३॥

अर्थ—आपने (जिनदेवने) यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वयसे उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्य-शक्ति है, क्योंकि संसारी प्राणी 'मैं इस कार्यको कर सकता हूँ' इस प्रकारके अहंकारसे पीड़ित है, वह (भवितव्यता) के बिना अनेक सहकारी कारणोंको मिलाकर भी कार्योंके सम्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता ॥३३॥

पूर्वबद्ध आयु कर्ममें जितना स्थितिबन्ध होता है उसमें भोगकालमें उत्कर्षण तो सम्भव नहीं, निषेक स्थिति अपकर्षण हो सकता है इस नियमको ध्यानमें रखकर जिन जीवोंमें यह निषेक स्थिति अपकर्षण नहीं होता उन जीवोंका वह आयुकर्म इस नियमका अपवाद है यह दिखलानेके लिए तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २, सू० ५३ में नियम वचन आया है। उस परसे बहुतसे बन्धु यह फलित करते है कि यह व्यवहार कथन न होकर निश्चयकथन है। आचार्य अकलंकदेवने इस वचनके आश्रयसे जो व्यवहार पक्षका समर्थन किया है उसे ही हमारे बन्धु निश्चयपक्ष मानकर वैसी श्रद्धा किये हुए हैं और उसीको मात्र जिनागम बतलाकर जोरदार शब्दोंद्वारा उसका समर्थन करते हैं। अब यह विचार करना है कि क्या यह निश्चय कथन है या मात्र व्यवहाररूप विशेष निमित्तोंका ज्ञान करानेके लिए यह कथन किया गया है। आगे यही विचार करना है।

यह तो आगमाभ्यासी भलीभाँति जानते हैं कि मृत्युको प्राप्त हुआ जीव प्रथम, द्वितीय और तृतीय समयमें तथा अधिकसे अधिक चौथे समयमें उत्तरभवको अवश्य धारण कर लेता है। मान लो किसी जीवका

अकालमरण होता है परन्तु ऐसा जीव कहाँ जाकर जन्म धारण करे इसकी तो कोई नियत व्यवस्था है ही नहीं, क्योंकि अकालमरणके कथनको यथार्थ माननेवाले महानुभाव इस नियमका प्रतिपादन तो कर नहीं सकते कि उसके जन्मका नियत स्थान है और न यह ही कहनेको क्षमता रखते हैं कि वहाँ जन्मयोग्य गर्भादिकके आवश्यक निमित्त भी नियमसे तैयार रहते हैं। ऐसी अवस्थामें जिसका अकालमरण हुआ उसका अकाल जन्म मानना पड़ेगा और अकाल जन्मके स्वीकार कर लेनेपर जन्मस्थान आदिका कोई निश्चित नियम न होनेसे ऐसा जीव कहाँ जाकर जन्म लेगा यह निश्चित नहीं किया जा सकता। आनुपूर्वी कर्म, गतिकर्म आदि तो जड़ है, वे जानते नहीं कि ऐसी अनिश्चित व्यवस्थाके रहते हुए कहाँ इस जीवको ले जाया जाय। और फिर जब सब अनिश्चित है और अनिश्चित सिद्धान्तके आधारपर कार्य-कारण व्यवस्था बनानी है। ऐसी अवस्थामें यही मानना पड़ेगा कि मरणके बाद कितने समयमें कौन जीव कहाँ जन्म धारण करेगा इसका कोई नियम नहीं किया जा सकता है। किन्तु जब लोकमें चारों गतियोंकी और गत्यागति आदिकी सब सुनिश्चित व्यवस्था है। ऐसी अवस्थामें अकालमरणके कथनको व्यवहारपक्षका कथन ही जानना चाहिये।

: २ :

तीर्थंकरकी वाणी किसी विशेष पुण्यशाली गणधर आदिको निमित्तकर अन्य समयमें भी खिरती है ऐसा जयधवला पुस्तक १ पृ० १२६ में उल्लेख है। इसपरसे यह फलित किया जाता है कि तीर्थंकरकी दिव्यध्वनि अकालमें भी खिरती है। परन्तु उक्त उल्लेखपरसे ऐसा फलित नहीं होता। वहाँ मूलमें तो 'इदरकालेसु' ऐसा पाठ है। उसका अर्थ 'अन्य कालोंमें' होता है। इस द्वारा दिव्यध्वनि कब-कब खिरती है यह नियम किया गया है। जिसका जो नियम हो वह उसका स्वकाल है, अकाल नहीं। और संयोगकी भूमिकामें होनेवाला कार्य हो तो उस समय वैसा निमित्त भी मिलता है। उसका भी वह स्वकाल है, क्योंकि जिसे उपादानरूपसे विवक्षित किया जाता है उसका प्रत्येक परिणाम जैसे अपने-अपने कालमें होता है। उसी प्रकार जिसे निमित्त रूपसे विवक्षित किया जाता है वह स्वयं अपने कार्यके प्रति उपादान होनेसे उसका भी प्रत्येक परिणाम अपने-अपने कालमें होता है। इस प्रकार कार्यके प्रति निमित्त-उपादानकी संगति बैठनी जाती है। उसमें बाधा नहीं आती। इस तथ्यको जयधवलामें इन्द्र द्वारा गौतमगणधरको समवसरणमें लानेके समयके प्रसंगको लेकर भले प्रकार सिद्ध कर दिया गया है। वहाँ यह प्रश्न किया गया है कि इन्द्र पहले ही गणधरको ले आता, ६६ दिनतक क्यों रुका रहा? उत्तरमें कहा गया है कि काललब्धिके अभावमें पहले वैसा करना संभव नहीं था। जयधवलाका वह कथन इस प्रकार है—

सोहम्मिंदेण तक्खणे चेव गणिंदो किण्ण ढोइदो? ण, काललद्धीए विणा असहेज्जस्स देविंदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो। पृ० ७६।

शंका—सौधर्म इन्द्रने केवलज्ञानके प्राप्त होनेके समय ही गणधरको क्यों नहीं उपस्थित किया?

समाधान—नहीं, क्योंकि काललब्धिके बिना सौधर्म इन्द्र गणधरको उपस्थित करनेमें असमर्थ था, उसमें उस समय गणधरको उपस्थित करनेकी शक्ति नहीं थी।

इसमें 'काललब्धि' पद ध्यान देने योग्य है। इसे सर्वत्र कार्य उत्पत्तिमें स्वीकार किया गया है। सब कार्य काललब्धिके प्राप्त होने पर ही होते हैं ऐसा निश्चित नियम है। अतएव तीर्थंकरदेवकी दिव्यध्वनि इतर कालमें खिरती है इस उल्लेखको देखकर उसपरसे अकालमें खिरती है ऐसा फलित करना योग्य नहीं है।

: ३ :

निर्जरा और मुक्तिका काल अनियत है यदि यह सिद्धान्त माना जाता है तो जैसा कि पूर्वमें बतला आये हैं तदनुसार निमित्त-उपादानकी सम्यक् व्यवस्था ही नहीं बन सकती। आचार्य विद्यानन्दि इलोकवार्तिक पृ० ७० में कहते हैं—

कालादिसामग्रीको हि मोहक्षयस्तद्‌प्रादुर्भावहेतुः न केवलः, तथा प्रतीतेः।

अर्थ—यथार्थमें कालादि सामग्रीसे युक्त मोहक्षय केवलज्ञानकी उत्पत्तिका हेतु है, अकेला नहीं, क्योंकि उस प्रकार प्रतीत होता है।

उसी स्थलपर वे पुनः कहते हैं—

क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिरपि न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिणोऽपेक्षणीयस्य तदा विरहात्।

अर्थ—शंका क्षीणकषायके प्रथम समयमें केवलज्ञानके प्रादुर्भावकी प्रसक्ति होती है?

समाधान—ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सहकारीरूपसे अपेक्षित कालविशेषका उस समय अभाव है।

इलोकवार्तिकके ये दो ऐसे पुष्ट प्रमाण हैं जो इस तथ्यको सूचित करते हैं कि जिस कार्यका जो स्वकाल है उसके प्राप्त होने पर ही कार्यकी उत्पत्ति होती है, अन्य कालमें नहीं। अतएव जिस प्रकार केवलज्ञानकी उत्पत्ति निश्चित कालमें होती है उसी प्रकार विवक्षित निर्जरा और मोक्षकी प्राप्ति भी नियतकालमें होती है ऐसा यहाँ स्वीकार करना चाहिए।

: ४ :

पञ्चास्तिकायकी १५५ वीं गाथामें आये 'णियदो' और 'अणियद' पदके प्रकृत अर्थको छोड़कर नियत और 'अनियत' अर्थ करके जो गुण-पर्यायोंको नियत और अनियत सिद्ध किया गया है वह संगत नहीं है। वहाँ उसमें आये हुए 'सहावणियदो' पदका अर्थ 'स्वभावमें नियत—अवस्थित अर्थात् लीन' है तथा 'अणियद-गुणपज्जाओ' पदका अर्थ-स्वभावगुण पर्यायोंमें अनियत—अनवस्थित अर्थात् विभाव-गुणपर्यायों में अवस्थित (लीन) है,' क्योंकि उस गाथामें स्वसमय और परसमयकी व्याख्या की गई है और फलितार्थ रूपमें यह बतलाया गया है कि जो स्वसमयरूप परिणमता है वह कर्मबन्धसे छूट जाता है। अतः इस गाथा परसे 'संसारी जीवकी नियत (क्रम नियत) तथा अनियत (क्रम अनियत) दोनों प्रकारकी पर्यायें हुआ करती हैं यह अर्थ करना संगत नहीं है। जिसमें सब विषय स्पष्ट हो जाय इसके लिए यहाँ उक्त गाथा और उसकी टीका दी जा रही है—

जीवो सहावणियदो अणियदगुणपज्जाओध परसमओ।
जीवो कुणदि सगं समयं पब्भस्सदि कम्मबंधादो ॥१५५॥

अर्थ—जीव स्वभावमें अवस्थित होनेपर भी यदि विभाव गुणपर्यायोंमें लीन हो तो परसमय है। यदि वह स्वसमयको प्राप्त करता है तो कर्मबन्ध से छूट जाता है ॥१५५॥

टीका—स्वसमयपरसमयोपादानव्युदासपुरस्सरकर्मक्षयद्वारेण जीवस्वभावनियतचरितस्य मोक्षमार्गत्वद्योतनमेतत्। संसारिणो हि जीवस्य ज्ञानदर्शनावस्थितत्वात् स्वभावनियतस्यापि अनादिमोहनीयोदयानुवृत्तिपरत्वेनोपरक्तोपयोगस्य सतः समुपात्तभाववैश्वरूप्यत्वादनियतगुणपर्यायत्वं परसमयः परचरितमिति यावत्। तस्यैवानादिमोहनीयोदयानुवृत्तिपरत्वमपास्यात्यन्तशुद्धोपयोगस्य सतः समुपात्तभावैक्यरूप्य-

स्वाश्रितगुणपर्यायत्वं स्वसमयः स्वचरितमिति यावत्। अथ खलु यदि कथञ्चनोद्भिन्नसम्यग्ज्ञानज्योतिर्जीवः परसमयं व्युदस्य स्वसमयमुपादत्ते तदा कर्मबन्धादवश्यं भ्रश्यति। यतो हि जीवस्वभावनियतं चरितं मोक्षमार्ग इति ॥१५५॥

अर्थ:—स्वसमयके ग्रहण और परसमयके त्यागपूर्वक कर्मक्षय होता है—ऐसे प्रतिपादन द्वारा यहाँ (इस गाथामें) 'जीव स्वभावमें नियत चारित्र वह मोक्षमार्ग है' ऐसा दर्शाया है। संसारी जीव, (द्रव्य-अपेक्षासे) ज्ञानदर्शनमें अवस्थित होनेके कारण स्वभावमें नियत (निश्चलरूपसे स्थित) होनेपर भी जब अनादि मोहनीयके उदयका अनुसरण करके परिणत करनेके कारण उपरक्त उपयोगवाला (अशुद्ध उपयोग-वाला) होता है तब (स्वयं) भावोंका विश्वरूपपना (अनेकरूपपना) ग्रहण किया होनेके कारण उसे जो अनियतगुणपर्यायपना होता है वह परसमय अर्थात् परचारित्र है; वही (जीव) जब अनादि मोहनीयके उदयका अनुसरण करनेवाली परिणतिको छोड़कर अत्यन्त शुद्ध उपयोगवाला होता है तब (स्वयं) भावका एकरूपपना ग्रहण किया होनेके कारण उसे जो नियतगुणपर्यायपना होता है वह स्वसमय अर्थात् स्वचारित्र है।

अब, वास्तवमें यदि किसी भी प्रकार सम्यग्ज्ञानज्योति प्रकट करके जीव परसमयको छोड़कर स्व-समयको ग्रहण करता है तो कर्मबन्धसे अवश्य छूटता है; इसलिए वास्तवमें (ऐसा निश्चित होता है कि) जीवस्वभावमें नियत चारित्र वह मोक्षमार्ग है ॥१५५॥

: ५ :

आचार्य वीरसेनके जयधवला पु० १ पृ० २८९ के उल्लेखपरसे प्रतिशंकामें यह निष्कर्ष निकाला है कि 'प्रागभावका अभाव द्रव्य, क्षेत्र, कालपर निर्भर है। जबतक द्रव्य, क्षेत्र, कालका योग नहीं मिलता तबतक प्रागभावका नाश नहीं होता, सब कार्योंका कोई स्वकाल न होनेसे कार्य, क्रमसे भी होते हैं और अक्रमसे भी होते है। अक्रमसे होते हैं अर्थात् क्रमको छोड़कर होते हैं।'

अब यहाँ विचार यह करना है कि क्या जयधवलाके उक्त वाक्यपरसे यह अर्थ फलित होता है। वह वचन इस प्रकार है—

पागभावस्स विणासो वि दव्व-खेत्त-काल-भवावेक्खाए जायदे।

अर्थ—प्रागभावका विनाश भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भवकी अपेक्षासे होता है।

अब इस वचनपर विचार कीजिए—प्रागभाव और उपादान इन दोनोंका एक ही अर्थ है और इस द्वारा मात्र इतना कथन किया गया है कि प्रागभावका अभाव द्रव्य, क्षेत्र, काल और भवसापेक्ष होता है। इसमें यह नहीं कहा गया है कि यदि द्रव्य, क्षेत्र और काल आदि न मिलें तो कार्य नहीं होता। अतः इस परसे क्रम-अक्रम परिणामका समर्थन करना तो योग्य नहीं है।

रही कर्मादिकके संक्रम आदिकी बात सो ऐसा मान लेनेपर कि कर्मका उदय होनेपर भी उदयके विरुद्ध साधन मिलनेसे उन कर्मोका फल नहीं मिलता। यह एक ऐसा गम्भीर प्रश्न है जिसपर इस समय लिखना उचित न होगा। विशेष प्रसंग आनेपर अवश्य ही विचार करेंगे। संक्रमादिके विषयमें पूर्वमें विचार कर ही आये हैं। अतएव उपादान निश्चय पक्ष होनेसे और निमित्त व्यवहार पक्ष होनेसे यही मानना चाहिए कि दोनोंका मेल होनेपर कार्य होता है। सिद्धान्त यह है कि निश्चय उपा-दानके प्राप्त होनेपर यतः उस समय जो अन्य द्रव्यकी पर्याय उसका निमित्त है वह अपने परिणमनके लिए उसी समय निश्चय उपादान भी है इसलिए प्रत्येक समयमें निश्चय व्यवहारका

सुमेल होते जानेसे प्रत्येक कार्य अपने-अपने कालमें ही होता है ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए।

: ६ :

उपादान निमित्तका विचार स्वतन्त्र प्रकरण लिखकर पूर्वमें कर आये हैं। कार्य उत्पत्तिमें उपादान और निमित्त इन दोका कारण रूपसे उल्लेख किया गया है इसका तात्पर्य यह नहीं कि उपादान हो और निमित्त न हो इसलिए कार्य नहीं होगा ऐसा अर्थ करना संगत नहीं है। जबकि शास्त्रकारोंने उपादानकी अन्तर्व्याप्ति और निमित्तकी बाह्य व्याप्तिका निर्देश किया है ऐसी अवस्थामें दोनोंकी व्याप्ति एक साथ प्रत्येक समयमें मिलती रहती है और प्रत्येक समयमें प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्ययरूप अपने अपने कार्यको उत्पन्न करता रहता है। प्रत्येक समयमें द्रव्यका परिणमन अन्यथा नहीं बन सकता और न ही उपादान-निमित्त की विषमव्याप्ति बनाई जा सकती है इस तथ्यको प्रमेयकमलमार्तण्ड २, २ पृ० २०१ में इन शब्दों द्वारा स्वीकार किया है—

यदप्यभिहितम्—शक्तादशक्ताद्वा तस्याः प्रादुर्भाव इत्यादि। तत्र शक्तादेवास्याः प्रादुर्भावः। न चानवस्था दोषाय बीजाङ्कुरादिवदनादित्वात्तत्प्रवाहस्य। वर्तमाना हि शक्तिः प्राक्तनशक्तियुक्तेनेति पूर्व-पूर्वावस्थायुक्तार्थानामुत्तरोत्तरावस्थाप्रादुर्भाववत्।

और जो यह कहा है कि समर्थ उपादानसे उस द्रव्य-पर्यायात्मक शक्ति की उत्पत्ति होती है या असमर्थ उपादानसे उस द्रव्य-पर्यायात्मक शक्तिकी उत्पत्ति होती है इत्यादि। उसमें समर्थ उपादानसे ही द्रव्य-पर्यायात्मक शक्तिकी उत्पत्ति होती है। और अनवस्था दोषके लिए नहीं है, क्योंकि बीजांकुर प्रवाहके समान उसका प्रवाह अनादि है। वर्तमान शक्ति पूर्व शक्तियुक्त अर्थसे उत्पन्न होती है। वह भी उससे पूर्वकी शक्तियुक्त अर्थसे उत्पन्न होती है, पूर्व पूर्व अवस्थायुक्त पदार्थोंका उत्तरोत्तर अवस्था रूपसे जैसे प्रादुर्भाव होता है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिये।

इस प्रकार निमित्त-उपादान की अपेक्षा विचार करनेपर सब कार्योंकी उत्पत्ति नियत क्रमसे ही होती है ऐसा निर्णय करना समीचीन है। यहाँ प्रमेय कमलमार्तण्डका जो उद्धरण पूर्वमें दिया है उसके आधारसे प्रत्येक समयके उपादानकी सम्यग्व्यवस्था बन जाती है। उक्त उल्लेखमें उसे समर्थ उपादान प्रतिपादित किया है। इससे यह भी भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि उपादानके अनुसार तो नियत कार्य होता ही है, साथ ही कार्यके समय उसके नियत निमित्तोंका योग भी होता रहता है। अतः प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है ऐसा निर्णय करना ही उचित है।

: ७ :

उपादानके कार्य और निमित्तकी समव्याप्ति है इस व्यवस्थाके रहते हुए तथा उपादानका 'अनन्तर पूर्व पर्यायविशिष्ट द्रव्यको उपादान कहते हैं, यह सुनिश्चित लक्षणके होनेपर भी यह लिखना कि कार्यके प्रति जब जैसे अनुकूल निमित्त मिलते हैं तब कार्य होता है युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ उपादान बनकर प्रत्येक समयमें अपना अपना कार्य कर रहा है; उसमें कहीं किसी प्रकारकी गड़बड़ी नहीं देखी जाती। यदि निमित्ताधीन कार्यको व्यवस्था होती तो द्रव्यको जो उत्पाद,-व्यय-ध्रौव्य स्वभाववाला आगममें सर्वत्र स्वीकार किया है वह नहीं बन सकता।

क्या ऐसा है कि किसी द्रव्यको किसी समय अनुकूल निमित्त नहीं मिले इसलिए उस समय उसने अपना कार्य नहीं किया इस अभिप्रायको ध्यानमें रखकर यह वचन बोला जाता है कि अनुकूल निमित्तोंके

अभावमें कार्य नहीं होता या किसी विवक्षित द्रव्यमें किसी विवक्षित समयमें विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिकी अपेक्षासे व्यापार किया गया था परन्तु बीचमें कुछ ऐसी सामग्री उपस्थित हो गई जिस कारण यह विवक्षित कार्य या तो विवक्षित समयमें नहीं हो सका या हो ही नहीं सका इसलिए यह वचन बोला जाता है कि अनुकूल निमित्तोंके अभावमें कार्य नहीं होता ? इनमेंसे प्रथम पक्षके स्वीकार करनेपर तो आगम विरोध आता है, क्योंकि सूक्ष्म-स्थूल, जड़-चेतन, ऐसा एक भी द्रव्य नहीं है जो प्रत्येक समयमें परिणमन न करता हो। और प्रत्येक समय में परिणमन करना यही उसका स्वभाव है, अतएव इस आधारसे विचार करनेपर अनुकूल निमित्त न मिलनेसे कार्य नहीं हुआ यह तो कहा नहीं जा सकता। दूसरे पक्षके स्वीकार करनेपर यह तो कहा जा सकता है कि जैसी इच्छा हुई थी उसके अनुसार कार्य नहीं हुआ। पर किसी पदार्थने किसीकी इच्छाके अनुसार परिणमन करनेका ठेका थोड़े ही लिया है। और जिन्हें प्रतिबन्धक कारण कहा जाता है सो वह कथन विवक्षित कार्यकी अपेक्षासे ही किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि प्रत्येक पदार्थ कार्य तो स्वयं ही करता है, निमित्त उसका कार्य नहीं करता। परन्तु जिस कार्यका जो निमित्त होता है उसकी अनुकूलता होनेपर और जो जिसका अनुकूल निमित्त नहीं है उसके अभावमें ही वह कार्य होता है। पर यह नियम विवक्षित कार्यकी अपेक्षा सिद्धान्त रूपसे स्वीकार किया गया है। अविवक्षित कार्य की अपेक्षा विचार करनेपर तो तब भी उस पदार्थने अपना कार्य किया जब उक्त स्थितिके रहते हुए भी विवक्षित कार्य नहीं हुआ। अतएव जैसा कि आगम प्रमाणसे सिद्ध कर आये हैं प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है यह नियम स्वीकार कर लेना चाहिये। पूरे उपचरित और अनुपचरित कारणोंका विचार करते हुए पण्डितप्रवर बनारसीदास जी कहते हैं—

पदस्वभाव पूरव उदय निहचै उद्यम काल।
पक्षपात मिथ्यात पथ सरवंगी शिवचाल॥

पदार्थका स्वभाव, पूर्वका उदय (निमित्त), निश्चय उपादान, उद्यम (पुरुषार्थ) और काल ये पाँच कारण हैं। इनके समवायमें कार्यकी उत्पत्ति होती है। इनमेंसे किसी एकका पक्षपात करना मिथ्यात्व अर्थात् संसारका मार्ग है और सबके सद्भावमें कार्यको स्वीकार करना मोक्षमार्ग है।

गोमट्टसार कर्मकाण्डमें काल, ईश्वर (निमित्त), आत्मा, नियति और स्वभाव इन पाँच एकान्तोंका निर्देश किया गया है वह इसी अभिप्रायसे ही किया गया है। देखो पदार्थके स्वभावकी महिमा, कार्यरूप परिणाम यह निश्चय उपादानका ही कार्य है। पर निश्चय उपादानकी स्थिति आई और कार्य हो गया ऐसा एकान्त भी नहीं है। क्योंकि कार्य पुरुषार्थ पूर्वक ही होता है और जब कार्य होता है तब उसके अनुकूल निमित्त भी होते हैं। साथ ही निश्चय उपादानकी स्थिति उस पदार्थके स्वभावकी कक्षाके भीतर ही बनती है। इन चारोंका योग कब हो इसका अभ्यंतर दृष्टिसे विचार करनेपर निश्चय उपादान उनके योगका नियामक है और निश्चय उपादान कभी भी उत्पन्न हो जाय यह नहीं है। बाह्यकी अपेक्षा विचार करनेपर वह विवक्षित कालके प्राप्त होने पर ही होता है। इस प्रकारके पाँचोंके समवायमें कार्यकी उत्पत्ति होती है ऐसा नियम बन जाता है। अतएव एकान्त नियतिका जहाँ आचार्योंने निषेध किया है वहाँ सम्यक् नियतिको स्वीकार भी किया है। अतएव प्रत्येक द्रव्यका प्रत्येक कार्य उक्त पाँचोंके समवायकी अपेक्षा क्रमनियत होता है अनियत क्रमसे नहीं होता ऐसे अनेकान्तको स्वीकार करना ही मोक्षमार्ग है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

हम अंतमें श्रीस्वामीकार्तिकेयके द्वादशानुप्रेक्षाके वे तीन श्लोक श्री शुभचन्द्र सूरिरचित संस्कृत

टीकाके साथ प्रस्तुत कर रहे हैं जिन्हें यह बताया जाता है कि मात्र व्यंतरादिसे लक्ष्मी आदि चाहनेवालोंको समझाने मात्रके लिए लिखे गये हैं। श्लोकोंका क्या भाव है और परम्परासे उनका क्या अर्थ प्राचीन आचार्य तथा विद्वान् करते आये हैं इसे उनके ही शब्दोंमें पढ़कर यथार्थ निर्णय कीजिये।

अथ सम्यग्दृष्टिः एवं वक्ष्यमाणलक्षणं विचारयतीति गाथात्रयेण आह

जं जस्स जम्मि देसे जेण विधाणेण जम्मि कालम्मि।
णादं जिणेण णियदं जम्मं वा अह व मरणं वा ॥३२१॥
तं तस्स तम्हि देसे तेण विहाणेण तम्हि कालम्मि।
को सक्कइ चालेदुं इंदो वा अह जिणिंदो वा ॥३२२॥

संस्कृत टीका—यस्य पुंसः जीवस्य यस्मिन् देशे अंग-वंग-कलिंग-तिलंग-मरु-मालव-मलयाट-गुर्जर-सौराष्ट्रविषये पुर-नगर-करवट-खेट-ग्राम-वनादिके वा येन विधानेन शस्त्रेण विषेण वैश्वानरेण जलेन शीतेन श्वासोच्छ्वासरुन्धनेनान्नादिविकारेण कुष्ठ-भगंदर-रक्तोदर-प्रचंडपीडादिप्रमुखरोगेण वा यस्मिन् काले समय-मुहूर्त-प्रहर-पूर्वाह्न-मध्याह्न-अपराह्न-संध्या-दिवस-पक्ष-मास-वर्षादिके नियतं निश्चितं यत् जन्म-अवतरणं उत्पत्तिः अथवा मरणं वा शब्दः समुच्चयार्थः सुखं दुःखं लाभालाभमिष्टानिष्टादिकं गृह्यते। तत्सर्वं कीदृशं देश-विधान-कालादिकं? जिनेन ज्ञातं केवलज्ञानिना अवगतं ॥३२१॥

टीका—तस्य पुंसः जीवस्य तस्मिन् देशे अंग-वंग-तिलंग-गुर्जरादिके नगर-ग्राम-वनादिप्रदेशे वा तेन विधानेन शस्त्रविषादियोगेन तस्मिन् काले समय-पल-घटिका-प्रहर-दिन-पक्षादिके तत् जन्म-मरण-सुख-दुःखादिकं कः इन्द्रः शक्रः अथवा जिनेन्द्रः सर्वज्ञः वा शब्दोऽत्र समुच्चयार्थः राजा गुरुर्वा पितृ-मात्रादिर्वा चालयितुं निवारयितुं शक्नोति समर्थो भवति कोऽपि? अपि तु न ॥३२२॥

अर्थः—जिस जीवके या पुरुषके जिस देशमें अर्थात् अंग, वंग, कलिंग, तिलंग, मरु, मालव, मलयाट, गुर्जर, सौराष्ट्र देशमें अथवा पुर, नगर, करवट, खेट, ग्राम, वनादिकोंमें जिस प्रकारसे अर्थात् शस्त्रसे, विषसे, अग्निसे, जलसे, शीतसे, श्वासोच्छ्वासके रुकनेसे, तथा अन्नादि विकारसे अथवा कोढ़, भगंदर, रक्तोदर, प्रचंड पीडाकर आदि प्रमुख रोगोंसे जिस कालमें अर्थात् समय, मुहूर्त, प्रहर, प्रभात, मध्याह्न, अपराह्न, संध्या, दिन, पक्ष, महिना, वर्ष आदिकमें नियत अर्थात् निश्चित जो जन्म अर्थात् उत्पत्ति अथवा मरण, तथा 'वा' शब्दके द्वारा सूचित सुख-दुख, लाभ, अलाभ, इष्ट-अनिष्ट आदि भी ग्रहण कर लेना चाहिये। वह सब देश, विधान और कालादिकके रूपमें (उसी प्रकार) जिनेन्द्रके द्वारा ज्ञात है अर्थात् केवलज्ञानियोंके द्वारा जाना जा चुका है ॥३२१॥

अर्थ:—उस पुरुषके याने जीवके उस देशमें अर्थात् अंग वंग तिलंग, गुजरात आदिकमें तथा नगरमें, ग्राममें या वनादिक प्रदेशोंमें उसी विधिसे अर्थात् शस्त्र, विषादि (उक्त) प्रयोगसे उसी कालमें अर्थात् समय, पल, घडी, प्रहर, दिन, पक्षादिकमें उस जन्म, मरण, अथवा सुख-दुखादिकोंको कोई इन्द्र याने देवेन्द्र-शक्र (शक्तिशाली) अथवा जिनेन्द्र याने सर्वज्ञदेव 'वा' शब्दसे सूचित राजा, गुरु, पिता, माता आदि टालनेके लिये समर्थ हो सकता है क्या कोई? अर्थात् नहीं हो सकता ॥३२२॥

अथ सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टिलक्षणं लक्षयति—

एवं जो णिच्छयदो जाणदि दव्वाणि सव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुदिट्ठी ॥३२३॥

सं० टीका—स भव्यात्मा सम्यग्दृष्टिः शुद्धः निर्मलः मूढत्रयादिपंचविंशतिमलरहितः, स कः ? य एवं पूर्वोक्तप्रकारेण निश्चयतः परमार्थतः द्रव्याणि जीव-पुद्गल-धर्माधर्माकाशकालाख्यानि, सर्वपर्यायांश्च अर्थपर्यायान् (उत्पाद-व्यययुक्तान्) व्यंजनपर्यायांश्च (नरनारकादीन) जानाति वेत्ति श्रद्दधाति स्पृशति निश्चिनोति स सम्यग्दृष्टिर्भवति । उक्तं च तथा सूत्रेण

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीव – षट्कायलेश्याः
पंचान्ये चास्तिकाया व्रतसमितिगतिज्ञानचारित्रभेदाः ।
इत्येतन् मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः स वै शुद्धदृष्टिः ॥

इति 'हु' इति स्फुटम् । सः पुमान् कुदृष्टिः । सः कः ? शंकते यः जिनवचने देवे गुरौ धर्मे तत्त्वादिके शंकां संशयं संदेहं करोति स मिथ्यादृष्टिर्भवेत् ॥३२३॥

अर्थ :—वह भव्यात्मा तीन मूढ़ता आदि २५ मल रहित निर्मल शुद्ध सम्यग्दृष्टि है जो पूर्वोक्त प्रकारसे निश्चयसे याने परमार्थसे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश काल नामक (छः) द्रव्योंको तथा उत्पाद-व्यय युक्त अर्थ पर्यायोंको और नर-नारकादि व्यंजनपर्यायोंको इस तरह सब पर्यायोंको जानता है, श्रद्धान करता है, अनुभव करता है, निश्चय करता है वह सम्यग्दृष्टि होता है।—जैसा कि सूत्रमें प्रतिपादित है—

अर्थ :—त्रिकाल संबंधी छः द्रव्य, नव पदार्थ, छः जीवकाय, छः लेश्या, पंचास्तिकाय तथा व्रत, समिति, गति, ज्ञान, चारित्र और उनके भेद त्रिभुवनपूज्य सर्वज्ञ अर्हंत भगवानने मोक्षके मूलभूत तत्त्व कहे हैं। जो बुद्धिमान् उन्हें जानता है, श्रद्धा रखता है और अनुभव करता है वह निश्चयसे शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।

गाथामें 'हु' शब्दका अर्थ स्फुट या स्पष्ट है। अब सूत्रके उक्त कथनके अनुसार जो जीव जिनेन्द्रके वचनमें तथा देव-गुरु-धर्ममें, तत्त्वोंमें शंका, संशय अथवा संदेह करता है वह मिथ्यादृष्टि है—यह बात स्पष्ट है ॥३२३॥

●

तृतीय दौर

: ३ :

शंका ५

प्रश्न था—द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं या अनियत क्रमसे भी ?

प्रतिशंका ३

इस प्रश्नके उत्तरमें आपने लिखा है कि 'द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं।' इसीको आपने दूसरे शब्दोंमें ऐसा लिखा है कि 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं।' इसके समर्थनमें आपने आगमके निम्नलिखित प्रमाण भी उपस्थित किये हैं :—

: १ :

जं जस्स जम्मि देसे जेण विहाणेण जम्मि कालम्मि ।
णादं जिणेण णियदं जम्मं व अह व मरणं वा ॥ ३२१ ॥
तं तस्स तम्मि देसे तेण विहाणेण तम्मि कालम्मि ।
को सक्कइ चालेदुं इंदो व अह जिणिंदो वा ॥ ३२२ ॥

—स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा

इन गाथाओंका आपने यह अर्थ किया है—'जिनेन्द्र देवने जिस जन्म अथवा मरणको जिस जीव के जिस देशमें जिस विधिसे जिस कालमें नियत जाना है उसे उस जीवके उस देशमें उस विधिसे उस कालमें शक्र अथवा जिनेन्द्रदेव इनमेसे कौन चलायमान कर सकता है ? अर्थात् कोई चलायमान नहीं कर सकता है ।'

: २ :

'यत्प्राप्तव्यं यदा येन यत्र यावद्यतोऽपि वा ।
तत्प्राप्यते तदा तेन तत्र तावत्ततो ध्रुवम् ॥ २९-८३ ॥'—पद्मपुराण

इस पद्यका भी आपने यह अर्थ किया है कि—'जिस जीवके द्वारा जहाँ पर जिस कालमें जिस कारणसे जिस परिमाणमें जो प्राप्तव्य है उस जीवके द्वारा वहाँ पर उस कालमें उस कारणसे उस परिमाणमें वह नियमसे प्राप्त किया जाता है ।'

: ३ :

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा ।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥ १३३ ॥

—स्वयंभूस्तोत्र

इस पद्यका भी अर्थ आपने यह किया है—'आपने (जिन देवने) यह ठीक ही कहा है कि हेतुद्वयसे उत्पन्न होनेवाला कार्य ही जिसका ज्ञापक है ऐसी यह भवितव्यता अलंघ्यशक्ति है, क्योंकि संसारी प्राणी 'मैं इस कार्यको कर सकता हूं' इस प्रकारके अहंकारसे पीडित हैं वह उस (भवितव्यता) के बिना अनेक सहकारी कारणोंको मिलाकर भी कार्योंके सम्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ १३३ ॥'

: ४ :

जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरारे ।
अनहोनी कबहूँ न होसी काहे होत अधीरा रे ॥—पंडितप्रवर भैया भगवतीदासजी

इन प्रमाणोंके आधारपर आपने अपना यह मत स्थिर कर लिया है कि चूँकि जिनेन्द्र भगवान् केवल ज्ञानी होनेके नाते त्रिकालज्ञ हैं, इसलिये प्रत्येक द्रव्यकी त्रिकालवर्ती पर्यायोंमें से कौन-सी पर्याय किस कालमें हुई या होगी—यह बात उन्हें मालूम है । दूसरे भवितव्यता (होनहार) अटल रहा करती है, इसलिये जिस कालमें जिसका जो कुछ होनेवाला है वह होता ही है और इस तरह आपका कहना है कि प्रत्येक द्रव्यकी प्रत्येक पर्यायके उत्पन्न होनेका समय निश्चित है । आपकी इस मान्यताके ऊपर ही हमें यहाँपर विचार करना है ।

यह हम मानते हैं कि जिनेन्द्रदेवको केवलज्ञानके द्वारा प्रत्येक कार्यके उत्पन्न होनेका समय मालूम है। कारण कि केवलज्ञानमें विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोंका केवलज्ञानी जीवोंको युगपत् ज्ञान करानेकी सामर्थ्य जैन संस्कृतिद्वारा स्वीकार की गयी है। इसी आधारपर यह बात भी हम मानते हैं कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति उसी कालमें होती है जिस कालमें उसकी उस उत्पत्तिका होना केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें प्रतिभासित हो रहा है। परन्तु किसी भी कार्यकी उत्पत्ति जिस कालमें होती है उस कालमें वह इस आधारपर नहीं होती है कि उस कालमें उस कार्यकी उस उत्पत्तिका होना केवलज्ञानीके ज्ञानमें प्रतिभासित हो रहा है, क्योंकि वस्तुकी जिस कालमें जैसी अवस्था हो उस अवस्थाको जाननामात्र केवलज्ञानका कार्य है, उस कार्यका होना केवलज्ञानका कार्य नहीं है। स्वयं पं० फूलचन्दजीने भी जैन तत्त्वमीमांसाके केवलज्ञान स्वभावमीमांसा प्रकरणमें इस बात को स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है कि—

केवलज्ञानको सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायोंको जाननेवाला मानकर भी क्रमबद्ध पर्यायोंकी सिद्धि मात्र केवलज्ञानके आलम्बनसे न करके कार्यकारण परम्पराको ध्यानमें रखकर ही की जानी चाहिये।

दूसरी बात यह है कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी उल्लिखित ३२१ और ३२२वीं गाथाओंमें **'जेण विहाणेण'** और **'तेण विहाणेण'** पदोंका पाठ, पद्मपुराणके उल्लिखित पद्यमें **'यतो'** और **'ततो'** पदोंका पाठ और स्वयंभूस्तोत्रके उल्लिखित पद्यमें **'हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा'** पदका पाठ ये तीनों ही पाठ हमें कम-से-कम इस बातकी सूचना तो दे ही रहे हैं कि कार्य केवलज्ञानद्वारा ज्ञात कालमें उत्पन्न होते हुए भी अपने-अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही उत्पन्न हुआ करते है। श्री पं० फूलचन्दजी द्वारा जैन तत्त्वमीमांसाके उल्लिखित कथनमें यह बात भी स्वीकार कर ली गई है कि **'क्रमबद्ध पर्यायोंकी सिद्धि कार्यकारणपरम्पराको ध्यानमें रखकर ही की जानी चाहिये।'** और ऐसी हालतमें पंडितप्रवर भैया भगवतीदासजीके उल्लिखित पद्यका भी वही आशय लेना चाहिये जो श्री पं० फूलचन्दजीको स्वीकार है। अर्थात् वीतराग (केवलज्ञानी)का ज्ञान कार्यकी उत्पत्तिमें कारण नहीं है।

इस तरह कार्योत्पत्तिके विषयमें आपके द्वारा उपर्युक्त आगम प्रमाणोंको आधार बनाकर केवल इतना स्वीकार किया जाना ही पर्याप्त नहीं है कि 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होने पर ही होते हैं, किन्तु उक्त उन्हीं आगम प्रमाणोंके आधार पर स्वकालके साथ कार्योत्पत्तिके अनुकूल कारणोंको भी ग्रहण कर आपके द्वारा यही स्वीकार किया जाना चाहिये कि सभी कार्य केवलज्ञान द्वारा ज्ञात कालमें होने पर भी अपने-अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही उत्पन्न हुआ करते हैं, क्योंकि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी उक्त ३२१ व ३२२ वीं गाथाओंमें जिस प्रकार यह बतलाया गया है कि जिनेन्द्र भगवानके ज्ञानमें कार्योत्पत्तिका स्वकाल प्रतिभासित होता है उसी प्रकार उन गाथाओंमें यह भी बतला दिया है कि जिनेन्द्र भगवानके ज्ञानमें प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिके प्रतिनियत कारण भी प्रतिभासित होते हैं। इस कथनका आशय यह है कि कोई भी कार्य जिस कालमें उत्पन्न होता है उस कालमें वह अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही उत्पन्न होता है, अन्यथा नहीं।

यदि 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होने पर ही होते हैं' इस कथनसे आपका यह अभिप्राय हो कि 'यद्यपि कार्य स्वकालमें अपने प्रतिनियत कारणोंके प्राप्त होने पर ही हुआ करते है। परन्तु चूँकि कार्यकी उत्पत्तिका काल आनेपर उसके अनुकूल कारणोंकी प्राप्ति नियमसे हो ही जाया करती है इसलिये सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होने पर ही होते हैं' इस कथनमें स्वाभाविक रूपसे कार्योत्पत्तिके प्रतिनियत कारणोंका भी समावेश हो जाता है तो फिर हमारा आपसे यह कहना है कि उल्लिखित आगम प्रमाणोंके आधार पर

जिस प्रकार आप यह कहते हैं कि 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होने पर ही होते हैं' उसी प्रकार उन्हीं प्रमाणोंके आधार पर आपको ऐसा कहनेमें भी कोई आपत्ति नहीं होना चाहिए कि 'सभी कार्य अपने प्रतिनियत कारणोंके प्राप्त होने पर ही हुआ करते हैं' और जिस प्रकार आप 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होने पर ही होते हैं' इस कथनमें कार्योत्पत्तिके अनुकूल कारणोंका समावेश कर लेना चाहते हैं उसी प्रकार 'सभी कार्य अपने प्रतिनियत कारणोंके प्राप्त होने पर ही होते हैं' ऐसा कथन करके इसमें स्वकालका समावेश करनेमें भी आपको कोई आपत्ति नहीं होना चाहिये।

एक यह भी बात है कि स्वामी समन्तभद्रके स्वयंभूस्तोत्रके पद्य 'अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं' इत्यादिमें पठित 'अलंघ्यशक्तिः' पदका अर्थ आप इस आशयसे करते हैं कि अन्तरंग और बहिरंग हेतुओंको उसके अधीन बन जाना पड़ता है, परन्तु ऐसा अर्थ 'अलंघ्यशक्तिः' पदका नहीं है। अर्थात् 'अलंघ्यशक्तिः' पदका अर्थ 'अटल-शक्ति' यहाँपर नहीं है। इस पदसे स्वामी समन्तभद्र यह बतलाना चाहते हैं कि जिस कार्यके उत्पन्न होनेके अनुकूल भवितव्यता होगी कार्य वही उत्पन्न होगा, यह नहीं हो सकता है कि कोई भी प्राणी किसी वस्तुमें ऐसा कार्य उत्पन्न कर दे जिसकी भवितव्यता वस्तुमें स्वभावतः विद्यमान नहीं है लेकिन ऐसी भवितव्यता कार्यरूप तभी परिणत होगी जब उस भवितव्यताके अनुकूल अन्तरंग और बहिरंग हेतु प्राप्त होते हैं और तब अन्तरंग तथा बहिरंग हेतुओं द्वारा उत्पन्न कार्यसे ही हम जान लेते हैं कि अमुक वस्तुमें चूँकि अमुक कार्यके अनुकूल भवितव्यता थी तभी यह कार्य हो सका। इस तरह इसका अभिप्राय यह होता है कि जिस प्रकार वस्तुमें स्वभावतः रहनेवाली भवितव्यता अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है। इसी प्रकार तदनुकूल अन्तरंग और बहिरंग हेतु भी अपना स्वतन्त्र ही अस्तित्व रखते हैं और जब वे कारण वस्तुमें रहनेवाली भवितव्यताके अनुकूल अपना व्यापार करते हैं तब उस भवितव्यताके अनुकूल कार्य उत्पन्न हो जाता है। कृपया यह ख्याल कीजिये कि भवितव्यताका अर्थ वस्तुमें विद्यमान कार्योत्पत्तिकी आधारभूत स्वतःसिद्ध योग्यता है और अन्तरङ्ग हेतुका अर्थ कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायरूप उपादानशक्ति व बहिरङ्ग हेतुका अर्थ निमित्तकारण है।

इस तरह अब अपने सामने दो मत विचारणीय हो जाते हैं—एक तो यह कि अपने प्रतिनियत कारणोंसे कार्य जिस कालमें उत्पन्न होता है उसे ही कार्यका प्रधान कारण माना जाय और दूसरा यह कि कार्य जब भी होता है अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही होता है और जिस कालमें वह उत्पन्न होता है वही उसका स्वकाल कहलाता है। इसलिए कार्यके यथायोग्य अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दोनों हेतुओंको ही कार्यका प्रधान कारण माना जाय।

चूँकि आपका सिद्धान्त कार्योत्पत्तिके स्वकालको अर्थात् जिस कालमें कार्य उत्पन्न होता है उस कालको प्रधान कारण माननेका है अर्थात् आप कहना चाहते हैं कि कार्योत्पत्तिका काल आ जानेपर ही कार्योत्पत्ति हुआ करती है। और हमारा सिद्धान्त कालको तो कार्योत्पत्तिमें प्रधानता नहीं देता है किन्तु यदि कार्य केवल अन्तरंग हेतु उपादान-कारणसे उत्पन्न होनेवाला हो तो वहाँ अन्तरङ्ग हेतुको ही प्रधानता देता है और कार्य यदि अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग (उपादान और निमित्त) दोनों कारणोंसे उत्पन्न होनेवाला हो तो वहाँ उपादान और निमित्त दोनोंको ही प्रधानता देता है। अर्थात् कार्योत्पत्ति तो अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही होती है लेकिन जिस कालमें वह होती है वही उसका स्वकाल कहलाने लगता है।

आपका अपने सिद्धान्तको मान्य करनेमें तर्क यह है या हो सकता है कि कालके जितने त्रैकालिक समय हैं उतनी ही प्रत्येक वस्तुकी पर्यायोंकी उत्पत्ति निश्चित होती है, कालके त्रैकालिक समयोंसे अधिक

किसी भी वस्तुकी पर्यायोंकी उत्पत्ति होना असम्भव है और चूँकि केवलज्ञानमें प्रत्येक वस्तुकी प्रत्येक समयवर्ती पर्याय प्रकाशित हो रही है अतः यह निश्चित हो जाता है कि प्रत्येक वस्तुकी प्रत्येक पर्याय अपने-अपने नियत कालमें ही उत्पन्न होगी। जिस समयमें कार्यभूत वस्तुकी एक नियत पर्याय होगी उस समयमें निमित्त कारणभूत वस्तुकी भी कार्यके अनुकूल दिखती हुई एक नियत पर्याय होगी। इस तरह एक वस्तुकी कार्यरूप पर्यायके साथ दृश्यमान अनुकूलताके आधारपर निमित्तभूत वस्तुमें कारणताका आरोप किया जाता है और चूंकि कार्यभूत वस्तुकी कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायके बाद ही वह कार्यरूप पर्याय निष्पन्न होती है, अतः उसे उस उसका वास्तविक कारण, प्रधान कारण अथवा उपादान कारण कहा जाता है। इस तरह कार्य अपने नियत कालमें ही उत्पन्न होता है यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है और प्रत्येक वस्तुकी पर्यायें नियतक्रमसे ही उत्पन्न होती हैं अनियत क्रमसे नहीं इस सिद्धान्तकी भी पुष्टि हो जाती है। यह आपकी मान्यता है। आगे इस विषय पर विचार किया जाता है :—

उल्लिखित जो सिद्धान्त आपका है वह यद्यपि कालके त्रैकालिक समयों तथा स्वतःसिद्ध परिणमनशील प्रत्येक वस्तुकी त्रैकालिक पर्यायों और उनका प्रत्येक क्षणमें युगपत् प्रतिभास करनेवाले केवलज्ञानके परस्पर सम्बन्धकी व्यवस्था पर आधारित है। परन्तु यहाँ यह एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इतनी मान्यतासे श्रुतज्ञानी जीवोंकी समस्त समस्याएँ हल हो सकती हैं? यदि इस प्रश्नका उत्तर आप हाँ मे देते हैं तब तो हमें कहना पड़ेगा कि आप अपने अनुभव, प्रत्यक्ष और तर्कका ही अपलाप कर देना चाहते हैं, क्योंकि प्रत्येक संसारी प्राणीके सामने उसके जीवनकी तथा जन्म-मरण, सुख दुःख, संसार परिभ्रमण एवं मुक्तिसम्बन्धी असंख्य समस्याएँ उपस्थित हैं जिनका समाधान केवल आपके द्वारा मान्य सिद्धान्तसे नहीं हो सकता है।

प्रत्येक प्राणीके सामने यह प्रश्न है कि जिस पर्यायमें वह विद्यमान है, वह क्यों? सुखी हो रहा है तो क्यों? वह कभी दुःखी होता है तो क्यों?, भिन्न-भिन्न विलक्षण पर्यायोंको धारण करता है तो क्यों? एक ही पर्यायमें कभी राजा होता है तो क्यों?, रंक होता है तो क्यों? स्वर्गमें जाता है तो क्यों? नरकमें जाता है तो क्यों? भिन्न-भिन्न प्रकारके प्राणी जो दृष्टिगोचर हो रहे हैं तो ये सब क्यों अच्छी और बुरी हालतों में नजर आ रहे हैं? क्यों अच्छे और बुरे कृत्य दृष्टिगोचर हो रहे हैं? क्यों जीवनमें धर्म और अधर्मका विश्लेषण किया जाता है?, विविध संस्कृतियोंका प्रादुर्भाव क्यों हुआ, नाना प्रकारके दार्शनिक सिद्धान्त क्यों प्रकाशमें आये? पुद्गलोंके विलक्षण विलक्षण विविध रूप देखनेको मिलते हैं तो ये सब क्यों हैं? क्यों विविध प्रकारकी वैज्ञानिक खोजें हो रही हैं? सामाजिक, राष्ट्रीय, और धार्मिक संस्थाओंका निर्माण क्यों हुआ? क्यों इनकी आचार पद्धतियाँ कायम की गयीं? क्यों आप अपने सिद्धान्त या दृष्टिकोणके प्रचारमें लगे हुए हैं? आदि आदि।

इस तरह जो असंख्य प्रश्न प्रत्येक व्यक्तिके सामने उभरे हुए दिखाई देते हैं इनका समाधान आपके पास क्या यही है? कि केवलज्ञानमें यही झलका है कि अमुक वस्तुको अमुक समयमें अमुक पर्याय ही होना थी—यंत्रवत विश्वकी समस्त प्रक्रिया चल रही है, चलती आयी है और चलती जायगी। यदि केवल यह समाधान आपके पास है और इसे आप युक्तियुक्त या आगमसम्मत मानते हैं तो आप आवश्यकता या इच्छाके अनुकूल कार्य करनेकी अपनी उधेड़-बुनको समाप्त कीजिये, अपने सिद्धान्त या दृष्टिकोणके प्रचारमें जोड़-तोड़का धंधा भी समाप्त कीजिये। इतना आपके कह देनेसे कार्य चलनेवाला नहीं है कि आप भी सब कुछ यंत्रकी नांई ही करते जा रहे हैं, क्योंकि आप सचेतन हैं, ज्ञानी हैं, हृदय आपके पास है। उसका

आप उपयोग करते हैं। मस्तिष्क आपके पास है, उसका भी उपयोग आप करते हैं। शरीर आपके पास है, उसका भी उपयोग आप करते हैं। इन्द्रियाँ आपके पास हैं, उनका भी उपयोग आप करते हैं। बाह्य साधन सामग्रीकी जोड़-तोड़ भी आप बिठलाते हैं। आपके द्वारा यह सब किया जाना आपको मान्य सिद्धान्तके बिल्कुल विपरीत है। जो सिद्धान्त आपने मान्य किया है, उसके अनुसार तो केवल ज्ञाता और दृष्टा ही आपको बने रहना चाहिये और वह भी मनसे नहीं, मस्तिष्कसे नहीं, इन्द्रियोंसे नहीं; क्योंकि आप मनसे, मस्तिष्कसे अथवा इन्द्रियोंसे जितना ज्ञान करते हैं वह तो पराश्रित ही है। इसलिए इस ज्ञानमें जब तक पराश्रितता है तब तक आप पदार्थोंके मात्र ज्ञाता और दृष्टा नहीं बने रह सकते हैं और जब तक आप ज्ञाता-दृष्टा मात्र नहीं बन जाते तब तक निष्क्रियतामें आप रम नहीं सकते। इसी तरह जब तक आप निष्क्रियतामें नहीं रम जाते तब तक कार्यकारण पद्धतिकी उपेक्षा करके यह नहीं कह सकते हैं कि सभी कार्य स्वकालमें ही होते हैं या यह भी नहीं कह सकते कि 'द्रव्योंकी समस्त पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं।' और यदि आप उनकी उक्त मौजूदा अवस्थाओंमें भी 'सभी कार्य स्वकालमें ही होते हैं' या 'द्रव्योंकी समस्त पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं अथवा कार्यकी उत्पत्तिके कालमें निमित्त कारण हाजिर रहते हैं परन्तु कार्यमें उनका कुछ उपयोग नहीं होता आदि मान्यताओंको स्वीकार करते हैं तो फिर इन्हें कर्मकाण्ड आदि आगम ग्रन्थोंके अनुसार नियतिवादरूप मिथ्यात्वके अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता है।

यदि आप यह कहें कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१ और गाथा ३२२ में तो 'सभी कार्य स्वकालमें ही होते हैं' या 'द्रव्योंकी सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं' इन सिद्धान्तोंको ही फलित किया गया है और इन दोनों गाथाओंके अनन्तर गाथा ३२३ द्वारा यह बतला दिया गया है कि इन सिद्धान्तोंको माननेवाला ही शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।

तो इसके उत्तरमें हमारा कहना यह है कि जैन संस्कृतिके आगम ग्रन्थोंमें कार्योत्पत्तिके विषयमें श्रुतज्ञानी जीवोंके लिये दो प्रकारसे विवेचना की गयी है—एक तो केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षा श्रद्धा दृष्टिसे और दूसरी श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कर्त्तव्यदृष्टिसे। 'जं जस्स जम्मि देसे' इत्यादि आगम वाक्योंमें पहली दृष्टिकी उपलब्धि होती है। इसके अलावा कार्यके स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय भेद करके कार्यकारणभावपद्धतिका जो जैन संस्कृतिके आगम ग्रन्थोंमें विस्तारसे विवेचन पाया जाता है वह सब श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कर्त्तव्यकी दृष्टिसे ही किया गया है।

यह सब विवेचन श्रुतज्ञानी जीवोंके लिये क्यों किया गया है? इसका कारण यह है कि श्रुतज्ञानी जीव केवलज्ञानी जीवोंकी अपेक्षा बिल्कुल भिन्न दशामें विद्यमान रह रहे हैं अर्थात् केवलज्ञानी जीव जहाँ कृतकृत्य हैं वहाँ श्रुतज्ञानियोंके सामने हमेशा कृत्यों (कार्यों) के करनेकी समस्या खड़ी ही रहती है, जहाँ केवलज्ञानी जीव प्रत्येक वस्तुके और उनके प्रत्येक क्षणमें होनेवाले व्यापारोंके केवल ज्ञाता दृष्टा मात्र बनकर रह रहे हैं वहाँ कार्योत्पत्तिके लिए श्रुतज्ञानी जीवोंको अपनी मौजूदा हालतोंमें अनुभवमें आनेवाली जोड़-तोड़ बिठलानेकी आवश्यकता है। अतः श्रुतज्ञानियोंके लिये कार्योत्पत्तिकी कार्यकारणभाव पद्धतिको अपनानेके सिवाय कोई चारा ही नहीं रह जाता है।

इसका फलितार्थ यह हुआ कि यदि केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो केवलज्ञानमें सभी कार्य अपने प्रतिनियत कारणोंसे स्वकालमें उत्पन्न होते हुए झलक रहे हैं और श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो सभी कार्य स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय होनेके कारण यथायोग्य केवल उपादान कारणसे अथवा उपादान और निमित्तरूप दोनों कारणोंसे ही उत्पन्न होते हुए अनुभवमें आ रहे हैं। चूँकि

श्रुतज्ञानी जीवको केवलज्ञानका विषय केवल आस्थाका है, अतः उस पर केवल आस्था रखनेका ही उसे उपदेश दिया गया है। और केवल ऐसी आस्था रखना श्रुतज्ञानी जीवोंके लिये उपयोगी नहीं हो सकता है, अतः उनके लिये कार्यकारणभाव पद्धतिको अपनानेका भी उपदेश दिया गया है। इसलिये जिसने कार्योत्पत्तिके लिये कार्यकारणभाव पद्धतिके मार्गको समाप्त करनेका प्रयत्न किया वह नियतिवादी एकान्त मिथ्यादृष्टि ही हो जायगा। अत: केवलज्ञानीने जैसा देखा है वैसा ही कार्य होगा इस पर श्रद्धा करना प्रत्येक श्रुतज्ञानी जीवका कर्त्तव्य है। कारण कि इस तरहकी श्रद्धा करनेसे अपने पुरुषार्थद्वारा होनेवाले कार्यकी सफलतासे उसके अन्त:करणमें अहंकार पैदा नहीं होगा और असफलता मिलनेपर कभी दु:ख पैदा नहीं होगा। लेकिन अपनी उक्त प्रकारकी श्रद्धाके आधारपर यदि वह श्रुतज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन और कृतघ्न होकर पथभ्रष्ट हो गया तो फिर इस मिथ्यात्वके प्रभावसे उसका अनन्त संसारमें परिभ्रमण होनेके सिवाय और क्या हो सकता है? इस प्रकार श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तुकी कोई पर्यायें—तो नियतक्रमसे ही होती हैं और प्रत्येक वस्तुकी कोई पर्यायें अनियतक्रमसे भी होती हैं। इस तरह 'द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही हैं अनियतक्रमसे नहीं' आपका यह सिद्धान्त आगमसम्मत नहीं और यह है तो आप कह नहीं सकते कि श्रुतज्ञान प्रमाण नहीं है, अत: आपके सिद्धान्तपर हमारे लिये विचार करना आवश्यक हो गया है।

सामान्यरूपसे सर्वत्र क्रम शब्दका प्रयोग कालिक सम्बन्धके आधारपर हुआ करता है। प्रकृतमें भी क्रम शब्दका प्रयोग पर्यायोंके कालिक सम्बन्धको ही प्रगट करनेवाला है, अतः उसका अर्थ यहाँपर यौगपद्यका विरोधी 'एकके बाद एक' ही ग्रहण करना चाहिये।

इस कथनका निष्कर्ष यह है कि पर्यायें एकके बाद एक रूपमें क्रमवर्ती ही हुआ करती हैं। वे न तो कभी एक साथ रहती हैं और न उनकी उत्पत्ति ही कभी एक साथ होती है। पर्याय शब्दका अर्थ भी परिणमन होता है, इसलिये पर्याय स्वभावत: एकके बाद एक रूपमें क्रमवर्ती अथवा क्रमसे उत्पन्न होनेवाली सिद्ध होती है।

प्रत्येक वस्तुमें तीन रूप देखनेको मिलते हैं—आकृति, प्रकृति और इन दोनोंमें होनेवाली विकृति अर्थात् परिणमन। इनमेंसे आकृति प्रदेश रचनाके रूपमें द्रव्यात्मक हुआ करती है, प्रकृति वस्तुके स्वत:सिद्ध स्वभावके रूपमें गुणात्मक हुआ करती है और विकृति आकृति तथा प्रकृति इन दोनोंमें होनेवाले परिणमनके रूपमें पर्यायात्मक हुआ करती है। यह पर्याय यदि आकृतिमें होनेवाले परिणमनसे उत्पन्न हुई हो तो द्रव्य-पर्याय कहलाती है और यदि प्रकृतिमें होनेवाले परिणमनसे उत्पन्न हुई हो तो गुणपर्याय कहलाती है। इन दोनों ही प्रकारकी पर्यायोंका विभाजन यथायोग्य कालके अखण्ड एक समय और नाना समयोंके उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त समूहभूत आवली, घड़ी, घंटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष आदिके आधारपर हुआ करता है अर्थात् किन्हीं-किन्हीं पर्यायोंका विभाजन एक-एक समयके आधारपर हुआ करता है। जैसे वस्तुकी सम्पूर्ण अर्थपर्यायें अथवा अगुरुलघुगुणकी षड्गुण-हानिवृद्धिरूप पर्यायें आदि। इसी प्रकार किन्हीं-किन्हीं पर्यायोंका विभाजन आवली आदि नाना समयोंके समूहोंके आधारपर हुआ करता है। जैसे घट-निर्माणके लिये मिट्टीकी कम-से-कम एक अन्तर्मुहूर्तवर्ती पिंडपर्यायके बाद होनेवाली स्थास पर्याय तथा कमसे कम एक अन्तर्मुहूर्तवर्ती इस स्थासपर्यायके बाद होनेवाली कोश पर्याय आदि एवं जीवकी मनुष्य पर्यायके बाद होनेवाली देव, मनुष्य, तिर्यक्, नारक आदि कोई भी पर्याय आदि।

वस्तु द्रव्यात्मक रूपसे एक होनेपर भी उसमें नाना गुणोंका पाया जाना सम्भव है। जैसे जीवमें स्थूलरूपसे ज्ञान और दर्शनरूप तथा पुद्गलमें वर्ण, रस, गंध और स्पर्शरूप नाना गुणोंका एक साथ सद्भाव

पाया जाता है। इस तरह एक ही वस्तुमें एक ही साथ नाना गुणोंका सद्भाव पाया जानेके सबब उन गुणोंकी अपनी-अपनी एक-एक पर्यायके रूपमें यद्यपि नाना पर्यायोंका भी उस वस्तुमें एक साथ सद्भाव सिद्ध होता है, परन्तु एक गुणकी नाना पर्यायोंका एक ही साथ एक वस्तुमें सद्भाव रहना असम्भव होनेके कारण उनकी वृत्ति या उत्पत्तिमें यौगपद्य सिद्ध न होकर क्रम ही सिद्ध होता है। इसी प्रकारके क्रमकी व्यवस्था वस्तुकी द्रव्यपर्यायोंके विषयमें भी जान लेना चाहिये।

वस्तुकी उक्त द्रव्यपर्यायों और गुणपर्यायोंकी वृत्ति या उत्पत्तिका जो यह एकके बाद एकका क्रम है उसमें श्रुतज्ञानकी दृष्टिसे उन पर्यायोंके नियतपने और अनियतपने रूप दोनों ही प्रकारकी अनुभवपूर्ण स्थिति यथासंभव जैन संस्कृति द्वारा मान्य की गयी है अर्थात् वस्तुकी बहुतसी पर्यायोंमें तो अमुक पर्यायके बाद अमुक पर्याय—इस प्रकार नियतक्रम ही रहा करता है। और उसकी बहुत-सी पर्यायोंमें एकके बाद एकरूप सिर्फ क्रम ही रहता करता है नियतक्रम नहीं। जैसे जीवकी क्रोध पर्यायके बाद क्रोध, मान, माया और लोभ रूप पर्यायोंमें से यथा-संभव कोई भी एक पर्याय हो सकती है। इसी प्रकार मानादि पर्यायके बाद भी उक्त चारों पर्यायोंमेसे कोई भी एक पर्याय हो सकती है, नियत कोई एक पर्याय नहीं। इसी प्रकारकी व्यवस्था यथा-सम्भव मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक पर्यायोंके बारेमें भी समझना चाहिये। इन सब पर्यायोंमें 'एकके बाद एक' रूप क्रम तो रहता है परन्तु नियतक्रम नहीं रहता। इतनी बात अवश्य है कि मुक्तिरूप पर्याय केवल मनुष्य पर्यायके बाद ही हुआ करती है और नारक तथा देव पर्यायके बाद सिर्फ तिर्यंच अथवा मनुष्य पर्याय ही हुआ करती है और किसी-किसी नारक पर्यायसे सिर्फ तिर्यंच पर्याय तथा किसी-किसी देव पर्यायमें केवल मनुष्य पर्याय ही हुआ करती है। कोई मनुष्य पर्याय भी ऐसी होती है जिसके बाद केवल मनुष्य या देव पर्याय और कोई-कोई मनुष्य पर्यायसे केवल देव पर्याय ही सम्भव होती है, तिर्यंच पर्यायके बाद भी आगम सम्मत अपने ढंगकी ऐसी ही व्यवस्था है। इस तरह नियतक्रम और केवल क्रम (अनियतक्रम) पर्यायोंमें यथायोग्य समझना चाहिये।

मिट्टीकी पिंड, स्थास, कोश, कुशूल और घट रूप पर्यायोंमें से प्रथम तो यथासम्भव पिंड पर्यायका, इस पिंड पर्यायके बाद ही स्थास पर्यायका, इस स्थास पर्यायके बाद ही कोश पर्यायका, इस कोश पर्यायके बाद ही कुशूल पर्यायका और इस कुशूल पर्यायके बाद ही घट पर्यायका होना सम्भव है, अतः इन पर्यायोंमें इस तरह नियत क्रम जानना चाहिये। वैसे मिट्टी पिंड बन तो सकती है परन्तु नहीं भी बने। इसी तरह पिंड स्थास बन तो सकता है परन्तु नहीं भी बने, स्थास कोश बन तो सकता है परन्तु न भी बने, कोश कुशूल बन तो सकता है परन्तु न भी बने और कुशूल घट बन तो सकता है परन्तु न भी बने।

वस्तुमें पायी जानेवाली सभी द्रव्यपर्याय तो स्वपरप्रत्यय ही हुआ करती है लेकिन गुणपर्यायोंको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—एक तो स्वप्रत्यय पर्यायोंका विभाग और दूसरा स्वपरप्रत्यय पर्यायोंका विभाग। इसमेंसे वस्तुके सिर्फ अपने ही बलपर होनेवाली पर्यायें स्वप्रत्यय पर्यायें कहलाती हैं और वस्तुके अपने बलके साथ-साथ दूसरी एक वस्तु तथा अनेक वस्तुओंका बल पाकर होनेवाली पर्यायें स्वपर प्रत्यय पर्यायें कहलाती हैं।

इन स्वप्रत्यय और स्वपरप्रत्यय दोनों प्रकारकी पर्यायोंमेंसे जितनी स्वप्रत्यय पर्यायें वस्तुमें हुआ करती हैं वे सब नियत क्रमसे ही हुआ करती हैं। ऐसी पर्यायें वस्तुमें अगुरुलघुगुणके आधारपर होनेवाली षट्स्थान पतित हानि-वृद्धिके रूपमें जैन संस्कृति द्वारा मान्य की गयी हैं। अर्थात् वस्तुके अगुरुलघुगुणके अविभागी प्रतिच्छेदोंमें अनन्त भागहानि, असंख्यात भागहानि, संख्यात भागहानि, संख्यात गुणहानि, असंख्यात गुण-

हानि और अनन्त गुणहानि, इस तरह नियत क्रमसे होनेवाली हानिकी प्रक्रिया तथा इसके समाप्त होनेपर अनन्त भागवृद्धि, असंख्यात भागवृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि—इस तरह नियतक्रमसे होनेवाली वृद्धिकी प्रक्रिया—ये दोनों ही प्रकारकी प्रक्रियायें अमुकके बाद अमुकके रूपमें वस्तुमें अनादि कालसे चालू हैं और अनन्त कालतक इसी तरह चालू रहनेवाली हैं। इसलिए यह कहा जा सकता है कि वस्तुमें होनेवाली सभी स्वप्रत्यय पर्यायें नियत क्रमसे ही हुआ करती हैं।

वस्तुमें होनेवाली स्वपरप्रत्यय पर्यायोंके विषयमें यथासम्भव नियतक्रम और अनियतक्रम दोनों ही तरहकी प्रक्रियायें यद्यपि जैन संस्कृति द्वारा मान्य की गयी हैं परन्तु आप इन स्वपरप्रत्यय पर्यायोंके विषयमें भी स्वप्रत्यय पर्यायोंकी तरह नियतक्रम ही मान लेना चाहते हैं, जिससे यह विषय विवादपूर्ण बन गया है। यद्यपि इस पत्रकमें हमें मुख्य रूपसे पर्यायोंके नियतक्रम और अनियतक्रमपर आगमकी स्थितिको प्रगट करना है, परन्तु आपने अपने द्वितीय पत्रकमें स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी 'एवं जो णिच्छयदो' इत्यादि ३२३ वीं गाथाकी जिस टीकाको अपने 'द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं' इस पक्षकी पुष्टिमें उद्धृत किया है उस टीकामें उद्धृत 'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं' इत्यादि पद्य प्रकृत विषयकी मर्यादाके बाहर होते हुए भी आपने उसका उपयोग अपने पक्षकी पुष्टिके लिए करनेका प्रयत्न किया है जो—मालूम पड़ता है—कि प्रकृत प्रश्नके महत्त्वको पाठकोंकी दृष्टिमें कम करनेके उद्देश्यसे ही आपने किया है, इसलिए उक्त पद्यमें निर्दिष्ट विषयोंमें हमारी आगमअनुकूल दृष्टि क्या है? इसे सर्वप्रथम हम यहाँपर स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

हम स्वयं 'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं' इत्यादि पद्यमें प्रतिपादित विषयको सत्य मानते हैं और उसपर आस्था रखते हैं, लेकिन इस पद्यमें प्रतिपादित विषयोंकी अपने ढंगकी ऐकान्तिक नियतताके समर्थनमें वस्तुकी स्वपरप्रत्यय परिणमनोंमें पायी जानेवाली अपने ढंगकी कुत्रचित् ऐकान्तिक नियतता, और कुत्रचित् कथंचित् नियतता तथा कथंचित् अनियतताका निषेध करना बुद्धिगम्य नहीं माना जा सकता है।

बात वास्तवमें यह है कि भूत, वर्तमान और भविष्यत् ये तीन काल; जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह द्रव्य; जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नव पदार्थ; पाँच स्थावर और एक त्रस ये छह कायिक जीव; कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म और शुक्ल ये छह लेश्यायें; पाँच अस्तिकाय, पाँच व्रत, पाँच समिति, पाँच गति, पाँच ज्ञान और पाँच चारित्र इन सबकी व्यवस्थाको भगवान् अरहन्त देवने मोक्ष प्राप्तिके लिए कारणरूपसे प्रतिपादित किया है जो कि असंदिग्ध रूपसे सर्वमान्य व्यवस्था है, लेकिन इससे पर्यायोंके नियतक्रम या अनियतक्रमसे क्या सम्बन्ध है? यह आप जानें। फिर भी इससे हमारे सामने नियतता और अनियतताका विशद अर्थ करनेकी समस्या अवश्य खड़ी हो गयी है, अतः यहाँपर प्रसंगवश कहाँ किस ढंगकी नियतता और अनियतताको स्थान प्राप्त है इसे कुछ उदाहरणों द्वारा हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं।

हम मानते हैं कि विश्वमें विद्यमान वस्तुओंके जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल ये छह प्रकार नियत हैं अर्थात् निश्चित हैं। यह भी नियत है कि इन छह प्रकारोंमेंसे जीवनामकी वस्तुएँ भी अनन्तानन्त हैं, पुद्गल नामकी वस्तुएँ भी अनन्तानन्त हैं, धर्म, अधर्म आकाश ये तीनों वस्तुएँ एक एक ही हैं तथा काल नामकी वस्तुएँ असंख्यात हैं।

धर्म, अधर्म, आकाश और सम्पूर्ण काल ये सभी वस्तुएँ अपनी-अपनी आकृति (प्रदेश रचना) की अपेक्षा नियत हैं अर्थात् इनकी आकृतिमें कभी बदलाहट नहीं होती। ऐसा ही नियतपना मुक्त जीवोंका तथा स्वतन्त्र स्थितिको प्राप्त पुद्गल परमाणुओंकी आकृति (प्रदेश रचना) में भी विद्यमान है, लेकिन

संसारी जीवों और द्व्यणुकादि पुद्गल-स्कन्धोंको आकृति (प्रदेश रचना) नियत नहीं है अनियत है। जैसे एक द्व्यणुककी आकृति ऐसी बनती है कि वह आकाशके दो प्रदेशोंपर अवस्थान प्राप्त करता है और एक द्व्यणुककी आकृति ऐसी बनती है कि वह आकाशके एक ही प्रदेशपर अवस्थान प्राप्त कर लेता है। इसी तरहकी आकृतिका भेद त्र्यणुक आदि पुद्गल स्कन्धोंमें भी जान लेना चाहिये। संसारी जीवोंका और स्थूल पुद्गल स्कन्धोंका आकृति भेद तो स्पष्ट ही है।

धर्म, अधर्म, आकाश और सम्पूर्ण काल इन सभीको अवस्थिति नियत है अर्थात् ये वस्तुयें कभी गतिमान् नहीं होतीं। लेकिन जीवों और पुद्गलोंकी गति और अवस्थिति दोनों ही अनियत हैं। यहाँ पर अनियतपनेका स्पष्टीकरण यह है कि ये कभी सामने गति करते हैं तो कभी विपरीत गति करते है अर्थात् पीछेको लौटते हैं, कभी ऊपर गति करते हैं, कभी नीचे गति करते है, कभी तिरछी गति करते हैं, कभी तीव्र, तीव्रतर अथवा तीव्रतम गति करते है तो कभी मन्द, मन्दतर अथवा मन्दतम गति करते हैं—इस तरह इनकी गतिमें अनियतपना पाया जाता है। इतना ही नहीं, ये कभी गति करते हैं तो कभी अवस्थित भी रहते हैं। इस तरह गतिका स्थितिके साथ भी जीवों और पुद्गलोंमें अनियतपना पाया जाता है।

जीवों और पुद्गलोंकी गति और स्थितिके विषयमें इतनी विशेषता और समझना चाहिये कि जीवोंका स्वतःसिद्ध स्वभाव ऊर्ध्वगमन करनेका है, अतः उनका जब तक परपदार्थोंके साथ मिश्रण रहता है तभी तक उनमें अधोगमन, तिर्यग्गमन और उल्टा गमन आदि सम्भव हैं। इसी प्रकार मुक्त जीवोंका लोकके अग्रभागमें अवस्थान स्वभावतः नहीं है, क्योंकि उनका स्वभाव तो ऊर्ध्वगमन करनेका ही है। परन्तु गमन करनेके लिये उन्हें चूँकि धर्म द्रव्यका अवलम्बन आगे प्राप्त नहीं है, अतः लोकके अग्र भागमें ही उनका अवस्थान हो जाता है। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं, कि धर्म द्रव्य जीवों और पुद्गलोंको गमन करनेके लिये प्रेरित करता है, क्योंकि गमन करना तो जीवों और पुद्गलोंका अपने ही कारणोंसे होता है, फिर भी गमन करनेमें धर्म द्रव्यका अवलंबन उन्हें अपेक्षणीय अवश्य रहता है। जिस प्रकार कि मछलीका या रेलगाड़ीका गमन करना इनके अपने कारणोंसे होते हुए भी जहाँ तक जल रहता है मछली वहीं तक गमन करती है और जहाँ तक रेलकी पटरी रहती हैं वहीं तक रेलगाड़ी गमन करती है। अलावा इसके किन्हीं किन्हीं पुद्गलों की अवस्थिति नियत है और किन्हीं किन्हीं पुद्गलोंको गति भी नियत है। जैसे स्वर्ग लोकके विमान, अधोलोकके नरकादि, मध्यलोकके सुमेरु पर्वत, असंख्यात द्वीप और समुद्रादि एवं सिद्धशिला आदि यथास्थान नियत (स्थिर) हैं तथा ढाई द्वीपके सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र आदि सर्वदा गतिमान् ही है।

गणितकी व्यवस्थायें नियत हैं अर्थात् निश्चित हैं। दो और दो जोड़ कर चार ही होते है, कम या अधिक त्रिकालमें कभी नहीं होते। जितने वेगसे गति की जावे कि एक घंटामें अमुक स्थानसे अमुक स्थान तक पहुँचा जा सकता है यह व्यवस्था नियत होनेके कारण ही रेलगाड़ीकी समयसारिणी बना ली जाती है। गणितकी व्यवस्थायें नियत रहनेके कारण ही सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहणकी व्यवस्थित जानकारी ज्योतिषी या गणितज्ञ लोग लोकको दिया करते है।

द्व्यणुक दो अणुओं के मेलसे ही बनता है, एक अणु अथवा तीन आदि अणु मिलकर कभी द्व्यणुकका रूप धारण नहीं करते। समयकी मात्रा नियत (निश्चित) कर दी गयी है। उसके आधारपर आवली, घड़ी, घंटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदिकी मात्रा भी नियत (निश्चित परिमाणमें) मान ली गयी है। समयके निश्चित परिमाणके आधारपर ही पल्य, सागर, उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी आदि कालोंकी मात्रा

आगममें नियत रूपसे बतला दी गयी है। प्रदेशों (वस्तुके सबसे छोटे अंशों) की मात्रा नियत होनेसे ही धर्म, अधर्म और प्रत्येक जीवकी समान असंख्यात प्रदेशात्मकता तथा आकाशकी अनन्त प्रदेशात्मकता नियत है।

ऊपर, नीचे अथवा तिर्यक्—कैसा भी गमन क्यों न किया जावे, वह गमन नियत रूपसे आकाशके एक प्रदेशसे अव्यवहित दूसरे प्रदेशको स्पर्श करते हुए ही आगेको होता है। पुद्गल परमाणु जो एक समयमें ही चौदह राज गमन कर जाता है—भी अपने गमनके मार्गमें पड़े हुए आकाशके असंख्यात प्रदेशोंको एक एक प्रदेशके नियमसे स्पर्श करता हुआ ही गमन करता है। प्रत्येक वस्तुका अपना अपना स्वभाव नियत ही रहता है अर्थात् एक द्रव्यका स्वभाव कभी अन्य द्रव्यका स्वभाव नहीं बन जाता है। ज्ञानका स्वभाव नियत होनेसे केवलज्ञानका स्वभाव भी स्व और परको जानना नियत है। इस तरह वह अपनी सामर्थ्यसे सतत विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंको उनकी त्रैकालिक पर्यायों सहित युगपत् जानता है तथा समय समयके विभागपूर्वक जानता है— ऐसा भी नियत है, परन्तु वह कितने और पदार्थोंको भी जाननेकी क्षमता रखता है यह नियत नहीं है, क्योंकि लोक और अलोकको मिलाकर जितने सम्पूर्ण अनन्तानन्त पदार्थोंको और उनकी जितनी सम्पूर्ण अनन्तानन्त पर्यायोंको केवलज्ञान जानता है उनसे भी अनन्तगुणे पदार्थों और उनकी अनन्तानन्त पर्यायोंको जाननेकी क्षमता केवलज्ञान अपनेमें रखता है। अर्थात् केवलज्ञानके अन्दर जाननेकी शक्ति असीम है। स्वयं पं० फूलचन्दजीने भी अपनी जैनतत्त्वमीमांसाके 'केवलज्ञानस्वभावमीमांसा' प्रकरणमें यही बात लिखी है जो निम्न प्रकार है।:—

लोक में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो केवलज्ञानके विषयके बाहर है। उसका माहात्म्य अपरिमित है। लोक और अलोकके जितने पदार्थ और उनकी पर्यायें हैं उनसे भी अनन्तगुणे पदार्थ और उनकी पर्यायें यदि हों तो उन्हें भी उसमें जाननेकी सामर्थ्य है।

योगीन्द्रदेव विरचित परमात्मप्रकाशमें भी बतलाया है—

णेयाभावे विल्लि जिम थक्कइ णाणु वलेवि।
मुक्कहँ जसु पय बिंबियउ परम-सहाउ भणेवि ॥४७॥

इसका अर्थ संस्कृत टीकाके आधार पर यह है कि जिस तरह बेल वहीं तक चढ़ती है जहां तक मंडपका सहारा है। इसका अर्थ यह नहीं है कि आगे चढ़ने की योग्यता वहां बेलमें नहीं है उसी प्रकार मुक्त जीवों का ज्ञान वहीं तक फैलता है जहां तक ज्ञेय पदार्थ होते हैं। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि उनके ज्ञानमें आगे जाननेकी शक्ति नहीं है। अर्थात् शक्ति तो केवलज्ञानकी पदार्थोंको जाननेकी असीम है, परन्तु जितने ज्ञेय पदार्थ विद्यमान हैं केवल उनको ही इसलिये जानता है कि विद्यमान पदार्थोंसे अतिरिक्त पदार्थोंका विश्वमें अभाव ही पाया जाता है।

इसी प्रकार पदार्थोंको अवगाहित करना (अपने अन्दर समा लेना) आकाशका स्वभाव नियत है, अतः विश्वके समस्त पदार्थोंको वह अपनेमें अवगाहित कर रहा है—ऐसा भी नियत है, परन्तु कितने और पदार्थोंको अवगाहित करनेकी क्षमता आकाशमें विद्यमान है यह नियत नहीं है, क्योंकि विश्वके जितने सम्पूर्ण पदार्थ हैं उनसे भी अनन्तगुणे पदार्थ यदि हों तो आकाश उन्हें भी अपने अन्दर अवगाहित कर लेनेकी क्षमता रखता है। नियतपने और अनियतपनेकी यही व्यवस्था धर्म, अधर्म और काल-द्रव्योंके अपने-अपने स्वभावके विषयमें भी जान लेना चाहिये। ऐसे ही कुम्हारको मिट्टीसे घड़ा आदि वस्तुओंके निर्माणके अनुकूल व्यापार करनेकी योग्यता प्राप्त है, परन्तु कितने और कौन-कौन घटादि पदार्थोंके निर्माणके अनुकूल व्यापार

करनेकी योग्यता उसको प्राप्त है यह नियत नहीं है। यही बात जुलाहामें पट-निर्माणके अनुकूल व्यापार करनेकी योग्यताके विषयमे भी जान लेना चाहिये। अध्यापक शिष्यको पढ़ाता है परन्तु जिस पुस्तकको अध्यापकने शिष्यको पढ़ाया, केवल उसके पढ़नेकी ही योग्यता शिष्यको प्राप्त हुई हो, सो बात नहीं है वह उस विषयकी अन्य अनेक पुस्तकें पढ़ सकता है। प्राणीमें आँखोंसे देखनेकी योग्यता पायी जाती है, इसलिये जो दृश्य पदार्थ उसकी आँखोंके सामने आते हैं उन्हें वह देखता है, लेकिन इसका यह अभिप्राय लेना गलत ही है कि जिनको वह देखता है उन्हीं के देखनेकी उसे योग्यता प्राप्त है अन्यकी नहीं।

हम यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक वस्तुकी नियत (निश्चित) योग्यताएँ हुआ करती है। इसका अभिप्राय यह है कि मिट्टीसे जिस प्रकार घटादिका निर्माण हो जाता है उस प्रकार उससे पटादिका निर्माण कभी नहीं होता। इसका भी अभिप्राय यह है कि मिट्टीमें घटादि निर्माणकी योग्यता नियत है और पटादि निर्माणकी अयोग्यता उसमें नियत है और चूँकि कुम्हारको उसमें रहनेवाली घटादि निर्माणकी योग्यताका परिज्ञान रहता है, इसलिये वह उससे घटादि निर्माणके अनुकूल व्यापार करनेमें प्रवृत्त होता है। परन्तु चूँकि जुलाहेको उसमें रहनेवाली पटनिर्माणकी अयोग्यताका भी ज्ञान रहता है अतः वह उससे पटनिर्माणके अनुकूल व्यापार करनेमें भी प्रवृत्त नहीं होता है। इस प्रकारके नियतपनेके साथ-साथ मिट्टीकी पर्यायोंमें अनियतपना भी इस प्रकार सिद्ध होता है कि एक ही प्रकारकी मिट्टीसे कुम्हार बिना किसी भेदभावके आवश्यकतानुसार कभी तो घटनिर्माणमें बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होता है और कभी उस एक ही प्रकारकी मिट्टीमें सकोरा आदिके निर्माणमें भी बुद्धिपूर्वक ही प्रवृत्त होता है। इस विषयको आगे स्पष्ट किया जायगा।

हम यह भी स्वीकार करते हैं कि प्रत्येक वस्तुकी त्रैकालिक पर्यायें उत्पत्तिके लिहाजसे उतनी संख्यामें मानी जा सकती हैं जितने त्रिकालके समय निश्चित है। परन्तु इससे वस्तुकी पर्यायोंके उत्पन्न होनेकी योग्यताएँ निश्चित नहीं की जा सकती हैं। हम पहले भी स्पष्ट कर आये हैं कि केवलज्ञानमें पदार्थोंको जाननेकी योग्यता उतनी ही नहीं है जितने कि लोकमें पदार्थ विद्यमान हैं, किन्तु लोकमें विद्यमान पदार्थोंसे भी अधिक असीम पदार्थोंके जाननेकी योग्यता केवलज्ञानमें विद्यमान है। इसी प्रकार आकाश, धर्म, अधर्म और कालमें भी उनकी अपनी-अपनी असीम योग्यताका सद्भाव बतला आये हैं। आगे भी इस विषयको स्पष्ट किया जायगा कि कारणोंके प्राप्त होनेपर वस्तुकी किसी योग्यतानुसार कार्यकी उत्पत्ति होना अलग बात है और कार्योंकी योग्यताओंका वस्तुमें सद्भाव रहना अलग बात है।

कोई भी कार्य स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी सीमामें ही होता है; परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावमें नहीं होता है यह सब नियत है। अर्थात् कार्यकी जो वस्तु उपादान है कार्य उसी उपादानभूत वस्तुमे होता है, उपादानभूत वस्तुमे भिन्न अन्य वस्तुमें वह कार्य कदापि नहीं होता है। जैसे घटकी उत्पत्ति मिट्टीमे ही होती है। कार्य उतने ही छोटे-बड़े परिमाणका होगा जितना छोटा-बड़ा परिमाण उस कार्यकी उपादानभूत वस्तुका होगा। यह कभी नहीं होगा कि उपादानभूत वस्तुके परिमाणसे छोटे परिमाणका अथवा बड़े परिमाणका कभी कार्य उत्पन्न हो जावे। जैसे घटनिर्माणके लिये मिट्टीका जितना परिमाण होगा घट भी उतने ही परिमाणका बनेगा। वस्तुकी जिस पर्यायके अनन्तर ही जिस पर्यायका होना संभव हो वह पर्याय उस पर्यायके अनन्तर ही होगी, किसी अन्य पर्यायके अनन्तर वह पर्याय नहीं होती है। जैसे स्थूल रूपसे मिट्टीकी कुशूल पर्यायके बाद ही घटका निर्माण सम्भव है। पिंड, स्थास अथवा कोश पर्यायके बाद कुशूल पर्यायके हुए बिना घट पर्यायका होना सम्भव नहीं है और यदि सूक्ष्म रूपसे कहा जाय तो एक क्षणवर्ती निष्पन्न घट पर्यायसे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायके

अनन्तर ही घटका निर्माण सम्भव है व्यवहित द्वितीयादि पूर्वक्षणवर्ती किसी भी पर्यायके अनन्तर एक क्षणवर्ती उस घट पर्यायका निर्माण सम्भव नहीं है, असम्भव ही है। यहाँ पर 'वस्तुकी जिस पर्यायके अनन्तर जिस पर्यायका होना सम्भव हो' इस वाक्यमें 'सम्भव हो' के स्थानमें 'नियत हो' यह प्रयोग इसलिये नहीं किया गया है कि कार्यके अनन्तर पूर्ववर्ती उस पर्यायके अनन्तर विवक्षित पर्याय ही उत्पन्न होगी—यह नियम नहीं बनाया जा सकता है। कारण कि उस पर्यायके अनन्तर उपादानगत योग्यताके आधारपर भिन्न-भिन्न निमित्तोंका योग मिलनेपर विविध प्रकारकी पर्यायोंमेंसे कोई एक पर्यायका होना सम्भव है, केवल किसी एक नियत पर्यायका होना ही सम्भव नहीं है। इसी प्रकार वस्तुमें जिस जातिकी योग्यता होगी कार्य भी उसी जातिका होगा। यह कभी नहीं होगा कि वस्तुमें योग्यता तो किसी जातिकी हो और कार्य किसी जातिका हो जावे। जैसे मिट्टीसे घड़ा, सकोरा आदिका निर्माण तो हो सकता है, क्योंकि उस जातिकी योग्यता मिट्टीमें विद्यमान रहती है, परन्तु पटका निर्माण मिट्टीसे नहीं हो सकता है, क्योंकि पट निर्माणकी योग्यता मिट्टीमें नहीं पायी जाती है।

यदि कार्यके स्वदेश और स्वकालका अभिप्राय जैसा कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१ और गाथा ३२२ में प्रगट किया गया है वैसा गृहीत किया जावे, तो वह भी इस प्रकारसे सही होगा कि केवलज्ञानमें सभी कार्य प्रतिनियत कारणोंसे स्वकालमें उत्पन्न होते हुए झलक रहे हैं, लेकिन केवलज्ञानमें यदि कार्य ऐसा झलक रहा है तो श्रुतज्ञानमें भी केवलज्ञानकी तरह ही कार्य झलकना चाहिये—यह अभिप्राय उन गाथाओंका नहीं है। कारण कि केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानियोंका ज्ञानभेद और अवस्थाभेद पूर्वमें बतलाया जा चुका है, अतः स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२३ द्वारा श्रुतज्ञानीको केवलज्ञानके विषयके प्रति मात्र श्रद्धा करनेका उपदेश देते हुए ऐसे श्रद्धावान् व्यक्तिको सम्यग्दृष्टि प्रतिपादित किया गया है। श्रुतज्ञान और केवलज्ञानके अन्तरको स्वामी समन्तभद्रने आप्त मीमांसामें भी बतलाया है। यथा—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥

अर्थ—स्याद्वाद (श्रुत) तथा केवलज्ञान ये दोनों ही वस्तुतत्त्वके प्रकाशक है, इनमेंसे स्याद्वाद तो असाक्षात्कार अर्थात् परोक्षरूपसे वस्तुतत्त्वका प्रकाशक है और केवलज्ञान प्रत्यक्षरूपसे वस्तुतत्त्वका प्रकाशक है।

इसी प्रकार आप्तमीमांसामें ही जहाँ केवलज्ञानमें सर्वतत्त्व प्रकाशनका यौगपद्य स्वीकार किया गया है वहाँ श्रुतज्ञानमें तत्त्वप्रकाशनकी क्रमिकता बतलायी गयी है। वह कथन भी निम्न प्रकार है —

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥१०१॥

अर्थ—(हे जिनदेव) आपका युगपत् सर्व पदार्थोंका प्रतिभासन स्वरूप तत्त्वज्ञान प्रमाणभूत है तथा जितना क्रमभावि तत्त्वज्ञान है वह भी इसलिये प्रमाणभूत है कि वह स्याद्वाद तथा नयों से संस्कृत (परिष्कृत) हो रहा है।

इस कारिकासे जहाँ केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमें यौगपद्य तथा क्रमका भेद प्रकट किया गया है वहां यह बात भी बतला दी गयी है कि यदि प्रमाणताकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो दोनों ही प्रमाणभूत ही है। इससे यह तत्त्व फलित हो जाता है कि कार्य-कारणभावके आधारपर पर्यायोंका श्रुतज्ञान द्वारा ज्ञात नियत क्रमवर्तित्व और अनियत-क्रमवर्तित्व प्रमाणित ही है।

फिर एक बात और है। धवल पुस्तक १३ में निम्नलिखित सूत्र पाया जाता है—

सहं भयवं उप्पण्णणाणदरिसी सदेवासुरमाणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढिं, ट्ठिदिं जुदिं अणुमागं तक्कं कलं माणो माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति ॥८२५ (पृष्ठ ३४६)

अर्थ—जिनके ज्ञान और दर्शन स्वयं उत्पन्न हो गये हैं ऐसे भगवान देवलोक और असुर-लोकके साथ मनुष्य लोककी आगति, गति, चयन, उपपाद, बन्ध, मोक्ष, ऋद्धि, स्थिति, युति, अनुभाग, तर्क, कल, मन, मानसिक, भुक्त, कृत, प्रतिसेवित, आदिकर्म, अर्हत्कर्म, सब लोकों, सब जीवों और सब भावोंको सम्यक् प्रकारसे युगपत् जानते है, देखते हैं और विहार करते हैं।

इसमें अनुभागका व्याख्यान करते हुए टीकामें लिखा है—

अण्णेसिं दव्वाणं कमाकमेहि परिणमणहेदुत्तं कालदव्वाणुभागो। (पृ० २४९)

अर्थ—अन्य द्रव्योंके क्रम और अक्रमसे परिणमनमें हेतु होना कालद्रव्यानुभाग है।

इस उदाहरणसे मालूम पड़ता है कि केवलीका ज्ञान उपर्युक्त सब बातोंके साथ-साथ द्रव्योंके क्रम और अक्रमसे होनेवाले परिणमनोंको भी जानता है।

तात्पर्य यह है कि नियतक्रमता और अनियतक्रमता ये दोनों वस्तु-परिणमनके ही धर्म हैं और वे अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही उनमें सम्पन्न होते हैं और चूँकि पदार्थकी जैसी स्थिति हो; वैसी ही केवलज्ञानीके ज्ञानमें झलकती है, अतः वस्तुपरिणमनमें पाये जानेवाले नियतक्रमता और अनियतक्रमता रूप दोनों धर्म केवलज्ञानके भी विषय होते हैं। वस्तु परिणमनमें केवलज्ञान अथवा श्रुतज्ञानके विषय होनेसे नियतक्रमता या अनियतक्रमता आती हो—ऐसी बात नहीं है, किन्तु अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही वस्तु परिणमनोंमें नियतक्रमता और अनियतक्रमता आती है। यह बात पूर्वमें ही बतला चुके हैं कि किसी भी कार्यकी उत्पत्ति केवलज्ञान द्वारा ज्ञात होनेके कारण नहीं हुआ करती है, किन्तु अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही उसकी उत्पत्ति हुआ करती है और यह व्यवस्था श्री पं० फूलचन्दजीको भी स्वीकार है – यह बात भी वहीं पर बतला आये हैं।

इस प्रकार श्रुतज्ञानी केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षासे तो यही मानता है यानी श्रद्धा और विश्वास करता है कि जिस देशमें और जिस कालमें जिस विधि-विधानसे (यथायोग्य स्वरूपकारणसे अथवा स्व और पर उभयरूप कारणोंसे) केवली भगवान्ने जैसा जाना है वैसा नियमसे होता है और वही श्रुतज्ञानी यह भी आवश्यक समझता है कि कार्यके कार्य-कारणभावको जाने विना तथा तदनुकूल पुरुषार्थ किये बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होगी—इस तरह श्रुतज्ञानीकी मान्यता श्रद्धा और अपने कर्त्तव्यपर समानरूपसे आधारित होनी चाहिये। विवक्षावशात् दोनोंमेंसे एकको मुख्य और दूसरेको गौण कर देना दूसरी बात है। जैसे हम पहले बतला चुके हैं कि कार्यमें सफलताकी दृष्टिसे वह अहंकारी न बन जावे अथवा असफलताकी दृष्टिसे दुःखी न हो जावे—इसके लिए तो वह ऐसा ही समझता है कि मेरा कर्त्तव्य तो पुरुषार्थ करनेका था या है सो किया या करूँगा, परन्तु केवलज्ञानी भगवानने जैसा देखा, वैसा ही हुआ या होगा। इसमें मेरा कुछ कर्त्तव्य निहित नहीं है, अथवा इसके लिए मेरा कुछ वश नहीं है। इसी प्रकार पदार्थमें जैसी भवितव्यता अर्थात् आगे होने योग्य कार्योंकी सम्भावनापूर्ण स्थिति (होनहार) विद्यमान होगी वैसा ही कार्य उस पदार्थमें हो सकता है। कोई भी प्राणी उक्त प्रकारकी भवितव्यताको लांघकर यानी भवितव्यताके अलावा कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता है या यों कहिये कि प्राणी पदार्थमें नवीन भवितव्यता नहीं पैदा कर सकता है। जैसे मिट्टीमें घटादिके

उत्पन्न होनेकी भवितव्यता पायी जाती है, इसलिए जिस प्रकार मिट्टीमें घटादिको उत्पत्ति सम्भव है उस प्रकार पटादिके उत्पन्न होनेकी भवितव्यता मिट्टीमें नहीं पायी जानेके सबब, कितने ही प्रयत्न क्यों न किये जावें—कदापि पटादिकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार श्रुतज्ञानी जीव श्रद्धाको प्रधान और कार्यानुकूल पुरुषार्थको गौण बना लेता है तथा इसके साथ ही कार्यको उत्पन्न करनेकी दृष्टिसे वह जब अपने कर्त्तव्य मार्गकी ओर उन्मुख होता है तो उस समय उसकी दृष्टिमें श्रद्धापक्षकी गौणता व कर्तव्य पक्षको प्रधानता स्वाभाविक रूपमें हो जाती है। यह तो ठीक है और इस तरह प्रवृत्ति करनेवाला श्रुतज्ञानी जीव सम्यग्दृष्टि है। लेकिन ऐसा न करके यदि कोई व्यक्ति उक्त प्रकारके नियतिवादको ही कार्योत्पत्तिके लिए आधार बना कर पुरुषार्थहीन बन जाय तो उसका कार्य कभी सम्पन्न नहीं होगा। आप फिर भले ही कहते जावें कि ऐसा ही भगवान्ने देखा था या ऐसी ही भवितव्यता थी, परन्तु कबतक ऐसा मानकर बैठा जा सकता है। कार्य निष्पन्न करना होगा तो पुरुषार्थ करना ही होगा। मुक्ति पानी होगी तो नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण करनेके लिए बाध्य होना ही पड़ेगा। यह नहीं हो सकता कि इसके लिए पुरुषार्थ न करके सिर्फ ऐसी मान्यतासे ही वह प्राप्त हो जायगी कि सर्वज्ञके ज्ञानमें जब मुक्ति झलकी होगी तब वह हो ही जायगी या जब हमारी भवितव्यतामें वह होगी तब वह हो ही जायगी, हमें उसके लिए पुरुषार्थ करनेकी जरूरत नहीं है अर्थात् नग्न दिगम्बर मुद्रा धारण करना जरूरी नहीं है और यदि जरूरी है भी, तो जब हमारा मुक्ति पाना सर्वज्ञके ज्ञानमें झलका होगा तब अपने आप हम नग्न दिगम्बर मुद्राके धारी बन जावेंगे या भवितव्यता ही यह सब कुछ हमसे करा लेगी। ऐसी या इसी प्रकारकी सब बातें नियतिवादरूप मिथ्यात्वके ही रूपमें है।

इस प्रकार कार्यसिद्धिके लिए कार्यकारणभावको समझिये, पुरुषार्थ कीजिए, आवश्यकतानुसार निमित्तोंको भी जुटाईये, लेकिन इसमें अहंकारी मत बनिये, अधीरता मत दिखाइये, असफलतासे दुःखी मत हूजिये, विवेकी गम्भीर और स्थिरबुद्धि बनकर अपनी दृढ़ श्रद्धाके साथ कर्त्तव्य पथपर डट जाईये, डट जावें, तो फिर डटे रहिये, उस कर्तव्य पथसे च्युत नहीं हूजिये—यही सम्यक्त्वका चिह्न है, इसीमें आस्तिक्यभाव (श्रद्धाका भाव) झलकता है, इसीमें अनेकान्तवादका प्रकाशपुंज आपको दिखेगा और निर्वेदभाव, अनासक्तिभावकी छाया इसीमें प्राप्त होगी। निम्नलिखित पद्योंसे हमें यही उपदेश प्राप्त होता है—

अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा।
अनीश्वरो जन्तुरहंक्रियार्तः संहत्य कार्येष्विति साध्ववादीः ॥१३३॥

—स्वयंभूस्तोत्र

इस पद्यका आशय हम पूर्वमें प्रगट कर चुके हैं।

जो जो देखी वीतरागने सो सो होसी वीरा रे।
अनहोनी कबहूँ न होसी काहे होत अधीरा रे ॥

—पंडितप्रवर भैया भगवतीदासजी

आप देखेंगे कि प्रथम पद्यके प्रथम चरण और द्वितीय चरणमें श्रद्धा और कर्त्तव्यका कितना सुन्दर समन्वय किया गया है और तीसरे चरणमें एकान्त पक्षको माननेवाले निमित्तवादियोंको कहा गया है कि अनेकान्त तत्त्वको पहिचानो और निरहंकारी बनो। दूसरे पद्यमें अपनी कार्यसिद्धिमें अधीरता प्रगट करनेवालोंको कहा गया है कि होगा वही जो वीतराग महाप्रभुके ज्ञानमें झलका है, फिर इतनी अधीरता क्यों

दिखलाते हो ? इसमें भी पुरुषार्थ व निमित्तोंको जुटानेका निषेध नहीं किया गया है इसी पद्यके आगेके पद्योंको भी पढ़ा जावे तो आप देखेंगे कि उनमें फिर पुरुषार्थ करनेकी भी प्रेरणा की गयी है। वे पद्य निम्न प्रकार है—

तू सम्हारि पौरुष बल अपनो, सुख अनन्त तो तोरा रे। (तीसरे पद्यका उत्तरार्ध)
निश्चय ध्यान धरहु वा प्रभुको जो टारै भव पीरा रे। (चौथे पद्यका पूर्वार्द्ध)

आप देखेंगे कि इसमें उन्होंने अपने पौरुषको सम्हालने व प्रभुका ध्यान करनेके लिये प्राणियोंको प्रेरणा दी है जो नियतिवादके सर्वथा विरुद्ध है। पूर्वमें बतलाया जा चुका है तथा स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२३ में 'णिच्छयदो' पद डाल कर आचार्य महाराजने हमें इस बातका उपदेश दे दिया है कि श्रद्धाकी लगाम लगा कर कर्त्तव्यरूपी घोड़े पर सवार हो जाईये, आपका कार्य सफल होगा। वह गाथा निम्न प्रकार है :—

एवं जो णिच्छयदो जाणदि सव्वाणि दव्वपज्जाए।
सो सद्दिट्ठी सुद्धो जो संकदि सो हु कुद्दिट्ठी ॥३२३॥

अर्थ—इस प्रकार (पूर्वोक्त प्रकार) से जो जीव समस्त द्रव्यों और समस्त पर्यायोंके विषयमें आस्था रखता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है और जो इसमें शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है।

यदि उक्त प्रकारसे श्रद्धा और कर्त्तव्यका समन्वय न किया जाय तो जैसा कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१ और ३२२ वीं गाथाओंमें वर्णन किया और जिसके स्वीकार करने पर उक्त गाथा ३२३ में प्राणी-को शुद्ध सम्यग्दृष्टि बतलाया है उसी प्रकारका वर्णन तो पंचसंग्रह आदि आगम ग्रन्थोंमें भी किया है जिसे स्वीकार करने पर वहाँ पर प्राणीको मिथ्यादृष्टि बतला दिया गया है। इन दोनों कथनोंकी संगति किस प्रकार हो सकेगा ? पंचसंग्रहका वह कथन निम्न प्रकार है जिसको वहाँ पर नियतिवादरूप एकान्त मिथ्यात्व बतलाया है।

यद् भवति तद् भवति, यथा भवति तथा भवति, येन भवति तेन भवति, यदा भवति तदा भवति, यस्य भवति तस्य भवति इति नियतिवादः।

—प्रा० पं० सं० पृ० ५४७ ज्ञानपी० से प्रकाशित

अर्थ—जो होना है वह होता है, जैसे होना है वैसे होता है, जिसके द्वारा होना है उसके द्वारा होता है, जब होना है तब होता है, जिसके होना है उसके होता है यह नियतिवाद है।

सिद्धान्तचक्रवर्ती श्रीनेमिचन्द्राचार्यने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें भी नियतिवादरूप एकान्त मिथ्यात्वका कथन निम्न प्रकार किया है :—

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥८८२॥

अर्थ—जो जिस समय जिससे जैसे जिसके नियमसे होना है वह उस समय उससे वैसे उसके होता है—ऐसा मानना नियतिवाद है।

श्री अमितिगति आचार्यके पंचसंग्रहमें प्र० अ०, पृ० ११२ में भी देखिये—

यदा यथा यत्र यतोऽस्ति येन यत् तदा तथा तत्र ततोऽस्ति तेन तत्।
स्फुटं नियत्येह नियंत्र्यमाणं परो न शक्तः किमपीह कर्तुम् ॥३१२॥

अर्थ—जब जैसे जहाँ जिस हेतुसे जिसके द्वारा जो होना है तब तैसे वहाँ उस हेतुसे उसके द्वारा वह होता है यह सब नियतिके नियंत्रणमें होता है, दूसरा कोई कुछ भी नहीं कर सकता है।

अब आप देखेंगे कि स्वामिकार्तिकेयानुपेक्षाकी गाथा ३२१ और गाथा ३२२ पद्मपुराणके 'यत्प्राप्तव्यं यदा येन' इत्यादि पद्य और स्वयंभूस्तोत्रके 'अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं' इत्यादि पद्यके कथनोंमें और प्राकृत पंचसंग्रह, गोमट्टसार तथा अमितिगति आचार्यकृत पंचसंग्रहके उक्त कथनोंमें, कुछ अन्तर नहीं है, फिर भी स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदिके उन कथनों पर आस्था रखनेसे प्राणी सम्यग्दृष्टि माना जाता है और उसी प्रकारके पंच-संग्रह आदिके कथनोंको स्वीकार करनेवाला नियतिवादी मिथ्यादृष्टि कहलाता है। इसका आशय केवल इतना ही है कि यदि द्वादशांग प्रतिपादित कार्यकारणभाव पद्धतिको अपनाते हुए कर्तव्य परायण बनकर उक्त कथनोंपर श्रद्धा रक्खी जावे तब तो प्राणी सम्यग्दृष्टि बनता है और यदि द्वादशांग प्रतिपादित कार्यकारणभाव पद्धतिकी सर्वथा उपेक्षा करके या उसे आरोपित, मिथ्या, कल्पित, अकिंचित्कर आदिके रूपमें मान कर कर्त्तव्यसे शून्य होता हुआ नियतिके ही आश्रित प्राणी हो जाता है तो उस हालतमें वह एकान्तनियतिवादी मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

इस उपर्युक्त विवेचनसे हमने आगमानुसार यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि दिव्यध्वनिसे लेकर गणधरों द्वारा रचित द्वादशांग रूप द्रव्यश्रुतमें तथा उनके पश्चात् अन्य महर्षि-आचार्यों द्वारा रचित द्रव्य श्रुतमें श्रुत-ज्ञानियोंके लिये ही वस्तुतत्त्व व्यवस्था प्रतिपादित की गयी है तथा उस व्यवस्थामें श्रद्धा और कर्त्तव्य पथका समावेश कर दिया गया है। कारण कि इन दोनोंका समावेश किये बिना प्राणीको सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना असम्भव है। तात्पर्य यह है कि केवलज्ञानियोंके लिये वस्तुतत्त्व व्यवस्थाकी कोई उपयोगिता नहीं है। कारण कि केवलज्ञानी जीव तो समस्त वस्तु तत्त्वके स्वतः पूर्ण ज्ञाता हैं, अतः वे वस्तुतत्त्व के व्यवस्थापक तो हैं किन्तु वस्तुतत्त्व व्यवस्था उनके लिये नहीं . । उनके ज्ञानमें निश्चय नय और व्यवहार नयका भी भेद नहीं है। उनका सम्पूर्ण ज्ञान निरंश रूपसे प्रमाण रूप है जब कि श्रुतज्ञानियोंका श्रुतज्ञान अंशी रूपसे ही प्रमाण रूप हो सकता है। इसलिये केवलज्ञानियोंका जो केवलज्ञान निरंशरूपसे प्रमाण रूप है उसमें निश्चय नय और व्यवहार नयका भेद कैसे सम्भव हो सकता है अर्थात् नहीं हो सकता है। इस प्रकार केवलज्ञानी जीव वस्तु तत्त्वके सिर्फ ज्ञाता दृष्टा ही बने हुए हैं। दूसरी बात हम यह भी बतला आये हैं कि वे कृतकृत्य भी हो चुके हैं—इत्यादि बातोंसे आप समझ सकते हैं कि केवलज्ञानी जीवोंके लिये वस्तु तत्त्व व्यवस्थाकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती है, अतः सिर्फ श्रुतज्ञानी जीवोंके लिये ही वस्तु तत्त्व व्यवस्थाकी उपयोगिता है।

वस्तु तत्त्व व्यवस्थाके श्रुतज्ञानी जीवोंके लिये दो रूप ही हो सकते हैं—एक तो केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षा श्रद्धाका रूप और दूसरा श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कर्तव्यका रूप। और तत्त्व व्यवस्थाके दोनों ही रूप प्रमाणभूत है, अतः श्रुतज्ञानी जीवोंको दोनों ही रूप प्रमाण रूपसे स्वीकार करने योग्य हैं अर्थात् श्रुतज्ञानी जीव यदि केवलज्ञानकी दृष्टिसे विचार करें तो उन्हें मालूम होगा कि चूँकि प्रत्येक वस्तुकी एक-एक समयमें एक-एक पर्याय ही उत्पन्न हो सकती है, इसलिये कालके जितने त्रैकालिक समय हैं उतनी ही प्रत्येक वस्तुकी पर्यायोंकी उत्पत्ति होना सम्भव है और चूँकि केवलज्ञानी जीव समस्त वस्तुओंकी उनकी अपनी-अपनी समस्त त्रैकालिक पर्यायोंका सतत ज्ञान कर रहे हैं। अर्थात् भूतमें कब किस वस्तुकी कौन-सी पर्याय हुई यह भी उन्हें ज्ञात हो रहा है, वर्तमान समयमें किस वस्तुकी कौन-सी पर्याय हो रही है यह भी उन्हें ज्ञात हो रहा है और भविष्यत्में कब किस वस्तुकी कौन-सी पर्याय होगी यह भी उन्हें ज्ञात हो रहा है

इसलिये यह निश्चित हो जाता है कि प्रत्येक वस्तुकी त्रैकालिक पर्यायोंमेंसे एक-एक पर्याय केवलज्ञान गम्य नियत क्रमसे ही उत्पन्न होती है और वे ही श्रुतज्ञानी जीव यदि अपने श्रुतज्ञानकी दृष्टिसे विचार करें तो यह उनके अनुभव, तर्क तथा आगमसे भी प्रसिद्ध बात होगी कि मिट्टीसे ही घट सकोरा आदि बनते हैं सूतसे नहीं, मिट्टीसे घट, सकोरा आदि ही बनते हैं वस्त्रादिकी उत्पत्ति मिट्टीसे कदापि नहीं होती है, कुम्हारके पुरुषार्थका मिट्टीको अनुकूल सहयोग मिलनेपर ही इससे घटका निर्माण होता है अन्यथा नहीं और कुम्हार भी दण्ड, चक्र, वस्त्र, जल आदिकी सहायतापूर्वक ही अपने पुरुषार्थका उपयोग मिट्टीसे घटनिर्माणमें करता है—इस प्रकार प्रत्येक वस्तुकी प्रत्येक स्वपरप्रत्यय पर्यायकी उत्पत्तिमें उपादानोपादेयभावके साथ-साथ निमित्तनैमित्तिकभाव रूप कार्यकारणभावकी प्रक्रिया सतत विद्यमान रहती है। इसी प्रकार अगुरुलघुगुणके अविभागी प्रतिच्छेदोंमें षड्गुण हानि-वृद्धि रूपसे होनेवाली स्वप्रत्यय पर्यायों (परिणमनों) की उत्पत्तिमें भी केवल उपादानोपादेयभावरूप कार्यकारणभावकी प्रक्रिया आगममें प्रतिपादित की गयी है इसलिये यह भी निश्चित है कि प्रत्येक वस्तुकी प्रत्येक पर्याय अपने-अपने प्रतिनियत कारणोंके आधारपर यथायोग्य नियतक्रम अथवा अनियतक्रमसे ही उत्पन्न होती है।

एक बात और है कि श्रुतज्ञानीके सामने करनेके लिये उचित-अनुचित, आवश्यक-अनावश्यक, ऐहिक-पारलौकिक, जीवन-सम्बन्धी—मुक्ति-सम्बन्धी, वैयक्तिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, सांस्कृतिक आदि आदि असंख्य प्रकारके कार्योंका अम्बार लगा रहता है, उनकी सम्पन्नता उस उस कार्यके अनुकूल सामग्रीके जुटनेपर अथवा जुटानेपर ही होती है और उस उस कार्यके अनुकूल सामग्री जुटानेके लिये हमें यथायोग्य अपनी इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा श्रमशक्तिका उपयोग भी करना होता है तथा करते भी हैं। यह बात हम पहले कह चुके हैं कि हम नियतिके नियंत्रणमें बंधकर यंत्रवत् यह सब कुछ नहीं कर रहे हैं, अन्यथा हमें अपने अनुभवको अप्रमाण मानना होगा, तर्क भी अप्रमाण मानना होगा और इसी तरह कार्यकारणभाव व्यवस्थाके प्रतिपादक आगमको भी अप्रमाण मानना होगा, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, हिंसा-अहिंसा आदिकी आगम सम्मत सम्पूर्ण व्यवस्थायें समाप्त हो जायेंगी, केवल नियतिका विश्वमें एकछत्र साम्राज्य प्रस्थापित हो जायगा जिसे आगम ग्रन्थोंमें मिथ्यात्व कहा गया है। जैनी दृष्टि यह नहीं है। जैनी दृष्टि तो श्रद्धा और कर्त्तव्य दोनोंके समन्वय करनेमें ही सम्पन्न होती है जिसपर आपका ध्यान जाना चाहिये।

चूंकि आगममें कार्यकारण व्यवथाका प्रभावशाली वर्णन पाया जाता है, अतः आपने कार्यकारण व्यवस्थाको स्वीकार तो किया है। परन्तु आपने उसे इस रूपमें रखनेका प्रयत्न किया है कि जिससे आपको मान्य 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होने पर ही होते हैं' इस सिद्धान्तको न केवल आंच न आने पावे बल्कि इसका आपके द्वारा मानी हुई कार्यकारण व्यवस्थासे पोषण हो सके, साथ ही आगममें महत्त्वपूर्ण स्थानको प्राप्त निमित्त कारणको आप अकिंचित्कर भी बना सकें। आपने अपने इस मतका समर्थन करनेके लिए कार्यकारणभाव पर प्रभाव डालनेवाली स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी निम्नलिखित गाथाको उद्धृत किया है—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं च्चिय कज्जं हवे णियमा ॥२३०॥ (२२२)

इसका अर्थ आपने यह किया है कि अनन्तर पूर्व परिणामसे युक्त द्रव्य कारण रूपसे (उपादान कारण रूपसे) प्रवर्तित होता है और अनन्तर उत्तर परिणामसे युक्त वही द्रव्य नियमसे कार्यरूप होता है।

हम उक्त गाथाका यों अर्थ करते हैं—'द्रव्य अपने पूर्व परिणामकी अवस्थामें कारण रूपसे रहता है और जब वह उत्तर परिणामसे युक्त होता है तब वह नियमसे कार्यरूप हो जाता है।'

हमारे द्वारा कृत और आपके द्वारा कृत उक्त दोनों अर्थोंके अभिप्रायोंमें अन्तर यह है कि जहाँ आप पूर्व पर्यायसे सिर्फ वस्तुकी कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायको ही कारण रूपसे स्वीकार करते हैं वहाँ हम सूक्ष्म पर्यायोंकी दृष्टिसे वस्तुकी कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायको तो कारणरूपसे स्वीकार करते ही हैं लेकिन इसके साथ ही स्थूल पर्यायोंकी दृष्टिसे मिट्टी घटादि संभव पर्यायोंमेंसे किसी भी पर्यायसे अव्यवहित पूर्वकालमें स्थित कुशूल पर्यायको भी हम कारणरूपसे स्वीकार कर लेते हैं, क्योंकि जिस प्रकार आगममें क्षणिक पर्यायोंके आधारपर कार्यकारणभाव प्रतिपादित किया गया है उसी प्रकार स्थूल पिंड, स्थास, कोश, कुशूल और घट आदि पर्यायोंके आधारपर भी उत्तरोत्तर कार्यकारणभावको स्वीकार किया गया है। फिर भी हम मानते हैं कि प्रकृतमें हमारे आपके मध्य पाये जानेवाले उक्त अन्तरसे कोई समस्या खड़ी नहीं होती है, अत: हम आपके लिये मान्य विवक्षित क्षणिक पर्यायोंमें पाये जानेवाले कार्यकारणभावके आधारपर ही आगेका विवेचन प्रारम्भ कर रहे हैं।

क्षणिक पर्यायोंके आधारपर उल्लिखित गाथामें उपादान कारण और कार्यकी व्यवस्था इस तरह बतलायी गयी है कि वस्तुकी उत्तर क्षणवर्ती पर्यायसे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तु कारण कहलाती है और उस पूर्व पर्यायसे अव्यवहित उत्तरक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तु कार्य कहलाती है। हमारे और आपके मध्य इस तरहकी कार्यकारणभावव्यवस्थाको स्वीकृतिमें कोई विवाद नहीं है और इस विषयमें भी हमारे आपके मध्य कोई विवाद नहीं है कि वस्तुकी पूर्वक्षणिकपर्यायके बाद उत्तर क्षणिक पर्याय अवश्य होगी तथा वह एक ही होगी, कारण कि पर्यायोंकी क्रमिक एक धारामें एक साथ दो आदि पर्यायें कदापि नहीं होंगी, परन्तु वह एक उत्तर पर्याय किस रूपमें होगी? इसकी नियामक आगमके अनुसार निमित्त सामग्री है। जैसे चनेको खप्परमें डालकर अग्निके जरिये भूना भी जा सकता है और बटलोईमें उबलते हुए पानीमें डालकर उसी चनेको उसी अग्निके द्वारा पकाया भी जा सकता है। लेकिन आप ऐसा माननेके लिए तैयार नहीं हैं। आपकी मान्यता तो इस विषयमें मात्र इतनी ही है कि पूर्व पर्यायके बाद एक नियत ही उत्तर पर्याय होगी, परन्तु इस पर हमारा कहना यह है कि आपकी मान्यतामें पूर्व पर्यायके बाद एक नियत उत्तर पर्यायके होनेका नियामक कौन होगा? यदि कहा जाय कि गाथामें जो 'णियमा' पद पड़ा हुआ है उससे ही यह सिद्ध होता है कि पूर्व पर्याय ही उत्तर पर्यायकी नियामक हो जाती है, क्योंकि वह 'णियमा' पद उस पूर्व पर्यायके अनन्तर दो आदि पर्यायोंमेंसे एक पर्याय होगी—इसका बिरोधक ही हैं, तो इस पर भी हमारा कहना यह है कि गाथामें पठित 'णियमा' पद किसी एक निश्चित पर्यायकी सूचना देनेके लिए नहीं है, उससे तो केवल इतनी ही बात जानी जा सकती है कि पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य कारण कहलाती है और उत्तर पर्याय विशिष्ट वस्तु नियमसे कार्य कहलाती है फिर भले ही वह उत्तर पर्याय किसी रूपमें क्यों न हो। इस तरह पूर्व पर्यायके बाद जो भी उत्तर पर्याय होगी वह नियमसे उस पूर्व पर्यायका कार्य होगी। हमारे इस निष्कर्षकी पुष्टि इसी गाथा नं० २२२ को आचार्य शुभचन्द्र कृत टीकामें भी होती है। वह टीका निम्न प्रकार है :—

द्रव्यं जीवादि वस्तु पूर्वपरिणामयुक्तं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभावेन उपादानकारणत्वेन वर्तते तदेव द्रव्यं जीवादि वस्तु उत्तरपरिणामयुक्तं उत्तरपर्यायाविष्टं तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभूतं मणि-मन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन उत्तरक्षणे कार्यं निष्पादयत्येव। यथा आतान-वितानात्मकास्तन्तवः अप्रतिबद्धसामर्थ्याः कारणान्तरावैकल्याश्च अन्त्यक्षणं प्राप्ताः पटस्य कारणं, उत्तरक्षणे तु कार्यम्।

अर्थ—जीव आदि, द्रव्य अपनी पूर्व पर्याय सहित उपादान कारणरूप होता है और अपनी पूर्व पर्याय सहित वही जीव आदि द्रव्य यदि मणि, मन्त्र आदि कार्यको प्रतिरोधक सामग्रीसे अप्रतिबद्ध सामर्थ्य वाला हो तथा कारणान्तरों (अन्य अनुकूल कारणों) की विकलता (अपूर्णता) से भी रहित हो तो उत्तर क्षणमें विवक्षित उत्तरपर्याय रूप कार्यका निष्पादन करता ही है। जिस प्रकार आतान और वितान (ताने और बाने) की अवस्थाको प्राप्त तन्तु समूह यदि प्रतिरोधक कारण सामग्रीके द्वारा होनेवाले अपनी पटोत्पादन रूप सामर्थ्यके प्रतिरोधसे रहित तथा कारणान्तरों (जुलाहा, तुरी, वेम, शलाका आदि) की विकलतासे रहित होता हुआ अन्तिम क्षण (कार्याव्यवहित पूर्व क्षण) को प्राप्त है तो वह तन्तु समूह पट रूप कार्यके प्रति कारण होता है और उसके उत्तर क्षणमें वही तन्तु समूह पट रूप कार्य होता है।

इस टीकामें आचार्य शुभचन्द्रने उपादान कारणके साथ-साथ अन्य समस्त अनुकूल कारणभूत बाह्य सामग्रीकी अपूर्णताके अभावको अर्थात् उक्त बाह्य सामग्रीकी पूर्णताको भी विवक्षित कार्यके प्रति आवश्यक कारण बतलाया है। इसी उद्देश्यसे ही उन्होंने उक्त टीकामें 'कारणान्तरावैकल्य' शब्दका पाठ किया है। इस प्रकार यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि कार्यसे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायमें उपादान कारणभूत वस्तुके विद्यमान रहते हुए भी यदि विवक्षित कार्यके अनुकूल अन्य कारणोंकी अविकलता (पूर्णता) विद्यमान नहीं होगी तो उस समय वहाँ पर उस उपादानसे विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति कदापि नहीं होगी, फिर तो जिस कार्यके अनुकूल अन्य कारणोंकी पूर्णता वहाँ विद्यमान होगी उसके अनुसार ही कार्य निष्पन्न होगा। यदि आप कहें कि होगा तो वही जो केवलज्ञानमें झलका होगा। तो इस पर हमारा कहना यह है कि बेचारे श्रुतज्ञानीको क्या मालूम, कि केवलज्ञानीके ज्ञानमें क्या झलका है? इसलिये जो कुछ होता है उसकी दृष्टिमें कार्यकारणभावके आधार पर ही होता है कार्योत्पत्तिके विषयमें इससे अधिक वह सोच ही तो नहीं सकता है। इस विषयको विस्तारपूर्वक पूर्वमें लिखा जा चुका है, अतः और विस्तारसे लिखना हम अनावश्यक समझते हैं।

इस संपूर्ण कथनका अभिप्राय यह है कि अन्त्यक्षण अर्थात् कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायको प्राप्त उपादानकारणभूत द्रव्यसे उत्तर क्षणमें वही पर्याय उत्पन्न होती है जिस पर्यायके अनुकूल अन्य बाह्य कारण सामग्री अपनी पूर्णताके साथ वहाँ प्राप्त रहती है। जैसे मान लो, जीवकी उत्तरक्षणवर्ती पर्यायसे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय क्रोध रूप हो रही है तो यह क्रोध रूप पर्याय जीवकी पर्याय ही तो है और उत्तर क्षणमें जो भी उस जीवकी पर्याय होनेवाली है वह भी जीव की ही पर्याय होगी, इसलिये यह बात तो ठीक है कि पूर्वकी क्रोध रूप पर्याय विशिष्ट जीव आगे अव्यवहित उत्तर क्षणमें उत्पन्न होनेवाली अपनी पर्यायका उपादान कारण है, परन्तु श्रुतज्ञानीकी दृष्टिमें यह नियम नहीं बन सकता है कि उत्तर क्षणमें उस पूर्वकी क्रोध पर्याय विशिष्ट जीवके क्रोधरूप, मानरूप, मायारूप और लोभरूप पर्यायोंमेंसे अमुक पर्याय ही होना चाहिये अर्थात् चूंकि वस्तु परिणमन स्वभाववाली होती है अतः क्रोधरूप पूर्व पर्याय-विशिष्ट उस जीवका उत्तर क्षणमें परिणमन तो अवश्यंभावी है परन्तु क्रोधरूप, मानरूप, मायारूप और लोभरूप परिणमनोंमेंसे कौनसा परिणमन होगा यह बात अन्य अनुकूल बाह्य सामग्री पर ही निर्भर है। याने जीवकी पूर्व पर्यायमें जो क्रोधरूपता है वह क्रोधरूपता जीवके अपने स्वतःसिद्ध स्वभावरूपके नहीं है, अपने स्वतःसिद्ध स्वभाव रूपसे तो केवल पर्यायरूपता ही है, क्योंकि जीवका उसका अपना स्वतःसिद्ध स्वभाव केवल परिणमनशीलता ही है क्रोधादि रूप परिणमनशीलता उसका अपना स्वतःसिद्ध स्वभाव नहीं है, इसलिये मानना पड़ता है कि जीवकी अपनी पर्यायमें जो क्रोधादिरूपता पायी जाती है वह क्रोधादिरूपता पौद्गलिक क्रोधादि

कर्मोंके उदयके निमित्तसे ही पायी जाती हैं। इस तरह पूर्व पर्यायमें जो क्रोधरूपता विद्यमान है वह इसलिये है कि उस समय उस जीवके पौद्‌गलिक क्रोध कर्मका उदय हो रहा है और इस स्थितिमें ही जब उसी जीवके आगे अव्यवहित उत्तर क्षणकी पर्यायके विषयमें विचार करना है कि कौन-सी पर्याय उस समय होना चाहिये ? तो इस विषयमें यह तो निश्चित है कि जीवके परिणमनशील होनेके कारण उसकी कोई-न-कोई पर्याय अवश्य होगी, परन्तु यह भी निश्चित ही समझना चाहिये कि यदि उत्तर क्षणमें पौद्‌गलिक क्रोध कर्मका उदय होगा तो क्रोधरूप पर्याय होगी और यदि उस उत्तर क्षणमें पौद्‌गलिक मान, माया और लोभमेंसे किसी एक कर्मका उदय होगा तो क्रोध पर्याय विशिष्ट पूर्व क्षणसे अव्यवहित उस उत्तर क्षणमें उन मानादिक पौद्‌गलिक कर्मोंमेंसे किसी एक कर्मके उदयानुसार मानादि पर्यायोंमेंसे कोई भी एक नियत पर्याय होगी।

इस तरह उपादानकारण रूप निश्चयकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो वह क्रोध पर्याय विशिष्ट जीव उत्तर क्षणमें क्रोध, मान, माया और लोभ रूप पर्यायोंमेंसे जो भी पर्याय अपने अनुकूल अन्य कारणोंकी सहायतासे होगी उसका उपादान कारण होगा। कारण कि परिणमन कैसा ही क्यों न हो, आखिर होता तो जीवका ही है, परन्तु उस पर्यायमें (परिणमनमें) उक्त क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों रूपोंमेंसे कौन-सा रूप आता है ? वह जीवके अपने स्वतःसिद्ध स्वभाव रूपसे न होकर पौद्‌गलिक क्रोध, मान, माया और लोभ कषायरूप कर्मोंमेंसे जिसका उस समय उदय होगा उसकी नियामकताके आधारपर होगा, अतः निमित्तकारणरूप व्यवहारकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो उन पौद्‌गलिक क्रोधादि कषायरूप कर्मोंमेंसे कोई एक कर्मका उदय यथायोग्य रूपसे उसका निमित्तकारण होगा। इस विवेचनसे यह बात भी अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं' इस मान्यताके आधारपर आप जो निमित्तोंको अकिंचित्कर मान लेना चाहते हैं वह असंगत है और इसीलिये ही आचार्य अकलंकदेवको अपनी अष्टशतीमें निमित्तकरणोंको अकिंचित्कर माननेका खण्डन करना पड़ा है। उनका वह कथन निम्न प्रकार है—

तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात् ?

—अष्टसहस्री पृष्ठ १०५

अर्थ—उसकी अर्थात् उपादानकी असामर्थ्यका खण्डन न करता हुआ सहकारी कारण यदि अकिंचित्कर ही बना रहे तो उसे सहकारी कारण कैसे कहा जा सकता है ?

इसी तरह इस कथनसे एक बात यह भी स्पष्ट होजाती है कि जब जीवकी उत्तर क्षणवर्ती कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती कारणरूप पर्याय क्रोधरूप है और उसके उत्तरक्षणमें पौद्‌गलिक क्रोध, मान, माया और लोभ कर्मोंमेंसे किसी भी कर्मका उदय संभव है जिसके कारण जीवकी वह पर्याय क्रोध, मान, माया और लोभमेंसे किसी एकके उदयानुसार क्रोध, मान, माया अथवा लोभ रूप हो सकती है तो इसका फलितार्थ यह हो जाता है कि उस कारणरूप पूर्वक्षणवर्ती क्रोध पर्याय विशिष्ट जीवमें उक्त चारों प्रकारकी उपादान शक्तियोंका अस्तित्व विद्यमान रहता है। इस प्रकार यह मानना अनिवार्य हो जाता है कि उत्तर क्षणमें उस क्रोध पर्याय विशिष्ट जीवकी क्रोधादि चारोंमेंसे वही पर्याय उत्पन्न होगी जिसके अनुकूल पौद्‌गलिक क्रोधादिकके उदयरूप निमित्त सामग्री प्राप्त होगी। इसलिये कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायके अवसर पर भी विविध प्रकारकी नाना उपादान शक्तियोंका सद्भाव मानना असंगत नहीं है। ऐसी स्थितिमें आपकी यह मान्यता कि 'उपादानके कार्याव्यवहित पूर्णक्षणमें पहुंच जानेपर नियमसे विवक्षित कार्यकी ही उत्पत्ति होती है' खण्डित हो जाती है। कारण कि पूर्वोक्त क्रोधविशिष्ट जीव

का उदाहरण हमें इस बातका स्पष्ट संकेत दे रहा है कि उस क्रोध पर्याय विशिष्ट जीवकी पर्याय क्रोध, मान, माया और लोभमेसे क्रोधादि कर्मोंके उदयानुसार कोई भी हो सकती है। तात्पर्य यह है कि उत्तरक्षणवर्ती पर्यायसे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायके अनन्तर एक ही पर्याय होगी, दो आदि अनेक पर्यायें नहीं होंगी—यह सिद्धान्त तो ठीक है परन्तु वह एक पर्याय अमुक रूप ही होगी इसकी नियामक पूर्वोक्त रीत्या वह पूर्व पर्याय नहीं हो सकती है, किन्तु उसकी नियामक वहाँ पर उपस्थित अन्य अनुकूल बाह्य कारण (निमित्त कारण) सामग्री ही होती है, इसलिए उस पूर्व पर्याय विशिष्ट वस्तुमें उस समय उत्तर पर्यायसे परिणत होनेके लिए नाना उपादान शक्तियोंका सद्भाव अनायास ही सिद्ध हो जाता है और तब उनमें से उत्तर क्षणमें उस योग्यताका ही विकास उस वस्तुमें माना जा सकता है जिसके लिये अनुकूल बाह्य निमित्तरूप सामग्री प्राप्त होती है। उस पूर्व पर्याय विशिष्ट वस्तुमें नाना उपादान शक्तियोंका सद्भाव माननेमें यह तो प्रमाण है ही कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २२२वीं गाथाकी उल्लिखित टीकामें कार्योत्पत्तिके लिये कारणभूत पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्यको मणि-मंत्रादि प्रतिरोधक कारणोंसे अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाला तथा अन्य प्रतिनियत कारणोंकी अविकलता (पूर्णता) वाला इस तरह दो विशेषण विशिष्ट स्वीकार किया गया है। इसके साथ ही निम्न लिखित प्रमाण भी देखिये—

कालाइलद्धिजुत्ता णाणासत्तीहिं संजुदा अत्था।
परिणममाणा हि सयं ण सक्कदे को वि वारेदुं ॥२१९॥

—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

अर्थ—अपनी अनेक उपादान शक्तियोंसे युक्त पदार्थ कालादि लब्धिके प्राप्त होने पर जब स्वयं (आप) परिणमन करते हैं तब उसका वारण कोई भी नहीं कर सकता है।

इस गाथा में जो 'णाणासत्तीहिं संजुदा' पद पड़ा हुआ है वह स्पष्टरूपसे बतला रहा है कि पूर्व पर्यायविशिष्ट वस्तुमें एक ही साथ नाना उपादान शक्तियां विद्यमान रहती हैं और 'कालाइलद्धिजुत्ता' पद यह बतला रहा है कि उन नाना उपादान शक्तियोंमें से एक उसी शक्तिका विकास उत्तर क्षणमें होगा जिसके अनुकूल काललब्धि आदि यानी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप बाह्य साधन सामग्री उस समय प्राप्त होगी। गाथाकी आचार्य शुभचन्द्र कृत टीका और भी स्पष्टताके साथ उक्त अभिप्रायको प्रगट कर रही है। टीका निम्न प्रकार है—

अर्थ—जीवादिपदार्थाः, हीति स्फुटम्, स्वयमेव परिणममाणा परिणमन्तः पर्यायान्तरं गच्छन्तः सन्तः कैरपि इन्द्रधरणेन्द्रचक्रवर्त्यादिभिः वारयितुं न शक्यंते। ····कीदृक्षास्ते अर्थाः ? नानाशक्तिभिः अनेकसमर्थताभिः नानाप्रकारस्वभावयुक्ताभिः संयुक्ता। यथा जीवाः भव्यत्वादिशक्तियुक्ताः रत्नत्रयादिकाललब्धिं प्राप्य निर्वान्ति, यथा तण्डुलाः ओदनशक्तियुक्ताः इन्धनाग्निस्थालीजलादिसामग्रीं प्राप्य भक्तपरिणामं लभन्ते। तत्र भक्तपर्यायं तण्डुलानामुभयकारणे सति कोपि निषेद्धुं न शक्नोतीति भावः।

अर्थ—जीव आदि पदार्थ अपनी अनेक प्रकारके स्वभाववाली उपादान शक्तियोंसे युक्त हैं। वे पदार्थ जब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावादिरूप विविध प्रकारकी निमित्त सामग्रीको प्राप्त होते हैं तब उनके विवक्षित परिणमनको इन्द्र, धरणेन्द्र, चक्रवर्ती आदि कोई भी वारण करनेमें समर्थ नहीं होते हैं। जिस प्रकार भव्यत्वादि उपादान शक्तियोंसे युक्त जीव रत्नत्रयादि (आदि पदसे मनुष्यभव, वज्रर्षभनाराचसंहनन, कर्मभूमिजपना, मुनिदीक्षा आदि निमित्तकारण) सामग्रीसे सहित होते हैं तब वे मुक्त होते हैं। इसी प्रकार जैसे भात

बननेकी उपादान शक्तिसे युक्त चावल, इन्धनाग्नि, बटलोई, जल आदि निमित्तकारण सामग्रीको पाकर भात-रूप परिणत होते हैं। इस प्रकार उभय कारणों (उपादान और निमित्तकारणों) के रहते हुए चावलोंके भातरूप परिणमनको कोई वारण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता है।

यह सब कथन हमें यह बतला रहा है कि 'कार्यके स्वकालके सद्भावमें नियत कार्यके अनुकूल अन्य कारणोंका सद्भाव नियमसे पाया जाता है' यह मान्यता सही नहीं है, बल्कि स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी उपर्युक्त गाथा २२२ गाथा २१९ से तथा इन दोनों गाथाओंकी उल्लिखित टीकाओंसे इस मान्यताके विरुद्ध इस मान्यताकी ही पुष्टि होती है कि नाना योग्यताओंसे विशिष्ट वस्तुके कार्य स्वकालमें अर्थात् जहाँ पहुँच जाने पर उस वस्तुमें कार्योत्पत्तिकी निश्चित संभावना हो जाती है वहाँ पहुँच जाने पर भी यदि विवक्षित कार्यके अनुकूल निमित्तसामग्री हो तो विवक्षित कार्य ही होगा और उस स्वकालमें अन्य जिस कार्यके उत्पन्न होनेकी संभावना हो सकती है यदि उसके अनुकूल निमित्त सामग्री उपस्थित होगी तो फिर वही कार्य उत्पन्न हो जायगा याने उस समय जैसी निमित्त सामग्री उपस्थित होगी उसीके अनुसार ही उस वस्तुमें कार्य उत्पन्न होगा।

इसी तरह इस प्रकरणमें एक बात और भी ध्यानमें रखने लायक है कि कार्यके उक्त प्रकारके स्वकालमें अर्थात् कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायमें वस्तुके पहुँच जाने पर तथा उस कार्यके अनुकूल निमित्त सामग्रीके उपस्थित रहने पर भी यदि उस अवसर पर कार्यकी प्रतिरोधक सामग्री उपस्थित हो जावे तो ऐसी हालतमें स्वकाल और अन्य अनुकूल कारणोंकी पूर्णता इनका सद्भाव मिलकर भी कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता है यह बात भी स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा २२२ की आचार्य शुभचन्द्रकृत पूर्वोक्त टीकामें पठित **'मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यः'** वाक्यांश द्वारा जानी जाती है। इसका भाव यह है कि कार्यरूप उत्तर पर्यायके पूर्वकी पर्यायसे युक्त द्रव्य विवक्षित कार्यके प्रति तभी कारण होता है जब कि उसकी कार्योत्पादक सामर्थ्यका प्रतिबन्धक कारणों द्वारा प्रतिरोध न किया जा रहा हो। यदि विवक्षित कार्योत्पादक सामर्थ्यका प्रतिरोधक कारणों द्वारा प्रतिरोध किया जा रहा हो तो विवक्षित कार्यके स्वकाल और अनुकूल अन्य कारण सामग्रीके सद्भावमें वहाँ पर वह विवक्षित कार्य उत्पन्न नहीं होगा। जैसे किसी संस्थाके चुनावकी पूरी पूरी तैयारी हो जाने पर भी यदि सहसा कोई स्थगन आदेश प्राप्त हो जाता है तो चुनाव रोक दिया जाता है। इस प्रकार कार्योत्पत्तिके विषयमें पूर्वोक्त आगम प्रमाणों और लौकिक व्यवहारोंके आधार पर निम्नलिखित व्यवस्था जानना चाहिये।

(क) उपादान शक्ति अर्थात् आपके मतसे क्षणिक उपादान—जिसे आपने स्वकाल नामसे पुकारा है लेकिन जो आगमानुसार स्थूल रूपसे कार्याव्यवहित पूर्व पर्यायरूप तथा सूक्ष्म रूपसे उत्तर क्षणवर्ती कार्यरूप पर्यायसे अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती पर्यायरूप होता है—विद्यमान हो लेकिन विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके अनुकूल निमित्त सामग्री उपस्थित न रह कर दूसरे प्रकारकी ही निमित्त सामग्री उपस्थित हो तो वहाँ पर वह विवक्षित कार्य न होकर वही कार्य होगा जिसके अनुकूल निमित्तसामग्री मिला दी गयी हो या अनायास मिल गयी हो व उपादानमें उसकी सामर्थ्य हो।

(ख) उक्त प्रकारकी उपादान शक्ति विद्यमान हो तथा विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके अनुकूल बाह्य निमित्त सामग्री भी वहाँ मौजूद हो, लेकिन उस अनुकूल निमित्त सामग्रीकी पूर्णता न हो तो भी विवक्षित कार्य नहीं होगा, किन्तु वही कार्य होगा जिसके अनुकूल उक्त सब प्रकारकी सामग्री वहाँ उपस्थित होगी।

(ग) उक्त प्रकारकी उपादान शक्ति विद्यमान हो, विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके अनुकूल बाह्य निमित्त सामग्री भी अपनी पूर्णताके साथ उपस्थित हो, लेकिन साथमें प्रतिबन्धक सामग्री उपस्थित हो जावे तो भी वहाँ पर विवक्षित कार्य नहीं होगा। किन्तु वही कार्य होगा जिसके अनुकूल सम्पूर्ण कारण सामग्री उपस्थित होगी और कोई भी बाधक सामग्री नहीं होगी।

(घ) यदि उक्त प्रकारकी उपादान शक्ति ही विद्यमान न हो और विवक्षित कार्यके अनुकूल निमित्त सामग्री पूर्णरूपसे उपस्थित हो तथा बाधक सामग्रीका अभाव भी हो तो भी विवक्षित कार्य नहीं होगा, किन्तु वह ही कार्य होगा जिसके अनुकूल उपादान शक्ति और अनुकूल बाह्य कारण सामग्री बिना किसी बाधक कारण सामग्रीके उपस्थित रहेगी।

यहाँ पर इतना और जान लेना चाहिए कि विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके अनुकूल उक्त प्रकारकी उपादान शक्ति विद्यमान हो, उसके अनुकूल बाह्य निमित्त सामग्री भी अपनी पूर्णताके साथ उपस्थित हो और कार्यरूप परिणतिकी प्रतिरोधक सामग्रीका अभाव भी सुनिश्चित हो, लेकिन यकायक विस्रसा या प्रायोगिकरूपसे विनाशकी सामग्री उपस्थित हो जावे तो कार्यकी उत्पत्तिकी शृंखला वहीं पर समाप्त होकर आगे विनाशकी प्रक्रिया चालू हो जायगी।

ऐसा नहीं है कि इन सब बातोंसे आप अनभिज्ञ हैं और ऐसा भी नहीं है कि कार्यकी उत्पत्तिके लिये इन सब बातों पर आप लक्ष्य नहीं रखते हैं। जब तक प्राणी सर्वज्ञ नहीं हो जाता अथवा इसके पूर्वमें भी निर्विकल्प समाधिमें स्थिर नहीं हो जाता तब तक उसका कार्यकारण पद्धतिमें इन सब बातों पर लक्ष्य नहीं जाना असम्भव भी है, परन्तु व्यवहार और निश्चयके सत्य स्वरूपको न समझ सकनेके कारण निमित्तोंको व्यवहाराश्रित कारणताके आधार पर कार्यके प्रति अकिंचित्कर सिद्ध करनेके लिए ही आपने इस मान्यताको जन्म दिया है कि सभी कार्य केवल स्वकालके प्राप्त हो जाने पर ही हो जाया करते हैं, लेकिन इसके पहले कि आप आगम स्वीकृत निमित्तकारणोंको अकिंचित्कर मानें, इस बात पर भी आपको ख्याल करना चाहिये कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१, ३२२, २१९ और २३० वीं गाथाओंमें व पद्मपुराणके उल्लिखित (२९-८३) पद्यमें तथा स्वयंभूस्तोत्रके उल्लिखित १३३ वें पद्यमें भी निमित्तकारणको उपादानकारणके साथ स्वरूप और कार्यकर्तृत्वका भेद रहने पर भी समान दर्जा स्वीकार किया गया है। इस विषयकी पुष्टिके लिए आगममें दूसरे भी अनेक प्रमाण भरे पड़े हैं। उनमेंसे कुछ प्रमाण तो यहाँ पर भी दिये गये हैं, कुछ आपको इस तत्त्व-चर्चाके अन्तर्गत दूसरे प्रश्नोंमें भी देखनेको मिलेंगे, परन्तु या तो इन सब आगम प्रमाणोंको आप दुर्लक्षित कर रहे हैं अथवा गलत अभिप्राय समझकर उनका अपने पक्षको पुष्टिमें उपयोग कर रहे हैं। जैसे स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी ३२१ और ३२२ वीं गाथाओं, पद्मपुराणके पद्य (२९-८३) तथा स्वयंभूस्तोत्रके पद्य १३३ एवं स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २१९ और २३० वीं गाथाओंकी टीकाके अभिप्रायको अपने पक्षकी पुष्टिका ध्यान रखते हुए दुर्लक्षित कर दिया है और स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २१९ तथा २३० वीं गाथाओंके अभिप्रायको अपने पक्षकी पुष्टिमें उपयोग भी किया है। यह प्रक्रिया आपने प्रायः सर्वत्र अपनायी है। परन्तु जहाँ जहाँ आवश्यक जान पड़ा—हमने स्थितिको स्पष्ट करनेका पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। क्या हम आशा रक्खें कि यह सब कुछ आपने मतिभ्रम होनेसे किया है और यह सब आपने यदि मतिभ्रमसे ही किया है तो हमें विश्वास है कि हमारे स्पष्टीकारणसे आपका मतिभ्रम अवश्य दूर हो जायगा। लेकिन यदि अपने संकल्पित अभिप्रायको पुष्ट करनेकी गरजसे यह सब कुछ आपने किया है तो हम समझते हैं कि

हमारे इस प्रयत्नका लाभ सम्भवत: आप नहीं लेंगे। कुछ भी हो, हमारा दृष्टिकोण तो तत्त्वसम्बन्धी स्थिति-को साफ करनेमात्रका है। यदि इससे आप लाभ ले सकें तो उत्तम बात होगी।

आपने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा २३० का अभिप्राय गलत लिया है और इस तरह आप उससे अपनी संकल्पित जिस गलत मान्यताका पोषण करना चाहते है, आपको वह संकल्पित गलत मान्यता यह है कि अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय अव्यवहित उत्तरक्षणवर्ती एक निश्चित पर्यायको ही जन्म देनेवाली है। परन्तु हम पूर्वमें अत्यन्त स्पष्टताके साथ विवेचन कर चुके है कि वस्तुका स्वभाव परिणामी होनेके कारण वस्तुकी अव्यवहित पूर्व पर्यायके अनन्तर उत्तरपर्याय अवश्य होगी। इसके विषयमें आपका कहना यह है कि जो पर्याय उस कालमें नियत होगी वही होगी और हमारा कहना यह है कि जिस पर्यायकी उत्पत्तिके योग्य उपादान शक्तिके साथ साथ अन्य अनुकूल बाह्य सामग्रीकी पूर्णता और प्रतिबन्धक सामग्रीका अभाव—यह सब सामग्री उपस्थित होगी वह पर्याय होगी। हम अपनी इस मान्यताकी पुष्टि पूर्वमें आगम प्रमाणोंसे कर चुके हैं तथा इसके लिये और भी नीचे लिखे प्रमाण देखिये—

कारणस्याप्रतिबन्धस्य स्वकार्यजनकत्वप्रतीते।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय १, पृ० ७०।

अर्थ—प्रतिबन्धक कारणके अभावसे युक्त कारण ही अपने कार्यका जनक होता है।

स्वसामग्र्या विना कार्यं न हि जातुचिर्दीक्ष्यते ॥८८॥—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय १, पृष्ठ ७०।

अर्थ—कोई भी कार्य जब तक उसकी पूर्ण सामग्री उपस्थित न हो तब तक नहीं उत्पन्न होता है।

इस तरहके आगम प्रमाणोंके आधार पर ही हम आपकी उक्त संकल्पित मान्यताको गलत कहते हैं। और चूँकि अपनी उक्त संकल्पित मान्यताकी पुष्टि आप स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा २३० के द्वारा करना चाहते हैं, इसलिये इस गाथाका अभिप्राय भी आपने अपने ढंगसे लेनेका प्रयत्न किया है अर्थात् गाथा में पठित 'णियमा' पदको आप उस कालमें नियत पर्यायके साथ जोड़ देना चाहते हैं जब कि उल्लिखित आगम प्रमाणोंके आधार पर 'णियमा' पदका केवल इतना आशय उस २३० वीं गाथामें ग्रहण करना है कि 'उत्तर पर्याय नियमसे पूर्व पर्यायकी कार्यरूप ही होगी, फिर भले ही वह पर्याय अपनी कारण सामग्रीके आधार पर होनेवाली कोई भी पर्याय क्यों न हो?'

इसी प्रकार अपनी संकल्पित उक्त मान्यताको ही पुष्टि के लिये इस गाथाके दूसरे नं० २२२ की टीकामें पठित 'मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्य कारणन्तरावैकल्येन' इस वाक्यांशको भी आप बिल्कुल उपेक्षित कर देना चाहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आपकी मान्यताके अनुसार वस्तुके कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायमें पहुँच जाने पर उसके अनन्तर क्षणमें एक निश्चित कार्यकी उत्पत्ति होनेका नियम है, क्योंकि आपकी मान्यताके ही अनुसार वस्तुमें एक समयमें एक ही कार्यकी उत्पत्तिके अनुकूल एक ही योग्यता पायी जाती है, नाना कार्योंकी उत्पत्तिके अनुकूल नाना योग्यताएँ एक साथ नहीं पायी जाती हैं, इसलिये आपका कहना है कि 'प्रत्येक कार्यके प्रति उपादानकी नियामकता ही स्वीकार की गई हैं, इस लिये जब कार्यक्षम निश्चय उपादान (क्षणिक उपादान) उपस्थित होता है तब निमित्त भी उसीके अनुसार ही मिलते है।' इसके आगे आपने यह भी लिखा है कि 'अतएव स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की २२२ नं० की गाथाकी टीकासे जो उसका यथार्थ तात्पर्य है वही फलित करना चाहिये। उसमें 'मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्य कारणान्तरावैकल्येन' से पूर्व यदि 'यदि' अर्थको सूचित करनेवाला कोई पाठ मूल टीकामें होता तब तो निमित्तोंकी अनिश्चितता भी समझमें आती, परन्तु उसमें इस आशयको सूचित करनेवाला कोई पाठ नहीं है, इसलिए उसे सदैव,

द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभूतं' का विशेषण बनाकर ही उसका अर्थ करना चाहिये और ऐसा अर्थ करने पर निमित्त-उपादानके योगकी अच्छी तरह सुसंगति बैठ जाती है।'

आपके इस कथन पर हमें आपसे इतना ही कहना है कि आपके कथनानुसार '**मणि-मंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन**' वाक्यांश वस्तुके कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायमें पहुँच जाने पर तभी निमित्तकारणोंकी अनिश्चितता बतला सकता था जब कि उक्त टीकामें '**मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन**' इस वाक्यांशके पूर्व 'यदि' अर्थको सूचित करनेवाला कोई पद विद्यमान होता, परन्तु इसके विषयमें हम आपसे कहते हैं कि जब आपकी मान्यताके अनुसार प्रत्येक द्रव्य उतनी ही उपादानरूप योग्यताओंवाला है जितनी कालके त्रैकालिक समयोंके आधार पर उसकी पर्यायें संभव हैं और जब आपकी मान्यताके अनुसार ही वस्तुकी प्रत्येक क्षणवर्ती पर्यायसे उसके उत्तर क्षणमें एक निश्चित उत्तर पर्याय ही उत्पन्न होती है तो ऐसी हालतमें आपकी दृष्टिसे फिर उक्त टीकामें '**मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं' कारणान्तरावैकल्येन**' वाक्यांश की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। लेकिन चूँकि टीकामें उक्त वाक्यांशका सद्भाव पाया जाता है, इसलिये 'यदि' अर्थको सूचित करनेवाले पदका उक्त टीकामें अभाव होने पर भी '**मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन**' वाक्यांश वस्तुके कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायमें पहुंच जाने पर भी वहाँ निमित्तकारणोंकी अनिश्चितताको बतलानेमें ही सार्थक हो सकता है। कारण कि निमित्तकारणोंकी अनिश्चितता बतलानेके अतिरिक्त और दूसरा कोई प्रयोजन उस वाक्यांशका वहाँ पर नहीं हो सकता है और न आप ही ने बतलाया है। हम आपसे पूछ सकते हैं कि '**मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन**' वाक्यांशको आपके कथनानुसार यदि '**तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभूतं**' का भी विशेषण मान लिया जाय तो फिर उक्त टीकामें आपके मतानुसार '**मणिमंत्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन**' वाक्यांशकी क्या सार्थकता है? हमें पूर्ण विश्वास है कि यदि आपने हमारे इस कथन पर गंभीरताके साथ ध्यान दिया तो निश्चित ही आपको स्वीकार करना पड़ेगा कि वस्तुके कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायमें पहुँच जाने पर भी उसमें उस पूर्व पर्यायके उत्तरक्षणमें कार्यरूप परिणत होनेके लिये अनेक उपादान शक्तियाँ लालायित हो रही हैं और उनमेंसे वही उपादान शक्ति कार्यरूप परिणत होती है जिसके अनुकूल उस समय निमित्त सामग्री अनायास या पुरुषकृत प्रयोगसे प्राप्त हो जाती है। इसलिये आपका यह लिखना सर्वथा गलत है कि 'जब कार्यक्षम उपादान उपस्थित होता है तब निमित्त सामग्री उसीके अनुसार मिल ही जाती है।' और इसलिए आपकी यह मान्यता भी गलत है कि 'कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायके अनन्तर क्षणमें वही पर्याय उत्पन्न होगी जो नियत होगी।' इससे भिन्न हमारा यही कहना सही है कि कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायसे अनंतर क्षणमें वही पर्याय उत्पन्न होगी जिसकी उत्पत्तिके अनुकूल निमित्त सामग्री उस समय वहाँ उपस्थित होगी।

आपने अपनी उक्त संकल्पित मान्यताकी पुष्टिके लिये निम्नलिखित और भी प्रमाण उपस्थित किये हैं:—

(१) **निश्चयनयाश्रयणे तु यदनन्तरं मोक्षोत्पादस्तदेव मुख्यं मोक्षस्य कारणं अयोगिकेवलिचरमसमयवर्ति रत्नत्रयमिति।**

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय १, पृष्ठ ७१

(२) **न हि द्वयादिसिद्धक्षणैः सहायोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनो रत्नत्रयस्य कार्यकारणभावो विचारयितुमुपक्रान्तः येन तत्र तस्यासामर्थ्यं प्रसज्यते। किं तर्हि? प्रथमसिद्धक्षणेन सह, तत्र च तत्समर्थमेवेत्य-**

सद्भावोपगमेनन। कथमन्यथाग्निः प्रथमधूमक्षणमुपजनयन्नपि तत्र समर्थः स्यात्? धूमक्षणजनितद्वितीयादिधूमक्षणोत्पादे तस्यासमर्थत्वेन प्रथमधूमक्षणोत्पादनेऽप्यसामर्थ्यप्रसक्तेः। तथा च न किंचित्कस्यचित्समर्थं कारणं, न चासमर्थात् कारणादुत्पत्तिरिति क्वेयं वराकी तिष्ठेत् कार्यकारणता ?

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अध्याय १ पृष्ठ ७१।

आपने उक्त दोनों कथनोंका निम्नलिखित अर्थ दिया है—

(१) निश्चय नयका आश्रय लेनेपर तो जिसके अनन्तर मोक्षका उत्पाद होता है, अयोगकेवलीके अन्तिम समयमें होनेवाला वही रत्नत्रय मोक्षका मुख्य (प्रधान-साक्षात्) कारण (उपादान कारण) है।

(२) प्रकृतमें द्वितीयादि सिद्धक्षणोंके साथ अयोगकेवलीके अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रयका कार्य-कारणभाव विचारके लिये प्रस्तुत नहीं है, जिससे उसकी उत्पत्तिमें उसकी असमार्थ्य प्राप्त होवे। तो क्या है ? प्रथम सिद्धक्षणके साथ ही प्रकृतमें उसका विचार चल रहा है और उसकी उत्पत्तिमें वह समर्थ (उपादान) कारण ही है इसलिये पूर्वोक्त शंका ठीक नहीं है।

यदि ऐसा न माना जाय तो अग्नि (उपादान कारण बनकर) प्रथम धूमक्षणको उत्पन्न करती हुई भी उसकी उत्पत्तिमें वह समर्थ कैसे हो सकती है ? क्योंकि ऐसी स्थितिमें धूमक्षणोंके द्वारा उत्पन्न किये गये द्वितीयादि धूमक्षणोंके उत्पन्न करनेमें उसके (अग्निके) असमर्थ होनेसे प्रथम धूमक्षणके उत्पन्न करनेमें भी उसकी असामर्थ्यके प्राप्त होनेका प्रसंग आता है। और ऐसा होनेपर कोई भी किसीका समर्थकारण नहीं बन सकता। और असमर्थकारणसे कार्यकी उत्पत्ति होती नहीं, ऐसी स्थितिमें यह बिचारी कार्यकारणता कैसे ठहरेगी : अर्थात् तब कार्यकारणताका स्वीकार करना ही निष्फल हो जायगा।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके इन दोनों उद्धरणोंसे आप एक ही बात सिद्ध करना चाहते हैं कि 'सभी द्रव्योंकी सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं।' अब देखना यह है कि क्या ये दोनों उद्धरण आपकी उक्त बातको सिद्ध करनेमें समर्थ है ? तो हमें कहना पड़ता है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उल्लिखित दोनों ही कथन आपकी 'सभी द्रव्योंकी सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं' इस बातको सिद्ध नहीं करते हैं, क्योंकि जिस प्रसंगसे तत्त्वार्थ-श्लोक-वार्तिकमें उक्त दोनों कथन किये गये हैं वह प्रसंग एक तो इस बातका है कि समर्थ कारण ही कार्यकी उत्पत्तिका कारण होता है, असमर्थ कारण कार्योत्पत्तिका कारण नहीं होता है। दूसरे इस बातका प्रसंग है कि एक कार्यकी उत्पत्तिमें कोई कारण यदि असमर्थ है तो इतने मात्रसे वह दूसरे कार्यकी उत्पत्तिमें कदापि असमर्थ नहीं होता है अर्थात् प्रत्येक कारणकी एक कार्यके प्रति असामर्थ्य रहना एक बात है और उसकी (प्रत्येक कारणकी) दूसरे कार्यके प्रति सामर्थ्य रहना दूसरी बात है। एक ही कारणमें उक्त भिन्न-भिन्न प्रकारसे असामर्थ्य और सामर्थ्य दोनों ही बातें एक साथ रह सकती हैं, उनका एक साथ रहनेमें कोई विरोध नहीं है।

इस तरह बतलाया गया है कि अयोगकेवली गुणस्थानके चरम समयमें रहनेवाला रत्नत्रय चूंकि मुक्तिके लिये समर्थ कारण है, इसलिये उसके अनन्तर मुक्ति होती ही है। इसी प्रकार अग्नि भी प्रथम धूमक्षणकी उत्पत्तिके लिये समर्थ कारण है, इसलिये वह भी प्रथम धूमक्षणको उत्पन्न कर देती है। परन्तु मुक्तिके लिये अयोगकेवली गुणस्थानके चरम समयमें विद्यमान रत्नत्रय समर्थ क्यों हैं ? और प्रथम धूमक्षणकी उत्पत्तिके लिये अग्नि समर्थ क्यों है ? यदि ये प्रश्न उपस्थित हो जावें तो इनका समाधान यही होगा, कि वहाँ पर कारणान्तरावैकल्य अर्थात् अन्य सहकारी कारणोंकी पूर्णता तथा प्रतिबन्धक कारणोंका अभाव दोनों ही बातें पायी जाती हैं। अयोगकेवली गुणस्थानके चरम समयके रत्नत्रयमें अघाती कर्मोंका क्षय हो जानेसे

कारणन्तरावैकल्य अर्थात् अन्य सहकारी कारणोंकी पूर्णता वहाँ पर हो जाती है तथा प्रतिबन्धक कारणोंका अभाव उस समय प्रथम मोक्षक्षणकी उत्पत्तिके लिये मोक्षके कारणभूत क्षायिकरूप रत्नत्रयको मिला हुआ है। इस प्रकार अयोगकेवली गुणस्थानके चरम समयका रत्नत्रय प्रथम मोक्षक्षणकी उत्पत्तिके लिये समर्थ कारण हो जाता है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० १, पृ० ७० में लिखा है—

केवलात्तत्प्रागेव क्षायिकं यथाख्यातचारित्रं सम्पूर्णं ज्ञानकारणकमिति न शंकनीयं, तस्य मुक्त्युत्पादने सहकारिविशेषापेक्षितया पूर्णत्वानुपपत्तेः। विवक्षितस्वकार्यकारणेऽन्त्यक्षणप्राप्तत्वं हि संपूर्णं, तच्च न केवलात् प्रागस्ति चारित्रस्य, ततोऽप्यूर्ध्वमघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतया सम्पूर्णस्य तस्योदयात्। न च यथाख्यातं पूर्णं चारित्रमिति प्रवचनस्यैवं बाधास्ति, तस्य क्षायिकत्वेन तत्र पूर्णत्वाभिधानात्। न हि सकलमोहक्षयादुद्भवच्चारित्रमंशतोऽपि मलवदिति शश्वदमलवदात्यंतिकं तदभिष्टूयते। कथं पुनस्तद-संपूर्णादेव ज्ञानात्क्षायोपशमिकादुत्पद्यमानं तथापि सम्पूर्णमिति चेत् न, सकलश्रुताशेषतत्त्वार्थपरिच्छेदिनस्त-स्योत्पतेः। पूर्णं ततएव तदस्त्विति चेन्न, विशिष्टस्य रूपस्य तदनंतरमभावात्। किं तद् विशिष्टं रूपं चारित्रस्येति चेत्, नामाद्यघातिकर्मत्रयनिर्जरणसमर्थं समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपातिध्यानमित्युक्तप्रायम्।

अर्थ—ज्ञानरूप कारणसे उत्पन्न होनेवाला क्षायिक यथाख्यात चारित्र केवलज्ञानसे पहले ही सम्पूर्ण (समर्थ) बन जाता है ऐसी शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह चारित्र मुक्तिके उत्पन्न करनेमें सहकारी कारणोंकी अपेक्षा रखता है, इसलिये वह पूर्णत्वको प्राप्त नहीं है। विवक्षित कार्य करनेमें अन्तिम क्षणको प्राप्त हो जाना ही पूर्णत्व कहलाता है, ऐसा पूर्णत्व केवलज्ञानसे पहले चारित्रमें नहीं है। केवलज्ञानके ऊर्ध्व (केवलज्ञानकी उत्पत्ति हो जानेके बाद) अघाती कर्मोका ध्वंस हो जाने पर ही उसमें (चारित्रमें) सम्पूर्णता मानी गयी है।

शंका—यदि कहा जाय कि आगममें जो यह कथन पाया जाता है कि 'यथाख्यातचारित्र पूर्ण चारित्र कहलाता है' तो पूर्वोक्त कथनसे इसका विरोध आता है ?

उत्तर—शंका ठीक नहीं है, क्योंकि यथाख्यातचारित्रमें जो पूर्णत्वका प्रतिपादन किया गया है वह प्रतिपादन उसके (यथाख्यात चारित्रके) क्षायिक (मोहनीय कर्मके क्षयसे प्राप्त) होनेके कारणसे ही किया गया है। कारण यह है कि सकल मोहक्षयसे उत्पन्न होता हुआ वह चारित्र अंशमात्रसे भी सदोष नहीं है यही कारण है कि उसकी हमेशा सर्वोत्कृष्ट रूपसे स्तुति की जाती है।

शंका—उक्त प्रकारके चारित्रकी उत्पत्ति अपरिपूर्ण क्षायोपशमिक ज्ञानसे होने पर भी सम्पूर्ण कैसे हो सकता है ?

उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि द्वादशांगश्रुतके विषयभूत समस्त तत्त्वार्थका ज्ञान करानेवाले क्षायोपशमिक ज्ञानसे ही उसकी उत्पत्ति होती है।

शंका—उक्त प्रकारसे वह क्षायिक यथाख्यात चारित्र जब पूर्णताको प्राप्त है तो उससे फिर मुक्ति हो जानी चाहिये ?

उत्तर—यह शंका भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस समय इस क्षायिक यथाख्यात चारित्रमें विशेषरूपताका अभाव रहता है।

शंका—कौनसा ऐसा चारित्रका वह विशेष रूप है जिसके अभावमें वह चारित्र जीवको मुक्ति प्राप्त नहीं करा सकता है ?

उत्तर—नाम, गोत्र और वेदनीय इन तीन कर्मोंकी स्थितिकी निर्जरा करनेमें समर्थ समुच्छिन्नक्रिया-प्रतिपातिध्यान ही उस चारित्रका वह विशेष रूप है।

यह उद्धरण हमने यहाँ पर इसलिए दिया है ताकि क्षायिकरूप यथाख्यात चारित्रकी मोक्षोत्पादनमें पूर्णता (सामर्थ्य) है उसका ज्ञान लौकिक जनोंको हो जावे। वह पूर्णत्व या सामर्थ्य सहकारी कारणोंकी सापेक्षताके अतिरिक्त क्षायिक यथाख्यातचारित्रमें और कुछ नहीं है यही ग्रन्थकर्ता आचार्य विद्यानन्दीका अभिप्राय है।

कालादिसामग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रूपात्रिर्भावहेतुर्न केवलस्तथाप्रतीतेः।

—तत्त्वा० श्लोकवार्तिक पृष्ठ ७०

अर्थ—मोहक्षय कालादि (द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव) सामग्री सहित होकर ही आत्माकी उस मुक्तिरूपताकी उत्पत्तिका कारण होता है, केवल मोहक्षयसे मुक्ति प्राप्त नहीं होती है।

इस कथनसे भी यह सिद्ध होता है कि मोहक्षय अर्थात् क्षायिक यथाख्यात चारित्रको जब तक बाह्य कारण सामग्री प्राप्त नहीं हो जाती है तब तक उससे जीवको मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। लेकिन जब जीव समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाति ध्यान में पहुँच जाता है तब भी इतर सहायक कारणोंके अभावमें मुक्ति प्राप्त नहीं होती है। जीव जब उस समुच्छिन्नक्रियाप्रतिपाती ध्यानसे नाम, गोत्र और वेदनीय कर्मोंकी स्थितिका आयुकर्मकी स्थितिके साथ समीकरण कर देता है तब उक्त चारों कर्मोंकी उदयानुसार समय समय प्रति प्रत्येक आघाति कर्मके एक एक निषेककी सविपाक निर्जरा करता हुआ जब उक्त चारों अघातिया कर्मोंके क्षयका अन्त समय आ जाता है तब वह यथाख्यात क्षायिक चारित्र मुक्तिके लिए समर्थ कारण होता है और उसके अव्यवहित उत्तर क्षणमें जीव मुक्त हो जाता है।

यहाँ पर इतना विशेष समझना चाहिये कि अयोगकेवली गुणस्थानके चरम समयमें सम्पूर्ण अघाती कर्मोंका क्षय हो जानेसे रत्नत्रयमें कारणान्तरावैकल्य और प्रतिबन्धकाभाव निश्चित हो जाता है, इसलिए वह रत्नत्रय तो मुक्तिका नियत कारण है, परन्तु सब प्रकारकी अग्नि धूमकी उत्पत्तिकी नियत कारण नहीं बन सकती है। केवल वही अग्नि धूमोत्पत्तिके लिए कारण बनती है जो अन्य कारण सामग्रीकी पूर्णता तथा प्रतिबन्धकाभावसे विशिष्ट होती है।

अयोगकेवली गुणस्थानके चरम समयवर्ती रत्नत्रयके विषयमें एक बात और विचारणीय है कि सयोग केवली गुणस्थानके रत्नत्रय और अयोगकेवली गुणस्थानके चरम समयमें विद्यमान रत्नत्रयके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है इस बात को हमने ऊपर बतलाया है और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके उसी प्रकरणमें और भी विस्तारसे बतलाया गया है तथा यह भी वहाँपर विस्तारसे बतलाया गया है कि केवल सामग्रीकी पूर्णता न होनेसे ही सयोगकेवली गुणस्थानवर्ती जीव मुक्ति पानेमें सदा असमर्थ रहते हैं। हमारा आपसे निवेदन है कि इस विषयको ठीक-ठीक समझनेके लिये तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके पृष्ठ ७० और ७१ को अवश्य पढ़िये, उसके अभिप्रायको समझनेका प्रयत्न कीजिये, केवल अपने संस्कारोंके आधारपर उसमें जोड़-तोड़ बिठलानेका प्रयत्न मत कीजिये।

'प्रत्येक समयमें नियत कार्यकी ही उत्पत्ति होती है और उसका उपादान कारण भी नियत ही होता है तथा आवश्यकतानुसार निमित्तकारण भी स्वयंमेव मिल जाते हैं यह जो आपकी मान्यता है इसके समर्थनमें एक कारण आप यह भी बतलाते हैं कि स्वयंभूस्तोत्रके पद्य १३३ में भवितव्यताकी अलंघ्यशक्ति बतलाया

गया है और जिसका अभिप्राय है कि कार्योत्पत्ति तो भवितव्यताके आधारपर ही हुआ करती है, निमित्तोंका कार्योत्पत्तिमें कुछ उपयोग नहीं होता, वे तो कार्योत्पत्तिके अवसरपर हाजिरी ही दिया करते हैं।

इस विषयमें बात तो दरअसल हम यह कहना चाहते हैं कि 'अलंघ्यशक्ति' पदका जो अर्थ आप करना चाहते हैं वह उसका अर्थ नहीं है यानी अलंघ्यशक्तिका अर्थ वहाँ पर अटलशक्ति नहीं है, किन्तु उसका अर्थ यह है कि भवितव्यताकी शक्तिको लांघकर अर्थात् भवितव्यताकी शक्ति बाहर कोई कार्य उसमें नहीं उत्पन्न हो सकता है। इसे हमने पूर्वमें स्पष्ट कर दिया है। और फिर आपके मन्तव्यको मानकर भी हम यह कहना चाहते हैं कि उसी पद्य १३३ में 'हेतुद्वयाविष्कृतकार्यलिंगा' पद कार्योत्पत्तिमें निमित्तोंकी उपयोगिताको भी बतला रहा है। यद्यपि इसपर आप यह कहते हैं कि वे निमित्त उसी भवितव्यताकी अधीनता में ही प्राप्त हो जाया करते हैं तथा इसके समर्थनमें आप निम्नलिखित पद्यको भी उपस्थित करते हैं—

तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः।
सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता ॥

अर्थ—जैसी भवितव्यता होती है वैसी ही बुद्धि होती है, व्यवसाय (पुरुषार्थ) भी उसी तरहका होता है और सहायक भी उसी प्रकारके मिलते हैं।

लेकिन इस विषयमें हमारा कहना यह है कि जब भवितव्यता कार्यकी जनक है और वे निमित्त भी आपकी मान्यताके अनुसार भवितव्यताकी अधीनतामें ही प्राप्त किये जा सकते हैं जिनकी आवश्यकता कार्योत्पत्तिके अवसरपर रहा करती है, तो इस तरह कार्योत्पत्तिके लिये अपेक्षित निमित्तोंकी प्राप्तिको भवितव्यताके ही आधार पर स्वीकार करनेसे यहाँ पर अनवस्था दोषका प्रसंग उपस्थित हो जायगा, क्योंकि जिस प्रकार विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके लिये भवितव्यताको निमित्तोंका सहयोग अपेक्षित है उसी प्रकार उन निमित्तोंकी प्राप्तिरूप कार्यकी उत्पत्तिके लिए भी अन्य निमित्तोंके सहयोगकी अपेक्षा उसे (भवितव्यताको) नियमसे होगी और फिर उन निमित्तोंकी प्राप्ति भी भवितव्यताको अन्य निमित्तोंके सहयोगसे ही हो सकेगी। इस प्रकार यह प्रक्रिया अनवस्थाकी जनक होनेके कारण कार्योत्पत्तिके विषयमें स्वीकार करनेके अयोग्य है।

इसलिए यदि कहा जाय कि उक्त अनवस्था दोषके भयसे ही तो आप निमित्तोंको अकिंचित्कर मान रहे हैं, तो इस पर भी हमारा कहना यह होगा कि 'अलंघ्यशक्ति' इत्यादि पद्यमें पठित 'हेतुद्वयाविष्कृत कार्यलिंगा' पद 'जं जस्स जम्मि देसे' इत्यादि गाथाओंमें पठित 'जेण विहाणेण' और 'तेण विहाणेण' ये दोनों पद तथा 'यत्प्राप्तव्यं' इत्यादि पद्यमें पठित 'यतः' और 'ततः' पद निरर्थक ही सिद्ध हो जावेंगे। इनके अलावा आगममें कार्यके प्रति निमित्तोंकी सार्थकताको बतलानेवाले जितने भी कथन पाये जाते हैं और जिनमें से बहुत कुछ हमारी १, ६, १०, ११, १७ आदि संख्यांक शंकाओं और प्रतिशंकाओंमें भी देखनेके लिये मिलेंगे, वे सब अप्रमाणभूत ठहर जावेंगे तथा उन कथनोंके अप्रमाणभूत हो जाने पर जैन संस्कृतिका सम्पूर्ण आगम ही अप्रमाणभूत ठहर जावेगा। इसलिए अब यह बात आप ही को सोचना है कि निमित्तोंकी सार्थकता के समर्थक शास्त्रीय कथनोंको अनुभव और तर्कगम्य एवं आस्थाके विषय होनेके कारण अप्रमाणभूत कैसे कहा जा सकता है? अतः यही मानना श्रेयस्कर है कि भवितव्यताकी तरह कार्योत्पत्तिमें निमित्त कारण भी अकिंचित्कर न होकर सार्थक ही हुआ करते हैं।

यदि आप कहें, जैसा कि पूर्वमें भी इस पक्षको रक्खा गया है कि प्रत्येक वस्तु अपनी अपनी नियत पर्यायोंमें परिणमन करती हुई यन्त्रवत् चल रही है, एक वस्तुके परिणमनमें अन्य वस्तु न तो सहयोग देती है

और न परिणमन करनेवाली वस्तुके लिए हो उस वस्तुके सहयोगकी अपेक्षा रहती है, सब अपनी अपनी चालमें चले जा रहे हैं, तो इसका अर्थ यह होगा कि छद्मस्थ प्राणियोंके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यायज्ञान इन सभी ज्ञानजन्य अनुभवोंको अप्रमाणभूत माननेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। और फिर दिव्य-ध्वनिसे लेकर द्वादशांग द्रव्यश्रुत तथा अन्य आचार्यों द्वारा प्रणीत श्रुत सभी अप्रमाणभूत ठहर जायगा, वस्तुव्यवस्थाका आधार सिर्फ केवलज्ञान ही रह जायगा, इस प्रकार समस्त वस्तुतत्त्व अनिर्वचनीयताको ही प्राप्त हो जायगा।

यदि फिर आप कहें कि व्यवहारनयसे समस्त वस्तुजात प्रतिपादनीय है, दृश्य है और मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानका भी वह ज्ञेय है, तो इस पर भी हमारा कहना यह है कि व्यवहारको और व्यवहारके प्रतिपादक द्रव्यश्रुतरूप व्यवहारनयको तथा ज्ञापक ज्ञानश्रुतरूप व्यवहारनयको तो आप स्वयं आरोपित, कल्पित, उपचरित, मिथ्या, असत्य, असद्भूत एवं अभावात्मक मान लेना चाहते हैं तो इससे अनिर्वचनीयताके प्रसंगकी समस्या हल होनेवाली नहीं है। इतना ही नहीं, जब व्यवहार या व्यवहारनय असद्भूत हैं तो केवलज्ञानी भी तो समस्त वस्तुजातको व्यवहाररूपसे ही जानता है इसका अर्थ यह है कि केवलज्ञानसे भी वस्तुतत्त्वका ज्ञान करना असंभव ही होगा। इस तरह समस्त जगत् वस्तुतत्त्व व्यवस्थासे ही शून्य हो जायगा। सिर्फ केवलज्ञानी जीव ही विश्वमें रह जायगा और फिर जब जैन संस्कृतिमें अनादिनिधन केवलज्ञानी नामका जीवतत्त्व स्वीकार ही नहीं किया गया है, हमी-आप जैसे संसारी प्राणी ही पुरुषार्थ करके आगे चल कर केवलज्ञानी बनते हैं तो जब संसारी प्राणियोंका अस्तित्व ऊपर समाप्त किया जा चुका है तो फिर केवलज्ञानीका भी अस्तित्व समाप्त हो जायगा, इस तरह सर्व प्रकारसे शून्यवादका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। धवल पुस्तक १४ पृष्ठ २३४ का कथन भी इस बातका समर्थन कर रहा है जो निम्न प्रकार है—

संसारिणामभावे संते कथमसंसारिणामभावो ? वुच्चदे, तं जहा—संसारिणामभावे संते असंसारिणो वि णत्थि, सव्वस्स सप्पडिवक्खस्स उवलंभण्णहाणुववत्तीदो।

अर्थ—संसारी जीवोंका अभाव होनेपर असंसारी जीवोंका अभाव कैसे संभव है ? इसका उत्तर यह है कि संसारी जीवोंका अभाव होने पर असंसारी जीव भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि सब पदार्थ अपने सत्प्रतिपक्ष पदार्थोंकी उपलब्धिमें ही उपलब्ध होते हैं, अन्यथा नहीं।

हमारा विश्वास है कि यह सब हमारी तरह आपको भी अभीष्ट नहीं होगा, अतः व्यवहार और व्यवहारके प्रतिपादक एवं ज्ञापक नयोंको आरोपित, कल्पित, उपचरित, मिथ्या, असत्य, असद्भूत एवं अभावात्मक न मानकर हमारी तरह आपको भी वास्तविक, सत्य, सद्भूत, सद्भावात्मक ही मानना होगा। ऐसी स्थितिमें कार्यकारण भावमें अन्तर्भूत निमित्त नैमित्तिकभाव और उसका प्रतिपादक आगम तथा उसका ज्ञापक ज्ञान ये सभी वास्तविक हो जावेंगे और जब आप इस बातको स्वीकार कर लेंगे तब आपको स्वयं सोचनेका अवसर प्राप्त होगा कि 'द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं या 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं' आपकी ये मान्यतायें कहां तक अपनी स्थिति कायम रख सकेंगी। **'तादृशी जायते बुद्धिः'** इत्यादि पद्यके विषयमें सर्वांगीण विवेचन आपको प्रश्न नं० ६ में देखनेको मिलेगा। कृपया वहाँ पर देखनेका कष्ट कीजियेगा।

यद्यपि हम पहले बतला चुके हैं कि प्रत्येक वस्तुकी स्वप्रत्यय पर्यायें नियतक्रमसे ही हुआ करती हैं,

परन्तु वस्तुकी स्वपरप्रत्यय पर्यायें भी नियतक्रमसे ही हुआ करती हैं यह आज्ञा जैन आगमकी नहीं है। यहाँ स्वपरप्रत्यय परिणमनके विषयमें थोड़ा विचार लेना उचित प्रतीत होता है, अतः विचार किया जाता है।

ऊपर गिनायी गयी सभी वस्तुयें यथासंभव एक दूसरी वस्तुके साथ स्पृष्ट होकर रह रही हैं और चूँकि प्रत्येक वस्तु सतत परिणमन करती रहती है, अतः परिणमनके आधार पर स्पर्शमें भी भेद होनेके कारण स्पृष्ट वस्तुमें भी परिणमनको स्वीकार करना स्वाभाविक है। और चूँकि एक वस्तुमें इस प्रकारका परिणमन अन्य परिणमन करती हुई वस्तुके स्पर्शके कारण होता है, अतः ऐसे परिणमनको स्वपरप्रत्यय कहना गलत नहीं है। जीवों और पुद्गलोंमें तो यथासंभव बद्धता (एक दूसरेके साथ मिश्रण) की स्थिति पायी जाती है और दोनोंके इस मिश्रणसे जीवोंमें तथा पुद्गलोंमें परिणमन होना जैन संस्कृतिमें स्पष्ट माना गया है।

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥

—समयसार

अर्थ—जीवके परिणमनका सहयोग पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणत होते हैं और पुद्गल कर्मका सहयोग पाकर जीव भी परिणमनको प्राप्त होते हैं।

अतः जीवों और पुद्गलोंके ऐसे परिणमन भी स्वपरप्रत्यय ही माने गये हैं।

धर्मद्रव्य जीवों और पुद्गलोंके गमनमें अवलम्बन होता है, अधर्म द्रव्य जीवों और पुद्गलोंकी अवस्थिति (ठहरने) में अवलम्बन होता है, आकाश द्रव्य समस्त वस्तुजातको अपने अन्दर समाये हुए है, सभी काल द्रव्य अपनेसे सम्बद्ध वस्तुओंको सत्ताको और उनमें अपने-अपने प्रतिनियत कारणों द्वारा होनेवाले परिणमनोंको समय, आवली, घड़ी, घंटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष आदिमें बद्ध करके विभाजित करते रहते हैं, सभी जीव अपने-अपने स्वभावानुसार स्व और पर वस्तुओंके दृष्टा और ज्ञाता बने हुए हैं और पुद्गल द्रव्य परस्पर एक-दूसरे पुद्गल या पुद्गलोंके साथ तथा यथायोग्य जीवोंके साथ मिलते और बिछुड़ते रहते हैं और इस तरह एक दूसरेके परिणमनमें सहायक होते रहते हैं। इस तरह उपकार्योपकारकभावकी अपेक्षासे भी उक्त समस्त वस्तुओंमें सतत परिणमन होता रहता है। और चूँकि यह परिणमन एक वस्तुमें उक्त प्रकारसे अन्य वस्तुके सहयोग पर ही हुआ करता है, अतः जैन संस्कृतिमें ऐसे परिणमनको भी स्वपरप्रत्यय परिणमन नाम दिया गया है।

इन सब तथा इनसे अतिरिक्त भी दूसरे सभी परके सहयोगसे होनेवाले वस्तु परिणमनोंमेंसे बहुतसे परिणमन तो ऐसे होते हैं जिनके होनेमें अन्य वस्तुका सहयोग प्राकृतिक ढंगसे प्राप्त रहता है। जैसे सभी वस्तुयें आकाशमें प्रति समय अवगाहित हो रही हैं—यहाँ पर वस्तुओंको अपने अवगाहमें आकाशका सहयोग प्राकृतिक ढंगसे ही प्राप्त है। अतः समस्त वस्तुओंका प्रतिसमय अवगाहनरूप यह परिणमन सामान्य रूपसे नियतक्रमको लेकर ही हो रहा है। जीवों और पुद्गलोंको गमन करनेमें धर्म द्रव्यका सहयोग और ठहरनेमें अधर्म द्रव्यका सहयोग यद्यपि प्राकृतिक ढंगसे प्राप्त रहता है परन्तु वे जब तक गमन करते रहते हैं तब तक गमनमें सामान्य नियतक्रम चलता है और जब वे ठहरते हैं तो गमनका नियतक्रम समाप्त होकर अवस्थितिका नियतक्रम चालू हो जाता है। विशेषापेक्षया गति और स्थितिमें अपना-अपना अनियतक्रम भी चलता रहता है। इसी तरह आकाशके आधारपर जीवों और पुद्गलोंके अवगाहनमें विशेषापेक्षया अनियत

क्रम चलता रहता है। इसी प्रकार जीवों और पुद्गलोंकी गति या अवस्थितिमें एक दूसरेकी अपेक्षा भी क्रमभंग संभव है और इसी प्रकार सभी वस्तुओंकी सत्ताको तथा उनमें अपने-अपने प्रतिनियत कारणों द्वारा होनेवाले परिणमनोंको समय आदिकी वृत्तिके रूपमें विभाजित करनेमें कालका सहयोग प्राकृतिक ढंगसे ही प्राप्त रहता है। इसके अलावा भी खानमें मिट्टी पड़ी हुई है और उसमें अनायास मिलनेवाले निमित्तोंके आधार पर प्रतिसमय समान और असमान परिणमन होता रहता है और इनके भी अलावा उसी मिट्टीको कुम्हार अपने घर ले आता है और वह कुम्हार उसे घट निर्माणके योग्य तैयार कर उससे दण्ड, चक्र, चीवर आदिके सहयोगसे घटका निर्माण कर देता है। इस तरह जो पर्यायोंका निर्माण होता है उसमें नियतक्रमपना और अनियतक्रमपना दोनों प्रकारकी स्थिति यथायोग्य प्रकारसे जैन संस्कृतिमें मान्य की गयी है। जैसे वस्तुओंकी सत्ता अनादि कालसे अनन्त काल तक रहनेवाली है, इसलिये यदि कालके त्रैकालिक समयोंके आधार पर प्रत्येक वस्तुकी सत्ताको विभाजित किया जाय तो जैसे कालके समय नियत हैं वैसे ही प्रत्येक वस्तुकी त्रैकालिक सत्ता भी नियत है। प्रत्येक वस्तुमें जहाँ तक समान रूपसे होनेवाले परिणमनोंका संबन्ध है तो उन सब परिणमनोंको भी नियत माननेमें कोई आपत्ति नहीं आती है। असमान परिणमनोंमें भी कहीं कहीं नियतक्रम मानना आवश्यक है। एक परमाणु एक ही समयमें चौदह राजू गमन कर जाता है, फिर भी वह लोकाकाशके क्रमवर्ती एक-एक प्रदेशको नियतक्रमसे स्पर्श करता हुआ ही जाता है। गमनरूप क्रिया करनेमें यही हाल प्रत्येक जीवका और प्रत्येक पुद्गलका है। परन्तु यह नियम नहीं बनाया जा सकता है कि गमनरूप पर्यायसे बदल कर स्थितिरूप पर्याय वस्तुकी नहीं हो सकती है, क्योंकि देखनेमें आता है कि गमन करते-करते वस्तु अवस्थित भी हो जाती है अथवा सीधा गमन करते-करते वस्तु उलटा गमन भी करने लगती है। इसलिये गमनके चालू रहनेमें जो क्रम नियत था वह क्रम वस्तुके अवस्थित होनेमें अथवा उलटा गमन करनेमें अनियत हो जाता है। प्राणीकी आयुमें वृद्धि एक-एक समयके आधार पर क्रमसे ही हुआ करती है, प्राणीके शरीरका उत्सेध भी क्रमसे बढ़ता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार जितनी भी स्वपरप्रत्यय पर्यायें प्रत्येक वस्तुमें सम्भव हैं उनमें यथासंभव नियतक्रम और अनियतक्रम मानना असंगत नहीं है।

आपने अपने द्वितीय दौरके पत्रकमें हमारी प्रतिशंकाके निम्नलिखित विषयों पर विचार किया है—

१—स्वमिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी तीन गाथायें तथा तत्संबन्धी अन्य सामग्री।

२—अकालमें दिव्यध्वनि।

३—निर्जरा तथा मुक्तिका अनियत समय।

४—अनियत गुण-पर्याय।

५—क्रम-अक्रम पर्याय।

६—द्रव्य कर्मकी अनियत पर्याय।

७—निमित्त-उपादान कारण।

इन विषयोंपर आपने जो विचार प्रगट किये हैं उन पर सामान्यरूपसे तो हमने विचार कर ही लिया है। अब जो विशेष बातें विचारके लिये रह गयी हैं उन पर विचार किया जाता है।

विषय नं० १ पर विचार करते हुए आपने 'एवं जो णिच्छयदो' गाथाके विषयमें लिखा है कि—'इस गाथामें भिन्न टाईपमें दिये गये पद ध्यान देने योग्य हैं। 'णिच्छयदो'का अर्थ निश्चयसे (यथार्थमें) है। इससे

विदित होता है कि पूर्वोक्त दो गाथाओंमें जिस तत्त्वका प्रतिपादन किया गया है वह यथार्थ है।' आगे आपने स्पष्ट किया है कि शुद्ध सम्यग्दृष्टि कौन है ? और क्यों है ? तथा मिथ्यादृष्टि कौन है ? और क्यों है ?

इस विषयमें हमारा कहना है कि श्रुतज्ञानी सम्यग्दृष्टि केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षा उस तत्त्वको यथार्थ मानता है जिसको पूर्वोक्त दो गाथाओंमें प्रतिपादित किया गया है और श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कार्यकारण भाव पद्धतिको भी यथार्थ मानता है। इतना अवश्य है कि केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षा तो वह आस्थावान् होता है और श्रुतज्ञानके विषयके अनुसार अपनी प्रवृत्ति बनाता है। इसका विस्तृत विवेचन हम पूर्वमें कर चुके हैं तथा केवलज्ञानविषयक और श्रुतज्ञानविषयक उपर्युक्त दोनों मान्यताओंमें परस्पर समन्वय भी पूर्वमें विस्तारसे कर चुके हैं।

उसी 'णिच्छयदो' पदका एक दूसरा अभिप्राय भी आपने निकाला है कि 'यह कथन निश्चय (यथार्थ) नयकी (उपादानकी) प्रधानतासे किया गया है। इसमे पर्यायान्तरसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि आगममें जहाँ भी अकालमृत्यु आदिका निर्देश किया गया है, वहाँ वह व्यवहार नयकी (उपचरित नयकी) अपेक्षा ही किया गया है, निश्चय नयकी अपेक्षा नहीं।'

इस विषयमें हमारा कहना यह है कि वास्तवमें देखा जाय तो जितना मरण है चाहे वह अकाल मरण हो अथवा चाहे कालमरण हो, दोनों ही व्यवहाररूप हैं, अतः दोनों ही व्यवहारनयके विषय हैं। कारण कि आत्मा तो स्वभावतः अमर ही जैन संस्कृतिमें माना गया है, इसलिये कालमरणको आप जो निश्चय नयका विषय मान लेना चाहते हैं वह गलत है। साथ ही व्यवहार नयको जो आपने उपचरित नय मान लिया है वह भी गलत है, क्योंकि आप उपचरित शब्दका अर्थ कल्पित, असद्भूत, मिथ्या या अभावात्मक स्वीकार करते हैं जब कि आगमके अनुसार व्यवहार भी अपने ढंगसे वास्तविक, सद्भूत, सत्य और सद्भावात्मक होता है। इसका स्पष्ट विवरण आप प्रश्न नं० १७ के तृतीय दौरके हमारे प्रपत्रमें देखियेगा। इसी प्रकार प्रश्न नं० ११ के तृतीय दौरके हमारे प्रपत्रमें भी देखनेको मिलेगा।

संक्षेपमें निश्चयनय और व्यवहारनयके लक्षण निम्न प्रकार हैं—

वस्तुके अंश या धर्मभूत निश्चयरूप अर्थका प्रतिपादक शब्द या ज्ञापक ज्ञान निश्चय नय कहलाता है और वस्तुके अंश या धर्मभूत व्यवहाररूप अर्थका प्रतिपादक शब्द या ज्ञापक ज्ञान व्यवहारनय कहलाता है। तात्पर्य यह है कि निश्चय और व्यवहार यथास्थान नाना प्रकारके परस्पर विरोधी द्वयात्मक वस्तुके धर्म या वस्त्वंश ही माने गये हैं और व्यवहारनय तथा निश्चयनय उन युगल धर्मोंमेंसे एक एक धर्मके प्रतिपादक शब्द रूप या ज्ञापक ज्ञान रूप हैं।

आगे आपने लिखा है कि—'इन गाथाओंके आशयको ध्यानमें न रखकर जो यह कहा जाता है कि जो कोई व्यक्ति अपना मरण टालनेके लिये किसी देवी देवताकी आराधना द्वारा प्रयास करे तो उसको समझानेके लिये स्वामी कार्तिकेयने इन गाथाओं द्वारा यह अभिव्यक्त किया है कि मरण कालको इन्द्र या देव यहाँ तक कि जिनेन्द्र भी नहीं टाल सकते। सो उन गाथाओंपरसे ऐसा आशय फलित करना उचित नहीं है।' आदि।

इस विषयमें भी हमारा कहना यह है कि प्रकरणके अनुसार तो हमने अपनी प्रथम प्रतिशंकामें जो कुछ लिखा है वह ठीक है, फिर भी आप इसे नहीं मानना चाहते है तो न मानें, लेकिन आप जो इससे एकान्त रूपसे 'द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं' या 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होने

पर ही होते हैं' यह तत्त्व फलित करना चाहते हैं वह तो कदापि फलित नहीं होता है। यही कारण है कि आगममें लोकको कार्यसिद्धिके लिए कर्तव्य करनेका उपदेश दिया गया और मुक्ति पानेके लिये धर्म पथपर चलनेका उपदेश दिया गया है।

समयसारकी आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीकामें आगमकी एक गाथा उद्धृत की गयी है जो निम्न प्रकार है—

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छयं मुअह।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं।

—समयसार गाथा १२ की टीका

अर्थ—यदि जिन मतका प्रवर्तन करना हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयोंको छोड़ो मत, क्योंकि निश्चयके त्यागसे वस्तुका स्वतःसिद्ध स्वरूप नष्ट हो जायगा तथा व्यवहारके त्यागसे मोक्षमार्ग समाप्त हो जायगा।

लोकमें देखा भी जाता है कि कोई भी व्यक्ति कार्यसिद्धिके लिये कार्यकारणभावपद्धतिको ही अपनाता है। आप वस्तुके परिणमनको नियतक्रमसे मान रहे हैं, फिर भी कार्यसिद्धिके लिये कर्यकारणपद्धतिका ही अवलंबन लेकर चलते हैं तो इसे क्या कहा जाय? हम तो यही कह सकते हैं कि आप भी हमारी ही तरह वस्तुपरिणमनके एकान्त नियतक्रमके पक्षमें नहीं है। यदि आप कहें कि निश्चयमें नियतक्रम है व्यवहारसे तो अनियत क्रम ही है, तो व्यवहारको तो आप कल्पित, असद्भूत, मिथ्या आदि शब्दोंका वाच्य मानते हैं, लेकिन कार्यसिद्धिके लिये आप जो कार्यकारणपद्धतिका अवलंबन लेकर चलते हैं वह तो कल्पित नहीं, असद्भूत नहीं, मिथ्या नहीं। इतने पर भी कार्यकारणपद्धतिके अवलम्बनरूप होनेवाली अपनी प्रवृत्तिको यदि व्यवहारनयका विषय माननेको तैयार हैं तो फिर व्यवहार भी कल्पित, असद्भूत या मिथ्या नहीं रह जाता है। इसपर आपको गम्भीरताके साथ विचार करना होगा। विस्तारसे विवेचन हम पूर्वमें कर ही चुके हैं। उसपर भी आप विचार करनेका कष्ट करें।

यहाँपर विशेष बात यह भी विचारणीय है कि आपने अपने मतके समर्थनमें स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३१९ का भी प्रमाण उद्धृत किया है। इससे मालूम पड़ता है कि आप उपकार और अपकारकी मर्यादाको मानते हैं और उसका कारण भी आप क्रमशः शुभ और अशुभ कर्मको स्वीकार करते है, लेकिन इससे तो आपके नियतक्रमरूप सिद्धान्तका ही विघात हो जाता है। इसको भी आप समझनेका प्रयत्न करें।

आपने अपने नियतक्रमरूप सिद्धान्तके समर्थनमें स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी 'कालादिलद्धिजुत्ता' इत्यादि २१९ वीं गाथाको भी प्रमाणरूपसे उद्धृत किया है, परन्तु वह भी नियतक्रमके विरुद्ध कार्यकारणभावपद्धतिका ही समर्थन करती है। कारण कि उस गाथामें जो 'कालादिलद्धिजुत्ता' पद पड़ा हुआ है वह भी कार्यसिद्धिके लिये निमित्तसामग्रीके साथ कार्यकारणभावपद्धतिका ही समर्थक है। इसका विस्तारसे विवेचन टीकाके आधारपर पूर्वमें किया है।

यद्यपि आपका कहना उस गाथाके आधारपर यह है कि गाथामें जो 'परिणममाणा हि सयं' पद आया है वह आपके पक्ष—नियतक्रमका समर्थक है, लेकिन इसमें भी आप भूल कर रहे है। कारण कि 'सयं' पदका जो अर्थ आप कर रहे हैं उस अर्थका 'कालादिलद्धिजुत्ता' पदके अर्थके साथ विरोध आता है। आप 'सयं' शब्दका यही तो अर्थ करते हैं कि 'पदार्थ स्वयं अर्थात् अपने आप परिणमन करते हैं' परन्तु जब पदार्थ अपने

आप परिणमन करते हैं तो फिर 'कालादिलद्धिजुत्ता' पदकी स्थिति गाथामें सयुक्तिक नहीं रह जाती है, क्योंकि वह पद तो परिणमनमें कारणभूत निमित्त सामग्रीका ही स्थापन करता है। इस तरह हमारा कहना यह है कि गाथामें पठित 'सयं' पदका 'अपने आप' अर्थात् 'बिना किसी दूसरे पदार्थकी सहायताके' ऐसा अर्थ न करके ऐसा अर्थ करना चाहिए कि निमित्त सामग्रीसापेक्ष जो भी पदार्थमें परिणमन होता है उसे उसका (पदार्थका) अपना ही परिणमन जानना चाहिये याने खुद पदार्थ ही परिणमन करता है, परिणमनमें सहायक निमित्त सामग्री का कोई गुण-धर्म उसमें आ जाता हो सो बात नहीं है। लेकिन निमित्तसामग्री उस पदार्थको उसका अपना परिणमन करनेमें सहायक तो होती ही है। इस बातको बतलानेवाला ही गाथामें 'कालादिलद्धिजुत्ता' पद है। पदार्थके परिणमनके सिलसिलेमें 'सयं' पदका व्याख्यान हमने प्रश्न नं० १ के तृतीय दौरके पत्रकमें विस्तारसे किया है, अतः वहाँ देखनेका कष्ट करें।

भो विद्वांसः! हम लोगोंमेसे कौन कहता है कि उपादानके अनुसार कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। तो फिर क्यों गलत आरोप आप हमारे ऊपर करते हैं? आपने जो आचार्य अकलंकदेव और विद्यानन्द स्वामीके 'उपादानस्य उत्तरीभवनात्' की मिसाल दी है उसे हम भी शिरोधार्य किये हुए हैं, परन्तु हमारा आपसे निवेदन यह है कि दूसरोंके ऊपर गलत आरोप करके पाठकोंको भ्रममें डालनेका प्रयत्न न कीजिये। अपनी स्थितिके विषयमें सोचिये कि आप कहाँ क्या गलती कर रहे हैं?

हमारा पक्ष तो यह है कि और जैसा कि हम पूर्वमें स्पष्ट भी कर चुके हैं कि आत्माका स्वतःसिद्ध स्वभाव परिणमन करना है सो प्रतिक्षण वह परिणमन करे—इसका निषेध यदि हमने कहीं किया हो तो बताइये, इसमें बुराई नहीं है, यदि हमने ऐसी गलती की हो तो उसे हम स्वीकार करनेके लिए तैयार हैं। परन्तु हम आपसे पूछते हैं कि आत्माका क्रोधरूप परिणमन करना, मानरूप परिणमन करना, मायारूप परिणमन करना या लोभरूप परिणमन करना भी क्या स्वतःसिद्ध स्वभाव है? हमारा ख्याल है कि न तो आगममें कहीं ऐसा लिखा है और न आप भी इसे स्वीकार करेंगे कि 'क्रोधादिरूप परिणमन करना आत्माका स्वतः स्वभाव है।' आत्माका स्वतःसिद्ध स्वभाव तो मात्र परिणमन करना है। अब जो परिणमनमें क्रोधादि रूपता आती है वह क्रोधादि कर्मोंके उदयसे ही आती है। जैसे ज्ञानका स्वतःसिद्ध स्वभाव पदार्थोंको जाननेका है, लेकिन ज्ञानका उपयोगाकार परिणमन किस पदार्थरूप होता है? यह व्यवस्था तो उस पदार्थके ही अधीन है। इसी तरह दर्पणका स्वतःसिद्ध स्वभाव अपनेमें पदार्थोंका प्रतिबिम्ब लानेका है, लेकिन किसका प्रतिबिम्ब उसमें पड़ रहा है यह व्यवस्था तो उस उस पदार्थके अधीन ही है। तो, महानुभावो! हमारा कहना यही है कि स्वतःसिद्ध परिणमन स्वभाववाली आत्माके परिणमनमें जो क्रोधादिरूपता आती है उसका निमित्तकारण क्रोधादिरूप कर्म ही है। देखिये जिन अकलंकदेव और विद्यानन्द स्वामीने 'उपादानस्य उत्तरीभवनात्' वाक्य लिखा है और जिसके प्रति आपकी तीव्र आस्था जान पड़ती है इस वाक्यके साथ उन्हीं आचार्योंके निम्न वाक्योंको भी पढ़ जाइये—

(१) तदसामर्थ्यमखण्डयदकिंचित्करं किं सहकारिकारणं स्यात्।

—अकलंकदेवकी अष्टशती-अष्टसहस्री पृष्ठ १०५

इसका अर्थ यह है कि सहकारीकारण यदि उपादानकी असामर्थ्यका खण्डन नहीं करता है तो वह अकिंचित्कर सिद्ध होता है, ऐसी हालतमें फिर क्या उसे सहकारीकारण कहा जा सकता है?

(२) क्रमभुवोः पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्। न चैवंविधः कार्यकारणभावः सिद्धान्तविरुद्धः। सहकारिकारणे कार्यस्य कथं तस्यादेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरभावादिति चेत् कालप्रत्यासत्तिविशे-

षात् तत्सिद्धिः। यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम्············
तदेवं व्यवहारनयसमाश्रयणे कार्यकारणभावो द्विष्ठः सम्बन्धः संयोगसमवायादिवत्प्रतीतिसिद्धत्वाद् पारमार्थिक एव, न पुनः कल्पनारोपितः सर्वथाप्यनवद्यत्वात्।

—आचार्य विद्यानन्दस्वामीका तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १५१

अर्थ—क्रमसे होनेवाली पर्यायोंके मध्य एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप उपादानोपादेयभावका कथन किया गया है। और इस प्रकारका कार्यकारणभाव सिद्धान्तविरुद्ध नहीं है। सहकारी कारणके साथ कार्यका वह कार्यकारणभाव कैसे होगा? कारण कि सहकारिकारणकी कार्यके साथ एक द्रव्यप्रत्यासत्तिका अभाव पाया जाता है। यदि ऐसा प्रश्न किया जाय तो इसका उत्तर यह है कि कालप्रत्यासत्तिविशेषके आधार पर सहकारी कारणके साथ कार्यकारणभाव सिद्ध हो जाता है।············इस प्रकार व्यवहारनयका आश्रयण करने पर दोमें विद्यमान संबन्ध रूप कार्यकारणभाव संयोग सम्बन्धकी तरह प्रतीतसिद्ध होनेसे पारमार्थिक ही है कल्पनारोपित नहीं है, कारण कि उक्त प्रकारसे वह सर्वथा निर्दोष है।

श्रीमदकलंकदेव और आचार्य विद्यानन्दके और भी प्रमाण देखिये—

यदि हि सर्वस्य कालो हेतुरिष्टः स्यात् बाह्याभ्यन्तरकारणनियमस्य दृष्टस्येष्टस्य वा विरोध स्यात् ॥१।३॥

—तत्त्वार्थराजवार्तिक

अर्थ—यदि सब कार्योंका कारण कालको माना जाय तो प्रत्यक्ष और अनुमानसे सिद्ध बाह्य और आभ्यन्तर कारणोंका जो कार्योंके साथ नियम पाया जाता है उसका इसके साथ विरोध होगा।

प्रधानं हि कारणं मोहक्षयो नामादिनिर्जरणशक्तेर्नायोगकेवलिगुणस्थानोपान्त्यान्त्यसमयं सहकारिणमन्तरेण तामुपजनयितुमलं सत्यपि केवले ततः प्राक् तदनुपतेः।

—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ ७१

अर्थ—नाम, गोत्र, वेदनीय और आयु कर्मकी निर्जरण शक्तिका प्रधान कारण मोहका क्षय ही है, लेकिन वह (मोहक्षय) अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य और अन्त्य समयरूप सहकारी कारणके विना उस नामादि कर्म निर्जरण शक्तिको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं है। कारण कि केवलज्ञानके उत्पन्न हो जाने पर भी उक्त अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य और अन्त्य समयकी प्राप्तिके पूर्व उसकी उत्पत्ति नहीं होती है।

इसका तात्पर्य यह है कि उक्त अयोगकेवली गुणस्थानमें नियत क्रमसे नामादि चारों अघातिकर्मोके क्रमस्थितिको प्राप्त निषेकोंकी प्रतिसमय उदयानुसार सविपाक निर्जरा होती हुई उस उपान्त्य और अन्त्य समयमें पूर्णक्षय होता है, इसलिये यहाँ पर उपान्त्य और अन्त्य समयको नामादि कर्मोंके उस क्षयका सहकारी कारण माना गया है।

अब जब आप एकान्ततः नियतिवादको ही महत्त्व देते हैं तो अकलंकदेव और विद्यानन्द स्वामीके सहकारी कारणोंके समर्थक वचनोंका उक्त दोनों आचार्योंके उक्त 'उपादानस्य उत्तरीभवनात्' वचनके साथ कैसे समन्वय करेंगे? यह जाननेके लिये हम आशान्वित रहेंगे। उपादानप्रधानपरक और निमित्तप्रधानपरक दोनों तरह के कार्यकारणभावका समन्वय हम तो पूर्वमें कर ही चुके हैं जिसे आप देखेंगे ही।

हमें विश्वास है कि यदि आप हमारे प्रकृत प्रश्न पर अब तक हुए विवेचन पर ध्यान देंगे तो निश्चित ही आप अपने 'यदि उपादानके इस लक्षणको जिसे किसी भी आचार्यने अनेक तर्क देकर सिद्ध किया है, यथार्थ नहीं माना जाता है' यहाँसे लेकर 'क्योंकि जब कि यह स्वीकार किया जाता है कि कार्य तो बाह्य निमित्तोंके अनुसार होता है ऐसी अवस्थामें अमुक प्रकारके परिणामोंके होने पर अमुक प्रकारका बन्ध होता है यह जो आगममें व्यवस्था की गई है वह सबकी सब छिन्न-भिन्न हो जाती है।' यहाँ तकके वक्तव्यको आप न केवल सहर्ष लौटा लेंगे बल्कि आपकी अपनी एकान्त नियतवादकी मान्यताको त्याग कर सत्य मार्गको भी आप अपना लेवेंगे।

सिद्धोंके कर्मबन्ध क्यों नहीं

फिर आपने जो अपने लेखमें यह बात लिखी है—

'सिद्धोंको जिनमें वैभाविक शक्ति इस अवस्थामें विद्यमान है और लोकमें सर्वत्र बाह्य निमित्तकी भी विद्यमानता है, तब उन्हें संसारी बनानेसे कौन रोक सकता है ?'

आपकी इस शंकाका समाधान यह है कि जीवको संसारी बनानेवाला निमित्त कारण द्रव्य कर्म है जो सिद्धोंमें नहीं है। लोकमें यद्यपि कार्मणवर्गणाएँ भरी हुई हैं तथापि वे वर्गणायें, द्रव्यकर्म न होनेसे, जीवको संसारी बनानेको निमित्त नहीं हो सकतीं।

इस पर यदि ऐसी आशंका की जावे कि सिद्धोंके द्रव्य कर्म क्यों नहीं है ? तो उसका समाधान यह है कि द्रव्य कर्मोंका आत्यन्तिक क्षय होनेसे ही सिद्ध होते हैं और नवीन द्रव्यकर्म-बंधके कारण रागादिका अभाव होनेसे नवीन द्रव्यकर्मका बन्ध भी नहीं होता, इसलिये सिद्धोंके द्रव्यकर्म नहीं है। कहा भी है—

बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः।

—त० सू० १०।२

अर्थ—बन्ध-हेतुओंके अभाव और निर्जरासे सब कर्मोंका आत्यन्तिक क्षय होना ही मोक्ष है।

अध्यात्म-वेत्ता यह बात भले प्रकार जानते है कि सिद्धोंको विकारी करनेवाला द्रव्यकर्मरूपी निमित्त लोकमें नहीं है, फिर भी यह कहना कि लोकमें निमित्त कारण भरे हुए हैं, असंगत है। प्रत्युत उपादानमात्रसे ही कार्यकी उत्पत्ति माननेवाले आपके माने हुए सिद्ध जब वैभाविक शक्तियुक्त हैं तब उनको अपने उपादान द्वारा ही संसारी बन जानेका कौन निराकरण कर सकेगा ! तथा आप भी अपनी उपादान शक्तिके द्वारा अभी सिद्ध क्यों नहीं बन जाते।

इस सम्बन्धमें श्री अमृतचन्द्रके निम्न वाक्य ध्यान देने योग्य हैं—

सक्रिया बहिरंगसाधनेन सहभूता जीवाः। जीवानां सक्रियत्वस्य बहिरंगसाधनं कर्मनोकर्मोपचयरूपाः पुद्गला इति ते पुद्गलकरणाः। तदभावान्निःक्रियत्वं सिद्धानाम्। पुद्गलानां सक्रियत्वस्य बहिरंगसाधनं परिणामनिर्वर्तकः काल इति ते कालकरणाः। न च कर्मादीनामिव कालस्याभावः। ततो न सिद्धानामिव निष्क्रियत्वं पुद्गलानामिति।

—पञ्चास्तिकाय गाथा ९८ टीका

अर्थ—बहिरंग साधनके साथ रहनेवाला जीव सक्रिय है। जीवोंके सक्रियपनेका बहिरंग साधन कर्म-नोकर्म संचयरूप पुद्गल है, इसलिये जीव पुद्गलकरण माने हैं। उस (पुद्गल करण) के अभावके

कारण सिद्धोंके निष्क्रियपना है। पुद्गलोंके सक्रियपनेका बहिरंग साधन परिणामनिष्पादक काल है, इसलिये पुद्गल कालकरणवाले हैं। जिस प्रकार कर्म-नोकर्मरूप पुद्गलोंका अभाव होता है उस प्रकार कालका अभाव नहीं होता। इसलिये जिस प्रकार सिद्धोंके निष्क्रियपना होता है उस प्रकार पुद्गलोंके निष्क्रयपना नहीं होता।

इसी प्रकार निमित्त कारणको बाह्य कारण कहते है। अंतरंग कारणको उपादान कारण कहते हैं। अंतरंग और बहिरंग दोनों ही कारणोंसे कार्य होता है। पौद्गलिक कार्मणवर्गणाओंके द्रव्य कर्म बन्धरूप अवस्था होनेमें अंतरंग (उपादान) कारण तो पुद्गल वर्गणा है और बहिरंग (निमित्त) कारण जीवके रागादि परिणाम हैं। अर्थात् शुभ या अशुभरूप जैसे जीवके भाव होंगे वैसे ही कार्मणवर्गणा शुभ या अशुभ द्रव्यकर्मरूप बन्ध अवस्थाको प्राप्त हो जावेंगी। इस प्रकार निमित्तके अनुसार कार्य होना आपने भी स्वीकार किया है। यही बात हमारे द्वारा कही गई थी, किन्तु उस पर आपत्ति उठाई जाकर यह लिखना कि 'नरकायुके बन्ध योग्य जीव संक्लेश परिणाम करे, किन्तु बाह्य निमित्त देव, गुरु, शास्त्रका सानिध्य आदि देवगतिमें जाने योग्य हो तो उसे नरकायुका बन्ध न होकर देवायुका ही बन्ध होगा' युक्तिमंगत नहीं है, क्योंकि कार्मणवर्गणाओंके देवायुरूप बन्ध होनेमें या नारकायुरूप बन्ध होनेमें जीवके विशुद्ध या संक्लेशरूप परिणाम बाह्य (निमित्त) कारण हैं, देव, गुरु, शास्त्रका सानिध्य कारण नहीं है। यह बात कर्मसिद्धान्तके विशेषज्ञोंसे ओझल नहीं है। देव-गुरु-शास्त्रका सानिध्य आदि बाह्य नो-कर्म तो भाव-कर्मके लिये आश्रयभूत हैं, नो-कर्मका भाव-कर्मके साथ अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है। भावकर्मका द्रव्यकर्मके बन्धके साथ तथा द्रव्यकर्मके उदयका भावकर्मके साथ अविनाभावी सम्बन्ध है।

आगे आपने लिखा है कि—'प्रत्येक द्रव्यकी संयोगकालमें होनेवाली पर्याय बाह्य निमित्तसापेक्ष निश्चय उपादानसे होती है यह तो है, पर साथमें इसके प्रत्येक कार्यके प्रति उपादानकी नियामकता ही स्वीकार की गयी है। इसलिए जब कार्यक्षम निश्चय उपादान उपस्थित होता है तब निमित्त भी उसीके अनुसार मिलते हैं यह भी नियम है।'

इसपर हमारा कहना यह है कि चूँकि वस्तुको जैन संस्कृतिमें स्वतःसिद्ध परिणमनस्वभाववाली स्वीकार किया गया है, इसलिए परिणमन होनेमें तो उपादानकी नियामकता रहा करती है, किन्तु उस परिणमनमें जो विशेषता या विलक्षणता आती है उसका नियामक तो निमित्त ही होता है। जैसे हमने पूर्वमें बतलाया है कि आत्माकी क्रोध पर्यायके अनन्तर क्षणमें जो मान, माया या लोभरूप विलक्षण पर्याय उत्पन्न होती हैं इसमें परिणमनका उपादान कारण तो आत्मा स्वयं है। कारण कि वह स्वतःसिद्ध परिणमनशील है, परन्तु उसमें जो क्रोधरूपताके बजाय विलक्षण मानरूपता, मायारूपता या लोभरूपता उत्पन्न हुई उसका निमित्त कारण मानादि उस उस कषायरूप द्रव्यकर्मके उदयको माना गया है। इसके अलावा यह भी सोचनेकी बात है कि स्वपर-प्रत्यय परिणमनमें उपादान जो कार्यक्षम निश्चयउपादानका रूप धारण करता है तो वह भी निमित्त कारणको सहायतासे ही करता है। जैसे आत्माके परिणमनमें कार्याव्यवहित पूर्वपर्यायमें जो क्रोधरूपता पायी जाती है वह भी क्रोध कषायरूप द्रव्यकर्मके उदयरूप निमित्त कारणसे ही उत्पन्न हुई है। इसी प्रकार निष्पन्न क्षणवर्ती घटरूप पर्यायके अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायके अनन्तर क्षणमें जो घटरूप विलक्षण पर्याय उत्पन्न हुई उसका निमित्तकारण कुम्हारका तदनुकूल व्यापार ही तो है तथा उस निष्पन्न अन्तिम क्षणवर्ती घट पर्यायके अव्य-वहित पूर्वक्षणवर्ती मिट्टीकी पर्यायमें जो विलक्षणता पायी जाती है वह कुम्हारके तदनुकूल व्यापारके निमित्तसे ही उत्पन्न हुई है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वस्तुमें जितने भी क्रमसे प्रवर्तमान स्वपरप्रत्यय परिणमन होते हैं वे चाहे कार्यक्षम निश्चय उपादानरूप हों अथवा चाहे उसके उत्तर क्षणवर्ती कार्यरूप हों उनमें जिस विल-

क्षणताके दर्शन होते हैं वह तदनुकूल निमित्तकारणके सहयोगकी बजहसे ही उत्पन्न हुई मानना चाहिये। आपने लिखा 'निमित्त भी उसीके अनुसार मिलते हैं', तो इसका अभिप्राय यही तो हुआ कि कार्यक्षम निश्चय उपादान अपने द्वारा होनेवाली कार्योत्पत्तिके लिये अनुकूल निमित्तोंका समागम भी आप ही प्राप्त कर लेता है, लेकिन इस विषयमें हम कह सकते हैं कि जब वह निश्चय उपादान स्वयं कार्य-क्षम है तो उसे फिर निमित्तोंके सहयोगकी आवश्यकता ही क्यों होती है ? और यदि आवश्यकता है तो फिर उन निमित्तोंकी प्राप्ति वह कार्यक्षम उपादान स्वयं कर लेता है—यह असंभव बात है, इसलिये यदि यह माना जाय कि प्रत्येक वस्तुके जब अनादि कालसे लेकर अनन्तकाल तकके परिणमन निश्चित हैं तो कार्यके प्रति उपादानभूत वस्तुका जब जैसा परिणमन होगा तब निमित्तभूत वस्तुकी अपनी अनादि क्रमसे प्रवर्तमान परिणति भी तदनुकूल ही होगी अन्यथा नहीं होगी, तो ऐसा माननेपर आपके प्रति हम कई बार कह चुके हैं कि फिर क्यों आप कार्य करनेका संकल्प मनमें करते हैं ? क्यों मस्तिष्कके सहारेपर कार्यकारणभावकी निमित्तभूत और उपादानभूत वस्तुओंके साथ संगति बिठलाते हैं तथा फिर क्यों अपनी श्रम शक्तिके आधारपर तदनुकूल व्यापार करते हैं। यदि कहा जाय कि यह सब कुछ अनादि कालीन नियतक्रमसे प्रवर्तमान परिणमन धाराके अनुसार ही हो रहा है तो फिर इसे यदि एकान्त नियतिवाद न कहा जाय तो एकान्त नियतिवाद अन्य क्या होगा ? जिसे जैन संस्कृतिके आगम ग्रन्थोंमें मिथ्यात्व कहा गया है।

हमें प्रसन्नता है कि आपने प्रत्येक द्रव्यकी संयोग कालमें उत्पन्न होनेवाली पर्यायोंको बाह्य निमित्त सापेक्ष उपादानसे उत्पन्न होनेवाली मान लिया है, परन्तु दुःख भी इस बातका है कि उस बाह्य निमित्तका उस पर्यायोत्पत्तिमें क्या उपयोग है ? इसे आप स्पष्ट नहीं कर सके हैं।

आपने लिखा है कि 'नियममें अनेकान्त लागू नहीं होता। अनेकान्तकी अपनी मर्यादा है, उसे ध्यानमें रखकर ही उसे लागू करना चाहिये। अन्यथा द्रव्यमें (सामान्यकी अपेक्षा) जो नित्यता और पर्यायकी अपेक्षा जो अनित्यता स्वीकार की गयी है वह अनेकान्त नहीं बनेगा। तब तो यह भी माननेके लिये बाध्य होना पड़ेगा कि द्रव्य (सामान्य) स्वयं अपनी अपेक्षा ही कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है।'

इस विषयमें हमारा निवेदन यह है कि भो मनीषिणः ! प्रकृतमें जिसको आपने नियम कहा है उसे आप स्थापित तो कर लीजिये फिर उसके बारेमें एकान्त-अनेकान्तकी संभावना और असंभावनाका विचार कीजिये। सो 'जब कार्यक्षम निश्चय उपादान उपस्थित होता है तब निमित्त भी उसीके अनुसार ही मिलते हैं' इसकी स्थापना ही हमारे पूर्व विवेचनके अनुसार जब नहीं हो सकती है तब उसके बारेमें एकान्त-अनेकान्तकी चर्चा ही व्यर्थ है।

आपने लिखा कि 'अनेकान्तकी अपनी मर्यादा है', परन्तु क्या मर्यादा अनेकान्तकी है ? यह तो आपने स्पष्ट ही नहीं किया है। हमारी समझसे तो अनेकान्तकी मर्यादा यही है जो आचार्य अमृतचन्द्रने अपनी समयसार टीका आत्मख्यातिके स्याद्वादाधिकारमें उसका (अनेकान्तका) स्वरूप कथनके आधारपर बतलाई है। वह स्वरूप कथन निम्न प्रकार है—

एकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनं अनेकान्तः।

अर्थ—एक वस्तुके वस्तुत्वकी स्थापना करनेवाली परस्पर विरोधी दो शक्तियोंका प्रकाशन ही अनेकान्त है। ऐसा अनेकान्त द्रव्यमें सामान्यकी अपेक्षा नित्यता और पर्यायकी अपेक्षा अनित्यताकी मान्यतामें घटित होता ही है तथा उसमें यह दूषण भी प्रसक्त नहीं होता कि 'द्रव्य (सामान्य) स्वयं अपनी अपेक्षा ही कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य है।'

आपने लिखा है 'अकाम निर्जरा और तप द्वारा होनेवाली निर्जराका शास्त्रमें विधान है--इसमें सन्देह नहीं। पर कर्मशास्त्रके अभ्यासीसे यह बात छिपी हुई नहीं है कि ऐसी निर्जरा किन कर्मोंकी कैसी योग्यताके होने पर कैसी पद्धतिसे होती है ? इसके आगे अपनी इच्छानुसार कर्मोंके आगमविरुद्ध कुछ नियम बनाकर आपने लिखे हैं। उनमें पाया जानेवाला आगमका वह विरोध आगम प्रमाणसहित आगे दिखलाया जायगा। सर्व-प्रथम तो यह बात है कि जीवके सम्यग्दर्शन, संयम, तप, श्रेणी, मोक्ष आदिका कोई नियत काल नहीं है। जीवके इन परिणामों द्वारा होनेवाले कर्मोंका अपकर्षण, उत्कर्षण, स्थितिघात, अनुभागघात, संक्रमण और अविपाकनिर्जराका काल कैसे नियत हो सकता है ?

राजवार्तिक अध्याय १ सूत्र ३ में निम्न प्रकार कहा है—

भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपत्तेः अधिगमसम्यक्त्वाभावः ॥७॥ यदि अवधृतमोक्षकालात् प्रागधिगमसम्यक्त्वबलात् मोक्षः स्यात् स्यादधिगमसम्यग्दर्शनस्य साफल्यम्। न चादोऽस्ति। अतः कालेन योऽस्य मोक्षोऽसौ, स निसर्गजसम्यक्त्वादेव सिद्ध इति।

कालानियमाच्च निर्जरायाः ॥९॥ यतो न भव्यानां कृत्स्नकर्मनिर्जरापूर्वकमोक्षकालस्य नियमोऽस्ति। केचिद् भव्याः संख्येयेन कालेन सेत्स्यन्ति, केचिदसंख्येयेन, केचिदनंतेन, अपरे अनन्तानंतेनापि न सेत्स्यन्तीति। ततश्च न युक्तम् 'भव्यस्य कालेन निःश्रेयसोपपतेः' इति।

चोदनानुपपत्तेश्च ॥१०॥ सर्वस्येयं चोदना नोपपद्यते। ज्ञानात् क्रियाया द्वयात् त्रितयाच्च मोक्षमाचक्षाणस्य सर्वस्य नेदं युक्तम्—'भव्यस्य कालेन मोक्षः' इति। यदि हि सर्वस्य कालो हेतुरिष्टः स्यात्, बाह्याभ्यन्तरकारणनियमस्य दृष्टस्येष्टस्य वा विरोधः स्यात्।

अर्थ--प्रश्न—भव्यके कालके नियमकरि ही मोक्षकी प्राप्ति होय है याते अधिगमज सम्यग्दर्शनका अभाव है।

टीकार्थ—प्रश्न—जो मोक्षका काल नियमरूप है। ताते पहिले अधिगमसम्यक्त्वके बलते मोक्ष कार्यकी उत्पत्ति होय तो अधिगम सम्यग्दर्शनके फलपना प्राप्त होय सो है नहीं। या कारणते जाकी जिस काल नियम करि मोक्ष है सो निसर्गज सम्यग्दर्शनके कारणते ही सिद्ध है। याते अधिगम सम्यग्दर्शनका मानना युक्त नहीं है।

समाधान—'भव्यके नियमित काल करि ही मोक्षकी प्राप्ति है' ऐसा कहना भी अनवधारणरूप है। जाते कर्मकी निर्जराको काल नियमरूप नाही है याते भव्यनिके समस्त कर्मनिकी निर्जरापूर्वक मोक्षकी प्राप्तिमें कालका नियम नाहीं सम्भवे है। कोई भव्य है ते संख्यात काल करि मोक्ष प्राप्त होंयगे। अर केई असंख्यात काल करि अर केई अनन्तकाल करि सिद्ध होयेंगे। बहुरि कोई अनन्तानन्त काल करिके भी सिद्ध नहीं होयेंगे। ताते 'नियमित काल ही करि भव्यके मोक्षकी उत्पत्ति है' ऐसा कहना युक्त नहीं ऐसा जानना। आगे याही अर्थका समर्थन करे है—

वार्तिकार्थ—बहुरि नियमित काल मात्र ही करि मोक्ष कार्यको उत्पत्ति होय तो सर्व स्याद्वादीनिके ज्ञान यम नियमादिक उपदेशकी प्रवृत्तिका अभाव आवेगा। याते मोक्ष कार्यके प्रति केवल काल ही को असाधारण कारण मानना युक्त नाहीं है।

टीकार्थ—केई स्याद्वादी हैं तो ज्ञान ते मोक्ष कार्यकी उत्पत्ति माने है, केई क्रियाते ही मोक्ष कार्यकी उत्पत्ति माने हैं, केई ज्ञान क्रिया दोऊनि ते मोक्ष कहे हैं। केई यम नियम धारणा तीन ते मोक्ष कहे हैं। या

प्रकार सर्व स्याद्वादीनिके या उपदेशकी प्रवृत्तिका अभाव आवे। तातैं नियमित काल करि मोक्ष है यह कहना युक्त नाहीं। निश्चयकरि जो सर्व कार्य प्रति काल इष्ट होय तो प्रत्यक्षके विषयस्वरूप अथवा अनुमानके विषय-स्वरूप बाह्य आभ्यन्तर कारणके विरोध आवे। कार्य मात्रका आत्मलाभ है सो बाह्य तथा आभ्यन्तर कारणके निकट होते होय है यह नियम प्रत्यक्ष विषय करि बहुरि अनुमान विषय करि श्रद्धहै ताका विरोध होयगा। ताते मोक्ष कार्य प्रति काल ही को कारण कहना यह नियम नाहीं सम्भवे है।

—श्री पं० पन्नालालजी न्यायदिवाकरकृत तत्त्वार्थराजवार्तिककी हिन्दी टीका

अकामनिर्जरा या तपके द्वारा अकालमें भी निर्जरा होती है। इस तथ्यको नियतिके ढाँचेमें ढालनेके लिए आपके द्वारा स्वइच्छानुसार आगम विरुद्ध ये दो नियम बनाये गये हैं—१ जिस कालमें जिन कर्मोंकी जितने परिमाणमें जिन परिणामोंको निमित्तकर उत्कर्षित अपकर्षित संक्रमित और उदीरित होनेकी योग्यता होती है, उस कालमें उन कर्मोंका उतने परिमाणमें उन परिणामोंको निमित्तकर उत्कर्षण अपकर्षण संक्रमण और उदीरणा होती है ऐसा नियम है। २—बंधके कालमें जो स्थितिबंध और अनुभागबंध होता है, सो उस कालमें ही उन कर्मोंमें ऐसी योग्यता स्थापित हो जाती है, जिससे नियतकाल आने पर नियत परिणामों तथा बाह्य नोकर्मोंको निमित्त कर उन उन कर्मोंका अपकर्षणादिरूप परिणमन होता है।

किसी भी आगममें ऐसे नियमोंका उल्लेख नहीं है। इसी कारण इनके समर्थनमें कोई भी आगम प्रमाण नहीं दिया गया है। इस बातको छिपानेके लिये भ्रमोत्पादक निम्न शब्द लिखे गये हैं 'कर्म-शास्त्रके अभ्यासीसे यह बात छिपी हुई नहीं है' तथा 'यह बात कर्मशास्त्रियोंको सुविदित है' किन्तु यह सुविदित है कि आपके द्वारा बनाये गये उपरोक्त दोनों नियम आगमविरुद्ध हैं।

आपके उपर्युक्त नियमोंका खण्डन श्री धवल जयधवल आदि सिद्धान्त ग्रन्थोंसे भले प्रकार हो रहा है। बन्ध कालके समय या उसके पश्चात् ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं बनता कि अमुक कालमें अमुक कर्म-प्रदेशोंका ही उत्कर्षण होगा, अमुक प्रदेशोंका अपकर्षण होगा, अमुक प्रदेशोंकी उदीरणा होगी। अमुक प्रदेशोंका संक्रमण होगा, अमुक समयमें अमुक प्रकृतिका उदय होगा, अमुक समयमें अमुक प्रकृतिका बंध होगा। कुछ कर्म ध्रुव उदयी हैं, कुछ कर्म अध्रुव उदयी हैं, कुछ कर्मोंका ध्रुवबंध होता है, कुछ कर्मोंका अध्रुव बंध होता है।

घादितिमिच्छकसाया भयतेजगुरुदुगणिमिणवण्णचओ।
सत्तेतालधुवाणं चदुधा सेसाणयं तु दुधा ॥१२४॥
अवरो भिण्णमुहुत्तो तित्थाहाराण सव्वआऊणं।
समयो छावट्ठीणं बंधो तम्हा दुधा सेसा ॥१२६॥

—गोम्मटसार कर्मकाण्ड

अर्थात् ४७ प्रकृतियोंका ध्रुव बंध होता है। शेष ७३ प्रकृतियोंमेंसे तीर्थंकर, आहारकद्विक, चार आयु इन सात प्रकृतियोंका जघन्य बंध काल अंतर्मुहूर्त है और ६६ प्रकृतियोंका एक समय है।

जयधवल पु० ६ पृ ४–६ के निम्न प्रकरणसे अपकर्षण आदि सम्बन्धी आपकी मान्यताका खण्डन हो रहा है—

सूत्र—पढमफद्दयं ण ओकड्डिज्जदि। टीका—कुदो? तत्थाइच्छावणा-णिक्खेवाणमदंसणादो।

अर्थ—प्रथम स्पर्धक अपकर्षित नहीं होता, क्योंकि वहाँ पर अतिस्थापना और निक्षेप नहीं देखे जाते।

सूत्र—विदियफद्दयं ण ओकड्डिज्जदि । टीका—तत्थ वि अइच्छावणा-णिक्खेवाभावस्स समाणत्तादो ।

अर्थ—द्वितीय स्पर्धक अपकर्षित नहीं होता, क्योंकि वहाँ पर भी अतिस्थापना और निक्षेपका अभाव पहलेके समान पाया जाता है ।

सूत्र—एवमणंताणि फद्दयाणि जहण्णिया अइच्छवणा, तत्तियाणि फद्दयाणिण ओकड्डिज्जंति ।

अर्थ—इस प्रकार अनन्त स्पर्धक जो कि जघन्य अतिस्थापनाप्रमाण है उतने स्पर्धक अपकर्षित नहीं होते ।

सूत्र—अण्णाणि अणंताणि फद्दयाणि जहण्णणिक्खेवमेत्ताणि च ण ओकड्डिज्जंति । टीका–आदीदो प्पहुडि जहण्णाइच्छावणामेत्तफद्दयाणमुवरिमफद्दयं ताव ण ओकड्डिज्जदि, तस्साइच्छावणसंभवे णिक्खेवस्स विसायादंसणादो । किं कारणं ? णिक्खेवविसयासंभवादो । एत्तो उवरिं ओकड्डणाए पडिसेहो णत्थि त्ति पदुप्पायणट्ठमिदमाह—

अर्थ—जघन्य निक्षेप प्रमाण अन्य अनन्त स्पर्धक भी अपकर्षित नहीं होते । प्रारम्भसे लेकर जघन्य अतिस्थापना प्रमाण स्पर्धकोंसे आगेका स्पर्धक अपकर्षित नहीं होता, क्योंकि उसकी अतिस्थापना सम्भव होनेपर भी निक्षेपविषयक स्पर्धक नहीं देखे जाते । उससे अनन्तर उपरिम स्पर्धक भी अपकर्षित नहीं होता । इस प्रकार जघन्य निक्षेपप्रमाण अनन्त स्पर्धक अपकर्षित नहीं होता । इसका क्या कारण ? क्योंकि निक्षेपविषयक स्पर्धकोंका अभाव है । अब इससे ऊपर अपकर्षणका निषेध नहीं है, इस बातका कथन करनेके लिये आगेका सूत्र कहते हैं—

सूत्र—जहण्णओ णिक्खेवो जहण्णिया अइच्छावणा च तेत्तियमेत्ताणि फद्दयाणि आदीदो अधिच्छिदूण तदित्थफद्दयमोकड्डिज्जइ । टीका—अइच्छावणणिक्खेवाणमेत्थ संपुण्णत्तदंसणादो ।....

अर्थ—प्रारम्भसे लेकर जघन्य निक्षेप और जघन्य अतिस्थापना प्रमाण जितने स्पर्धक हैं उतने स्पर्धकोंको उल्लंघकर वहाँ जो स्पर्धक है वह अपकर्षित होता है, क्योंकि यहाँ पर अतिस्थापना और निक्षेप पूरे देखे जाते हैं ।

सूत्र—तेण परं सव्वाणि फद्दयाणि ओकड्डिज्जंति ।

अर्थ—उससे आगे सब स्पर्धक अपकर्षित हो सकते हैं ।

ऊपरके प्रमाणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक स्पर्धकमें अपकर्षित होनेकी योग्यता है । किन्तु स्वगतयोग्यता होते हुये भी अतिस्थापना और निक्षेपके अथवा अकेले निक्षेपके अभावके कारण पहले अनन्ते स्पर्धकोंकी अपकर्षणरूपसे प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । अतः आपके इस सिद्धान्तका स्पष्टता खण्डन हो जाता है कि 'उपादान ही नियामक है, जब उस योग्यताको लिये हुये उपादान होता है तो उसके अनुकूल अन्य सर्व कारण अवश्य मिल ही जाते हैं, ऐसा नहीं हो सकता कि उस योग्यताको लिये हुये उपादान हो किन्तु अन्य कारण न मिलें और कार्य होनेसे रुक जाय ।' क्योंकि यहाँ उपादानमें अपकर्षण होनेकी योग्यता विद्यमान है, किन्तु अभावरूप अन्य कारणके हेतुसे वह कार्यरूप प्रवृत्त नहीं हो सकता है , यदि योग्यता न होती तो आचार्य यही कहते कि इतने स्पर्धकोंमें योग्यता नहीं है । अतः वह अपकर्षित नहीं हो सकते हैं । किन्तु आचार्योंने अतिस्थापना और निक्षेपका अभाव इसका कारण बतलाया है, योग्यताका अभाव कारण नहीं बतलाया है ।

इसी तरह आपके इस दूसरे नियमका भी खण्डन हो जाता है कि 'बंधके समय जिस कर्ममें जिस समय जितने प्रमाणमें जिन भावोंको निमित्त करके अपकर्षण आदि होनेकी योग्यता पड़ गई है वह उस समय उतने ही प्रमाणमें उन्हीं भावोंको निमित्त करके अपकर्षण आदि रूप परिणमन करेगा ही।' क्योंकि यहाँ आचार्य सब ही स्पर्धकोंमें समान योग्यता बतला रहे हैं। इसी कारण कहा है कि आगेके सब स्पर्धक अपकर्षित हो सकते हैं। यह नहीं कहा है कि सब स्पर्धक अपकर्षित होंगे ही, और वास्तवमें सर्व स्पर्धक अपकर्षित होते भी नहीं है, किन्तु यही कहा कि हो सकते हैं अर्थात् उनमें अपकर्षित होनेमें कोई बाधा नहीं है। आगे इसी पुस्तकके पत्र ६ पर कहा है कि अन्तिम स्पर्धकसे अनन्त स्पर्धक नीचे आकर जो स्पर्धक स्थित हैं उन सबका उत्कर्षण हो सकता है। अत: यह स्पष्ट हो जाता है कि बीचके अनन्त स्पर्धक ऐसे भी हैं जिनके अपकर्षण तथा उत्कर्षण दोनों रूपसे प्रवृत्ति होनेकी योग्यता भी है और कोई बाधा (निषेध) भी नहीं है। जब दोनोंकी योग्यता है और दोनोंकी बाधाका अभाव है तो आपके नियमानुसार यह निश्चय ही नहीं हो सकता है कि अपकर्षण हो या उत्कर्षण हो। किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टिसे इसका स्पष्ट निर्णय हो सकता है कि जब जैसा निमित मिलेगा तब वैसा परिणमन हो जायगा। इस प्रकार आपके दोनों नियम आगम विरुद्ध ही सिद्ध होते हैं।

उदीरणादिसम्बन्धी नियमोंके लिये आपने एक यह हेतु दिया है कि 'उपरोक्त नियम बगैर उपशम, निधत्ति, निकाचितकरण नहीं बन सकते हैं, इनमें गड़बड़ी आ जायगी।'

यह बात सत्य है कि बंधके समय कुछ प्रदेशोंका उपशम, निधत्ति, निकाचितरूप बंध होना सम्भव है। किन्तु कारणकलाप पाकर यह उपशम, निधत्ति, निकाचितबंध टूट भी जाता है। जैसा कि धवल पु० ६ पृ० ४२७-२८ पर कहा है—

कधं जिणबिंबदंसणं पढमसम्मत्तुप्पत्तीए कारणं? जिणबिंबदंसणेण णिधत्तणिकाचिदस्स वि मिच्छत्तादिकम्मकलावस्स खयदंसणादो।

अर्थ—इस प्रकार है—

शंका—जिनबिम्बका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण किस प्रकार होता है?

समाधान—जिनबिम्बके दर्शनसे निधत्त और निकाचितरूप भी मिथ्यात्वादि कर्मकलापका क्षय देखा जाता है, जिससे जिनबिम्बका दर्शन प्रथम सम्यक्त्वकी उत्पत्तिका कारण होता है।

उपशम, निधत्ति और निकाचितका स्वमुख ही उदय होता है ऐसा भी नियम नहीं है, क्योंकि उनकी स्थिति पूर्ण होने पर यदि उनके उदयके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल न हो, तो जाते जाते वे भी अपने रूपसे फल न देकर अन्य सजातीय प्रकृतिरूपसे फल देनेको बाध्य हो सकते हैं। इसी तथ्य को पं० फूलचन्दजी ने स्वयं तत्त्वार्थसूत्र पृ० १५७ (वर्णीग्रन्थमालासे प्रकाशित) पर स्वीकार किया है।

इस प्रकार उपशम, निधत्त और निकाचितरूप बंध प्रदेशोंके विषयमें भी कोई एकान्त नियम नहीं बन सकता, क्योंकि कारण कलापोंके मिलने पर निधत्त, निकाचितबंध टूट जाता है और उन कर्मप्रदेशोंका भी उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, संक्रमण आदि होने लगता है।

जिन कर्मप्रदेशोंमें उपशम, निधत या निकाचित बंध नहीं होता है उनके लिये मात्र इतना ही नियम है कि वे कर्मप्रदेश अपने बंध-समयसे एक आवली तक अर्थात् बंधावली या अचलावली कालमें उदीरणा आदिके योग्य नहीं होते हैं। उसके पश्चात् अपकर्षण आदिके योग्य हो जाते हैं।

श्री जयधवल पु० ८ पृ० २५६ पर बंधावलीके पश्चात् अपकर्षण तथा उत्कर्षणका विधान कहा है। श्री धवल पु० १५ पृ० १०४ पर बंधावली पश्चात् कर्मोंकी उदीरणा कही है। श्री जयधवल पु० ६ पृ० २६६ पर बंधावलीके पश्चात् संक्रमण होना कहा है। इस प्रकार बंध कालसे एक आवली पश्चात् ही कर्मोंमें उदीरणा, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण आदि होने लगते हैं। कालकृत नियम कोई नहीं रहता। अमुक घटी, मुहूर्त, दिवस आदिमें ही निश्चितरूपसे अपकर्षण आदि होंगे, अन्य घटी, मुहूर्त आदिमें नहीं होंगे अथवा इतने काल पश्चात् अपकर्षण आदि होंगे उससे पूर्व नहीं ऐसा कालकृत कोई नियम नहीं रहता।

अमुक समयमें अमुक कर्मका अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण अवश्य होगा यदि ऐसा कोई नियम होता तो बजाय बंधावलीमें अपकर्षणादिका अयोग्यता बतलानेके यह ही कहा जाता कि बंधकालमें जिन कर्मप्रदेशोंमें जिस कालमें उदीरणा आदि होनेका नियम बन गया है, उन प्रदेशोंमें उसी कालमें अवश्य उदीरणा आदि होगी, उस कालसे पूर्व या पश्चात् वे कर्मप्रदेश उदीरणा आदिके अयोग्य हैं। किन्तु ऐसा किसी भी आगममें नहीं कहा है, धवल व जयधवल आदिमें तो बंधावलीका नियम दिया है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा २७८ में भी यह कहा है कि जिस समय जिस प्रकृतिका उदय होता है उस समय उसकी उदीरणा भी होती है, किन्तु कहीं पर कुछ अपवाद भी है।

श्री जयधवल पु० ८ पृ० २५६ पर बतलाया गया है कि बंधावलीके अनन्तर ही कोई जीव अपकर्षण द्वारा अबाधाकालमें भी निषेक रचना करके उसके अनन्तर समयमें उत्कर्षण कर सकता है।

इससे सिद्ध है कि बंधकालमें कर्मप्रदेशोंके उत्कर्षणादि सम्बन्धी कोई नियम नहीं बनता है, किन्तु बाह्य और अंतरंग निमित्तोंके अनुसार उत्कर्षण, अपकर्षण संक्रमण, उदीरणादि होते रहते हैं। उदीरणादिका कोई नियत काल नहीं है।

उद्वेलनाका उदाहरण देते हुए आपके द्वारा दूसरा हेतु यह दिया गया है कि 'उदीरणादि किस क्रमसे होती है और कितने कालमें होती है, कर्मशास्त्रकी यह सब व्यवस्था बिगड़ जायेगी।'

यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यग्मिथ्यात्वका उद्वेलना-संक्रमण मिथ्यात्व गुणस्थानमें होता है। मिथ्यात्व गुणस्थानमें सबसे जघन्य काल रहकर जिसने सम्यग्दर्शनको प्राप्त कर लिया है उसके उद्वेलना-संक्रमण नहीं होता है। यदि अधिक कालतक मिथ्यात्व गुणस्थानमें ठहर जाय और उद्वेलना-संक्रमण प्रारम्भ भी हो जाय, किन्तु सम्यग्दर्शन प्राप्त होनेपर उद्वेलना-संक्रमण रुक जाता है और मिथ्यात्व व मिश्र प्रकृतिके कर्मप्रदेशोंका सम्यक्त्व प्रकृतिरूप संक्रमण होने लगता है। सम्यग्दर्शन व मिथ्यात्वकी प्राप्तिका कोई नियत काल नहीं है, फिर उद्वेलना-संक्रमणका काल नियत कैसे हो सकता है।

मिथ्यात्व गुणस्थानमें मिथ्यात्व प्रकृतिकी उदीरणा होती है और क्षयोपशम सम्यक्त्व होनेपर मिथ्यात्व प्रकृतिकी उदीरणा रुक जाती है और सम्यक्त्व प्रकृतिकी उदीरणा होने लगती है। इस प्रकार सम्यक्त्व व मिथ्यात्व प्रकृतियोंकी उदीरणाका भी कोई नियत काल नहीं है।

गुणसंक्रमण व सर्वसंक्रमणका भी किसी जीवके लिये कालका कोई नियम नहीं है। जो अनादि मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर क्षयोपशम सम्यग्दर्शनके पश्चात् क्षायिक सम्यग्दृष्टि हो जाता है उसके सम्यक्त्व प्रकृतिका गुणसंक्रमण व सर्वसंक्रमण नहीं होता है।

उपशमश्रेणी अनिवृत्तिकरण गुणस्थानपर दो जीवोंने एक साथ आरोहण किया, अनिवृत्तिकरणमें एक कालवर्ती सब जीवोंके परिणाम समान होते हैं, अतः इन दोनों जीवोंके परिणाम भी समान चल रहे थे, किन्तु

अनिवृत्तिकरणके अन्तिम समयमें एककी मृत्यु हो जाने पर चौथे गुणस्थानमें चला जाता है और दूसरा जीव सूक्ष्म-सांपराय दसवें गुणस्थानमें पहुँच जाता है इस प्रकार पूर्व क्षणवर्ती एक ही परिणामसे उत्तर क्षणमें दो प्रकारकी उत्तर पर्याय उत्पन्न हो जाती है।

जयधवल पुस्तक ६ धवल पु० ४ आदि सिद्धान्त ग्रन्थोंके आधारपर यह लिखा गया है। कर्मनिर्जरा सविपाक और अविपाकके भेदसे दो प्रकारकी है। सविपाक निर्जरा तो सभी संसारी जीवोंके होती है, किन्तु अविपाक निर्जरा प्रयत्नपूर्वक सम्यक् तपके द्वारा होती है।

सयमेव कम्मगलणं इच्छारहियाण होइ सत्ताणं।
सविपाकणिज्जरा सा अविपक्कउवायखवणादो ॥१५८॥

—नयचक्रसंग्रह पृ० ६३, माणिकचन्द ग्रंथमाला

अर्थात्—जीवोंके बिना इच्छाके जो कर्म गलन होता है वह सविपाक निर्जरा है। उपायपूर्वक जो कर्मोंका क्षय होता है वह अविपाक निर्जरा है।

तपके लिये कोई काल नियत नहीं है, अतः अविपाक निर्जराके लिये भी कोई काल नियत नहीं है।

करणानुयोगसम्बन्धी विषयोंका विचार

इसके आगे जो हेतु दिये गये हैं उनका उपरोक्त दोनों नियम अथवा नियति अपर नाम क्रमबद्ध पर्यायके सिद्ध करनेसे कोई सम्बन्ध ही नहीं है अर्थात् प्रकृत विषयमें उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। न मालूम वे यहाँ इस प्रकरणमें क्यों लिखे गये हैं? इनसे तो कुछ ऐसा सिद्ध करनेका आशय प्रतीत होता है कि सर्व कार्य मात्र उपादानसे ही होते है, निमित्त तो अकिंचित्कर है। यदि ऐसा है तो यह हेतु निमित्त सम्बन्धी प्रश्नके उत्तरमें लिखे जाने चाहिये थे। अप्रासंगिक होते हुये भी उनका स्पष्टीकरण किया जाता है।

हेतु नं० ३ व ४ :—एक ही परिणाम या योग निमित्तभूत होते हुये, भिन्न-भिन्न प्रकृतियोंमें भिन्न स्थिति, अनुभाग तथा प्रदेशबन्धका भेद कौन करता है। इस प्रकार प्रश्न करके छोड़ दिये गये हैं। ये किस प्रकार हेतु है, स्पष्ट नहीं किया गया है।

इन दोनों प्रश्नोंसे यह आशय प्रतीत होता है कि एक ही निमित्त कारण होनेसे एक ही कार्य होना चाहिये था, भिन्न-भिन्न नहीं। किन्तु ऐसा कोई नियम नहीं है कि एक कारणसे एक ही कार्य हो सकता है, भिन्न नहीं। एक ही कारणसे भिन्न भी कार्य हो सकते हैं। जैसे एक घड़ेपर एक लाठी मारी। लाठी लगने रूप एक ही कारण होने पर भी भिन्न-भिन्न आकारके तथा भिन्न-भिन्न प्रमाण (पैमायश)के कपालोंका उपपाद हो जाता है। एक ही अग्निके निमित्तसे ईंधनके जलनेका, भात आदि पचने तथा प्रकाश होने रूप भिन्न कार्य होते हैं।

कज्जणाणत्तादो कारण-णाणत्तमणुमाणिज्जदि इदि एदमवि ण घडदे, एयादो मोग्गरादो बहु-कोडिकवालोवलंभा।—धवल पु० १ पृ० २१९।

अर्थ—इस प्रकार है—

शंका—अनेक प्रकारके कार्य होनेसे उनके साधनभूत अनेक प्रकारके कारणोंका अनुमान किया जाता है?

समाधान—यह कहना भी नहीं बनता है, क्योंकि एक मुद्गरसे अनेक प्रकारके कपालरूप कार्यकी उपलब्धि होती है।

दूसरी बात यह है कि अन्य सहकारी कारणोंसे भी जीवके एक ही परिणाम व योगसे भिन्न-भिन्न प्रकृतियोंमें स्थिति अनुभाग बंधमें भेद हो जाता है। इसके लिये आगम प्रमाण निम्न प्रकार है—

कधमेकसंकिलेसादो असंखेज्जलोगमेत्तअणुभागछट्ठाणाणं बंधो जुज्जदे ? ण एस दोसो, एक्क-संकिलेसादो असंखेज्जलोगमेत्तअणुभागबंधज्झवसाणट्ठाणसहकारिकारणाणं भेदेण सहकारिकारणमेत्तअणु-भागट्ठाणाणं बंधाविरोहादो।

—धवल पु० १२ पृ० ३८०

अर्थ इस प्रकार है—

शंका—संकलेशसे असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागसम्बन्धी छह स्थानोंका बन्ध कैसे बन सकता है ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि एक संक्लेशसे असंख्यात लोकप्रमाण छह स्थानोंसे सहित अनुभागबन्धाध्यवसानोंके सहकारी कारणोंके भेदसे सहकारी कारणोंके बराबर अनुभागबंधस्थान होनेमें कोई विरोध नहीं आता।

णाणावरणीएण सह जदि सेसछकम्मेहि उक्कस्सट्ठिदी पबद्धा तो णाणावरणीएण सह सेसछकम्माणि वि ट्ठिदिं पडुच्च उक्कस्साणि चेव होंति। जदि पुण विसेसपच्चएहि सेसकम्माणि विगलाणि होंति तो णाणावरणट्ठिदीए उक्कस्सीए संतीए सेसकम्मट्ठिदी अणुक्कस्सा होदि।

—धवल पु० १२ पृ० ४५१

अर्थ—ज्ञानवरणीयके साथ यदि शेष छह कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति बाँधी गई है तो ज्ञानवरणीयके साथ शेष छह कर्म भी स्थितिकी अपेक्षा उत्कृष्ट ही होते हैं। परन्तु यदि विशेष प्रत्ययोंसे शेष कर्म विकल होते हैं तो ज्ञानवरणीयकी स्थितिके उत्कृष्ट होनेपर भी शेष कर्मोंकी स्थिति अनुत्कृष्ट होती है।

तीसरी बात यह है कि कर्म-प्रकृति विशेषके कारण भी बन्धमें विभिन्नता हो जाती है।

हेतु नं० ५ भी प्रश्न रूपमें ही है। यह नहीं बतलाया कि उससे क्या सिद्ध करना अभिप्रेत है ? प्रश्न है:—'किस समयमें विस्रसोपचयमेंसे किन कर्मवर्गणाओंका कितने परिमाणमें बंध होगा, यह भेद भी कौन करता है ? आत्मा तो मात्र परिणाम करता है, परन्तु उस समय बन्ध योग्य कर्मवर्गणाओंका ही बन्ध होता है, अन्यका नहीं, ऐसा फर्क क्यों पड़ता है ?'

यह कहना कि विस्रसोपचयमेंसे कुछ कर्मवर्गणायें बन्ध योग्य होती हैं तथा कुछ नहीं—युक्त नहीं है। क्योंकि कर्मवर्गणाका लक्षण ही यह है कि वह द्रव्य कर्मरूप परिणमन करनेके योग्य है। द्रव्यकर्मरूप परिणमन करनेका नाम ही बन्ध है। जैसे ऊपर कह आये हैं श्री वीरसेन स्वामीने श्री धवल पु. १२ पृ० २७६–७७ पर यह ही उत्तर दिया कि कर्मस्कन्धोंमें समान शक्ति होते हुए भी, जीवमें इतनी शक्ति नहीं है जो सर्व-कर्मवर्गणाओंको एक समयमें कर्मरूप परिणमा सके। यह उत्तर नहीं दिया कि जिन कर्मवर्गणाओंमें योग्यता है वही कर्मरूप परिणमती हैं, शेष योग्यता नहीं होनेके कारण नहीं परिणमती हैं। प्रत्युत सबमें समान शक्ति (योग्यता) मानी गई है।

श्री धवल पु० १२ पृ० २७६–२७७ पर दिये गये निम्न शंका-समाधानसे विषय स्पष्ट हो जाता है—

पाणादिवादो जदि णाणावरणीयबंधस्स पच्चओ होज्ज तो तिहुवणे ठिदकम्मइयखंधा णाणा-वरणीयपज्जएण अक्कमेण किण्ण परिणमंते, कम्मजोगत्तं पडि विसेसाभावादो ? ण, तिहुवणब्भंतर कम्मइयखंधेहि देसविसयपच्चासत्तीए अभावादो।

अर्थ—शंका यदि प्राणातिपात ज्ञानावरणीयके बन्धका कारण हैं, तो तीनों लोकोंमें स्थित कार्मणस्कन्ध ज्ञानावरणीय पर्याय स्वरूपसे एक साथ क्यों नहीं परिणत होते हैं ? क्योंकि उनमें कर्मयोग्यताकी अपेक्षा समानता है ?

समाधान—नहीं क्योंकि, तीनों लोकोंके भीतर स्थित कार्मणस्कन्धोंमें देशविषयक प्रत्यासत्तिका अभाव है ।

नोट—यह बात ध्यान देने योग्य है कि सर्व कार्मणस्कन्धोंमें कर्मयोग्यताकी अपेक्षा समानता कही गई है । समाधानमें इसको अस्वोकार नहीं किया गया, क्योंकि यह उत्तर नहीं दिया गया है कि जिनमें योग्यता है वही बँध गई और शेष नहीं बँधी है ।

जदि एयक्खेत्तोगाढा कम्मइयक्खंधा पाणादिवादादो कम्मपज्जाएण परिणमंति तो सव्वलोगगय-जीवाणं पाणादिवादपच्चएण सव्वे कम्मइयखंधा अक्कमेण णाणावरणीयपज्जाएण परिणदा होंति । ण च एवं, विदियादिसमएसु कम्मइयखंधाभावेण सव्वजीवाणं णाणावरणीयबंधस्स अभावप्पसंगादो । ण च एवं, सव्वजीवाणं णिव्वाणगमणप्पसंगादो ? एत्थ परिहारो वुच्चदे–पच्चासत्तीए एगोगाहणविसयाए संतीए वि ण सव्वे कम्मइयक्खंधा णाणावरणीयसरूवेण एगसमएण परिणमंति, पत्तं दज्झं दहमाणदहणम्मि व जीवम्मि तहाविहसत्तीए अभावादो ।

अर्थ—शंका–यदि एक क्षेत्रावगाहरूप हुये कार्मणस्कंध प्राणातिपातके निमित्तसे कर्म पर्यायरूप परिणमते है तो समस्त लोकमें स्थित जीवोंके प्राणातिपात प्रत्ययके द्वारा सभी कार्मण स्कन्ध एक साथ ज्ञानावरणीय रूप पर्यायसे परिणत हो जाने चाहिये । परन्तु ऐसा हो नहीं सकता, क्योंकि वैसा होनेपर द्वितीयादि—समयों-में कार्मणस्कन्धोंका अभाव हो जानेसे सब जीवोंके ज्ञानावरणीयका बन्ध न हो सकनेका प्रसंग आता है । किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है, क्योंकि इस प्रकारसे समस्त जीवोंके मुक्तिका प्रसंग अनिवार्य है ।

समाधान—उपर्युक्त शंकाका परिहार किया जाता है—एक अवगाहनाविषयक प्रत्यासत्तिके होनेपर भी कार्मण स्कंध एक समयमें ज्ञानावरणीय स्वरूपसे नहीं परिणमते हैं, क्योंकि प्राप्त ईन्धन आदि दाह्य वस्तुको जलानेवाली अग्निके समान जीवोंमें उस प्रकारकी शक्ति नहीं है ।

जीवमें एक समयमें अभव्योंसे अनन्तगुणे तथा सिद्धोंसे अनन्तवें भागप्रमाण परमाणु बाँधनेकी शक्ति है । उसमें योगके निमित्तसे यह भेद आता है कि कितने परिमाणमें कर्मवर्गणायें किसी एक समयमें बंधेगी, जिस समय जिन वर्गणाओंसे निमित-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है; उस समय वही वर्गणायें बँध जाती हैं । जैसे आहार वर्गणा, वचनवर्गणा एवं मनोवर्गणा तीनों वर्गणायें प्रत्येक समयमें आती है, किन्तु जीवके प्रदेशोंके परिस्पन्दका जिस समय इन तीनोंमेंसे जिस वर्गणासे निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध हो जाता है उस समय वह ही योग कहलाता है ।

उपरोक्त करणानुयोगका सर्व विषय छद्मस्थके ज्ञानगम्य नहीं है । इसका आधार मात्र आगम प्रमाण है जो युक्तियों व तर्कका विषय नहीं है । श्री धवल पु० १४ पृ. १५१ पर कहा है कि आगम तर्कका विषय नहीं है तथा पृ० ३५९ पर लिखा है कि युक्तिके द्वारा सूत्र बाधित नहीं किया जा सकता है । जो प्रश्न यहाँ उठाये गये हैं उन सबका समाधान श्री धवल, जयधवल आदि कर्म-ग्रन्थोंमें उपस्थित है । निमित्त कारणकी मुख्यतासे ही यह सर्व व्यवस्था, विशेषता या भेद बतलाये हैं । आश्चर्य इस बातका है कि फिर भी उन्हीं ग्रन्थोंके टीकाकार ही उक्त प्रश्नोंको उठाकर उन प्रमाणोंके विरुद्ध यह सिद्ध करना चाहते हैं कि यह सब

व्यवस्था, विशेषता या भेद एकान्ततः मात्र उपादानको योग्यताके कारण ही होते हैं। इस एकान्त मिथ्यावाद-को सिद्ध करनेके लिये यह भी मान लिया गया है कि ऐसी भी कर्मवर्गणायें है जो बंध योग्य नहीं है अर्थात् द्रव्य कर्म रूप परिणमन करने योग्य नहीं है। जो किसी भी प्रकार आगम सम्मत नहीं हो सकता है।

छठेका उत्तर आगे दिया गया है।

आगे आपने लिखा है कि 'निमित्तकी निमित्तता कार्यके समयमें मानी गयी है।' इतना लिखनेके बाद आपने उपादानके कार्यरूप परिणत होते समय निमित्तमें होनेवाले व्यापारके विषयमें तीन आपत्तियाँ उपस्थित की है। वे निम्न प्रकार हैं।—

पहली आपत्ति आपने यह उपस्थित की है कि 'उपादानके कार्यरूप परिणत होते समय निमित्तका व्यापार यदि उसकी अपनी परिणतिके लिये होता है तो फिर उसने उक्त उपादानको कार्य परिणतिमें क्या किया ?'

दूसरी आपत्ति आपने यह उपस्थित की है कि 'उपादानके कार्यरूप परिणत होते समय निमित्तका व्यापार यदि उपादानकी परिणतिके लिये होता है तो फिर उपादानमें उपादानके व्यापारकी तरह निमित्तका भी व्यापार दिखना चाहिये, साथ ही निमित्तका व्यापार निमित्तमें नहीं दिखना चाहिये।'

तीसरी आपत्ति आपने यह उपस्थित की है कि 'उपादानकी कार्यरूप परिणति होते समय निमित्तका व्यापार यदि उसकी अपनी परिणति तथा उपादानकी परिणति दोनोंके लिये होता है तो फिर इस तरह निमित्तमें एक साथ दो तरहके व्यापार मानना अनिवार्य हो जायगा जो कि जिनागमके विरुद्ध है।'

इन आपत्तियोंका निराकरण आपने जो किया है वह निम्न प्रकार है :—

'अतएव ऐसा मानना ही उचित है कि उपादानके कार्यके प्रति दूसरे एक या एकसे अधिक जिन द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंमें निमित्त-व्यवहार होता है वे सब कार्य तो अपना-अपना ही करते हैं। कोई किसी का कार्य नहीं करता, परन्तु उन सब द्रव्योंके उस उस कालमें उस उसरूप परिणमनकी द्रव्य-पर्यायात्मक उपादान योग्यता सहज ही होती है और उनका वैसा ही परिणमन भी होता है, मात्र इन दोनोंकी इस बाह्य व्याप्तिको देखकर ही उनमें निमित्तनैमित्तिकसम्बन्ध स्वीकार किया गया है ऐसा मानना आगमानुकूल है।'

इस विषयमें आगमकी दृष्टि यह है कि उपादानकी कार्यके साथ एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता होती है अर्थात् उपादान ही कार्यरूप परिणत हुआ करता है। लेकिन जिसे लोकमें या आगममें निमित्त कहा गया है वह यद्यपि उस उपादानभूत अन्य वस्तुके कार्यरूप परिणत नहीं होता, फिर भी जब तक निमित्त अपना तदनुकूल व्यापार नहीं करता है तब तक उस उपादानकी वह विवक्षित कार्यरूप परिणति नहीं होती है ऐसा लोकमें देखा भी जाता है और आगममें प्रतिपादित भी किया गया है, अतः इस प्रकार अन्वयव्यति-रिकके आधार पर उस उपादानभूत वस्तुकी कार्यपरिणतिके साथ उस निमित्तभूत वस्तुकी कालप्रत्यासत्तिरूप कारणता सिद्ध हो जाती है। अर्थात् जिस क्षणमें निमित्तका उपादानभूत वस्तुकी कार्य-परिणतिके अनुकूल व्यापार होता है उस क्षणमें ही उपादान विवक्षित कार्यरूप परिणत होता है और उस निमित्तभूत वस्तुका उस उपादानभूत वस्तुके विवक्षित कार्यके अनुकूल जब तक व्यापार नहीं होता है या व्यापार बीच ही में रुक जाता है तो उसकी विवक्षित कार्यरूप परिणति या तो होती नहीं, अथवा या फिर बीचमें बन्द हो जाती है।

काल प्रत्यासत्तिका अर्थ यह है कि जिस कालमें निमित्त अपना व्यापार करता है उसी कालमें उपादान अपने कार्यरूप परिणत होता है और निमित्तकी उस कार्यके साथ अन्वय-व्यतिरेकव्याप्ति इस तरह सिद्ध होती है कि निमित्तका कार्योत्पत्तिके अनुकूल व्यापार होने पर ही कार्य होता है तथा निमित्तका कार्योत्पत्तिके अनुकूल व्यापार न होने पर कार्य नहीं होता है। इसी तरह निमित्तकी कार्योत्पत्तिके साथ बहिर्व्याप्ति पायी जाती है—इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि निमित्तके कार्योत्पत्तिके अनुकूल व्यापार होने पर ही कार्योत्पत्ति होती है, परन्तु निमित्त स्वयं कार्यरूप परिणत नहीं होता है अथवा निमित्तके गुण-धर्म कार्यमें नहीं प्रविष्ट होते हैं।

इसमें संदेह नहीं कि निमित्तका कार्योत्पत्तिके अनुकूल जो भी व्यापार होता है उसके अतिरिक्त कोई अन्य व्यापार उसके साथ उस समय निमित्तका नहीं होता है अर्थात् एक समयमें एक ही व्यापार उसका होता है, परन्तु वही एक व्यापार स्वयं अपनेमें होनेवाले परिणमनका उपादान होता है और अन्य वस्तुके उसके साथ प्रतिनियत परिणमनमें वही निमित्त (सहायक) होता है। इस तरह निमित्तमें अपना और परका कार्य करनेके लिये दो व्यापार एक साथ होते हैं ऐसी मान्यता हमारी नहीं है। हमारी मान्यता तो यह है कि वही एक व्यापार अपने कार्यका उपादान होता है और परके कार्यका वही निमित्त होता है। इसी तरह कार्य एक होकर भी अपने उपादान कारणकी अपेक्षा उपादेय होता है और अपने निमित्त कारणकी अपेक्षा वही नैमित्तिक भी होता है। इस विवेचनसे यह बात स्पष्ट है कि आपने जो तीन आपत्तियाँ निमित्तोंको कार्यमें प्रयोजनभूत (सार्थक या उपयोगी) माननेमें उपस्थित की है वे नहीं आती हैं। जिनागममें यही तत्त्व प्रतिफलित किया गया है। हमारा विश्वास है कि आपका वह भय इस स्पष्टीकरणसे दूर हो जायगा जिसके कारण आप निमित्तोंको अकिंचित्कर माननेके लिये तैयार हुए हैं।

आपने लिखा हैं कि सब द्रव्योंके उस कालमें उस उस रूप परिणमनेकी द्रव्यपर्यायात्मक उपादान योग्यता सहज ही होती है आदि'

आपके ऐसा लिखनेसे ऐसा मालूम पड़ता है कि सभी प्रकारके निमित्तोंको आप एक ही आसन पर बिठला देना चाहते है, लेकिन हम कहते हैं कि आप इस तरह प्रत्यक्ष, तर्क और आगमका अपलाप कर रहे हैं, क्योंकि आगममें प्रेरक और उदासीन दो प्रकारके निमित्त बतलाये गये है। जो वस्तुको उसकी अपनी कार्यपरिणतिमें प्रेरणा दें वे प्रेरक निमित्त कहलाते हैं। जैसे स्वर्णका आभूषण बननेमें स्वर्णकार और हथोड़ी आदि प्रेरक निमित्त कहे जाते है तथा जो वस्तुको उसकी अपनी कार्य परिणतिमें प्रेरणा न देते हुए भी निमित्त हों वे उदासीन निमित्त कहलाते हैं। जैसे आकाश, धर्म, अधर्म और काल ये तो सामान्य उदासीन निमित्त हैं तथा जल मछलीके लिए विशेष उदासीन निमित्त है, रेलकी पटरी रेलगाड़ीके लिए विशेष उदासीन निमित्त है, छाया पथिकके लिए विशेष उदासीन निमित्त है—आदि। रेलगाड़ीके गमनमें एंजन व ड्राइवर भी प्रेरक निमित्त ही होते हैं।

आगे आपने लिखा है—'शब्द विवक्षित वाक्योंका रूप लेकर सीमित अर्थका ही प्रतिपादन करते है आदि।' और फिर इसके अन्तमें आपने लिखा है कि 'प्रकृतमें ३२१–३२२ गाथायें निश्चय नयकी मुख्यतासे लिखी गयी हैं। वह इसीसे स्पष्ट है कि उससे अगली गाथासे 'एवं जो णिच्छयदो' यह पाठ दिया गया है, हम इस गाथामें पठित 'णिच्छयदो' पदको गौण कर दें और उनका अपने विकल्पके अनुसार अर्थ करें यह उचित नहीं है।'

इसपर हमारा कहना यह है कि अर्थ करनेकी यह पद्धति है कि जहाँपर निश्चय नयकी मुख्यतासे कथन हो वहाँपर व्यवहार नयका कथन उसके प्रतिपक्षीपनेके रूपमें स्वीकार होता है। लेकिन आपके कथनानुसार यदि यह निश्चयनयका कथन है तो भी आपको इसका प्रतिपक्षी व्यवहार नयका कथन तो स्वीकार करना ही चाहिये, परन्तु जब आप व्यवहार नयके विषयको उपचरित, कल्पनारोपित, सद्भूत, मिथ्या आदि रूप मानते हैं तो फिर कैसे माना जाय कि आप व्यवहार नयके कथनको भी स्वीकार करते हैं।

हम कई जगह कह चुके हैं कि निश्चय और व्यवहार ये दोनों वस्तुमें विद्यमान सदात्मक अंश या धर्म ही हैं, उपचरित, कल्पित या असदात्मक नहीं हैं। इनमेंसे व्यवहार धर्मसापेक्ष निश्चय धर्मका प्रतिपादक शब्द और ज्ञापक ज्ञान निश्चय नय है और निश्चय धर्मसापेक्ष व्यवहार धर्मका प्रतिपादक शब्द और ज्ञापक ज्ञान व्यवहारनय है।

इस तरह आप वस्तुके वास्तविक वस्त्वंशरूप व्यवहाररूप धर्मको और उसके प्रतिपादक व ज्ञापक वास्तविक व्यवहार नयोंको स्वीकार तो कर लीजिए ताकि यह समझमें आ जाय कि आप निश्चय धर्म और निश्चय नयके साथ-साथ व्यवहार धर्म और व्यवहार नयको भी वास्तविक स्वीकार करते हैं। तभी तो निश्चय नयमें अंशरूप नयात्मकता और उसमें व्यवहारनय सापेक्षता सिद्ध होगी, अन्यथा उसमें नयात्मकता तो आनेसे रही और उसमें प्रमाणात्मकता इसलिए नहीं आ सकती है कि वस्तु निश्चय मात्र ही नहीं है, क्योंकि वह व्यवहारात्मक भी है, अतः आपकी मान्यता प्रमाणाभासमें ही गर्भित हो जायगी।

एक बात और है आप स्वामिकार्तिकेयानुपेक्षा की ३२१ व ३२२ वीं गाथाओंसे प्रतिपादित विषयको निश्चय नयका विषय मानते हैं, क्योंकि आप कहते हैं कि ३२३ वीं गाथामें 'णिच्छयदो' पदका पाठ है, लेकिन यह ख्याल कीजिए कि यह 'णिच्छयदो' पद निश्चय नयका वाचक नहीं है, किन्तु असंशयित भाव या आस्तिक्यभाव अथवा ज्ञानकी निर्णयात्मक स्थितिका ही बोधक है। इस पर आपको विचार करना चाहिये।

आगे आपने अपने अभीष्ट अर्थको संपुष्ट करनेके लिये पद्म-पुराणका 'यत्प्राप्तव्यं' इत्यादि पद्य, पं० भैया भगवतीदासजीका 'जो जो देखी वीतराग ने' इत्यादि पद्य और स्वयंभूस्तोत्रका 'अलंघ्यशक्तिः' इत्यादि पद्य इन सबका उद्धरण दिया है। चूँकि इनके विषयमें पहले हम विस्तारसे प्रकाश डाल चुके हैं, अतः यहाँ इनके विषयमें कुछ नहीं लिखा जा रहा है। इतना ध्यान अवश्य ही आपको दिला देना चाहते हैं कि 'अलंघ्यशक्तिः' पदसे भवितव्यताको अटल शक्ति (जिसकी शक्तिको कभी टाला नहीं जा सकता है) मानकर आप उससे जो अपनी अभिलषित पुष्टि करना चाहते हैं वह इस तरह हो नहीं सकती है। कारण 'अलंघ्यशक्तिः' पदका शक्तिको लाँघकार यानी शक्तिका अतिक्रमण करके-ऐसा अर्थ करके स्वामी समन्तभद्र उस पद्यसे इतना ही भाव प्रदर्शित करना चाहते हैं कि प्राणी अशक्त है, असमर्थ है, इसलिये वह कोई कार्य भवितव्यता (होनहार) की शक्तिका अतिक्रमण करके कदापि नहीं कर सकता है। 'अलंघ्यशक्तिः' पदका अटलशक्ति अर्थ जैन संस्कृतिकी मान्यताके बिल्कुल विपरीत है, इसलिये स्वामी समन्तभद्र जैसे तार्किक-शिरोमणि द्वारा जैन संस्कृतिके विरुद्ध भी कथन किया जा सकता है यह असंभव बात है।

आगे आपने लिखा है कि—पूर्वबद्ध आयुकर्ममें जितना स्थितिबन्ध होता है उसमें भोगकालमें उत्कर्षण तो संभव नहीं, निषेक स्थिति अपकर्षण हो सकता है। इस नियमको ध्यानमें रखकर जिन जीवोंमें यह निषेक स्थिति आकर्षण नहीं होता उन जीवोंका वह आयु कर्म इस नियमका अपवाद है—यह दिखलानेके

लिये तत्त्वार्थसूत्रके अध्याय २. सूत्र ५३ में नियम वचन आया है। उस परसे बहुतसे बन्धु यह फलित करते हैं कि यह व्यवहार कथन न होकर निश्चय कथन है आदि।'

आपके इस कथनसे हमें ऐसा मालूम पड़ता है कि आप कालमरण और जिसे अकलंक आदि आचार्यों के प्रमाणोंके आधारपर हम अकालमरण कहते हैं उसे भी निश्चय नयका विषय मानते हैं और इसके आधार पर आप हमारे ऊपर आक्षेप करते हैं कि 'तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ सूत्र ५३ में जो नियम वचन आया है इस परसे बहुतसे बन्धु यह फलित करते हैं कि यह व्यवहार कथन न होकर निश्चय कथन है।'

वास्तवमें कालमरण और अकालमरणका जितना भी कथन आगममें पाया जाता है वह सब व्यवहार कथन ही है, क्योंकि निश्चय नयसे आत्मा अपने आपमें अमर ही है। हमें आश्चर्य होता है कि आप काल-मरणको और अकालमरणको भी कालमरणकी ही संज्ञा देकर इसे भी निश्चय नयका ही विषय मानते हैं और फिर अपनी मान्यताकी पुष्टिके लिये यह कहते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ के ५३ वें सूत्रका कथन तथा अकलंकदेव आदि आचार्योंका इस विषयसम्बन्धी कथन व्यवहारनयका कथन है।

आपके इस विवेचनसे हम यह समझे हैं कि आप उसे निश्चयनयका कथन मानते हैं जिसका वाच्य या ज्ञेय सत्यार्थ हो और उसे व्यवहार नयका कथन मानते हैं जिसका वाच्य या ज्ञेय सत्यार्थ न हो। परन्तु निश्चय नय और व्यवहार नयकी ये परिभाषायें आगमकी परिभाषायें नहीं हैं। आगमकी परिभाषामें तो ये हैं कि जिस कथन या ज्ञानका विषय वस्तुका निश्चयांश या निश्चयरूप धर्म होता है वह तो निश्चय नय कहलाता है और जिस कथन या ज्ञानका विषय वस्तुका व्यवहारांश या व्यवहार रूप धर्म होता है वह व्यवहार नय कहलाता है।

तात्पर्य यह है और जैसा कि इस तत्त्वचर्चाके प्रसंगमें कई स्थानोंपर आपको देखनेके लिये मिलेगा कि प्रत्येक वस्तुमें परस्पर विरोधी दो अंश या धर्म-युगलके रूपमें अनन्त अंश या धर्मयुगल पाये जाते हैं। इनमेसे प्रश्न नं० १७ के तृतीय दौरके हमारे प्रपत्रमें कतिपय वैसे अंश या धर्मयुगलोंका कथन आपको देखनेके लिये मिलेगा। प्रत्येक वस्तुके इन अंश या धर्म-युगलोंमेंसे प्रत्येक अंश या धर्म-युगलका एक भाग निश्चय रूप अंश या धर्मका है और दूसरा भाग व्यवहार रूप अंश या धर्मका है। इस तरह वस्तु परस्पर विरोधी दो अंशों या धर्मोका समुदाय या आधार सिद्ध होती है। जैसे वस्तु सद्रूप है और असद्रूप भी है, वस्तु नित्यरूप है और अनित्य-रूप भी है, वस्तु अभेदरूप है और भेदरूप भी है, वस्तु एकरूप है और अनेकरूप भी है, वस्तु तद्रूप है और अतद्रूप भी है वस्तु द्रव्यरूप है और पर्यायरूप भी है, वस्तु गुणरूप है और पर्यायरूप भी है, वस्तु कार्यरूप है और कारणरूप भी है, वस्तु उपादानरूप है और निमित्तरूप भी है इत्यादि परस्परविरोधी वस्तुके दो अंश या धर्मोंको पकड़कर उनके युगल बनाते जाइये तथा इन अंश या धर्म-युगलोंमेंसे प्रत्येक अंश या धर्मयुगलके पूर्व पूर्वके भागको शब्दरूप निश्चय नयका प्रतिपाद्य और ज्ञानरूप निश्चय नयका ज्ञाप्य तथा उन्हीं अंश या धर्म-युगलोंमेंसे प्रत्येक अंश या धर्म-युगलके उत्तरके भागको शब्दरूप व्यवहार नयका प्रतिपाद्य औरज्ञानरूप व्यवहार नयका ज्ञाप्य समझते जाईये।

इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि निश्चय नयकी तरह व्यवहार नयका भी वाच्य या ज्ञेय वस्तुमें अपने अपने रूपमें विद्यमान अंश या धर्म ही होता है। ऐसी स्थितिमें यह कैसे कह सकते हैं कि निश्चय नय उसे कहते हैं जिसका वाच्य या ज्ञेय सत्यार्थ हो और व्यवहार नय उसे कहते हैं जिसका वाच्य या ज्ञेय सत्यार्थ न हो।

जहाँ तक हम आपकी दृष्टिको समझ सके हैं—यह है कि आपने जो निश्चय नय और व्यवहार नयकी परिभाषायें निश्चित की हैं उनके आधारपर ही आप व्यवहार नयको असत्यार्थ, असद्भुत, अवास्तविक, उपचरित, आरोपित, कल्पित, मिथ्या आदि रूप मान लेते हैं, क्योंकि आपकी दृष्टिसे व्यवहार नयका प्रतिपाद्य या ज्ञाप्य कोई विषय सत्यार्थ नहीं रहता है और इससे विपरीत निश्चय नयको सत्यार्थ, सद्भूत, वास्तविक, अनुपचरित, अनारोपित, अकल्पित, सत्य आदि रूप मान लेते हैं, क्योंकि आपकी दृष्टिसे निश्चय नयका प्रतिपाद्य या ज्ञाप्य विषय सत्यार्थ रहता है। परन्तु हम आपसे पूछ सकते हैं कि यदि द्रव्य वास्तविक है तो क्या पर्याय वास्तविक नहीं है। ध्रौव्य वास्तविक है तो क्या उत्पाद और व्यय वास्तविक नहीं हैं? गुण वास्तविक है तो क्या उसकी पर्याय वास्तविक नहीं है, नित्यता वास्तविक है तो क्या अनित्यता वास्तविक नहीं है, इत्यादि। तात्पर्य यह है कि ये सभी वास्तविक हैं, लेकिन एक निश्चयरूप हैं और दूसरा व्यवहार रूप। चूँकि दोनों ही अंश या धर्म एक ही वस्तुके अंश या धर्म जैन संस्कृतिमें माने गये हैं, इसलिये प्रत्येक वस्तुको वहाँ पर (जैन संस्कृतिमें) अनेकान्तात्मक माना गया है।

अब प्रश्न उठता है कि जब उक्त प्रकारके एक-एक अंश या धर्म युगलमें विद्यमान दोनों अंश या धर्म वास्तविक होते हुए परस्पर विरोधी हैं तो एक वस्तुमें उनका रहना कैसे संभव है? तो इसका उत्तर जैन संस्कृतिमें स्याद्वादके सिद्धान्तको अपनाकर दिया गया है अर्थात् प्रत्येक वस्तुमें परस्पर विरोधी दोनों वास्तविक अंशों या धर्मोंकी स्थितिकी भिन्न-भिन्न अपेक्षायें हैं। यानी यद्यपि दोनों धर्म परस्पर विरोधी हैं फिर भी इस आधारपर वे एक ही वस्तुमें एक साथ रहते हैं कि उनके रहनेमें अपेक्षा भेद पाया जाता है अर्थात् जिस अपेक्षासे वस्तु नित्य है उस अपेक्षासे वस्तु अनित्य नहीं है, किन्तु द्रव्यरूपमें वस्तु नित्य है तो पर्यायरूपमें वही वस्तु अनित्य है। अब यदि द्रव्य भी वास्तविक है और उसकी पर्याय भी वास्तविक हैं तो फिर वस्तुमें पायी जानेवाली नित्यताकी तरह उसमें पायी जानेवाली अनित्यता भी वास्तविक ही सिद्ध होती है—उपचरित, कल्पित, आरोपित, मिथ्या, असद्भुत आदि रूपमें उसे नहीं माना जा सकता है। इसी प्रकारकी व्यवस्था उपादान और निमित्त कारणोंके विषयमें भी जानना चाहिये अर्थात् उपादान कार्यका निश्चय कारण है याने कार्यका आश्रय वही है और निमित्त व्यवहार कारण है याने उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें उपादानका वह सहायकमात्र है, आश्रय कारण नहीं है। क्योंकि जब एक वस्तुके गुण-धर्म दूसरी वस्तुमें प्रविष्ट नहीं होते तो वह आश्रय कारण कैसे हो सकता है? लेकिन यदि निमित्त कार्यका आश्रय नहीं है तो इसका अर्थ यह भी नहीं कि वह कार्यमें उपादानका सहयोगी या सहायक भी नहीं है, क्योंकि कार्यरूप परिणतिमें उपादानको उसकी (निमित्तकी) सहायता तो अपेक्षित रहती ही है यह बात अनुभव सिद्ध है, प्रत्यक्ष सिद्ध है, अनुमान सिद्ध है और आगमप्रसिद्ध भी है। अब आप ही बतलाइये कि इस स्थितिमें निमित्तको अकिंचित्कर कैसे कहा जा सकता है? इस तरह वस्तु अपने कार्यकी उपादान होते हुए भी अन्य वस्तुके कार्यकी निमित्त भी अन्वयव्यतिरेकके आधारपर हुआ करती है; परन्तु यहाँ पर यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि वह वस्तु अपने जिस व्यापारसे अपने कार्यकी उपादान है उसी व्यापारसे अन्य वस्तुके कार्यकी वह निमित्त (सहायक) है। इसलिये वस्तुमें द्विक्रियाओंके एक साथ रहनेकी जो आपत्ति दी जाती है वह नहीं जाती है।

हमारी आपसे प्रार्थना है कि उपर्युक्त तथ्यको पहिचानिये और अब आगमका सही अर्थ करने लग जाइये। इससे न केवल हमारा आपका विवाद समाप्त हो जायगा बल्कि हम और आप मिलकर भोले संसारी प्राणियोंको ऐसा प्रकाश-पुंज दे सकेंगे जिससे उनका कल्याणमार्ग प्रशस्त होगा।

आगे आपने लिखा है कि 'यह तो आगमके अभ्यासी भलीभाँति जानते हैं कि मृत्युको प्राप्त हुआ जीव

प्रथम, द्वितीय और तृतीय समयमें तथा अधिक-से-अधिक चौथे समयमें उत्तरभवको अवश्य धारण कर लेता है' आदि।

इस विषयमें हमारा कहना है कि आगमाभ्यासी व्यक्ति तो यह बात अच्छी तरह जानते हैं कि बद्धायुष्क जीवका अकाल मरण नहीं होता, क्योंकि उसका आबाधा काल निश्चित हो चुका है।

परभविआउए बद्धे पच्छा भुंजमाणाउस्स कदलीघादो णत्थि।

—धवल पु० १० पृ० २३७

अर्थ—परभवसंबंधी आयुके बँधनेके पश्चात् भुज्यमान आयुका कदलीघात नहीं होता।

तथा च जैसे नियत समयपर मरनेवाला अबद्धायुष्क जीव मरणसे अन्तर्मुहूर्त पहले आगामी आयुका बन्ध करता है और तदनुसार वह १–२–३–४ समयमें आयुके उदयानुसार यथास्थानमें जन्म ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार अकाल मरण यानी उदीरणा मरण करनेवाला जीव भी उदीरणाके पश्चात् मरनेसे अन्तर्मुहूर्त पहले आगामी आयुका बन्ध करके उसके अनुसार वह भी १–२–३–४ समयमें आयुके उदयानुसार यथास्थान जन्म ग्रहण किया करता है। यह आगमानुसार जमी हुई व्यवस्था है।

आपने आगे इसमें लिखा है कि 'अकालमरण स्वीकार करनेसे अकालजन्म भी स्वीकार करना होगा।' सो आपकी यह बात भी गलत है, कारण कि आगममें अकालमरण तो बतलाया गया है, परन्तु अकाल जन्मका विवेचन कहीं पर भी आगममें नहीं पाया जाता है। इसका कारण भी यह है कि भुज्यमान आयुकी उदीरणा हो सकती है, अत: आगममें अकाल मरणका कथन किया गया है, परन्तु बंध हुए बिना मरण होता नहीं और पूर्वबद्ध आयुके अनुसार ही जन्म होता है, अत: अकाल जन्मका प्रश्न ही पैदा नहीं होता और यही कारण है कि आगममें अकाल जन्मका कथन नहीं किया गया है।

आगे यह भी आपने लिखा है कि 'आनुपूर्वी कर्म, गति कर्म आदि तो जड़ हैं वे जानते नहीं कि ऐसी अनिश्चित अवस्थाके रहते हुए कहाँ इस जीवको ले जाया जाय ? आदि।'

इसका उत्तर यह है कि काल मरण और अकाल मरणवाले जीवके आगामी आयुका उदय एक समान होता है तो जिस प्रकार काल मरण करनेवाले जीव आनुपूर्वी कर्म, गति कर्म आदि जड़ कर्मके सहारेसे यथास्थान पहुँच जाते हैं उसी प्रकारकी व्यवस्था अकाल मरण करनेवाले जीवोंके विषयमें भी जानना चाहिये। कृपया आगमका निम्न वचन देखिये—

अप्पा पंगुह अणुहरइ अप्पु ण जाइ ण एइ।
भुवणत्तयहँ वि मज्झि जिय विहि आणइ विहि णेइ ॥१–६६॥

—परमात्मप्रकाश

अर्थ—यह आत्मा पंगु-के समान है, अपने आप न कहीं जाता है और न आता है। तीनों लोकमें इस जीवको कर्म ही ले आता है और कर्म ही ले जाता है।

वास्तविक बात यह है कि अकालमरणके प्रकरणमें आपके प्रपत्रमें विचारणीय बातें निम्न-लिखित हैं—

१—आप नियतिवादी हैं, इसलिये आपकी दृष्टिमें कालमरण और अकालमरणमें कोई अन्तर नहीं है अर्थात् अकालमरणका भी कालमरणके समान समय नियत है।

२—यद्यपि आगममें अकालमरणका विवेचन पाया जाता है, परन्तु वह विवेचन व्यवहारनयसे ही किया गया है।

३—आपकी दृष्टिमें हम अकालमरणको निश्चय पक्ष स्वीकार करते हैं।

इन तीन बातोंमेंसे तीसरी बातके विषयमें तो हम पहले ही कह चुके हैं कि हम न तो कालमरणको निश्चय पक्ष मानते हैं और न अकालमरणको ही निश्चय पक्ष मानते हैं, किन्तु हमारी दृष्टिमें कालमरण और अकालमरण दोनों ही व्यवहार पक्ष हैं।

दूसरी बातके विषयमें हम इस ढंगसे विचार करेंगे कि आप भी अकालमरणको व्यवहार पक्ष स्वीकार करते हैं और हम भी अकालमरणको व्यवहार पक्ष मानते हैं तब हमारे आपके मध्य अन्तर किस बातका है?

जहाँ तक हमने इस विषयके आपके अभिप्रायको समझनेका प्रयत्न किया है तो ऐसा मालूम पड़ता है कि आप व्यवहार नयके पक्षको असत्यार्थ मानते हैं जो कि उचित नहीं है, क्योंकि आगमकी दृष्टिमें व्यवहार पक्ष अपने ढंगसे उतना ही सत्यार्थ है जितना कि अपने ढंगसे निश्चय पक्ष सत्यार्थ है। आगमके निश्चय पक्ष और व्यवहार पक्षके सत्यार्थपनेकी स्वीकृतिरूप अभिप्रायको ध्यानमें रख कर ही हमने कालमरण और अकालमरण दोनोंको व्यवहार पक्ष स्वीकार किया है। आप स्पष्ट नहीं कर सके कि आप अकालमरणको भी कालमरण मान कर कालमरण और अकालमरण दोनोंको किस आधार पर निश्चय पक्ष मान लेते हैं। कारण कि आत्मा जब अमर है तो आत्माकी अमरता ही निश्चय पक्ष मानने योग्य है। इस तरह अकालमरणके समान कालमरणको भी व्यवहार पक्ष ही मानना चाहिये।

एक बात और विचारणीय है कि व्यवहार नयके प्रतिपाद्य विषयको आप अयथार्थ मानते हैं क्योंकि आपके मतसे व्यवहार नय वही है जिसका प्रतिपाद्य विषय सत्यार्थ नहीं होता—मिथ्या या कल्पित ही होता है तो इस विषयमें हमारा कहना यह है कि फिर आगममें व्यवहार नयके कथनकी आवश्यकता ही क्यों समझी गयी? कारण कि जिसका प्रतिपाद्य विषय ही कल्पित हो वह नय कैसा?

दूसरी भी बात यह विचारणीय है कि निश्चय नय भी तो कालमरणको व्यवहार रूपसे प्रतिपादित करता है। जिस प्रकार कि केवलज्ञान पदार्थोंको व्यवहाररूपसे जानता है अर्थात् जिस प्रकार केवलज्ञान द्वारा पदार्थोंको जानना व्यवहार है उसी प्रकार निश्चय नय द्वारा अकालमरणको प्रतिपादित करना भी तो व्यवहार ही माना जायगा। ऐसी स्थितिमें निश्चय नय और निश्चय नयका विषय ये दोनों भी अयथार्थ ही सिद्ध होंगे। इस तरह सम्पूर्ण तत्त्व ही अनिर्वचनीय हो जायगा और इसका अन्तिम परिणाम सर्वशून्यतापत्ति ही होगा, जिसे संभव है आप भी स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं होंगे। इसलिये जब निश्चय नयके विषयको आप सत्यार्थ मान लेते हैं तो फिर व्यवहार नयके विषयको भी आपके लिये सत्यार्थ ही मानना होगा। इस प्रकार व्यवहार नय अथवा व्यवहार नयके विषयको आपका मिथ्या या कल्पित आदि कहना असंगत ही है।

कुछ भी हो, हम तो आगमके प्रति श्रद्धावान् हैं, अतः इस प्रेरणासे अकालमरणके संबन्धमें निर्णयके लिये उपयोगी होनेके कारण तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ के सूत्र ५३ की तत्वार्थराजवार्तिक टीका और उसका श्री पं० पन्नालाल जी न्यायदिवाकर द्वारा किया गया हिन्दी अर्थ दोनों ही यहां दिये जा रहे हैं—

वार्तिक :—अप्राप्तकालस्य मरणानुपलब्धेरपवर्तनाभाव इति चेत्, न, दृष्टत्वादाम्रफलादिवत् ।१०।

अर्थ :—प्रश्न–आयुबंधमें जितनी स्थिति पड़ी है ताका अंतिम समय आये बिना मरणकी अनुपलब्धि है। जातें काल आये बिना तो मृत्यु होय नांही, तातें आयुके अपवर्तनका करना नांही सम्भवे है।

समाधान :—ऐसा कहना ठीक नाहीं है। जातें आम्रफलादिककी ज्यों अप्राप्त काल वस्तुका उदीरणा करि परिणमन देखिये हैं। जैसे आमका फल पालमें दियें शीघ्र पके है, तैसे कारणके वशतें जैसी स्थितिको लियें आयु बांध्या था ताकी उदीरणा करि अपवर्तन होय पहिले ही मरण हो जाय है।

टीका—यथा अवधारितपाककालात् प्राक् सोपायोपक्रमे सत्याम्रफलादीनां दृष्टः पाकस्तथा परिच्छिन्नमरणकालात् प्रागुदीरणाप्रत्यय आयुषो भवत्यपवर्तः।

उत्तर—जैसे आम्रके पकनेका नियमरूप काल है, तातें पहले उपाय ज्ञानकरि क्रियाका आरंभ होते संते आम्रफलादिककें पकना देखिये, तैसें ही आयुबन्धके अनुसार नियमित मरणकालतें पहले उदीरणाके बलतें आयुकर्मका अपवर्तन कहिये घटना होय है ऐसा जानना।

वार्तिक—आयुर्वेदसामर्थ्याच्च ॥११॥

अर्थ—बहुरि आयुर्वेद कहिये अष्टांग चिकित्सा कहिये रोगके दूर करनेमें उपयोगी क्रिया ताका प्ररूपक वैधक शास्त्र ताकी सामर्थ्यतें अर्थात् कथनतें तथा अनुभवतें आयुका अपवर्तन सिद्ध होय है।

टीका—यथाष्टांगायुर्वेदविद् भिषक् प्रयोगे अतिनिपुणो यथाकालवाताद्युदयात् प्राक् वमनविरेचनादिना अनुदीर्णमेव श्लेष्मादि निराकरोति अकालमृत्युव्युदासार्थं रसायनं चोपदिशति, अन्यथा रसायनोपदेशस्य वैयर्थ्यम्। न चादोऽस्ति। अत आयुर्वेदसामर्थ्यादस्त्यकालमृत्युः।

अर्थः—जैसे अष्टांग आयुर्वेद कहिये वैद्यशास्त्र ताके जाननेमें चतुर वैद्य चिकित्सामें अतिनिपुण वायु आदि रोगका काल आये बिना ही पहिले वमन विरेचन आदि प्रयोग करि, नहीं उदीरणाको प्राप्त भये जे श्लेष्मादिक, तिनका निराकरण करै है। बहुरि अकालमरणके अभावके अर्थ रसायनके सेवनका उपदेश करे है, प्रयोग करे है। ऐसा न होय तो वैद्यक शास्त्रके व्यर्थपना ठहरे। सो वैद्यकशास्त्र मिथ्या हैं नांही यातें वैद्यक शास्त्रके उपदेशको सामर्थ्यतें अकालमृत्यु है ऐसा सिद्ध होय है।

वार्तिक—दुःखप्रतीकारार्थं इति चेत् न, उभयथा दर्शनात् ॥१२॥

अर्थ—प्रश्न—शिष्य बहुरि कहे है जो रोगतें दुःख होय ता दुःखके दूर करनेके अर्थ वैद्यक शास्त्रका प्रयोग है, अकाल मृत्युके अर्थ नांही।

सामाधान—ताकों कहिये ऐसा कहना भी ठीक नांही, जातें वैद्यकशास्त्रका प्रयोग दोऊ प्रकार कर देखिये है। तातें दुःख होय ताका भी प्रतीकार करैं हैं। बहुरि दुःख नांही होय, तहाँ अकालमरण न होनेके अर्थ भी प्रयोग करे हैं।

टीका—स्यान्मतम्—दुःखप्रतीकारोऽर्थं आयुर्वेदस्येति ? तन्न, किं कारणम् ? उभयथा दर्शनात्। उत्पन्नानुत्पन्नवेदनयोर्हि चिकित्सादर्शनात्।

अर्थ—प्रश्न—दुःखके दूर करनेके अर्थ वैद्यकका प्रयोग है ?

समाधान—ताकों कहिये ऐसा नांही, क्योंकि जातें दोय प्रकार करि प्रयोग देखिये है। तहाँ वेदना जनित दुःख होय ताके दूर करने अर्थ भी चिकित्सा देखिये। अर वेदनाके अनुदयमें भी अकालमृत्युके दूर करने अर्थ चिकित्सा देखिये है। तातें अपमृत्यु सिद्ध होय है।

वार्तिक—कृतप्रणाशप्रसंग इति चेत्, न, दत्वैव फलं निवृत्तेः ॥१३॥

अर्थ—प्रश्न—बहुरि शिष्य कहे हैं जो आयु होते ही मरण होय तो तहां कर्मका फल दिये बिना ही नाशका प्रसंग आवे है। ऐसे, क्रिया जो कर्म ताका फल दिये बिना ही नाशका प्रसंग होय है। तहाँ कृतप्रणाश अर अकृताभ्यागम दोष आवे है ?

समाधान—ऐसा कहना भी ठीक नांही है; आयु कर्म भी जीवन्मात्र फल देकर ही उदीरणा करि निवृत्ति होय है।

टीका—स्यान्मतम्—अप्रकालमृत्युरस्ति कृतप्रणाशः प्रसज्येत इति, तन्न, किं कारणम् ? दत्वैव फलं निवृत्तेः, नाकृतस्य कर्मणः फलमुपभुज्यते, न च कृतकर्मफलविनाशः, अनिर्मोक्षप्रसंगात्, दानादि-क्रियारम्भाभावप्रसंगाच्च। किन्तु कृतं कर्मफलं दत्वैव निवर्तनं विततार्द्रपटशोषवत् अयथाकालनिर्वृत्तः पाक इत्ययं विशेषः।

अर्थ—प्रश्न—शिष्य कहे हैं जो मरणका काल बिना आये मृत्यु होय तो किये कर्मका फल दिये बिना ही कर्मके नाशका प्रसंग प्राप्त होय है ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नांही है, जातें कर्म है सो फल देकरि के ही निर्जरे हैं। तातें बिना किये कर्मका तो फल नांही भोगवे है। यातें तो अकृताभ्यागम दोष नांही होय है। बहुरि किये कर्मका फल दिये बिना नाश नांही होय है। यातें कृतप्रणाश नामा दोष नांही आवे है। भावार्थ—यहाँ कोई कहे जो आयुकर्मकी उदीरणारूप क्षय है कारण जाको ऐसे अकालमरणको प्रतीकार कैसे संभवे ? ताकों कहिये जो असाता वेदनीय कर्मके उदय करि उत्पन्न भया जो दुःख ताका प्रतीकार कैसे होय है। तहां असाता वेदनीय कर्मका उदयरूप अंतरंग कारण होते अर बाह्य वातादिक विकारके कारणतें प्रतिकूल वेदनारूप दुःख होय है ताके दूर करनेके अर्थ औषधादिकका प्रयोग कीजिये, तब दुःख मिट जाय है। तैसें ही आयु कर्मका उदय अंतरंगका कारण होतें, बाह्य जीवितव्यके कारण शुद्ध पथ्य आहारादिक तिनका विच्छेद होतें तथा दिनमें सोवना, विषयमें अधिक प्रवर्तना, मादक वस्तुका सेवन करना, प्रकृति विरुद्ध भोजनका करना, विशेष व्यायाम करना आदि कारणतें आयु की उदीरणा हो जाय, तब मरण हो जाय है। अर पथ्य आहारादिक बाह्य सामग्रीका अनुकूल मर्यादारूप संयोगकी प्राप्ति होते उदीरणा न होय है, जीवतव्य रहे है, तब अकालमरण न होय है ऐसा जाना। बहुरि अकृत कर्मके फलकों यह आत्मा भोगे तो या जीवके मोक्षके अभावका प्रसंग आवे। जातें बिना किये कर्मके फलका उपभोगपणां मोक्ष आत्माके ठहरे तहां मोक्षका अभाव होय। बहुरि किये कर्म फल दिये बिना ही नाश होय तो दान, व्रत, संयम, पूजन, भजन, अध्ययन, आचरण आदि क्रियाका आरम्भ मिथ्या ठहरे। तातें क्रिया कर्म कर्ताके अर्थ फल जो है ताहि देकर ही निर्जरे है। जैसे जलकरि आला वस्त्र चौड़ा करि तापमें सुखावे तो शीघ्र सूखे, तैसें आयु कर्म निमित्तके बलतें उदीरणा होय निर्जर जाय। ऐसे फलका विशेष है ऐसा जाननां।

उपरोक्त आगम प्रमाणसे करतलरेखावत् यह स्पष्ट हो जाता है कि पर्यायोंका कोई नियत काल नहीं होता है। पर्यायोंका होना या न होना कारणों पर निर्भर करता है। जैसे यदि कुपथ्यादि या अतिविषय सेवन आदि कारण मिलते हैं तो आयुकी उदीरणा होकर अकालमरण हो जाता है। यदि उन कारणोंको हटा दिया जाय और पथ्य आदि कारण मिलाये जायें तो आयुकी उदीरणा तथा अकाल मरण रुक जाय है।

स्व-काल

आपने क्रमबद्धपर्यायके समर्थनमें अनेक बार 'स्वकाल' शब्दका प्रयोग किया है। वह 'स्वकाल' क्या वस्तु है, इस विषय पर यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक है।

'स्व-काल' शब्द दो प्रकारसे विचारणीय हैं—१—स्वचतुष्टयकी अपेक्षा स्वकाल, २—द्रव्योंके परिणमनमें निमित्त कारणभूत काल द्रव्य। इनमेंसे जब स्वचतुष्टयरूप स्वकालका विचार किया जाता है तब द्रव्यके प्रतिक्षणमें होनेवाले परिणमनोंका क्रम ही स्वकाल शब्दका वाच्य है। परिणमन रूप कार्य भी बिना कारणोंके नहीं हो सकता, क्योंकि 'नैकं स्वस्मात् प्रजायते' यानी कोई भी कार्य बिना कारणके (स्वयं) उत्पन्न नहीं होता। इस नियमके अनुसार वह परिणमन भी कारण व्यापारपर निर्भर (अधीन) है। चूँकि कारण व्यापार यथायोग्य नियत क्रमसे भी होता है और अनियतक्रमसे भी होता है तब स्वकालके बल पर क्रमबद्ध पर्यायका सिद्धान्त बनाना निराधार है।

२—यदि परिणमनमें निमित्तभूत काल द्रव्यको स्वकाल माना जावे तो वह कालद्रव्य उदासीन कारण होनेसे द्रव्योंके अपने-अपने अक्रमिक या क्रमिक निमित्त कारणोंके अनुसार होनेवाले क्रमिक तथा अक्रमिक दोनों प्रकारके परिणमनमें समान रूपसे सहायक होता है। अतः वह काल भी नियतक्रमका नियामक नहीं है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यप्रणीत प्रवचनसारकी टीकाके अन्तमें श्री अमृतचन्द्र सूरिने ४७ नय भंगों द्वारा वस्तुका विवेचन किया है। उसमेंसे ३०वें तथा ३१वें नयभंगका विवेचन यों है—

कालनयेन निदाघदिवसानुसारि पच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः ॥३०॥ अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धिः ॥३१॥

अर्थ—काल नयकी अपेक्षा यथासमय परिणमन होता है। जैसे आमका फल ग्रीष्म ऋतुके दिनोंके अनुसार पेड़पर यथासमय पक जाता है ॥३०॥ अकाल नयकी अपेक्षा असमयमें परिणमन होता है। जैसे कृत्रिम भुस आदिकी गर्मी देकर कच्चे आमको समयसे पहले पका लिया जाता है।

इन दोनों काल तथा अकाल नयोंका विधान करके श्री अमृतचन्दसूरि पर्यायके एकान्त क्रमनियत कालका स्पष्ट निराकरण कर रहे हैं।

इसी प्रकार श्री अमृतचन्दसूरिने २६–२७ वें नय भंगमें नियति तथा अनियति नयका भी विधान किया है—

नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्निवन्नियतस्वभावभासि ॥२६॥

अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि ॥२७॥

इसका तात्पर्य है जो कारणनिरपेक्ष है वह नियति है। जैसे अग्निमें उष्णता और जो कारणसापेक्ष है वह अनियति है। जैसे जलमें उष्णता।

इसी प्रकार एकान्तवादका खण्डन करते हुए सूरिजीने इस प्रकरणमें स्वभाव-अस्वभाव, पुरुषार्थ-दैव आदि नयोंका भी विधान किया है। इसपर यदि गम्भीर विचार किया जाय तो एकान्तवादका परित्याग हो जायगा।

स्वकाल शब्दके समान आपने काललब्धि शब्दका प्रयोग भी क्रमबद्ध पर्यायका एकान्त सिद्ध करनेके लिए अनेक बार किया है। वह काललब्धि क्या वस्तु है इस विषयको श्री पं० टोडरमलजीके शब्दों द्वारा मोक्षमार्गप्रकाशकमें अवलोकन कीजिये—

काललब्धि वा होनहार तौ किछू वस्तु नाहीं, जिस कालविषै कार्य बने सोई काललब्धि और जो कार्य भया सोई होनहार। —पृ० ४५६ सस्ती ग्रन्थमाला दिल्ली

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी **'कालाइलद्धिजुत्ता'** इत्यादि गाथा २१९ को आचार्य शुभचन्द्रकृत टीकामें **'रत्नत्रयादिकाललब्धिं'** पदसे काललब्धि शब्दका अर्थ रत्नत्रय आदि रूप ही ग्रहण किया गया है, अतः कालकी मुख्यतासे कार्यकी उत्पत्तिका कथन करना अयुक्त है।

श्री पं० फूलचन्द्रजी शास्त्रीने भी तत्त्वार्थसूत्रकी टीकामें ८ वें पृष्ठपर इसी अभिप्रायको पुष्ट करते हुए लिखा है—

एक ऐसी मान्यता है कि प्रत्येक कार्यका काल नियत है उसी समय वह कार्य होता है, अन्य कालमें नहीं। ऐसा जो मानते हैं वे कालके सिवा अन्य निमित्तोंको नहीं मानते। पर विचार करनेपर ज्ञात होता है कि उनका मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि कार्यकी उत्पत्तिमें जैसे काल एक निमित्त है वैसे अन्य भी निमित्त हैं। अतः कार्यकी उत्पत्तिमें केवल कालको प्रधान कारण मानना उचित नहीं है।

इसी पुस्तकमें पृष्ठ ४०० पर श्री पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री लिखते हैं—

कभी नियतकालके पहले कर्म अपना कार्य करता है तो कभी नियत कालसे बहुत समय बाद उसका फल देखा जाता है।

इस तरह काललब्धिका आश्रय लेकर भी क्रमबद्धपर्यायका एकान्त सिद्धान्त प्रमाणित नहीं होता।

दिव्यध्वनिका अनियत समय

तीर्थङ्करकी दिव्यध्वनि खिरनेका नियत काल प्रातः, मध्याह्न, सन्ध्या तथा अर्द्धरात्रि है। किन्तु गणधरको किसी अन्य समयमें कोई शंका होनेपर तथा चक्रवर्तीके आ जानेपर अनियत कालमें भी दिव्यध्वनि खिरने लगती है। इसके प्रमाणमें हमने जयधवल पुस्तक १ पृष्ठ १२६ के वाक्य उल्लिखित किये थे, जिसमें **'इयरकालेसु'** (नियत समयके अतिरिक्त अनियत कालोंमें) स्पष्ट शब्द आया है।

इसके उत्तरमें आपने दिव्यध्वनिके उस अनियत कालको 'नियत काल' बनानेकी चेष्टा की है, किन्तु वह युक्ति-युक्त नहीं है, क्योंकि न तो गणधरको शंका उत्पन्न होनेका कोई समय नियत है और न समवशरणमें चक्रवर्तीके यथेच्छ आनेका ही समय निश्चित है। इस प्रकार जब इतर कालमें दिव्यध्वनि खिरनेके ये दोनों निमित्त कारण अनियत हैं तो उनके निमित्तसे खिरनेवाली दिव्यध्वनिका समय नियत कैसे बन सकता है? यदि आप इसको काललब्धि या स्वकाल मानते हैं तो यह अनियत कालरूप ही होगी। इसका अभिप्राय यही होता है कि दिव्यध्वनिका काल नियत भी है और अनियत भी है। आपको भ्रामक शब्दों द्वारा अनियत कालको नियतकाल नहीं सिद्ध करना चाहिये।

इसी प्रसंगमें भगवान् महावीर स्वामीकी दिव्यध्वनि ६६ दिन तक गणधरके अभावमें न खिरनेका जो आपने उल्लेख किया है उससे केवलज्ञान सम्पन्न उपादान कारणसे गणधर रूप निमित्तके अभावमें दिव्यध्वनि कार्यका न होना प्रमाणित होता है। तथा च—इस घटनासे आपकी इस मान्यताका भी खण्डन होता है कि 'उपादान कारणके होनेपर निमित्त कारण उपस्थित हो ही जाता है।'

क्षयोपशमज्ञानी इन्द्रको जब परिस्थिति समझमें आई—भगवान् महावीरकी दिव्यध्वनि गणधररूप निमित्तके बिना नहीं हो रही—तब इन्द्रको प्रयत्न करके निमित्त (इन्द्रभूति गौतम) समवशरणमें लाना पड़ा

और कारण सामग्रीके पूर्ण हो जानेपर दिव्यध्वनिरूप कार्य हुआ, यही काललब्धि है। इस काललब्धिके विषयमें हम पीछे अनेक प्रमाण देकर स्पष्ट कह चुके हैं कि कार्यकी उत्पत्तिमें सामग्रीकी पूर्णता ही काललब्धि है। इसके लिये हमने पूर्वमें स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी आचार्य शुभचन्द्रकी टीकाका प्रमाण दिया ही है और काललब्धिके विषयमें श्री पं० फूलचन्द्र जीकी भी क्या दृष्टि है? इस बातको भी वहींपर बतलाया है।

कर्मनिर्जरा और मुक्तिका अनियत काल

'पर्याय अक्रमिक भी होती है।' इस बातको सिद्ध करनेके लिये हमने श्री अकलंक देव विरचित तत्त्वार्थराजवार्तिक अध्याय १ सूत्र ३ पृष्ठ २४ पर लिखित वार्तिक 'कालानियमाच्च निर्जरायाः ॥३॥ का प्रमाण दिया था। आपने उसका कुछ भी उत्तर न देकर श्लोकवार्तिक पृष्ठ ७० पर लिखे एक अन्य विषयकी चर्चा लिख डाली है जिसका कि उक्त राजवार्तिकके उल्लिखित वार्तिकसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

तथाच—आपके द्वारा उपस्थित किये गये श्लोकवार्तिकके उल्लेखमें भी सामग्री द्वारा कार्य-उत्पत्तिका समर्थन मिलता है जिसमें प्रतिबन्धक कारणोंका अभाव तथा सहकारी कारणोंके सद्भाव होनेपर उपादान कारणका कार्यरूप परिणत होना प्रमाणित होता है, क्योंकि मोहनीय कर्मके क्षय हो जाने पर भी अन्तर्मुहूर्तमें जब तक ज्ञानके प्रतिबन्धक ज्ञानावरण कर्मका क्षय नहीं हो जाता तथा उसके सहायक कारण अनन्तवीर्यके प्रतिबन्धक अन्तरायका क्षय नहीं हो जाता तब तक केवलज्ञान और अनन्त बलका आविर्भाव नहीं होता।

एवं मोक्षमार्गका प्रारम्भ करनेवाले सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका समय भी अनिश्चित है जो व्यक्ति जब प्रयत्न करता है और जब उसके योग्य कारणसामग्री मिल जाती है तब अनियत समयमें सम्यग्दर्शन होता है। इस तरह निर्जरा तथा मुक्तिका समय अनियत है।

तात्पर्य यह है कि—

कालादिसामग्रीको हि मोहक्षयस्तद्रूपाविर्भावहेतुः न केवलः, तथा प्रतीतेः।

तथा—

क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिरपि न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिणोऽपेक्षणीयस्य तदा विरहात्।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृष्ठ ७१ के ये वचन है। इन्हें ही आपने कार्यके स्वकालकी पुष्टिमें पुष्ट प्रमाण माने हैं।

इनके विषयमें पूर्वमें बहुत कुछ लिखा जा चुका है अर्थात् स्वकाल या काललब्धि केवल वह काल नहीं, जिसमें कार्य उत्पन्न होता है, किन्तु वह कारणसामग्री है जिससे कार्य उत्पन्न होता है। अतः यहाँ केवल इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि ये सब कथन कर्मक्षपणप्रक्रियाकी ही सूचना देनेवाला है। कारण कि काल स्वयं तो उदासीन कारण है तथा आत्माका जो उत्तरोत्तर क्रमिक विकास होता है वह तत्तकर्म क्षपणपूर्वक ही होता है। 'कालादिसामग्रीकः' और 'कालविशेषस्य सहकारिणः' इन दोनों वचनों पर आपको तर्कके आधार पर विचार करना चाहिये, संस्कारवशात् अर्थ कर देनेसे तत्त्व फलित नहीं हो सकता है। यहाँ पर अदालतका केस जीतनेका प्रश्न नहीं है, तत्त्वार्थको फलित करनेका ही प्रश्न है। फिर सहकारी शब्द स्व से अतिरिक्त परका ही बोध करानेवाला है, इसलिये इससे तो निमित्त कारणकी सार्थकता ही सिद्ध होती है।

कर्मका अनियत परिपाक

अनियत पर्याय सिद्ध करनेके लिये हमने अपने पत्रकमें कर्म-परिपाकके अनियत होनेका प्रमाण दिया था, आपने उसका कुछ उत्तर नहीं दिया और यह लिखकर उसे टाल दिया कि 'यह एक ऐसा गम्भीर प्रश्न है जिस पर इस समय लिखना उचित न होगा।' प्रतीत होता है कि यह बात आपके लक्ष्यकी पोषक न होनेसे आपने ऐसा लिखकर टाल दिया है। अतः हमारा पूर्वोक्त प्रमाण अनियत पर्यायका समर्थन करता है।

श्री पं० फूलचन्द्रजी शास्त्री तत्वार्थसूत्र टीकाके पृष्ठ १५७ पर लिखते हैं—

नरकमें तेतीस सागरकी आयु भोगते हुए वहाँके अशुभ निमित्तोंकी प्रबलताके कारण सत्तामें स्थित समस्त शुभकर्म अशुभरूपसे परिणमन करते रहते हैं। और देवगतिमें इसके विपरीत अशुभ कर्म शुभ रूपसे परिणमन करते रहते हैं।

निधत्ति और निकाचित रूप कर्मोंकी स्थिति पूरी हो जानेपर यदि उनके उदयके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र और काल न हो तो जाते-जाते वे भी अपने रूपसे फल न देकर अन्य सजातीय प्रकृतिरूपसे फल देनेके लिए बाध्य हो जाते हैं।

इस तरह कर्मोंका परिपाक (फल देना) नियत नहीं है, अनियत है। तत्त्वार्थ सूत्रकी टीकामें १२९ वें पृष्ठपर भी श्री पं० फूलचन्द्रजीने लिखा है—

किसी मनुष्यने तिर्यञ्चायुका पूर्व कोटि वर्ष प्रमाण स्थितिबन्ध किया। अब यदि उसे स्थिति-घातके अनुकूल सामग्री जिस पर्यायमें आयुका बन्ध किया है उसी पर्यायमें ही मिल जाती है तो उसी पर्यायमें वह आयु कर्मका स्थितिघात कर सकता है और यदि जिस पर्यायमें आयुको भोग रहा है उसमें स्थितिघातके अनुकूल सामग्री मिलती है तो उस पर्यायमें आयु-कर्मका स्थितिघात कर सकता है। स्थितिघात करनेसे आयु कम हो जाती है।

इस प्रकार आपके कथनके अनुसार भी बाँधे हुए निश्चित स्थितिवाले कर्मकी दशा अनियत पर्याय-वाली हो जाती है। इस तरह आयुकी उदीरणावाले मरणको आगममें अकालमरण या उदीरणा मरण कहा गया है।

हमने अपने द्वितीय प्रपत्रमें जयधवला प्रथम पुस्तक पृष्ठ २८९ के '**पागभावस्स विणासो वि दव्व-काल-भवावेक्खाए जायदे**' देकर यह बतलाया था कि प्रागभावका विनाश द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी अपेक्षा रखता है। इसका अर्थ यह है कि जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्रागभावके विनाशके अनुकूल होगा वैसा ही उसका विनाश होगा। जैसे मिट्टीमें घट, सकोरा आदिका प्रागभाव मौजूद है, अब यदि घटोत्पत्तिके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्राप्त होगा तो प्रागभावका विनाश एक प्रकारका होगा और यदि सकोराकी उत्पत्तिके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्राप्त होगा तो प्रागभावका विनाश उससे भिन्न प्रकारका होगा। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव न मिले यह तो मौका कभी नहीं आयगा। कारण कि खानमें पड़ी हुई मिट्टीमें भी विस्रसा मिलते हुए कारणोंके सहयोगसे परिणमन प्रतिसमय होता ही रहता है। परन्तु कभी किसी प्रकारका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव प्राप्त हो और कभी किसी प्रकारका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्राप्त हो, कभी विस्रसा (अनायास) मिले तो कभी प्रायोगिक यानी पुरुषकृत प्रयत्नसे प्राप्त हो जैसा कि मिट्टीके दृष्टान्तसे स्पष्ट है, तो यह असंगत भी नहीं है। इसलिए उक्त जयधवलाका उक्त वचन हमारे पक्षका समर्थन ही करता है।

इसी प्रसंगमें आप लिखते है कि 'ऐसा मान लेनेपर कि कर्मका उदय होनेपर भी उदयके विरुद्ध साधन मिलनेसे उन कर्मोका फल नहीं मिलता' तो इसपर हमारा कहना है कि यह आशय आपने हमारे कौनसे वाक्यका ले लिया हैं यह हमारी समझमें नहीं आया और फिर उसे आपने गम्भीर प्रश्न बना दिया, फिर अन्तमें यह भी संकेत कर दिया कि 'विशेष प्रसङ्ग आनेपर अवश्य ही विचार करेंगे' आदि आपकी ये सब बातें हमें व्यर्थ दिखाई देती हैं।

आगे आप लिखते हैं कि 'अतएव उपादान निश्चय पक्ष होनेसे और निमित्त व्यवहार पक्ष होनेसे यही मानना चाहिये कि दोनोंका मेल होनेपर कार्य होता है।'

यह तो ठीक है कि आपने उपादान निश्चय पक्ष और निमित्त व्यवहार पक्ष इन दोनोंके मेलसे कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार कर ली। हम भी तो यही कहते हैं, परन्तु फिर आप निमित्तको अकिंचित्कर किस लिये कहते हैं? क्योंकि आपके उक्त कथनसे निमित्तकी सार्थकता ही सिद्ध होती है। यदि आप कहें निमित्त व्यवहार पक्ष होनेसे ही अकिंचित्कर रहता है तो फिर आपका यह लिखना असंगत है कि 'निमित्त और उपादान दोनोंके मेलसे कार्य उत्पन्न होता है।'

आप कहते हैं कि 'निश्चय उपादानके प्राप्त होनेपर यतः उस समय जो अन्य द्रव्यकी पर्याय उसका निमित्त है वह अपने परिणमनके लिये उसी समय निश्चय उपादान भी है' आदि। इस विषयमें तथा निश्चय और व्यवहारके विषयमें हम पूर्वमें बहुत कुछ लिख चुके हैं वहाँ आप देखनेका कष्ट करें।

आपने लिखा है कि 'कार्यकी उत्पत्तिमें उपादान और निमित्त इन दोका कारण रूपसे उल्लेख किया गया है इसका तात्पर्य यह नहीं कि उपादान हो और निमित्त न हो इसलिए कार्य नहीं होता—ऐसा अर्थ करना संगत नहीं है' आदि।

आपने कार्यकी उत्पत्तिमें आवश्यकतानुसार उपादान और निमित्त दोनोंको कारण मान लिया इससे हमारे आपके मध्य अभीतक आपकी 'कार्य तो केवल अपने उपादानसे ही होता है निमित्त वहाँपर अकिंचित्कर हो रहा करते हैं' इस मान्यताको लेकर जो विवाद था वह समाप्त हो जाता है। आप इसके पहले भी यह बात कह चुके है कि 'उपादान निश्चय पक्ष होनेसे और निमित्त व्यवहार पक्ष होनेसे यही मानना चाहिये कि दोनोंका मेल होनेपर कार्य होता है।' परन्तु आपका यह लिखना कि 'इसका तात्पर्य यह नहीं कि उपादान हो और निमित्त न हो इसलिए कार्य नहीं होगा ऐसा अर्थ करना संगत नहीं है' आगमके अभिप्रायके अनुसार सही नहीं है।

आगमका अभिप्राय यह है कि कोई भी स्वपरप्रत्यय कार्य उपादान और निमित्त दोनों प्रकारके कारणोंके मेलसे होता है। इसका अर्थ यह है कि उपादान कार्यरूप परिणत होता है और निमित्त उपादानकी कार्यरूप परिणतिमें उसकी (उपादानकी) सहायता करता है। आगमका अभिप्राय यह भी है कि उपादानमें स्वप्रत्यय कार्यकी तरह स्वपरप्रत्यय कार्य भी प्रति समय होता रहता है। कारण कि उपादानका तो परिणमन करनेका स्वभाव स्वतःसिद्ध है और निमित्तोंका योग उसे (उपादानको) प्रतिसमय मिलनेमें कोई बाधा आगममें नहीं बतलायी गयी है तथा प्रत्यक्ष और अनुमानसे भी आगमकी इसी बातका समर्थन होता है। यहाँ तक तो हमारे ख्यालसे हमारे और आपके मध्य कोई विवाद नहीं, परन्तु उपादानकी उसकी अपनी कार्यरूप परिणतिमें निमित्तका क्या सहयोग मिलता है? इस प्रश्नके समाधानकी खोज यदि आगममें की जाय तो मालूम होगा कि उपादानकी कार्य परिणतिमें लोकको जो विलक्षणता दिखाई देने लगती है वह

विलक्षणता उपादानमें निमित्तके सहयोगसे ही आती है। जैसे पूर्वमें हम कह आये हैं कि परिणमन करना मात्र आत्माका स्वतःसिद्ध स्वभाव है। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि रूपसे परिणमन करना आत्माका स्वतःसिद्ध स्वभाव नहीं है, अतः आत्माके परिणमनमें जो क्रोधादिरूपता देखी जाती है वह यद्यपि आत्माकी परिणतिमें ही उत्पन्न होती है, परन्तु यदि क्रोधकर्म निमित्त उपस्थित होगा तो आत्माके उस परिणमनमें क्रोधरूपता आयगी और यदि मानादि कर्मोंमेंसे किसी एकका निमित्त उपस्थित होगा तो आत्माके उस परिणमनमें मानादि कर्मोंके अनुसार ही मानरूपता, मायारूपता या लोभरूपता आयगी। इसी प्रकारकी व्यवस्था प्रत्येक वस्तुके सभी स्वपरप्रत्यय परिणमनोंके विषयमें समझना चाहिये।

इस तरह यह बात निश्चित हो जाती है कि परिणमन करनेका स्वतःसिद्ध स्वभाव तो वस्तुका अपना ही स्वभाव है और जिस वस्तुका जो प्रतिनियत स्वभाव होता है उसका परिणमन भी उसके अपने उस प्रतिनियत स्वभावके दायरेमें ही होता है, किसी भी वस्तुका कोई भी परिणमन उस वस्तुके अपने प्रतिनियत स्वभावके बाहर कभी भी नहीं होता है। किन्तु प्रत्येक वस्तुका कोई भी परिणमन या तो स्वप्रत्यय होगा या फिर स्वपरप्रत्यय होगा। यदि वह परिणमन स्वप्रत्यय है तब तो वह नियतक्रमसे ही प्रतिसमय होगा। इसे आपका पक्ष और हमारा पक्ष दोनों ही स्वीकार करते हैं। विवाद हमारे आपके मध्य केवल स्वपरप्रत्यय परिणमनके नियतक्रमके विषयमें है। यानी आपका कहना है कि वस्तुका स्वपरप्रत्यय परिणमन भी नियतक्रमसे ही होता है जब कि आगमका कहना है कि वस्तुका स्वपरप्रत्यय परिणमन नियतक्रमसे भी होता है और अनियतक्रमसे भी होता है। और इसका कारण आगममें यह स्वीकार किया गया है कि निमित्तोंका समागम नियत नहीं है। निमित्तोंका समागम दो प्रकारसे प्राप्त होता है। एक तो विस्रसा (अनायास या प्राकृतिक तरीकेसे) और दूसरा प्रायोगिक अर्थात् पुरुषकृत प्रयत्नसे। दोनों ही प्रकारसे निमित्तोंका समागम नियतक्रमसे और अनियतक्रमसे देखनेमें आता है, आगम भी इसका विरोधी नहीं है। इस प्रकारसे कार्य भी नियतक्रम और अनियतक्रम दोनों ही प्रकारके हुआ करते हैं। इस विषय पर काफी लिखा जा चुका है तथा छठवें आदि प्रश्नोंमें आगे भी लिखा जायगा, अतः विस्तारसे यहाँ पर लिखना हम जरूरी नहीं समझते हैं।

निमित्तका अभाव होने पर कार्य रुक भी जाता है। प्रत्यक्ष देखा जाता है—मोटर चली जा रही है, पैट्रोल समाप्त हो गया, मोटर रुक जाती है। कार्यकारणभावका ज्ञाता पैट्रोल डालकर मोटरको पुनः चालू कर अभीष्ट स्थानको पहुँच जाता है। यह विचार करनेवाला कि मोटर अपने उपादानसे चल रही थी, अपने उपादानसे रुकी है। जब चलनेका नियत काल आयगा, पैट्रोल अपने आप हाजिर हो जावेगा। इस प्रकार विचार कर पैट्रोल नहीं डालता वह अपने अभीष्ट स्थान तक नहीं पहुँच सकता। आगममें भी कहा है कि उपादानमें शक्ति होते हुए भी निमित्तके अभावमें कार्य रुक जाता है।

मुक्तस्य तु पुनः स्वभावगतिलोपहेत्वभावादूर्ध्वंगत्युपरमोऽनुपपन्न इति ? उच्यते, लोकान्तान्नोर्ध्वं-गतिर्मुक्तस्य। कुतः ? धर्मास्तिकायाभावात् ॥८॥ गत्युपग्रहकारणभूतो धर्मास्तिकायो नोपर्यस्तीत्यलोके गमनाभावः।

—रा० वा० पृ० ६४६ ज्ञानपीठ

शंका—मुक्त जीवके तो स्वभावगतिको रोकनेवाले कारणोंका अभाव है फिर लोकसे ऊपर मुक्त जीवोंकी गति क्यों नहीं होती ?

समाधान—लोकाकाशसे आगे गति-उपग्रहमें कारणभूत धर्मास्तिकायका अभाव है, इसलिये मुक्त जीवोंकी ऊर्ध्वगति लोकसे आगे नहीं होती। अर्थात् मुक्त जीवोंकी ऊर्ध्वगमनकी शक्ति होते हुए भी निमित्तके अभावके कारण लोकके अन्तमें पहुँचकर आगे गति रुक जाती है।

अनुभव तथा प्रत्यक्ष ज्ञान और अनुमान ज्ञान भी यह बतलाता है कि यदि कार्यके अनुकूल प्रयत्न किया जायगा तो कार्य सम्पन्न अवश्य होगा। इस तरह कार्योंकी सम्पन्नता देखी भी जाती है। इसलिये जब जीवोंका पुरुषार्थ भी कार्योत्पत्तिका साधक होता है तो उन्हें अपने जीवनोपयोगी इहलोक और परलोक-सम्बन्धी तथा मोक्षसम्बन्धी कार्योंकी सम्पन्नताको ध्यानमें रखते हुए उनके अनुकूल यथायोग्य अन्तरंग और बहिरंग प्रतिनियत कारणोंको जुटानेके लिये पुरुषार्थ करनेका उपदेश आगममें दिया गया है। इसका अर्थ यह नहीं कि जो कार्योत्पत्तिको लक्ष्यमें रखकर तदनुकूल निमित्तोंकी उठाधरी करता है वह सर्वज्ञताका विरोधी है, लेकिन इतनी बात अवश्य है कि यदि सर्वज्ञताके लोपके भयसे अथवा सर्वज्ञताकी आड़ लेकर कोई कार्योत्पत्तिके अनुकूल साधनोंके जुटानेमें पुरुषार्थहीन बननेकी चेष्टा करता है, वह अवश्य ही मिथ्यादृष्टि हो जाता है। सर्वज्ञके प्रति आस्था रखिये, उसके ज्ञान पर तथा वाणी पर भी आस्था रखिये, परन्तु उससे अपने कार्योंको सम्पन्न करनेकी प्रेरणा लीजिये, अपने इहलोक और परलोकको सुधारनेका प्रयत्न कीजिये, मोक्षप्राप्तिके लिये पुरुषार्थ कीजिये।

यह तो निश्चित है कि प्रत्येक व्यक्तिका प्रतिसमय संकल्प और प्रवृत्तियोंके आधार पर पुरुषार्थ होता ही रहता है, वह तो तब तक नहीं रुक सकता जब तक केवल दृष्टा और ज्ञाताकी अवस्थाको व्यक्ति नहीं प्राप्त हो जायगा। अतः तब तक उसे अपने अनुकूल कार्योंकी सम्पन्नताके लिये अन्तरंग और बहिरंग साधनोंको जुटाना चाहिये। ऐसे साधन नहीं जुटायगा तो ऐसे साधन जुटेंगे जिनसे उसके इहलोक और परलोकमें बिगाड़ पैदा होगा। जैन संस्कृतिकी यह मान्यता गलत नहीं है कि 'जैसा करोगे वैसा भरोगे।' प्रसन्नता की बात है कि आप भी इस बातको स्वीकार करते हैं कि जीवको अपनी सम्हाल करनेके लिये पुरुषार्थ करना चाहिये। परन्तु अपनी सम्हाल करनेका क्या यही पुरुषार्थ है? कि प्रत्येक प्राणी अपनेको ज्ञाता और दृष्टा मानने लग जाय और क्या इतने मानने मात्रसे वह ज्ञाता दृष्टा बन जायगा? यह ठीक है कि जानना और देखना मात्र ही आत्माका स्वभाव है, परन्तु इसको कौन नहीं मानता है? प्रश्न तो ज्ञाता-दृष्टा मात्र बन जानेका है। इसके लिये प्राणियोंको पुरुषार्थका उपदेश दिया गया है, जिससे वे ज्ञाता–दृष्टामात्र स्थितिको प्राप्त हो सकें। लेकिन इसका सही उपाय यही है कि इसके अनुकूल जो भी अन्तरंग और बहिरंग कारण हैं या हो सकते हैं उन्हें समझा जाय, उन्हें अपनाया जाय और उनका ही उपदेश प्राणियोंको दिया जाय। बहुत लिखा गया है, सम्पूर्ण प्रश्नोंमें हमारा यही लक्ष्य रहा है और यही प्रयत्न रहा है।

आपने उपादान और निमित्तकी जो व्याप्ति बतलायी है वह गलत है। उपादान और निमित्तकी जो व्याप्ति आगममें बतलायी है वह इस प्रकार नहीं है कि जिस समय जो कार्य होना होगा उस समय उसके अनुकूल निमित्त मिलेंगे ही, किन्तु निमित्त और उपादानकी व्याप्ति जो आगममें बतलायी है वह इस प्रकार है कि निमित्तके अनुकूल उपादानका समागम होगा तो कार्य अवश्य होगा और उपादानके अनुकूल निमित्तका समागम होगा तो भी कार्य अवश्य होगा। आप यह भी कहते हैं कि उपादानकी तैयारी होगी तो निमित्त अवश्य मिलेंगे, परन्तु यह भी तो ख्याल कीजिये कि उपादानकी तैयारी भी तो आवश्यकतानुसार तदनुकूल निमित्तोंके सहयोग पर ही होती है। इस बातको अच्छी तरह स्पष्ट किया जा चुका है और आगे दूसरे प्रश्नोंमें भी स्पष्ट किया जायगा।

आपने अपने पक्षकी पुष्टिके लिए जो 'यदप्यभिहितं—शक्तादशक्ताद् वा तस्याः प्रादुर्भाव' इत्यादि। 'तत्र शक्तादेवास्याः प्रादुर्भावः।' इत्यादि प्रमेयकमलमार्तण्डका उद्धरण दिया है, उसमें आपने स्वयं शक्तका अर्थ समर्थ तथा अशक्तका अर्थ असमर्थ किया है। उसके विषयमें आगमके आधार पर हम इतना ही कह देना चाहते हैं कि उपादानमें जो सामर्थ्य आती है वह केवल इतनी नहीं है कि वह कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायमें पहुँच जावे। किन्तु इसके साथ कारक सामग्रीकी पूर्णता व प्रतिबन्धकाभाव भी उसमें सम्मिलित है। इसका अर्थ यह है कि कार्याव्यवहित पूर्वक्षणमें वस्तुके पहुँच जाने पर उसके उत्तर क्षणमें जो कार्य होगा वह कार्य पूर्व पर्यायमें पड़ी हुई अनेक सामर्थ्योंमें से किसी एक रूपका होगा, जिसके अनुकूल समर्थ कारण सामग्री होगी। अर्थात् हम जो चाहें सो हो जायगी यह तो कोई नहीं मानता है, परन्तु उस कार्यकी नियामक केवल वह पूर्व पर्याय ही नहीं है, किन्तु उसके साथ उस समय जो निमित्त सामग्री ही उपस्थित होगी वह भी उसकी नियामक होगी। इसके साथ ही प्रतिबन्धक कारणोंका अभाव भी उसका नियामक होगा। इस तरह कार्यजनक सम्पूर्ण सामग्रीकी प्राप्ति हो जाना व प्रतिबन्धक कारणोंका अभाव हो जाना ही उसकी समर्थता है। इस विषयमें भी हम पूर्वमें बहुत विस्तारसे लिख चुके हैं।

आपने अपने द्वितीय दौरके प्रपत्रमें ७ नं० पर लिखा है कि 'उपादानके कार्य और निमित्तकी समव्याप्ति है, इस व्यवस्थाके रहते हुए तथा उपादानका अनन्तर पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्यको उपादान कहते हैं यह सुनिश्चित लक्षणके होने पर भी यह लिखना कि कार्यके प्रति जब जब जैसे अनुकूल निमित्त मिलते हैं तब कार्य होता है युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता आदि।'

हमारी तरफसे इन सब बातोंके विषयमें बहुत कुछ विस्तारके साथ लिखा जा चुका है। दूसरे प्रश्नोंमें भी लिखा जायगा, अतः अब तो हमारा आपसे कुछ और लिखनेके बजाय इतना निवेदन करना ही पर्याप्त होगा कि आप उसे ध्यानसे पढ़िये, गंभीरताके साथ मनन कीजिये और निष्कषायभावसे निष्कर्ष निकालनेका प्रयत्न कीजिये।

हम इतना अवश्य पुनः स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तुमें सिर्फ एक नियत योग्यता ही नहीं पायी जाती है, किन्तु उस वस्तुमें उस समय भी नाना योग्यताएँ अनन्तर उत्तर क्षणमें कार्यरूपसे परिणत होनेके लिये तैयार बैठी रहती हैं इस बातको ध्यानमें रखकर ही आगममें यह बतलाया गया है कि वह योग्यता ही कार्यरूपसे विकसित होगी जिसके अनुकूल कारण सामग्रीकी पूर्णता विद्यमान होगी व प्रतिबन्धक कारणोंका अभाव भी विद्यमान होगा। कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तुमें अनन्तर उत्तर क्षणमें कौनसा कार्य उत्पन्न होगा? यह प्रश्न तभी उठ सकता है जब कि उक्त प्रकारकी वस्तुमें उत्तर क्षणकी कार्योत्पत्तिके अनुकूल नाना योग्यताएँ रह रही हों और आगममें इस प्रश्नका समाधान करनेके लिये कारण सामग्रीकी पूर्णता व प्रतिबन्धककारणोंके अभावको जो कार्योत्पत्तिका नियामक बतलाया गया है इसीसे यह बात सिद्ध होती है कि कार्याव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्याय विशिष्ट वस्तुमें अनन्तर उत्तर-क्षणमें नाना कार्योंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना है ऐसी संभावना उसी हालतमें हो सकती है जब कि उस वस्तुमें उस समय नाना योग्यताएँ विद्यमान हों।

यह बात हम पूर्वमें ही लिख चुके हैं कि वस्तु स्वतःसिद्ध परिणमन स्वभाववाली होनेके कारण उसमें प्रति समय उत्पाद-व्यय होता रहता है, परन्तु वस्तुमें ऊपर लिखे प्रकार नाना योग्यताओंमेंसे किस योग्यताके अनुसार कार्यको उत्पत्ति हो केवल इसकी नियामक निमित्त सामग्री हुआ करती है, कार्योत्पत्तिका

सर्वथा निषेध तो हमने किया नहीं है और न कार्योत्पत्तिका सर्वथा निषेध हो ही सकता है, क्योंकि कोई न कोई निमित्त सामग्रीकी प्रत्येक समय प्राप्ति रहती ही है। इसलिये आपका यह लिखना ठीक नहीं है कि 'यदि निमित्ताधीन कार्यकी व्यवस्था होती तो द्रव्यको जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभाववाला माना गया है वह नहीं बन सकता।' और इसीलिये आपका 'क्या ऐसा है कि किसी द्रव्यको किसी समय अनुकूल निमित्त नहीं मिले इसलिये उस समय उसने अपना कार्य नहीं किया' इत्यादि यह लिखना भी ठीक नहीं है।

निमित्त तथा उपादानके निरुक्त्यर्थ पर ध्यान देनेसे भी निमित्तोंकी सार्थकता ही सिद्ध होती है। जैसे 'उप' उपसर्ग पूर्वक आदानार्थक 'अ'' उपसर्ग विशिष्ट 'दा' धातुसे 'उपादीयते अनेन' इस विग्रहके आधार पर कर्ताके अर्थमें ल्युट् प्रत्यय होकर उपादान शब्द बनता है। इसका अर्थ यह होता है कि जो वस्तु परिणमनको स्वीकार करे या ग्रहण करे अथवा जिसमें परिणमन हो वह उपादान कहलाता है। इसी प्रकार 'नि' उपसर्ग पूर्वक स्नेहार्थक 'मिद्' धातुसे कर्त्ताके अर्थमें ही 'निमेद्यति' इस विग्रहके आधार पर 'क्त' प्रत्यय होकर निमित्त शब्द बनता है। इसका अर्थ यह होता है कि जो परिणमन करनेवाली वस्तुको उसके उस परिणमनमें मित्र या तेलके समान स्नेहन करे अर्थात् सहायता करे वह निमित्त कहलाता है।

यहाँ पर हमने मित्र और तेलकी समानता निमित्तमें प्रदर्शित की है, उसका कारण यह है कि स्नेह अर्थ तेलका होता है, 'मिद्' धातु भी स्नेहार्थक है। तेलसे जिस प्रकार शरीर आदिमें चिक्कणता आ जाती है उसी प्रकार निमित्तसे उपादानमें बलाधानरूप चिक्कणता आ जाती है। इस प्रकार 'मिद्' धातुसे ही मित्र शब्द भी बनता है, तो जिस प्रकार मित्र किसीका हर एक अवस्थामें मददगार रहता है उसी प्रकार निमित्त भी उपादानका कार्योत्पत्तिमें मददगार ही रहा करता है। उपादान और निमित्तका यहाँ पर जो निरुक्त्यर्थ किया है उस पर छठवें आदि प्रश्नों पर विचार करते हुए भी ध्यान रखनेकी कृपा करें।

हमने यह जो निमित्त और उपादानका लक्षण बतलाया है इससे भी निमित्तकी कार्यके प्रति सार्थकता ही सिद्ध होती है और चूंकि निमित्तोंकी नियतक्रमता तथा अनियतक्रमता प्रत्यक्ष सिद्ध है, अनुमान सिद्ध है और आगमसे प्रसिद्ध भी है, अतः वस्तुकी कार्यरूप परिणतिमें नियतक्रमता और अनियतक्रमता दोनों बातें आगममें स्वीकार की गयी हैं। ऐसी स्थितिमें आपका यह लिखना कि 'द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं' या 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं' गलत ही है।

आपने उपचरित और अनुपचरित कारणों पर विचार करते हुए पं० प्रवर बनारसीदासजी का एक पद्य उद्धृत किया है—

पदस्वभाव पूरव उदै निहचै उद्यम काल।
पच्छपात मिथ्यात पथ सरवंगी शिवचाल ॥ ४२ ॥

इसका अर्थ आपने यह किया है कि 'पदार्थ का स्वभाव, पूर्वका उदय (निमित्त), निश्चय (उपादान), उद्यम (पुरुषार्थ) और काल ये पाँच कारण हैं। इनके समवायमें कार्यकी उत्पत्ति होती है। इनमें से किसी एकका पक्षपात करना मिथ्यात्व अर्थात् संसारका मार्ग है और सबके सद्भावमें कार्यको स्वीकार करना मोक्षमार्ग है।'

आगे आप लिखते हैं—'गोम्मटसार कर्मकाण्डमें काल, ईश्वर (निमित्त), आत्मा, नियति और स्वभाव इन पाँच एकान्तोंका निर्देश किया गया है वह इसी अभिप्रायसे किया गया है।'

अब देखना यह है कि श्री पं० बनारसीदास जी के कथनानुसार आपकी दृष्टिमें पदार्थका स्वभाव, पूर्वका उदय, निश्चय, उद्यम और काल ये पाँच मिलकर कार्य उत्पन्न करते हैं और गोम्मटसार कर्मकाण्डके कथनानुसार आपकी दृष्टिमें काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव ये पाँच मिलकर कार्य उत्पन्न करते हैं।

श्री पं० बनारसीदासजीके पद्यमें आपने पूर्वके उदयका अर्थ निमित्त किया है, निश्चयका अर्थ उपादान किया है और उद्यमका अर्थ पुरुषार्थ किया है। इसी प्रकार गोम्मटसारमें ईश्वरका अर्थ निमित्त किया है। इस तरह यदि दोनोंका समन्वय किया जाय तो आपकी दृष्टिसे वह निम्न प्रकार होगा—

	गोम्मटसार कर्मकाण्ड	श्री पं० बनारसीदासजीका पद्य
	काल	काल
(ईश्वर)	निमित्त	निमित्त (पूर्वका उदय)
	आत्मा	पुरुषार्थ (उद्यम)
	नियति	उपादान (निश्चय)
	स्वभाव	स्वभाव

इस तरह आपका आशय यदि आत्मासे पुरुषार्थका और नियतिसे उपादानका हो तो दोनोंका समन्वय समानरूपसे हो सकता है।

परन्तु जब आप 'द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं' या 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं' इन सिद्धान्तोंके माननेवाले हैं तो कार्योत्पत्तिमें फिर इन पाँचके समवायकी आपकी दृष्टिमें क्या आवश्यकता है? और उक्त पाँचोंका समवाय कार्योत्पत्तिमें आपकी दृष्टिमें यदि उपयोगी है यानी कार्योत्पत्तिके लिए अनिवार्यरूपसे आवश्यक है तो फिर 'सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं' या 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं' आपकी इन मान्यताओंकी क्या स्थिति रह जाती है? इन विकल्पोंके आधारपर पूर्वमें हम काफी विस्तारके साथ विवेचन कर चुके हैं, कृपया उसपर गहराईके साथ विचार करें। आपने उपर्युक्त पाँच कारणोंका जो विवेचन किया है उसमें आपने यह स्पष्ट नहीं किया कि इन सबको आप उपचरित कारण मानते हैं या सभीको अनुपचरित कारण मानते हैं? अथवा कुछको उपचरित और कुछको अनुपचरित स्वीकार करते हैं—ये सभी बातें आपको स्पष्ट करनी थीं, परन्तु नहीं की। इनके विषयमें जितना कुछ विवेचन आपने किया उससे यह स्पष्ट नहीं होता है कि आप क्या कहना चाहते हैं? क्या कह रहे हैं? और क्यों कह रहे हैं? यदि आगे इन बातों पर आप विवेचन करें तो कृपया इन सब मुद्दोंको स्पष्ट करते हुए विवेचन करें ताकि गोरखधन्धा जैसी स्थिति समाप्त हो और आपका पक्ष हमें ठीक ठीक तरहसे उपर्युक्त पाँच कारणोंके विषयमें समझमें आवे। कृपया इनके बारेमें निश्चय नय और व्यवहार नय तथा इन नयोंके विषयभूत निश्चय और व्यवहारके विषयमें आपकी दृष्टि क्या है? यह भी स्पष्ट करें।

इन्हीं पाँच कारणोंके विवेचनके सिलसिलेमें आपने लिखा है कि 'प्रत्येक द्रव्यका प्रत्येक कार्य उक्त पाँचोंके समवायकी अपेक्षा क्रम नियत होता है, अनियतक्रमसे नहीं होता ऐसे अनेकान्तको स्वीकार करना ही मोक्षमार्ग है।'

आपके इस कथनको पढ़कर हमें आश्चर्य तो हुआ ही, साथमें दुःख भी हुआ कि अनेकान्तकी जो परिभाषा इसमें आपने बतलायी है उसके बतलानेमें थोड़ा भी संकोच आपको नहीं हुआ। जैन संस्कृतिके योग्यतम विद्वान होते हुए भी क्या वास्तवमें अनेकान्तका ऐसा ही स्वरूप आपने समझ रक्खा है ? या फिर केवल अपनी मतपुष्टिके लिये जानबूझकर ऐसा लिख गये हैं। कृपया इसे भी स्पष्ट कीजिये कि 'प्रत्येक द्रव्यका प्रत्येक कार्य उक्त पाँचोंके समवायकी अपेक्षा नियतक्रमसे होता है, अनियतक्रमसे नहीं होता' इसमें अनेकान्त कैसे हो गया ? कारण कि अनेकान्तकी जो परिभाषा समयसारकी आत्मख्याति टीकाके आधार पर हम पूर्वमें बतला आये हैं उससे इसका मेल नहीं बैठता है। समयसारकी टीका आत्मख्यातिके अनुसार एक ही वस्तुमें उसके वस्तुत्वका प्रतिपादन करनेवाला परस्पर विरोधी शक्ति द्वयका प्रकाशन ही अनेकान्त माना गया है तो जिस प्रकारका अनेकान्त यहाँ पर प्रतिपादित किया है उसमें अनेकान्तका समयसारकी आत्मख्याति टीकावाला लक्षण घटित कैसे होता है ? कृपया विचार तो कीजिये।

तात्पर्य यह है कि जैन संस्कृतिमें विधिरूप और निषेधरूप दो परस्पर विरोधी धर्म वस्तुके स्वीकार किये गये हैं। अब आप ही बतलाइये कि उपर्युक्त पाँच समवायोंमें तथा नियतक्रमसे होता है और अनियतक्रमसे नहीं होता इसमें कौनसे परस्पर विरोधी दो धर्मोंका वस्तुमें सद्भाव सिद्ध होता है। यहाँ तो प्रकारान्तरसे एक ही धर्मका अस्तित्व वस्तुमें सिद्ध होता है तो इसमें अनेकान्तता कैसे आ गयी ? यह बात आपको सोचना है। आपके लिखे अनुसार तो अनेकान्त कोरा सिद्धान्त मालूम देने लगता है जब कि वह अपने ढंग का महत्त्वपूर्ण अद्वितीय सिद्धान्त है।

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभावके विवेचनमें ईश्वरका अर्थ निमित्त कौन आधार पर आपने लिया, इसी प्रकार श्री पं० बनारसीदासजीके पद्यमें 'पूरब उदय' इसका अर्थ निमित्त किस आधार पर आपने किया यह विचारणीय है। यह भी विचारणीय है कि 'पूरब उदय' शब्दको, जब कि यह कथन आत्माके विषयमें ही किया गया मालूम होता है तो आपने वस्तु सामान्यके कार्यकारणभावका अंग कैसे मान लिया ? स्वयं बनारसीदासजीने नंबर ४५ के पद्यमें इसका संकेत दिया है। वह पद्य निम्न प्रकार है—

> निहचै अभेद अंग, उदै गुणकी तरंग, उद्यमकी रीति लिये उद्धता सकती है।
> परजाई रूपको प्रवान सूच्छम सुभाव, कालकी सी ढाल परिणाम चक्रगति है॥
> याही भाँति आत्मद्रव्यके अनेक अंग, एक माने एककी न माने सो कुमति है।
> टेक डारि एकमें अनेक खोजे सो सुबुद्धि खोजी जीवै वादी मरै सांची कहवति है॥४५॥

उक्त ४२वें पद्यमें बतलायी गयी पाँचों बातोंका क्या अर्थ है और उनका संबंध किससे किस रूपमें है यह बात इस पद्यसे अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। उक्त ४२वां पद्य कार्यकारणभावका प्रतिपादक नहीं है यह बात भी इस ४५ वें पद्यसे ज्ञात होती है।

इसी प्रकार गोम्मटसार कर्मकाण्डमें क्रियावादी मिथ्यादृष्टियोंकी गणना करते हुए आचार्य श्री नेमिचन्द्रने काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव इनमेंसे एक एक आधारसे कार्योत्पत्ति माननेवाले मिथ्यादृष्टियोंका कथन किया है इस पर आपके द्वारा यह सिद्धान्त स्थिर किया मालूम देता है कि यदि ईश्वर आदि पाँचमेंसे एक एकसे कार्योत्पत्ति माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं तो इनके समवायसे कार्योत्पत्ति माननेका सिद्धान्त सही है। यही कारण है कि आप स्वभाव आदि पाँचके समवायको कार्योत्पत्तिमें कारण

मान लेते हैं। और चूंकि जैन संस्कृतिमें ईश्वरको कर्ता नहीं माना गया है, अतः ईश्वरका अर्थ आप निमित्त कर लेते हैं और जब आप श्री पं० बनारसीदासजीके पद्यके साथ गोम्मटसारमें कहे गये स्वभाव आदि पाँचका समन्वय करते हैं तो और भी परिवर्तन इनके अर्थमें आपको करना अनिवार्य हो जाता है। फिर एक बात और विचारणीय हो जाती है कि कर्मकाण्डमें तो काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभावके आगे अलगसे पौरुषवाद, दैववाद, संयोगवाद तथा लोकवाद आदिका कथन करते हुए नेमिचन्द्राचार्यने अन्तमें—

जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ॥८९४॥

अर्थ—जितने वचनके मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय हैं।

आपने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें आये हुए काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभावका जो अर्थ किया है उनके विरुद्ध ही कालादिका अर्थ गोम्मटसार कर्मकाण्डमें किया गया है। कृपया गोम्मटसारके अर्थोंको आचार्य श्री नेमिचन्द्रके शब्दोंमें ही पढ़िये—

कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विणस्सदे भूद।
जागत्ति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वंचिदुं कालो ॥८७९४॥

अर्थ—काल ही सबको उत्पन्न करता है और काल ही सबका विनाश करता है। सोते हुयेको काल ही जगाता है इस तरह कालको ठगनेमें कौन समर्थ है?

अण्णाणी हु अणीसो अप्पा तस्स य सुहं च दुक्खं च।
सग्गं णिरयं गमणं सव्वं ईसरकयं होदि ॥८८०॥

अर्थ—आत्मा ज्ञान रहित है, अनाथ है अर्थात् कुछ भी करनेमें असमर्थ है, उस आत्माके सुख-दुःख, स्वर्ग तथा नरकमें गमन इत्यदि सब ईश्वर द्वारा किया हुआ ही होता है।

एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववावी य।
सव्वंगणिगूढो वि य सचेयणो णिग्गुणो परमो ॥८८१॥

अर्थ—संसारमें एक ही महान् आत्मा है, वही पुरुष है, वही देव है, वही सर्व व्यापी है, सर्वांगपने अगम्य है, सचेतन है, निर्गुण है और उत्कृष्ट है।

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥८८२॥

अर्थ—जो भी जब जिससे जैसे और जिसके नियमसे होता है वह तब उससे उसी प्रकार उसके होता है—इस तरह की मान्यताको नियतिवाद कहा जाता है।

को करइ कंटयाणं तिक्खत्तं मियविहंगमादीणं।
विविहत्तं तु सहावो इदि सव्वंवि य सहाओ त्ति ॥८८३॥

अर्थ—काँटोंको तीक्ष्ण कौन करता है, मृगादि पशुओं और पक्षी आदिके विविध भेदोंको कौन निर्मित करता है, इसका उत्तर एक ही है कि यह सब स्वभावसे ही होता है।

अब आप देखेंगे कि आपके अभिप्रायका समर्थन इन गाथाओंसे कदापि नहीं होता है। कृपया गंभीरता पूर्वक विचार करें।

'जावदिया वयणवहा' इत्यादि गाथा द्वारा परसमयोंकी जो गणना कर दी है इससे तो यह सिद्ध होता है कि आपके द्वारा केवल स्वभाव आदि पाँचके समवायमें कार्योत्पत्तिके प्रति कारणताको सीमित किया जाना युक्तिसंगत नहीं है।

इस विवेचनका सार यह है कि गोम्मटसार कर्मकाण्डके कथनमें आचार्य श्री नेमिचन्दकी दृष्टि यह नहीं रही है कि ईश्वर आदि एक एकके आश्रयसे कार्योत्पत्ति माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं और इनके समवायसे कार्योत्पत्ति माननेवाले सम्यग्दृष्टि हैं। उनकी दृष्टि तो इस कथनमें सिर्फ इतनी है कि कौन पर समयवादी किस आधार पर कार्योत्पत्ति मानता है? और उसकी वह मान्यता सही है या गलत है। एक बात और है कि यदि आचार्य श्री नेमिचन्दकी दृष्टि ईश्वर आदि पाँचके समवायसे कार्योत्पत्ति स्वीकार करनेकी होती तो वे अपने उक्त कथनमें ईश्वरवाद या आत्मवादको किसी भी प्रकार स्थान नहीं दे सकते थे, क्योंकि जैन संस्कृतिमें न तो ईश्वरको कार्योत्पत्तिमें कर्ता स्वीकार किया गया है और न समस्त कार्योंमें आत्माको ही कारण माना गया है।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वभाव आदि पाँचको कार्योत्पत्तिमें स्थान देने और उसका समर्थन आगमसे करनेमें आपको कितनी खींचातानी करनी पड़ी है और फिर भी आप अपने उद्देश्यमें असफल ही रहे हैं।

यदि कार्यकारण व्यवस्थामें स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और निमित्तका अर्थ निम्न प्रकार करें तो इनकी भी उपयोगिता हो सकती है, किन्तु पं० बनारसीदास जी के दोहेसे अथवा गोम्मटसार कर्मकाण्डसे इनका संबंध जोड़ना उचित नहीं है। इनमें से स्वभावका अर्थ वस्तुकी स्वतःसिद्ध परिणमन शक्ति लेना चाहिये, क्योंकि यदि वस्तुको स्वतःसिद्ध परिणमन स्वभाववाली नहीं माना जायगा तो फिर कोई भी अन्य वस्तु उसमें परिणमन करानेमें सर्वदा असमर्थ ही रहेगी। इसी प्रकार नियतिके विषयमें यह निर्णय करना चाहिये कि प्रत्येक वस्तुका परिणमन इस रूपसे नियत होता है कि प्रत्येक वस्तुसे सभी वस्तुओंमें होनेवाले सभी परिणमन उत्पन्न नहीं होते हैं, प्रत्येक वस्तुके परिणमनोंकी मर्यादा नियत है अर्थात् अमुक वस्तुमें अमुक-अमुक प्रकारका ही परिणमन होगा और अमुक प्रकारका परिणमन कदापि नहीं होगा। कालके विषयमें यह है कि जब भी कार्योत्पत्ति होगी तो वह क्रमसे ही होगी। कारण कि एक ही वस्तुमें एक ही आधार पर एक साथ दो पर्यायें कभी उत्पन्न नहीं होती हैं। पुरुषार्थ शब्द कार्योत्पत्तिमें आत्माके प्रयत्न करनेका सूचक है और निमित्तसे उस-उस कार्यके अपने अपने उपादानसे अतिरिक्त सहयोगियोंका अर्थ बोध होता है। इस तरह कार्योत्पत्तिमें इन पाँचकी आवश्यकताका मूल्य है, लेकिन जितने स्वप्रत्यय परिणमन होते हैं उनकी उत्पत्तिमें तो स्वभाव, नियति और काल (क्रम) इन तीनकी ही आवश्यकता रहती है और स्वपरप्रत्यय परिणमनोंमेंसे किन्हीं-किन्हीं स्वपरप्रत्यय परिणमनोंमें तो स्वभाव, नियति, काल, (क्रम) और निमित्त (सहयोगी) इन चारकी तथा किन्हीं-किन्हीं स्वपर प्रत्यय परिणमनोंमें स्वभाव, नियति, काल (क्रम), निमित्त (सहयोगी) और पुरुषार्थ (आत्मप्रयत्न) इन पाँचोंकी भी आवश्यकता रहती है। आशा है आप कार्यकारणभावके इस सम्पूर्ण विवेचन पर गम्भीरताके साथ विचार करेंगे।

इस प्रकार आपके द्वितीय दौरके प्रपत्र पर हमने विस्तारसे सर्वांगीण विचार किया है। यद्यपि इससे लेखका कलेवर अवश्य बढ़ गया है, परन्तु जब दोनों पक्षोंके सामने सत्यार्थ तत्त्वको फलित करनेका ही लक्ष्य है तो लेखका कलेवर बढ़ जाना अखरनेवाली बात नहीं है।

●

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

शंका ५

मूल प्रश्न ५—द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं या अनियत क्रमसे भी ?

प्रतिशंका ३ का समाधान

प्रथम उत्तरमें इस प्रश्नका समाधान हमने दो प्रकारसे किया है—एक तो केवलज्ञानकी अपेक्षा और दूसरे आगममें स्वीकृत उपादानके सुनिश्चित लक्षणकी अपेक्षा। इन दोनों अपेक्षाओंसे समाधान करते हुए यह सिद्ध कर आये हैं कि द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं। साथ ही इसे आलम्बन बनाकर प्रतिशंका २ में विरोधस्वरूप जो प्रमाण और तर्क उपस्थित किये गये हैं उनका भी सांगोपांग विचार उसके उत्तरमें कर आये हैं। तत्काल प्रतिशंका ३ के आधारसे विचार करते हैं—

१. अपर पक्ष द्वारा प्रत्येक कार्यका स्वकालमें होना स्वीकार

इसका प्रारंभ करते हुए अपर पक्षने सर्व प्रथम हमारे द्वारा प्रथम और द्वितीय उत्तरमें उल्लिखित जिन पाँच आगमप्रमाणोंके आधारसे यह स्वीकार कर लिया है कि 'प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है' इसकी हमें प्रसन्नता है। हमें विश्वास है कि समग्र जैन परम्परा इसमें प्रसन्नताका अनुभव करेगी, क्योंकि 'प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है' यह तथ्य एक ऐसी वास्तविकता है जो जैनधर्म और वस्तुव्यवस्थाका प्राण है। इसे अस्वीकार करनेपर न तो केवलज्ञानकी सर्वज्ञता ही सिद्ध होती है और न ही वस्तुव्यवस्थाके अनुरूप कार्य-कारणपरम्परा ही सुघटित हो सकती है। अपर पक्षने प्रतिशंका ३ में जिन शब्दों द्वारा स्वकालमें कार्यका होना स्वीकार किया है वे शब्द इस प्रकार हैं—

'यह हम मानते हैं कि जिनेन्द्रदेवको केवलज्ञानके द्वारा प्रत्येक कार्यके उत्पन्न होनेका समय मालूम है। कारण कि केवलज्ञानमें विश्वके सम्पूर्ण पदार्थोंकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायोंका केवलज्ञानी जीवोंको युगपत् ज्ञान करानेकी सामर्थ्य जैनसंस्कृति द्वारा स्वीकार की गई है। उसी आधार पर यह बात भी हम मानते हैं कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति उसी कालमें होती है जिस कालमें उसकी उस उत्पत्तिका होना केवलज्ञानी जीवके केवलज्ञानमें प्रतिभासित हो रहा है।

२. केवलज्ञान ज्ञापक है कारक नहीं

साथ ही उक्त तथ्यकी स्वीकृतिके बाद अपर पक्षकी ओरसे जो यह भाव व्यक्त किया गया है कि—

'परन्तु किसी भी कार्यकी उत्पत्ति जिस कालमें होती है उस कालमें वह इस आधार पर नहीं होती है कि उस कालमें उस कार्यकी उस उत्पत्तिका होना केवलज्ञानीके ज्ञानमें प्रतिभासित हो रहा है, क्योंकि वस्तुकी जिस कालमें जैसी अवस्था हो उस अवस्थाको जानना मात्र केवलज्ञानका कार्य है, उस कार्यका होना केवलज्ञानका कार्य नहीं है।'

सो यह कथन भी आगम परम्पराके अनुरूप होनेसे स्वीकार करने योग्य है, किन्तु अपर पक्षके इस कथनमें इतना हम और जोड़ देना चाहेंगे कि—'जिस प्रकार जिस कालमें जो कार्य होता है उसे

केवलज्ञान यथावत् जानता है उसी प्रकार उसकी कारक सामग्रीको भी वह जानता है।' केवलज्ञान किसी कार्यका कारक न होकर ज्ञापकमात्र है इसमें किसीको विवाद नहीं। अपर पक्षने केवलज्ञान ज्ञापक है इस अभिप्रायकी पुष्टिमें 'जैनतत्त्वमीमांसा'के केवलज्ञान स्वभाव मीमांसा प्रकरणका उल्लेख उपस्थित किया है सो उस उल्लेखसे भी इसी अभिप्रायकी पुष्टि होती है। अस्तु,

३. कारकसाकल्यमें पाँचका समवाय स्वीकृत है

आगे प्रतिशंका ३ में हमारे पिछले उत्तरोंके आधारपर जो यह भाव व्यक्त किया गया है कि हम केवल स्वकालके प्राप्त होनेपर ही सभी कार्योंकी उत्पत्ति मानते है सो हमारे उन उत्तरोंसे ऐसा निष्कर्ष फलित करना ठीक नहीं है, क्योंकि मूल प्रश्नमें 'द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं या अनियतक्रमसे भी ?' यह पृच्छा की गई थी और उसीके उत्तरस्वरूप पिछले उत्तरों द्वारा असंदिग्धरूपसे यह सिद्ध किया गया है कि 'द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत (निश्चित) क्रमसे ही होती है, अनियत (अनिश्चित) क्रमसे त्रिकालमें नहीं होतीं।' अतएव प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति अपने अपने स्वकालके प्राप्त होनेपर होती हुई भी कारकसाकल्यसे ही होती है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। हमने कार्योत्पत्तिका कारण केवल स्वकालको न तो कहीं लिखा है और न है भी। **जिस प्रकार अन्य उपादान-निमित्त सामग्री कार्योत्पत्तिमें स्वीकार की गई है उसी प्रकार उसमें स्वकालको भी उस (सामग्री) का अभिन्न अंग होनेसे स्थान मिला हुआ है,** इतना ही हमारा कहना है। जैनतत्त्वमीमांसा पृ० ६५–६६ में इसका स्पष्ट रूपसे विवेचन किया गया है जो प्रकृतमें उपयोगी होनेसे यहाँ उद्धृत किया जाता है—

'साधारण नियम यह है कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें ये पाँच कारण नियमसे होते हैं—स्वभाव, पुरुषार्थ, काल, नियति और कर्म (परपदार्थकी अवस्था)। यहाँ पर स्वभावसे द्रव्यकी स्वशक्ति या निश्चय उपादान लिया गया है, पुरुषार्थसे उसका बल-वीर्य लिया गया है, कालसे स्वकालका ग्रहण किया है, नियतिसे समर्थ उपादान या निश्चयकी मुख्यता दिखलाई गई है और कर्मसे निमित्तका ग्रहण किया है। इन्हीं पाँच कारणोंको सूचित करते हुए पण्डितप्रवर बनारसीदास जी नाटकसमयसार सर्वविशुद्धिज्ञानाधिकारमें कहते हैं—

पदसुभाव पूरव उदै निहचै उद्यम काल।
पच्छपात मिथ्यात पथ सरवंगी शिवचाल॥

गोम्मटसार कर्मकाण्डमें पाँच प्रकारके एकान्तवादियोंका कथन आता है। उसका आशय इतना ही है कि जो उनमेंसे किसी एकसे कार्यकी उत्पत्ति मानता है वह मिथ्यादृष्टि है और जो कार्यकी उत्पत्तिमें इन पाँचोंके समवायको स्वीकार करता है वह सम्यग्दृष्टि है। पण्डितप्रवर बनारसीदासजीने उक्त पदद्वारा इसी तथ्यकी पुष्टि की है। अष्टसहस्री पृ० २५७ में भट्टाकलंकदेवने एक श्लोक दिया है। उसका भी यही आशय है।

श्लोक इस प्रकार है—

ताद‍ृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च ताद‍ृशः।
सहायास्ताद‍ृशाः सन्ति याद‍ृशी भवितव्यता॥

जिस जीवकी जैसी भवितव्यता (होनहार) होती है उसकी वैसी ही बुद्धि हो जाती है। वह प्रयत्न भी उसी प्रकारका करने लगता है और उसके सहायक भी उसीके अनुसार मिल जाते हैं।

इस श्लोकमें भवितव्यताको मुख्यता दी गई है। भवितव्यता क्या है? जीवकी समर्थ उपादान शक्तिका नाम ही तो भवितव्यता है। भवितव्यताकी व्युत्पत्ति है—भवितुं योग्यं भवितव्यं तस्य भावः भवितव्यता। जो होने योग्य हो उसे भवितव्य कहते हैं और उसका भाव भवितव्यता कहलाती है। जिसे हम योग्यता कहते हैं उसीका दूसरा नाम भवितव्यता है। द्रव्यकी समर्थ उपादान शक्ति कार्यरूपसे परिणत होनेके योग्य होती है इसलिये समर्थ उपादन शक्ति, भवितव्यता और योग्यता ये तीनों एक ही अर्थको सूचित करते हैं। कहीं-कहीं अनादि या नित्य उपादानको भी भवितव्यता या योग्यता शब्द द्वारा अभिहित किया गया है सो प्रकरणके अनुसार उसका उक्त अर्थ करनेमें भी कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि भवितव्यतासे उक्त दोनों अर्थ सूचित होते हैं। उक्त श्लोकमें भवितव्यताको प्रमुखता दी गई है और साथमें व्यवसाय-पुरुषार्थ तथा अन्य सहायक सामग्रीका भी सूचन किया है सो इस कथन द्वारा उक्त पाँचों कारणोंका समवाय होने पर कार्यकी सिद्धि होती है यही सूचित होता है, क्योंकि स्वकाल उपादानकी विशेषता होनेसे भवितव्यतामें गर्भित है ही।'

कारकसाकल्यके होने पर कार्य होता है इस तथ्यकी पुष्टि करनेवाला यह जैनतत्त्वमीमांसाका उल्लेख है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि हम यह कभी भी स्वीकार नहीं करते कि केवल स्वकालसे कार्यकी उत्पत्ति होती है। हाँ स्वकालको कारण रूपमें स्वीकार करनेमें अपर पक्ष अवश्य ही हीला-हवाला करता आ रहा है, जैसा कि उसका यह अभिप्राय प्रतिशंका २ से स्पष्ट ज्ञात होता है। अब उसकी ओरसे स्वकालको भी एक कारणके रूपमें प्रतिशंका ३में स्वीकार कर लिया गया है जो इष्ट है।

यहाँ पर हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि अपर पक्षने प्रतिशंका ३ में स्वामिकार्तिकेयके 'जं जस्स' इत्यादि कारिकाओंका तथा भैया भगवतीदासके 'जो जो देखी' इत्यादि दोहेका जो आशय व्यक्त किया है वह हमारे उक्त कथनके अनुरूप होनेसे हमें मान्य है। इससे हमें आशा है कि उसकी ओरसे प्रतिशंका २ में 'जं जस्स' इत्यादि कारिकाओंका जो विपरीत आशय व्यक्त किया गया है उससे वह विरत हो जायगा।

४. अलंघ्यशक्ति पदका वास्तविक अर्थ

इसी प्रसंगमें यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि अपर पक्षने 'अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं' इत्यादि श्लोकमें पठित 'अलंघ्यशक्तिः' पदका अर्थ करते हुए जो कुछ भी लिखा है वह पढ़नेमें सुहावना लगते हुए भी विचारणीय है। बात यह है कि—प्रत्येक कार्यके प्रति प्रति समय कारकसाकल्यका सहज योग जैनदर्शनमें स्वीकार किया गया है, इसलिये यह तो प्रश्न ही नहीं उठता कि अन्तरंग-बहिरंग सामग्री किसीके आधीन होकर कार्यके प्रति कारण होती है। जिसे भवितव्यता कहते हैं वह उस सामग्रीसे सर्वथा भिन्न हो ऐसा नहीं है। अपर पक्ष वस्तुमें विद्यमान कार्योत्पत्तिकी आधारभूत स्वतःसिद्ध योग्यतारूपसे जिस भवितव्यताका उल्लेख करता है वह सामान्यरूपसे द्रव्यशक्तिके सिवाय और क्या हो सकती है अर्थात् उसके सिवाय अन्य कुछ भी नहीं हो सकती। किन्तु ऐसी द्रव्यशक्ति जब भिन्न-भिन्न पर्यायशक्तिसे युक्त होकर पृथक्-पृथक् समर्थ या निश्चय उपादान संज्ञाको प्राप्त होती है तब बहिरंग सामग्रीको निमित्तकर नियमसे विवक्षित कार्यको उत्पन्न करती है। कार्यकारणपरंपराका प्रवाह प्रत्येक समयमें अनादिकालसे इसी क्रमसे चला आ रहा है और अनंत काल तक चलता रहेगा। यहाँ न तो कारण कार्यके आधीन है और न कार्य कारणके आधीन है। यह वस्तु स्वभाव है कि 'ऐसा होने पर ऐसा होता है।' इसीको जैनदर्शनमें कारण-कार्य परम्पराके रूपमें स्वीकार

लिया गया है, क्योंकि किसीको किसीके आधीन माननेपर वस्तुका स्वतःसिद्ध स्वरूप विघटित हो जाता है, जो युक्त नहीं है, अतएव 'अलंघ्यशक्तिः' पदको लक्ष्यमें रखकर भट्टाकलंकदेवके उल्लेखानुसार जो यह अर्थ किया जाता है कि जैसी भवितव्यता होती है अर्थात् जब जैसी पर्यायशक्ति युक्त द्रव्यशक्ति होती है उस कालमें उसीके अनुरूप कार्य करनेका विकल्प होता है, व्यवसाय भी उसीके अनुरूप होता है और निमित्त भी वैसे ही मिलते हैं। सो जहाँ ऐसा अर्थ करना संगत है वहाँ उक्त पदको ध्यानमें रखकर 'अलंघ्यशक्तिः' इत्यादि पदके अनुसार यह अर्थ करना भी संगत है कि हेतुद्वयसे जो कार्य उत्पन्न होता है वह इस बात का सूचक है कि वह कार्य द्रव्यस्वभावको लांघकर कभी भी नहीं हो सकता। कार्यमें उसकी मर्यादाका उल्लंघन होना त्रिकालमें अशक्य है यह अटल सिद्धान्त है। दोनों अर्थ अपनेमें स्पष्ट हैं और अपनी अपनी जगह ठीक हैं।

अपर पक्षने जहाँ 'भवितव्यता' पदके अर्थका स्पष्टीकरण किया है वहाँ वह यदि इसके साथ यह स्पष्ट कर देता कि इस पद द्वारा वह किसको ग्रहण कर रहा है—द्रव्यशक्तिको या पर्यायशक्तिको या दोनोंको तो बहुत संभव था कि उसे भाषा प्रयोगकी जटिलतामें प्रवेश किये बिना 'अलंघ्यशक्तिः' इत्यादि पदके अर्थको स्पष्ट करनेमें सुगमता जाती। अस्तु, इससे प्रकृतमें उक्त पदका अर्थ जो अभिप्रेत है उसका सहज ज्ञान हो जायगा।

५. प्रत्येक कार्यमें अन्तरंग-बहिरंग सामग्रीकी स्वीकृति

प्रत्येक समयमें जो भी कार्य होता है उसमें बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रताका होना अनिवार्य है। इसमें स्वकाल, भवितव्यता आदि सबका परिग्रह हो जाता है। किसी कारणकी प्रधानता और अप्रधानता विवक्षामें होती है, कार्यमें नहीं। कार्यके प्रति तो जिसकी जिस रूपमें (उपचरित या अनुपचरित रूपमें) कारणता है उसका वहाँ उस रूपमें होना अनिवार्य है। तभी कार्यके प्रति अन्तरंग-बहिरंग कारणोंकी समग्रता मानी जा सकती है। अतएव हमारा सिद्धान्त बतलाकर अपर पक्षने जो यह लिखा है कि—

'चूँकि आपका सिद्धान्त कार्योत्पत्तिके स्वकालको अर्थात् जिस कालमें उत्पन्न होता है उस कालको प्रधान कारण माननेका है अर्थात् आप कहना चाहते हैं कि कार्योत्पत्तिका काल आ जाने पर ही कार्योत्पत्ति हुआ करती है।' सो अपर पक्षका यह कहना ठीक प्रतीत नहीं होता, क्योंकि कथनके समय प्रयोजन विशेषको ध्यानमें रखकर किसी कार्यमें भले ही किसी एक कारणको मुख्यता और दूसरे कारणोंको गौणता प्रदान की जाय, परन्तु कार्यके प्रति जितने भी कारण हैं उन सबका अपने-अपने रूपमें होना आवश्यक है। वस्तुतः अपर पक्षकी ओर से मूल प्रश्न जिस प्रकारका उपस्थित किया गया था उसीको ध्यानमें रखकर पूर्वमें उस प्रश्नका उत्तर दिया गया और इस कारण स्वकालके विवेचनकी मुख्यता हो गई यह बात दूसरी है। अतएव अपर पक्षके द्वारा हमारा सिद्धान्त बतलाकर न तो कार्यके प्रति स्वकालकी मुख्यताका लिखा जाना ही ठीक है और न ही अपना सिद्धान्त बतलाकर यह लिखना ही ठीक है कि—

'और हमारा सिद्धान्त कालको तो कार्योत्पत्तिमें प्रधानता नहीं देता है, किन्तु यदि कार्य केवल अन्तरंग हेतु-उपादान कारणसे उत्पन्न होनेवाला हो तो वहाँ अन्तरंग हेतुको ही प्रधानता देता है और कार्य यदि अन्तरंग और बहिरंग (उपादान और निमित्त) दोनों कारणोंसे उत्पन्न होनेवाला हो तो वहाँ

उपादान और निमित्त दोनोंको ही प्रधानता देता है। अर्थात् कार्योत्पत्ति तो अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही होती है लेकिन जिस कालमें वह होती है वही उसका स्वकाल कहलाने लगता है।'

क्योंकि जैसा कि हम पूर्वमें लिख आये हैं कि किसी भी कार्यके प्रति किसी भी कारणकी प्रधानता और अप्रधानता नहीं हुआ करती। प्रत्येक कार्यके प्रति काल भी एक कारण है, अतएव जिस प्रकार उसके प्रति अन्य निमित्तोंकी यथायोग्य कारणता मानी गई है उसी प्रकार कालको भी कारण मानना आगम संगत है। 'किसी कालमें कोई कार्य हुआ' मात्र इतना अर्थ यहाँ विवक्षित नहीं है, किन्तु प्रत्येक कार्यमें व्यवहारसे बलाधायक रूपसे कालकी हेतुकर्तृता आगममें स्वीकार की गई है। यतः प्रत्येक द्रव्य पर्यायरूपसे ही निमित्त होता है अतएव कालको भी इसी रूपमें निमित्त मानना चाहिये और ऐसी अवस्थामें अपने-अपने समयमें होनेवाले कार्योंका उस-उस कालके साथ योग बनता जाता है और इस प्रकार सभी द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें अपने-अपने कालमें नियत क्रमसे ही होती हैं यह सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार उक्त तथ्यके सिद्ध हो जाने पर यहाँ इस बातका विचार करना है कि क्या कोई ऐसे भी कार्य हैं जो मात्र अंतरंग (उपादान) कारणसे उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अपर पक्षका पूर्वमें जो उल्लेख उपस्थित कर आये हैं उसमें स्पष्ट शब्दों द्वारा यह स्वीकार किया गया है कि जो कार्य केवल अंतरंग हेतु—उपादानकारणसे उत्पन्न होते हैं उनमें केवल अंतरंग हेतुकी प्रधानता है, इसलिए प्रकृतमें इस बातका सांगोपांग विचार करना आवश्यक हो जानेसे इसपर विशेष प्रकाश डाला जाता है—

६. निश्चयनयसे कर्ता-कर्मकी व्यवस्था

यह तो सुविदित सत्य है कि जैनदर्शनमें छह द्रव्य स्वीकार किये गये हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश। इन छहों द्रव्योंमें समानरूपसे घटित हो ऐसे लक्षणको स्वीकार करते हुए सब द्रव्योंका लक्षण 'सत्' किया है—'**सद् द्रव्यलक्षणम्**' (त० सू०, अ ५ सू० २९)। सत् किसे कहा जाय इसका स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है कि जो स्वभावसे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप है वह सत् है—'**उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्**' (त० सू०, अ० ५ सू० ३०)। दूसरे शब्दोंमें इसी बातको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो गुण-पर्यायवाला है वह द्रव्य है—'**गुण-पर्ययवद् द्रव्यम्**' (त० सू०, अ ५ सू० ३८)। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य जहाँ स्वभावसे ध्रौव्य है वहाँ वह उत्पाद-व्ययस्वभाववाला भी है यह सिद्ध होता है।

इस प्रकार उक्त लक्षणवाले सब द्रव्योंके सिद्ध हो जानेपर उनके उत्पाद और व्ययको लक्ष्यमें रखकर लिखा है कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें अपने ध्रौव्य स्वभावको लिये हुए स्वभावसे उत्पाद-व्यय पर्यायरूपसे परिणमता है। पर्यायरूपसे उसका उत्पाद-व्ययरूपसे परिणमना यह उसका स्वतःसिद्ध स्वरूप है, इसलिए कार्य-कारणकी दृष्टिसे विचार करने पर अपनी प्रत्येक पर्यायका वह स्वयं कर्ता है और वह स्वयं कर्म है। न तो अन्य कोई उसका कर्ता है और न अन्य कोई उसका कर्म है। यह निश्चयपक्ष है। आगममें इसीको 'भूतार्थ' संज्ञा है। 'भूतार्थ' पदका अर्थ करते हुए मूलाचारके पञ्चाचाराधिकारकी गाथा ६ की टीकामें लिखा है—

भूदत्थेण—भूतश्चासावर्थश्च भूतार्थस्तेन। यद्यप्ययं भूतशब्दः पिशाच-जीव-सत्य-पृथिव्याद्यने-कार्थे वर्तते तथाप्यत्र सत्यवाची परिगृह्यते। तथार्थशब्दो यद्यपि पदार्थ-प्रयोजन-स्वरूपाद्यर्थे वर्तते तथापि स्वरूपार्थे वर्तमानः परिगृहीतः, अन्यार्थवाचकेन प्रयोजनाभावात्। भूतार्थेन सत्यरूपेण याथात्म्येन।

भूतार्थरूपसे—भूत जो अर्थ भूतार्थ, उस रूपसे। यद्यपि यह 'भूत' शब्द पिशाच, जीव, सत्य और पृथ्वी आदि अनेक अर्थोंमें विद्यमान है तथापि यहाँ पर 'सत्यवाची' भूत शब्दका ग्रहण किया है। तथा 'अर्थ' शब्द यद्यपि पदार्थ, प्रयोजन, और स्वरूप आदि अनेक अर्थोंमें विद्यमान है तथापि 'स्वरूप' अर्थमें लिया गया है, क्योंकि अन्य अर्थके वाचक उक्त शब्दोंका प्रकृतमें योजन नहीं है। भूतार्थसे अर्थात् सत्यस्वरूपसे अर्थात् यथार्थरूपसे।

इस प्रकार मूलाचारके उक्त विवेचनसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि निश्चयनयसे की गई कर्ता-कर्मकी प्ररूपणा सत्यस्वरूप अर्थात् यथार्थ है। इसी प्रकार निश्चयनयसे की गई करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणकी प्ररूपणाको भी यथार्थ ही जानना चाहिए।

ऐसी प्ररूपणामें जब अभेदकी विवक्षा रहती है तब वह द्रव्यार्थिकरूप निश्चयनयकी प्ररूपणा कहलाती है और जब कर्ता-कर्मरूपसे भेदकी विवक्षा होती है तब उसीको पर्यायार्थिक निश्चयनयकी प्ररूपणा कहते हैं। यतः यह प्ररूपणा एक द्रव्यके आश्रयसे होनेवाली परमार्थरूप प्ररूपणा है अतः भेद विवक्षामें कर्मकी अपेक्षा कर्ता और कर्ताकी अपेक्षा कर्म ऐसा व्यवहार करने पर यही सद्भूतव्यवहारकी प्ररूपणा कहलाती है। भगवान् कुन्दकुन्दने समयसारमें एक द्रव्यके आश्रयसे कर्ता-कर्मकी सिद्धि करते हुए लिखा है—

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण सो होइ ॥३१०॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥३११॥

इन दोनों गाथाओंकी अर्थप्ररूपणा करते हुए पण्डितप्रवर जयचन्दजी लिखते हैं—

जिस कारण वह आत्मा किसीसे भी नहीं उत्पन्न हुआ है इससे किसीका किया हुआ कार्य नहीं है और किसी अन्यको भी उत्पन्न नहीं करता इसलिए वह किसीका कारण भी नहीं है, क्योंकि कर्मको आश्रय कर तो कर्ता होता है और कर्ताको आश्रय कर कर्म उत्पन्न होते हैं ऐसा नियम है, अन्य तरह कर्ता-कर्मकी सिद्धि नहीं देखी जाती ॥३१०-३११॥

इन गाथाओंके भावार्थमें वे लिखते हैं—

सब द्रव्योंके परिणाम जुदे-जुदे हैं। अपने-अपने परिणामोंके सब कर्ता हैं। वे उनके कर्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चयकर किसीका किसीसे भी कर्ता-कर्मसम्बन्ध नहीं है। इस कारण जीव अपने परिणामोंका कर्ता है, अपना परिणाम कर्म है। इसी तरह अजीव अपने परिणामोंका कर्ता है, अपना परिणाम कर्म है। इस तरह जीव अन्यके परिणामोंका अकर्ता है।

इस प्रकार प्रत्येक द्रव्यमें जो निश्चयसे परमार्थभूत कर्ता, कर्म आदिकी व्यवस्था है वह अपने-अपने स्वरूपको लिये हुए स्वतःसिद्ध है, क्योंकि किसी एक धर्मी या धर्म, कर्ता या कर्म आदिका स्वरूप परस्परकी अपेक्षासे हो ऐसा नहीं है। यदि वह स्वतःसिद्ध न माना जाय तो उनमें धर्मकी अपेक्षा धर्मी और धर्मीकी अपेक्षा धर्म या कर्ताकी अपेक्षा कर्म या कर्मकी अपेक्षा कर्ता आदि रूप व्यवहार नहीं बन सकता है। अतः इनके स्वरूपको स्वतःसिद्ध स्वीकार करके ही इनके व्यवहारको परस्पर सापेक्ष जानना चाहिए। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि अष्टसहस्री पृ० २३३ में लिखते हैं—

न हि कर्तृस्वरूपं कर्मापेक्षं कर्मस्वरूपं वा कर्त्रपेक्षम्, उभयासत्त्वप्रसंगात्, नापि कर्तृत्वव्यवहारः कर्मत्वव्यवहारो वा परस्परानपेक्षः, कर्तृत्वस्य कर्मनिश्चयावसेयत्वात्, कर्मत्वस्यापि कर्तृप्रतिपत्तिसमधिगम्यमानत्वात्।

कर्त्ताका स्वरूप कर्मसापेक्ष नहीं है। इसी प्रकार कर्मका स्वरूप कर्तासापेक्ष नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेपर दोनोंके अभावका प्रसंग आता है। परन्तु कर्तृत्वव्यवहार और कर्मत्वव्यवहार परस्पर निरपेक्ष भी नहीं है, क्योंकि कर्मके निश्चय पूर्वक कर्तृत्वका ज्ञान होता है और कर्त्ताके ज्ञान पूर्वक कर्मत्वका ज्ञान होता है।

इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर आचार्य विद्यानन्दिने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० ५ सू० १६ में यह वचन लिखा है—

कथमपि तन्निश्चयनयात्सर्वस्य विस्रसोत्पादव्ययध्रौव्यव्यवस्थितेः।

कैसे भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यको स्वीकार करनेवाले निश्चयनयकी अपेक्षा सभी द्रव्योंमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यकी विस्रसा अवस्थिति है।

आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ८६ की टीकामें कर्त्ता, कर्म और क्रियाके यथार्थ स्वरूपपर जो प्रकाश डाला है वह इसी दृष्टिसे ही। वे लिखते हैं—

यः परिणमति स कर्त्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥

जो परिणमता है वह कर्त्ता है, जो परिणाम है वह कर्म है और जो परिणति है वह क्रिया है। ये तीनों ही वस्तुपनेसे भिन्न नहीं हैं ॥५१॥

यह निश्चयसे कर्त्ता कर्मकी व्यवस्था है।

७. दो प्रश्न और उनका समाधान

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जानेपर कि कर्त्ता और कर्म ये स्वरूपसे स्वतःसिद्ध होने पर भी इनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष होता है, प्रकृतमें यह विचार करना है कि दो द्रव्योंके आश्रयसे जो कर्त्ता और कर्मकी प्ररूपणा आगममें की गई है वह भी क्या उक्त प्रकारसे निश्चय और सद्भूतव्यवहार संज्ञाको प्राप्त होती है या उसे स्वीकार करनेका कोई अन्य प्रयोजन है। साथ ही दो द्रव्योंके आश्रयसे उक्त प्रकारकी प्ररूपणा जो आगममें उपलब्ध होती है वह किन-किन द्रव्योंपर किस-किस प्रकार लागू होती है इसका भी प्रकृतमें विचार करना है, क्योंकि अपर पक्ष सब द्रव्योंके षट्स्थानपतित हानि-वृद्धि कार्यमें दो द्रव्योंके आश्रयसे कर्त्ता, कर्मकी व्यवस्थाको स्वीकार न कर मात्र एक द्रव्यके आश्रयसे ही उसे स्वीकार करता है। ये दो प्रश्न हैं जिनपर यहाँ क्रमशः सांगोपांग विचार किया जाता है—

१. जैसा कि हम पूर्वमें कई प्रमाण देकर स्पष्ट कर आये हैं उनसे विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्यमें कर्त्ता-कर्म आदि धर्म स्वरूपसे स्वतःसिद्ध है। जिस प्रकार जीव द्रव्यमें ये स्वरूपसे स्वतःसिद्ध हैं उसी प्रकार पुद्गलादि द्रव्योंमें भी जानना चाहिए। दो द्रव्योंकी तो बात छोड़िये, एक ही द्रव्यमें इन धर्मोंका स्वरूप एक-दूसरेकी अपेक्षासे सिद्ध होता है इसे आगम स्वीकार नहीं करता। इसी कारण इन धर्मोंको आचार्य अमृतचन्द्रने वस्तुपनेसे अभिन्न कहा है।

२. फिर भी एक ही वस्तुमें कर्त्ताधर्मके स्वीकार करने पर किसका कर्त्ता यह जिज्ञासा होती है और इसी प्रकार उसी वस्तुमें कर्मधर्मको स्वीकार करने पर किसका कर्म यह जिज्ञासा होती है, इसलिये आगममें इनका व्यवहार परस्पर सापेक्ष बतलाया गया है।

३. वस्तुस्थिति यह है कि ये कर्त्ता आदि धर्म प्रत्येक वस्तुमें एकाश्रयवृत्ति होनेके कारण तथा धर्मी और धर्मको एक सत्ता होनेके कारण पृथक्-पृथक् उपलब्ध नहीं होते, इसलिये तो अभेद है और संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजन आदिकी अपेक्षा भेद है। यहाँ अभेद विवक्षामें 'यः करोति स कर्त्ता' इस प्रकार जीवादि-द्रव्य अपने कार्योके स्वयं कर्त्तारूपसे प्रसिद्धिको प्राप्त होते हैं और भेद विवक्षामें 'येन क्रियते तत्करणम्' इस प्रकार अपने-अपने सब कार्योंका करणधर्म भेदरूपसे प्रसिद्धिको प्राप्त होता है। इसी प्रकार अन्य धर्मोके सम्बन्धमें भी यथायोग्य उनका स्वरूप घटित कर लेना चाहिए।

४. यह सब कथन परकी अपेक्षा लगाये विना वस्तु स्वरूपका उद्घाटन करनेवाला होनेसे अभेद विवक्षामें द्रव्यार्थिक निश्चयसंज्ञाको और भेद विवक्षामें उस-उस धर्मकी अपेक्षा पर्यायार्थिक निश्चयसंज्ञाको प्राप्त होता है। यतः द्रव्यार्थिक निश्चयकी दृष्टिमें पर्यायार्थिक निश्चय भी व्यवहार है, इसलिए यह व्यवहार सद्भूत होनेसे सद्भूत व्यवहार संज्ञाको प्राप्त होता है।

५. यह वस्तुस्थिति है। इसके प्रकाशमें अब दो द्रव्योंके आश्रयसे जो कर्त्ता आदिकी व्यवस्था आगममें उपलब्ध होती है उसका विचार करते हैं। यह तो सुविदित सत्य है कि 'आत्माश्रितो निश्चयनयः' (समय० गा० २७२ टी०) निश्चयनय आत्माके (स्वके) आश्रित हैं इस नियमके अनुसार आगममें जो दो द्रव्योंके आश्रयसे कर्ता आदिकी व्यवस्थाका विधान उपलब्ध होता है वह न तो द्रव्यार्थिकरूप निश्चयनयकी अपेक्षा ही परमार्थभूत माना जा सकता है और न ही पर्यायार्थिक निश्चयनयकी अपेक्षा ही परमार्थभूत माना जा सकता है। इस प्रकार जब कि दो द्रव्योंके आश्रयसे आगममें प्रतिपादित कर्त्ता आदिकी व्यवस्था उक्त दोनों प्रकारसे निश्चय या भूतार्थ संज्ञाको प्राप्त न होनेके कारण अपरमार्थभूत सिद्ध होती है ऐसी अवस्थामें आगममें उसकी स्वीकृतिका प्रयोजन कोई दूसरा होना चाहिए।

६. बात यह है कि प्रत्येक द्रव्य विस्रसा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वभाव होनेपर भी उसके प्रत्येक समयके परिणमनमें अपनी-अपनी मर्यादाके भीतर जो भेद परिलक्षित होता है वह अपने-अपने निश्चय उपादानगत योग्यताके अनुरूप स्वयंकृत होकर भी व्यवहारसे अन्य द्रव्यकी जो पर्याय उस परिणामके अनुकूल होती है उसके सद्भावमें उत्पन्न होता है, इसलिए व्यवहारसे अन्य द्रव्यके जिस परिणामके सद्भावमें वह परिणाम उत्पन्न होता है उसमें कर्त्ता आदि रूपसे निमित्त व्यवहार किया जाता है। इसके लिए एक शास्त्रीय उदाहरण देना यहाँ पर्याप्त होगा। यथा—एक द्वयणुक है, जिसमें ऐसे दो परमाणु लीजिये जिनमें एक परमाणु दो स्निग्ध या दो रूक्षगुणवाला है और दूसरा परमाणु चार स्निग्ध या चार रूक्ष गुणवाला है। यतः दो गुणवाले परमाणुके लिए उक्त ४ गुणवाला परमाणु व्यवहारसे परिणमनके अनुकूल है, इसलिए उसका सम्पर्क करके उक्त दो गुणवाला परमाणु परिणमनके अनुरूप अपनी उपादानगत योग्यताके कारण उक्त दूसरे परमाणुके अनुरूप परिणमनकर बन्धको प्राप्त हो जाता है। यहाँ उक्त दो गुणवाले परमाणुका उक्त चार गुणवाले परमाणुके अनुरूप परिणमन स्वयंकृत है। उसे उक्त चार गुणवाले परमाणुने उत्पन्न नही कियाहै। फिर भी उसके सद्भावमें अपने बन्धरूप परिणामवश इस कार्यको उसने किया है, इसलिये उस परिणामका निश्चयकर्त्ता वह दो गुणवाला परमाणु होनेपर भी उस परिणामका व्यवहारकर्त्ता चार गुणवाला परमाणु कहा

जाता है। इसी तथ्यको आचार्य गृद्धपिच्छने तत्वार्थसूत्र अ० ५ के 'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ च ॥३७॥' इस सूत्र द्वारा व्यक्त किया है।

यहाँ उक्त दो गुणवाले परमाणुकी उक्त चार गुणवाले परमाणुके साथ कालप्रत्यासत्ति है, इसलिए इस सूत्रमें उक्त बातको ध्यानमें रखकर चार गुणवालेको दो गुणवाले परमाणुको परिणमानेवाला कहा गया है। वस्तुत: देखा जाय तो जिस प्रकार दो गुणवाले परमाणुने उस समय अपना परिणाम उत्पन्न किया है उसी प्रकार चार गुणवाले परमाणुने भी उसी समय अपना परिणाम उत्पन्न किया है, उस समय दोनों अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। यद्यपि चार गुणवाला परमाणु उस समय दो गुणवाले परमाणुको नहीं परिणमा रहा है अर्थात् चार गुणवाला परमाणु उस समय अपने व्यापारको छोड़कर दो गुणवाले परमाणुके व्यापारमें क्रियाशील नहीं हुआ है, फिर भी लोकमें उक्त प्रकारका व्यवहार होता अवश्य है सो ऐसे व्यवहारका कारण जिसको काल प्रत्यासत्ति होनेपर यह परिणाम हुआ है उसका ज्ञान करानामात्र है। आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारके बन्धाधिकारमें 'जह फलहमणी सुद्धो' इत्यादि रूपसे २७८ व २७९ संख्याक गाथाऐं लिखकर इसी तथ्यका ज्ञान कराया है और आचार्य अमृतचन्द्रने भी उन दोनों गाथाओंकी टीकामें 'न जातु रागादि–' इत्यादि कलश लिखकर इसी तथ्यको स्पष्ट किया है। यह एक शास्त्रीय उदाहरण है। लोकमें इस प्रकारके जितने भी कार्य होते हैं उन सबके विषयमें यह नियम जान लेना चाहिए।

७. अन्य एक या एकसे अधिक जिन द्रव्योंका उससे भिन्न दूसरे द्रव्यके जिस कार्यके अनुकूल व्यापार होता है वह व्यवहार हेतु कहा जाता है। इस तथ्यको आचार्य अमृतचन्द्रने श्री समयसार गाथा ८४ की टीकामें 'बहिर्व्याप्य-व्यापकभावेन कलशसम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः' इन शब्दों द्वारा स्वीकार किया है। इस वाक्यमें आया हुआ 'अनुकूलम्' शब्द उक्त आशयकी सूचना स्पष्ट रूपसे कर रहा है। इससे तीन बातोंका स्पष्ट ज्ञान होता है—

एक तो इस बातका ज्ञान होता है कि जिस प्रकार प्रत्येक कार्यकी अपने समर्थ (निश्चय) उपादान-रूप कर्ताके साथ नियमसे अन्तर्व्याप्ति होती है उसी प्रकार उसकी जिनमें व्यवहारी जन कर्ता आदि व्यवहार करते हैं ऐसी दूसरे एक या एकसे अधिक द्रव्योंकी पर्यायोंके साथ नियमसे बाह्य व्याप्ति होती है। इन दोनोंका एक कालमें होनेका नियम होनेसे इनमें कालप्रत्यासत्ति होती है और इसलिए ऐसा योग इनमें विस्रसा या प्रयोगसे सहज ही बनता रहता है।

दूसरे इस बातका भी ज्ञान होता है कि जिसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है ऐसे दूसरे एक या एकसे अधिक द्रव्योंका वह व्यापार प्रत्येक समयके विवक्षित कार्यसे पृथक् ही होता है। निमित्त संज्ञाको प्राप्त होनेवाले वे पदार्थ प्रत्येक समयके उस विवक्षित कार्यमें व्यापार नहीं करते यह उक्त कथनका आशय है।

तीसरे इस बातका भी ज्ञान होता है कि उपादान कर्ताके अपने कार्यके प्रति व्यापारवान् होनेपर जिनमें निमित्त व्यवहार किया जाता है ऐसे एक या एकसे अधिक द्रव्योंका उस-उस समय होनेवाला वह व्यापार व्यवहारसे अनुकूल ही होता है। दूसरे शब्दोंमें यदि इसी बातको प्रकट किया जाय तो इससे यह अनुमान होता है कि इस समय इस कार्यका यही समर्थ उपादानकर्ता है।

८. इस प्रकार सब द्रव्योंके प्रत्येक समयके कार्यके अनुकूल प्रत्येक समयमें उपादान और निमित्तका सहज योग बनता रहता है और सब द्रव्योंका प्रत्येक समयमें यथासम्भव विभाव या स्वभावरूप कार्य भी होता रहता है। अर्थात् संसार दशामें जीवका और बद्ध दशामें पुद्गलका विभावरूप कार्य होता है और

स्वभाव दशामें जीवका, परमाणुदशामें पुद्गलका तथा धर्म, अधर्म, आकाश और कालका सर्वदा स्वभावरूप कार्य होता रहता है। आगममें अनेक स्थलों पर कहीं उपादानकी अपेक्षा और कहीं निमित्तोंकी अपेक्षा जो यह वचन दृष्टिगोचर होता है कि 'सर्वत्र कारणानुविधायि कार्यं भवति' सो उसका कारण यही है कि जिस समय जो भी कार्य होता है उसमें निश्चयसे उपादानकी और व्यवहारसे निमित्तोंकी अनुकूलता दृष्टिगोचर होती है। यही कारण है कि अन्य द्रव्यकी जो पर्याय व्यवहारसे कार्यके अनुकूल होती है उसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है। तात्पर्य यह है कि **जिसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है वह व्यवहारसे कार्यके अनुकूल होता है और कार्य व्यवहारसे उसके अनुरूप होता है।**

६. अब प्रश्न यह है कि जिनमें निमित्त व्यवहार किया जाता है उनका प्रायः व्यवहारसे कार्योंके अनुकूल और कार्योंका व्यवहारसे उनके अनुरूप होना आवश्यक है तो निष्क्रिय धर्मादि द्रव्य तथा क्रियावान् जलादि पदार्थ जीव-पुद्गलोंके गमनादिमें निमित्त कैसे हो सकेंगे ? यह प्रश्न आचार्योंके समक्ष था। उन्होंने द्वादशांग वाणीको लक्ष्यमें रख कर इस प्रश्नका जो समाधान किया है उसके प्रकाशमें सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० ७ के इस वचनको हृदयंगम कीजिए—

ननु यदि निष्क्रियाणि धर्मादीनि, जीव-पुद्गलानां गत्यादिहेतुत्वं नोपपद्यते। जलादीनि हि क्रियावन्ति मत्स्यादीनां गत्यादिनिमित्तानि दृष्टानीति। नैष दोषः, बलाधाननिमित्तत्वाच्चक्षुर्वत्। यथा रूपोपलब्धौ चक्षुर्निमित्तमिति न व्याक्षिप्तमनस्कस्यापि भवति।

शंका—यदि धर्मादिक द्रव्य निष्क्रिय हैं तो इनकी जीव-पुद्गलोंकी गति आदिमें हेतुता नहीं बनती, क्योंकि जलादिक क्रियावान् होकर ही मछली आदिकी गति आदिमें निमित्त देखे गये हैं ?

समाधान—यह दोष नहीं है, क्योंकि चक्षुके समान ये बलाधानमें निमित्तमात्र हैं। जैसे रूपके जाननेमें चक्षु निमित्त है, फिर भी व्याक्षिप्त मनवालेके रूपके जाननेमें वह निमित्त नहीं होता वैसे ही प्रकृतमें जानना चाहिए।

यह आगम वचन है। इससे और पूर्वोक्त कथनसे हमें जिनमें निमित्त व्यवहार किया जाता है उनकी कार्योंके प्रति व्यवहारहेतुता दो प्रकारसे ज्ञात होती है—एक तो बलाधानमें हेतु होनेरूपसे और दूसरे कार्योंके अनुकूल परिणमनरूपसे। लोकमें जिन्हें उदासीन निमित्त कहते हैं उनको प्रथम प्रकारमें परिगणना होती है और जिन्हें प्रेरक, निर्वर्तक या प्रयोजक निमित्त कहते है उनकी दूसरे प्रकारमें परिगणना होती है।

यहाँ इतना विशेष जान लेना चाहिए कि पर वस्तु स्वभावसे निमित्त नहीं है। किन्तु जिस कार्यमें जो जिस प्रकारसे व्यवहारहेतु होता है उस अपेक्षा उसमें उस प्रकारसे निमित्तव्यवहार किया जाता है। आगममें इसका स्वतन्त्ररूपसे विचार किया है। तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० २२ में परिणाम क्या है इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—

द्रव्यस्य स्वजात्यपरित्यागेन प्रयोग-विस्रसालक्षणः विकारः परिणामः ।१०। द्रव्यस्य चेतनस्याचेतनस्य वा द्रव्यजातिमजहतः पर्यायार्थिकनयार्पणात् प्राधान्यं बिभ्रता केनचित् पर्यायेण प्रादुर्भावः पूर्वपर्यायनिवृत्तिपूर्वको विकारः प्रयोग-विस्रसालक्षणः परिणाम इति प्रतिपत्तव्यः। तत्र प्रयोगः पुद्गलविकारः, तदनपेक्षा विक्रिया विस्रसा। तत्र परिणामो द्विविधः—अनादिरादिमांश्च। अनादिर्लोकसंस्थानमन्दराकारादिः। आदिमान् प्रयोगजो वैस्रसिकश्च। तत्र चेतनस्य द्रव्यस्यौपशमिकादिर्भावः कर्मोपशमाद्यपेक्षोऽपौरुषयत्वात् वैस्रसिक इत्युच्यते। ज्ञान-शील-भावनादिलक्षणः आचार्यादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयो-

गजः। अचेतनमृदादेः घटसंस्थानादिपरिणामः कुलालादिपुरुषप्रयोगनिमित्तत्वात् प्रयोगजः। इन्द्रधनुरादिनानापरिणामो वैस्रसिकः। तथा धर्मादेरपि परिणामो योज्यः।

द्रव्यका अपनी जातिका परित्याग किये बिना प्रयोग और विस्रसालक्षण विकार परिणाम है ॥१०॥ द्रव्यार्थिकनयकी विवक्षा न होनेसे तिर्यग्भूत अपनी द्रव्यजातिको न छोड़ते हुए चेतन-अचेतन द्रव्यका पर्यायार्थिकनयकी मुख्यतासे प्रधानताको प्राप्त किसी एक पर्यायरूपसे उत्पन्न होना अर्थात् पूर्व पर्यायकी निवृत्तिपूर्वक प्रयोग-विस्रसालक्षण विकारका होना परिणाम है ऐसा जानना चाहिए। वहाँ प्रयोगका अर्थ पुद्गलविकार है। उसकी अपेक्षा किये विना विक्रिया विस्रसा है। प्रकृतमें परिणाम दो प्रकारका है—अनादि और सादि। लोकसंस्थान और मन्दराकारादि अनादि परिणाम है। सादि परिणाम प्रायोगिक और वैस्रसिकके भेदसे दो प्रकारका है। उनमेंसे चेतनके कर्मोंके उपशमादि सापेक्ष होनेवाले औपशमकादिक भाव अपौरुषेय होनेसे वैस्रसिक कहे जाते हैं। ज्ञान, शील, भावनादि आचार्यादि पुरुषके प्रयोगके निमित्तसे होनेके कारण प्रयोगज हैं। अचेतन मिट्टी आदिका घटसंस्थान आदि परिणाम कुम्हार आदि पुरुषप्रयोगके निमित्तसे होनेके कारण प्रयोगज है। इन्द्रधनुष आदि नाना परिणाम वैस्रसिक हैं। उसी प्रकार धर्मादि द्रव्योंका परिणाम भी जान लेना चाहिए।

यह तत्त्वार्थवार्तिकका वचन है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके इसी सूत्रमें भी परिणामके इन्हीं सब भेद-प्रभेदोंका विशेष व्याख्यान किया है। उक्त उल्लेखमें यद्यपि 'प्रयोग' का अर्थ 'पुद्गल विकार' किया है। किन्तु इसका दूसरा अर्थ पुरुषका प्रयत्न भी है, जैसा कि उसी उल्लेखमें की गई आगेकी व्याख्यासे ज्ञात होता है। इस अभिप्रायको भट्टाकलंकदेवने इसी अध्यायके २४ वें सूत्रकी व्याख्यामें और भी स्पष्ट कर दिया है। इन उल्लेखोंमें सब प्रकारके परिणामों (कार्यों) का विचार किया गया है। उनमेंसे जीवों और पुद्गलोंके सादि परिणामोंका विचार करते हुए जो कुछ लिखा है उससे ये तथ्य फलित होते हैं—

(अ) जीवके औपशमिक आदि भाव सादि वैस्रसिक परिणाम है।

(आ) दान, शील, व्रतग्रहण और भावना आदि जीवके प्रयोगज परिणाम है।

(इ) कर्मोंके उपशम आदि, द्वयणुक स्कन्ध आदि तथा मेघगर्जन, उल्कापात, इन्द्रधनुष आदि पुद्गलके सादि वैस्रसिक परिणाम हैं।

(ई) घटनिर्माण आदि, यन्त्रादिकी गति आदि, भूखनन, जतु-काष्ठबन्ध आदि पुद्गलके सादि प्रयोगज परिणाम हैं।

इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि लोकमें जितने भी कार्य होते हैं उनके होनेमें व्यवहारसे कहीं पुरुषका प्रयत्न और कहीं अन्य सामग्री निमित्त अवश्य होती है। आगममें आकाशकी अवगाहना और कालद्रव्यका प्रति समयका समयपरिणाम ये दो कार्य ऐसे अवश्य बतलाये हैं जिनके होनेमें व्यवहारसे अन्य किसीको निमित्तरूपसे नहीं स्वीकार किया गया है। 'देखो तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० १२, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० ५ सू० २२। इनके सिवाय आगममें ऐसा अन्य एक भी कार्य नहीं स्वीकार किया गया है जिसके होनेमें व्यवहारसे बहिरंग हेतु न स्वीकार किया गया हो। अपर पक्ष उक्त दो कार्योंमें केवल अन्तरंग हेतुओंका निर्देश करता तब तो कोई बात नहीं थी। परन्तु उसकी ओरसे इनका उक्त प्रकारसे होनेका तो कहीं उल्लेख तक नहीं किया गया, मात्र वह अनन्त अगुरुलघुगुणों (अविभागप्रतिच्छेदों) की षट्गुणी हानि-वृद्धिको अवश्य ही केवल स्वप्रत्यय माननेका आग्रह स्थान-स्थान पर करता है जो सर्वथा आगमके विपरीत है।

इसका विशेष विचार तो हम ११ वें प्रश्नका अन्तिम उत्तर लिखते समय ही करेंगे। यहाँ मात्र इतना निर्देश कर देना पर्याप्त है कि जिन्हें अपर पक्ष अगुरुलघु नामक अनन्त गुण मान रहा है वे वास्तवमें गुण न होकर अविभागप्रतिच्छेद ही हैं। तभी तो आगममें उनकी हानि-वृद्धि स्वीकार की गई है। कोई भी गुण त्रैकालिक यावत् द्रव्यभावी होता है, इसलिए उसकी हानि-वृद्धि सम्भव नहीं। हानि और वृद्धि पर्यायोंमें ही होती है, गुणोंकी अपेक्षासे नहीं, क्योंकि गुणोंकी वृद्धि मानने पर नये गुणोंकी उत्पत्ति और उनकी हानि मानने पर उनके नाशका प्रसंग उपस्थित होता है। यदि अपर पक्ष कहे कि कुछ पुराने गुणोंका नाश होता है और कुछ नये गुण उत्पन्न होते हैं सो यह कहना बनता नहीं, क्योंकि उत्पाद-व्यय पर्यायका होता है गुणोंका या द्रव्य (सामान्य) का नहीं। अतएव आगममें जहाँ भी सामान्यसे अनन्त अगुरुलघुगुणोंकी हानि-वृद्धि स्वप्रत्यय बतलाई है वहाँ मात्र स्वभावपर्यायके कथनकी मुख्यता होनेसे ही वैसा प्रतिपादन किया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

इस प्रकार इस प्रकरणके प्रारम्भमें हमने जिन दो प्रश्नोंका उल्लेख किया था उनका यह सम्यक् समाधान है। इस समाधानसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि दो द्रव्योंके आश्रयसे जो कर्ता-कर्मकी प्ररूपणा आगममें उपलब्ध होती है वह असद्भूत व्यवहारनयकी मुख्यतासे ही की गई है। वह प्ररूपणा उपचरित होनेसे निश्चय तथा सद्भूत व्यवहार संज्ञाको प्राप्त नहीं हो सकती। साथ ही इस समाधानसे यह भी ज्ञात हो जाता है कि दो द्रव्योंके आश्रयसे की गई वह प्ररूपणा किन किन द्रव्योंपर किस किस प्रकार लागू होती है। इसके सिवाय इस समाधानसे हम यह भी जान लेते हैं कि आगममें जहाँ भी अनन्त अगुरुलघु गुणोंकी षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप स्वप्रत्यय पर्यायका निर्देश किया है वहाँ वह स्वभावपर्यायका स्वरूपनिर्देश करनेकी दृष्टिसे ही किया है। इसका यह अर्थ नहीं कि उसके होनेमें व्यवहारसे कालद्रव्यको भी निमित्तता नहीं है।

८. समस्याओंका मुख्य हेतु अज्ञान भाव, श्रुतज्ञान नहीं

इतने विवेचनके बाद अब हम मुख्यरूपसे इस बातपर आते हैं कि अपर पक्ष यद्यपि केवलज्ञानकी अपेक्षा सब कार्योंका स्वकालमें होना नियत मानता है और श्रुतज्ञानी जीवोंको वैसी श्रद्धा करनेकी सूचना भी करता है। फिर भी वह श्रुतज्ञानी जीवोंकी समस्त समस्याओंका हल उसमें न देखकर कार्य-कारणपरम्पराको उससे भिन्न मानना चाहता है सो उस पक्षकी ऐसी मान्यता कहाँ तक ठीक है यही यहाँ पर विचार करना है। विचार करने पर तो यद्यपि उस पक्षका यह कथन परस्पर विरुद्धताको लिए हुए ही प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें प्रथम विसंगति तो यह है कि अपर पक्ष केवलज्ञानके विषयको भिन्न मानता है और कार्य-कारणकी दृष्टिसे श्रुतज्ञानके विषयको उससे सर्वथा भिन्न मानता है। तथा दूसरी विसंगति यह आती है कि अपर पक्ष सम्यक् श्रद्धा तो केवलज्ञानके विषयके अनुसार करनेको कहता है और सम्यक् श्रद्धा विहीन श्रुतज्ञानके द्वारा कार्य-कारणकी स्थापना करके उसे फिर भी प्रामाणिक मानता है और साथ ही केवलज्ञानके अनुसार प्रवृत्त हुई द्वादशांग वाणीस्वरूप आगमसे उसका समर्थन करनेका उपक्रम भी करता है। है तो यह सब कल्पित विचारसरणी, फिर भी उस पक्षकी ओरसे जो कुछ लिखा गया है उस पर सांगोपांग विचार तो करना ही है। अपने पक्षके समर्थनमें उस पक्षका कहना है—

'जैन संस्कृतिके आगम ग्रन्थोंमें कार्योत्पत्तिके विषयमें श्रुतज्ञानी जीवोंके लिये दो प्रकारसे विवेचना की गई है—एक तो केवलज्ञानकी अपेक्षा श्रद्धा दृष्टिसे और दूसरो श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कर्तव्यदृष्टिसे। 'जं जस्स जम्मि देसे' इत्यादि आगम वाक्योंमें पहली दृष्टिकी उपलब्धि होती है। इसके अलावा कार्यके

स्वप्रत्यय स्व-परप्रत्यय भेद करके कार्य-कारणभाव पद्धतिका जो जैन संस्कृतिके आगम ग्रन्थोंमें विस्तारसे विवेचन पाया जाता है वह सब श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कर्तव्यकी दृष्टिसे ही किया गया है।

यह सब विवेचन श्रुतज्ञानी जीवोंके लिए क्यों किया गया है? इसका कारण यह है कि श्रुतज्ञानी जीव केवलज्ञानी जीवोंकी अपेक्षा बिल्कुल भिन्न दशामें विद्यमान रह रहे हैं अर्थात् केवलज्ञानी जीव जहाँ कृतकृत्य हैं वहाँ श्रुतज्ञानियोंके सामने हमेशा कृत्यों (कार्यों) के करनेकी समस्या खड़ी ही रहती है, जहाँ केवलज्ञानी जीव प्रत्येक वस्तुके और उनके प्रत्येक क्षणमें होनेवाले व्यापारोंके केवल ज्ञाता दृष्टा मात्र बनकर रह रहे हैं वहाँ कार्योत्पत्तिके लिए श्रुतज्ञानी जीवोंको अपनी मौजूदा हालतोंमें अनुभवमें आनेवाली जोड़-तोड़ बिठलानेकी आवश्यकता है। अतः श्रुतज्ञानियोंके लिये कार्योत्पत्तिकी कार्य-कारणभाव पद्धतिको अपनानेके सिवाय कोई चारा ही नहीं रह जाता है।

इसका फलितार्थ यह हुआ कि यदि केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो केवलज्ञानमें सभी कार्य अपने प्रतिनियत कारणोंसे स्वकालमें होते हुए झलक रहे हैं और श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षासे विचार किया जाय तो सभी कार्य स्वप्रत्यय और स्व-परप्रत्यय होनेके कारण यथा-योग्य केवल उपादान कारणसे अथवा उपादान-निमित्तरूप दोनों कारणोंसे ही उत्पन्न होते हुए अनुभवमें आरहे हैं। चूंकि श्रुतज्ञानी जीवको केवलज्ञानका विषय केवल आस्थाका है, अतः उस पर केवल आस्था रखनेका ही उसे आदेश दिया गया है और केवल ऐसी आस्था रखना श्रुतज्ञानी जीवोंके लिए उपयोगी नहीं हो सकती है। अतः उनके लिए कार्य-कारणभाव पद्धतिको अपनानेका भी उपदेश दिया गया है। इसलिये जिसने कार्योत्पत्तिके लिये कार्य-कारणभाव पद्धतिके मार्गको समाप्त करनेका प्रयत्न किया वह नियतिवादी एकान्त मिथ्यादृष्टि ही हो जायगा अतः केवलज्ञानीने जैसा देखा है वैसा ही कार्य होगा उसपर श्रद्धा करना प्रत्येक श्रुतज्ञानी जीवका कर्तव्य है, कारण कि इस तरहकी श्रद्धा करनेसे अपने पुरुषार्थ द्वारा होनेवाली कार्यकी सफलतामें उसके अन्तःकरणमें अहंकार पैदा नहीं होगा और असफलता मिलनेपर कभी दुख पैदा नहीं होगा। अपनी उक्त प्रकारकी श्रद्धाके आधार पर यदि वह श्रुतज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन और कृतघ्न होकर पथभ्रष्ट हो गया तो फिर इस मिथ्यात्वके प्रभावसे उसका अनन्त संसारमें परिभ्रमण होनेके सिवाय और क्या हो सकता है? इस प्रकार श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तुकी कोई पर्यायें तो नियतक्रमसे ही होती हैं और प्रत्येक वस्तुकी कोई पर्यायें अनियत क्रमसे भी होती हैं। इस तरह द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही है, अनियतक्रमसे नहीं आपका यह सिद्धान्त आगमसम्मत नहीं है। आप यह तो कह नहीं सकते कि श्रुतज्ञान प्रमाण नहीं है, अतः आपके सिद्धान्त पर हमारे लिये विचार करना आवश्यक हो गया।'

यह अपर पक्षके प्रकृत प्रतिशंका सम्बन्धी कथनका कुछ अंश है। इसमें उस पक्षके पूरे वक्तव्यका सार आजाता है। किन्तु यह सब कथन स्वयंमें कितना भ्रामक है इसे समझनेके लिये हमें 'केवलज्ञानके अनुरूप ही श्रुतज्ञानका विषय होता है या अन्य प्रकारका' यह सर्वप्रथम जानना होगा। केवलज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयका निर्देश करते हुए स्वामी समन्तभद्र आप्तमीमांसामें लिखते हैं—

स्याद्वाद-केवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥

स्याद्वाद (श्रुतज्ञान) और केवलज्ञान सब तत्त्वोंका प्रकाशन करनेवाले हैं। उनमें साक्षात् और असाक्षात्का ही भेद है। जो इन दोनोंका विषय नहीं है वह अवस्तु है ॥१०५॥

पूर्वोक्त कारिका द्वारा प्रतिपादित तत्त्वको स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि उक्त कारिकाकी व्याख्याके प्रसंगसे अष्टशहस्रीमें लिखते हैं—

यथैव हि आगमः परस्मै जीवादितत्त्वमशेषं प्रतिपादयति तथा केवल्यपि, न विशेषः, साक्षादसाक्षाच्च तत्त्वपरिच्छित्तिनिबन्धनत्वात् तद्भेदस्य ।

जिस प्रकार आगम दूसरेके लिये अशेष जीवादि तत्त्वका प्रतिपादन करता है उसी प्रकार केवली भी, इस दृष्टिसे इन दोनोंमें कोई भेद नहीं है। यदि भेद है तो साक्षात् जानने और असाक्षात् जाननेका भेद है, क्योंकि यह भेद तत्त्वपरिच्छित्तिहेतुक है।

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुये आचार्य नेमिचन्द्र गोम्मटसार जीवकाण्डमें लिखते हैं—

सुद-केवलं च णाणं दोण्णि वि सरिसाणि होंति बोहादो ।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ॥ ३६९ ॥

ज्ञानकी अपेक्षा अर्थात् जाननेकी अपेक्षा श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही सदृश हैं। परन्तु दोनोंमें अन्तर यही है कि श्रुतज्ञान परोक्ष है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है॥ ३६९॥

श्रुतज्ञान संशय आदि दोषोंसे रहित होकर अनेकान्त स्वरूप सब पदार्थोंको प्रकाशित करता है इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए स्वामी कार्तिकेय द्वादशानुप्रेक्षामें लिखते हैं—

सव्वं पि अणेयंतं परोक्खरूवेण जं पयासेदि ।
तं सुयणाणं भण्णदि संसयपहुदीहिं परिचत्तं ॥ २६२ ॥

इस प्रकार आगमके उक्त उल्लेखोंसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो केवलज्ञानका विषय है वही श्रुतज्ञानका भी विषय है। विषयकी अपेक्षा इन दोनों ज्ञानोंमें कोई भेद नहीं है। यदि भेद है भी तो प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जाननेकी अपेक्षा ही इन दोनों में भेद है अर्थात् कार्यकारणभाव पद्धतिके जो नियम केवलज्ञानमें झलके हैं उन्हीं नियमोंको श्रुतज्ञानी उसी प्रकारसे अपने ज्ञानद्वारा जानता है। इसी प्रकार सभी कार्य केवलज्ञानमें नियत-क्रमसे होते हुए ही झलके हैं। अतः श्रुतज्ञानी भी सभी कार्योंको नियत क्रमसे होता हुआ ही आगमके बलसे जानता है। कारण यह है कि केवली भगवानके ज्ञानमें छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, उनके गुण-पर्याय, जीवादि नौ पदार्थ और कार्य-कारणभाव जिस रूपमें प्रतिभासित हुए, दिव्यध्वनिद्वारा उनका उसी रूपमें कथन हुआ, जिस रूपमें कथन हुआ, उनको गणधर देवोंने अपने सम्यक् श्रुतज्ञानके बलसे उसी रूपमें ग्रहण किया, जिसरूपमें गणधरदेवोंने उनको ग्रहण किया, उनको उसी रूपमें द्वादशांग श्रुतमें निबद्ध किया और जिस रूपमें वे द्वादशांग श्रुतमें निबद्ध हुये, आरातीय आचार्योंने उनका उसी रूपमें प्ररूपण किया। जिस प्रकार क्षीर-सागरका जल घटमें भर लिया जाता है, अतएव वह क्षीरसागरका ही जल ठहरता है उसी प्रकार आरातीय आचार्यों द्वारा रचित शास्त्र अर्थरूपसे वे ही हैं, इसलिए वे केवलज्ञान और उनकी दिव्यध्वनिके समान ही प्रमाण हैं।

— सर्वार्थसिद्धि अ० १ सूत्र २० के आधार से

अब विचार कीजिए कि जब केवलज्ञानमें यह भाषित हुआ है कि सब द्रव्य अनादिकालसे प्रत्येक समयमें अपने प्रतिनियत उपादानसे अन्य द्रव्योंकी प्रतिनियत पर्यायोंको निमित्तकर प्रतिनियत कार्योंको ही

जन्म देते हैं तो क्या श्रुतज्ञान केवलज्ञानके इस विषयसे विपरीत निर्णय करेगा और यदि विपरीत निर्णय करेगा तो क्या उसे सम्यक् श्रुतज्ञान कहा जा सकेगा ? अर्थात् नहीं कहा जा सकेगा। अपर पक्षने जब यह स्वीकार कर लिया है कि 'केवलज्ञानमें सभी कार्य अपने प्रतिनियत कारणोंसे स्वकालमें उत्पन्न होते हुए झलक रहे हैं' और वह पक्ष उसके अनुसार दूसरोंको ऐसी श्रद्धा करनेकी प्रेरणा भी करता है। ऐसी अवस्थामें सम्यक् श्रुतज्ञानमें उक्त प्रकारका ही निर्णय होना चाहिए कि दूसरे रूपमें इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। अपर पक्ष केवलज्ञानके अनुसार पदार्थ व्यवस्था और कार्य-कारण परंपराको स्वीकार करके भी श्रुतज्ञानके विषयको उससे अन्य प्रकारसे मानना चाहता है इसका हमें आश्चर्य है। स्वामी कार्तिकेयने 'जं जस्स जम्मि देसे' इत्यादि (३२१–३२२) दो गाथायें लिखकर जो 'एवं जो णिच्छयदो' (३२३) गाथा लिखी है उसमें पठित 'जाणदि' पद ध्यान देने योग्य है। इस पद द्वारा यही प्रतिपादित किया गया है कि केवली जिनने सब जीवोंका जिस कालमें जिस विधिसे जैसा जन्म अथवा मरण जाना है वह उसी प्रकार होगा, अन्य प्रकार नहीं होगा ऐसा जो श्रुतज्ञानी जीव अपने श्रुतज्ञानसे निश्चय पूर्वक जानता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है। तथा जो इससे विपरीत कल्पना करता है वह सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। अब विचार कीजिए कि स्वामी कार्तिकेयका यह लिखना क्या केवल श्रद्धाके लिये है या जाननेके लिए भी है। एक ओर तो सभी आचार्य यह लिखते हैं कि केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमें विषयकी अपेक्षा कोई भेद नहीं है और दूसरी ओर अपर पक्ष कहता है कि विषयकी अपेक्षा इन दोनों ज्ञानोंमें बड़ा भेद है तो बतलाइये कि आगम वचनोंका श्रद्धान किया जाय या आप सब अपर पक्षके वचनोंका। हमारी नम्र रायमें आगमकी ऐसी उपेक्षा कर उसमे अपने अभिमतकी पुष्टि करना उचित नहीं है।

अपर पक्ष संसारी जीवोंके सामने उपस्थित अनेक समस्याओंका उल्लेख करता है सो इस बातको हम भी अच्छी तरह जानते हैं कि संसारी जीवोंके सामने अनेक समस्यायें हैं। उनके सामने जीवन मरणकी समस्या है, सांसारिक सुख-दुःखकी समस्या है, कुटुम्बकी और अपनी आजीविकाकी समस्या है, किस कालमें किस उपादानसे किसको निमित्तकर क्या कार्य होगा इसकी अजानकारी या मिथ्या जानकारी वश जोड़-तोड़ बिठलाते रहनेकी भी समस्या है, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा वैयक्तिक और भी अनेक प्रकारकी समस्याएँ हैं इसमें सन्देह नहीं। पर उन सबका कारण क्या है इस ओर भी अपर पक्षका सम्यक् प्रकारसे क्या कभी ध्यान गया ? वास्तवमें देखा जाय तो इसका कारण केवल राग, द्वेष और मोह ही तो है; श्रुतज्ञान नहीं। श्रुतज्ञानको पराधीन बतलाकर व्यर्थमें लांछित मत कीजिए। जब तक यह जीव रागी, द्वेषी और मोही होकर प्रवर्त्तता है तब तक इस संसारी जीवके लिए ये समस्याएँ वस्तुतः समस्याएँ बनी रहेंगी। चाहे हम हों या अन्य कोई, समस्याएँ व्यक्तिका पीछा नहीं करतीं, क्योंकि उनकी जननी राग, द्वेष और मोह भाव ही तो हैं। जब तक राग, द्वेष और मोहके कारण यह प्राणी आकुलित बना रहेगा तब तक वह मृग-मरीचिकाके समान उनमें भटकता ही रहेगा इसमें संदेह नहीं। आचार्य अमृतचन्द्र समयसारकलशमें कहते हैं—

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकैर्दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहंकाररूपं तमः।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥५५॥

इस जगतमें 'परद्रव्य को मैं करता हूँ' ऐसा अत्यन्त दुर्निवारके परद्रव्य कर्तृत्वका महा अहंकाररूप अज्ञानान्धकार मोही जीवोंके अनादि संसारसे चला आ रहा है। आचार्य कहते हैं कि अहो ! भूतार्थ नयको ग्रहण करनेसे यदि वह एक बार भी नाशको प्राप्त हो तो ज्ञानघन आत्माको पुनः बन्धन कैसे हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ॥५५॥

यह आगम वचन है। इसमें संसारी जीवोंके समक्ष जो भी समस्याएँ खड़ी रहती हैं उन सबका मूल निदान करके उनका परमार्थरूप सम्यक् समाधान प्रस्तुत किया गया है। अतएव श्रुतज्ञानके आधार पर केवलज्ञानके विषयसे भिन्न यह निष्कर्ष निकालना तो ठीक नहीं है कि 'श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रत्येक वस्तुकी कोई पर्यायें तो नियत क्रमसे ही होती हैं और प्रत्येक वस्तुकी कोई पर्यायें अनियत क्रमसे भी होती हैं। और इस आधार पर हमारे 'द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं, अनियत क्रमसे नहीं' इस सिद्धान्तको आगम विरुद्ध ठहराना भी ठीक नहीं है। वस्तुतः किसी भी द्रव्यमें यदि कोई कार्य हमें अनियत क्रमसे होता हुआ प्रतिभासित होता है तो ऐसे प्रतिभासको मोहका ही साम्राज्य समझना चाहिए। मोही जीव ही अंतरंग प्रतिनियत उपादानका विचार किये बिना और प्रतिनियत बाह्य सामग्रीको लक्ष्यमें लिये बिना केवल अपनी कल्पनाओंवश बाह्य साधनोंके आधार पर किसी भी कार्यके कभी भी होनेकी सोचता है और अंतरंग-बहिरंग प्रतिनियत सामग्रीके अभावमें सोची गई तरकीबके अनुसार उस कार्यके न होने पर जो वास्तवमें उस कार्यके हेतु नहीं थे ऐसे दूसरे केवल बाह्य साधनोंको ही दोषी ठहराता है, ज्ञानी जीव नहीं। स्पष्ट है कि जो केवलज्ञानका विषय है वही श्रुतज्ञानका भी विषय है। अतएव केवली जिन अपने समस्त विषयोंको जिस प्रकार प्रत्यक्ष रूपसे जानते हैं उसीप्रकार श्रुतज्ञानी जीव भी आगमके बलसे उक्त प्रकार निर्णयकर उनको उसी रूपमें जानते हैं। यदि कोई श्रुतज्ञान इससे भिन्न प्रकारसे जानता है तो उसे सम्यक् श्रुतज्ञान नहीं कहा जा सकता। उसकी मिथ्या श्रुतज्ञानमें ही परिगणना होगी।

९. सर्वज्ञवचनका श्रद्धानी पुरुषार्थहीन नहीं होता

अब रहा अपर पक्षका यह कथन कि 'उक्त प्रकारकी श्रद्धाके आधार पर यदि वह श्रुतज्ञानी जीव पुरुषार्थहीन और पथभ्रष्ट हो गया तो फिर इस मिथ्यात्वके प्रभावसे उसका अनन्त संसारमें परिभ्रमण होनेके सिवाय और क्या हो सकता है?' सो पता नहीं कि अपर पक्षने ऐसा मिथ्या विधान करनेका साहस कैसे किया? यदि अपर पक्ष यह लिखता कि 'जो जीव सर्वज्ञके उक्त प्रकारके कथनकी श्रद्धा छोड़कर पुरुषार्थहीन और कृतघ्न हो जाता है वह मिथ्यात्वके कारण अनन्त संसारका भागी होता है' तब तो बात दूसरी होती। किन्तु यहाँ तो अपर पक्ष उक्त प्रकारकी श्रद्धाके आधार पर ही इस जीवको पुरुषार्थहीन और कृतघ्नी बनाकर मिथ्यादृष्टि और अनन्तसंसारी घोषित कर रहा है सो उसकी ऐसी घोषणाको विपरीत मान्यताका फल ही कहना चाहिए।

वस्तुतः मूल प्रश्नके अनुसार तो प्रकृतमें विचार इस बातका होना था कि 'द्रव्योंकी सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं या अनियत क्रमसे भी', चूंकि अपर पक्ष शंकाकार पक्ष है, इसलिये उसकी ओरसे हमारे द्वारा प्रथम और द्वितीय उत्तरमें 'सभी कार्य नियत क्रमसे ही होते हैं' इसके समर्थनमें जो कुछ तर्क और आगम प्रमाण उपस्थित किये गये थे वे कैसे ठीक नहीं हैं यह शंकारूपमें प्रस्तुत किया जाना चाहिए था। परन्तु अपनी प्रतिशंकाके प्रारम्भमें यह सब कुछ न कर उसकी ओरसे यहाँ कुछ ऐसी बातोंका विधान किया गया है जिनका आगम और आगमानुसार तर्कोंसे कोई सम्बन्ध नहीं। क्या कोई वीतराग मार्गका सच्चा श्रद्धानी यह मान सकता है कि जो कोई सर्वज्ञदेवके वचनों पर श्रद्धा करता है वह पुरुषार्थहीन और कृतघ्न हो जाता है। यदि विचारकर देखा जाय तो ऐसा जीव जो कि सर्वज्ञदेवके वचनों पर श्रद्धान करता है अनन्त-पुरुषार्थी होगा, क्योंकि अनन्त-पुरुषार्थको प्रकट किये बिना किसी भी जीवको सर्वज्ञदेवके वचनों पर श्रद्धा हो ही नहीं सकती। हाँ जो जीव उक्त प्रकारकी श्रद्धाका त्याग कर देगा वह अवश्य ही पुरुषार्थहीन

और कृतज्ञ हो जायगा। सर्वज्ञदेवके वचनोंपर श्रद्धा करनेवाला जीव कार्यकारणभावमें स्वीकृत उपादान और बाह्य निमित्तके लक्षण जाने या न जाने पर वह यह अवश्य जानता है कि 'जिस कालमें जिस विधिसे जिस वस्तुका जो होना होगा वही होगा' उसमें फेर-फार इन्द्र और चक्रवर्तीकी बात तो छोड़िये स्वयं तीर्थंकर भी नहीं कर सकते। वस्तुतः देखा जाय तो इस कथनमें कार्य-कारणभावके सभी सिद्धान्त निहित हो जाते हैं। यह दृष्टिकी बात है कि श्रुतज्ञानी जीव कब किस कार्यको किस रूपमें देखता-परखता है। अनन्त आकुलताओंसे बचनेका तो यह मार्ग है ही, सम्यक् आत्मपुरुषार्थको जागृत कर अपने स्वरूपमें स्थित होनेका भी यही मार्ग है, क्योंकि **आकुलता ही दुःख की खान है और निराकुलता सुखकी जननी है।** इसलिए प्रकृतमें ऐसा निर्णय करना चाहिए कि जिसने सर्वज्ञके वचनोंमें यथार्थ श्रद्धा की उसने उनके स्वरूपको जान लिया और जिसने उनके स्वरूपको जान लिया उसने अपने आत्माके स्वरूपको जान लिया और जिसने अपने आत्माके स्वरूपको जान लिया उसे अपने यथार्थ कर्तव्यका भान हो गया। (देखो प्रवचनसार गाथा ८०)।

वीतराग सर्वज्ञने सम्यक् श्रद्धानुसारी चारित्र (कर्तव्य) को ही सच्चा चारित्र कहा है, इसलिए जैनधर्मके आगम ग्रन्थोंकी प्ररूपणामें अपर पक्षके द्वारा ऐसा भेदका किया जाना उचित नहीं है कि 'कार्योत्पत्तिके विषयमें श्रुतज्ञानी जीवोंके लिए दो प्रकारकी विवेचना की गई है—एक तो केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षा श्रद्धादृष्टिसे और दूसरी श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कर्तव्यदृष्टिसे।' मालूम पड़ता है कि आगमग्रन्थोंकी प्ररूपणामें ऐसे विभागकी दृष्टि बनानेसे ही अपर पक्षके सामने जटिलता उपस्थित हुई है और इसीलिए वह उपादानके स्वरूपकी ओर ध्यान दिये बिना केवल बाह्य सामग्रीके बलपर कार्य-कारणभावकी स्थापना करना चाहता है। एक ओर तो वह कार्य-कारणभावकी प्ररूपणाको केवलज्ञानके विषयसे बहिर्भूत करता है और दूसरी ओर वह अनन्त अगुरुलघु गुणोंकी षड्गुणी हानि-वृद्धिमें बाह्य द्रव्यकी निमित्तताका निषेध कर इसे अनुभवगम्य बतलाता है, जब कि आचार्योंने अनन्त अगुरुलघु गुणोंको स्वीकृति ही आगमप्रमाणसे मानी है। यदि अपर पक्ष केवलज्ञानके विषयसे भिन्न श्रुतज्ञानका विषय क्या है ? क्या जो मात्र पाँच इन्द्रियों द्वारा दृष्टिगोचर होता है वह श्रुतज्ञानका विषय है या और कुछ इसका स्पष्टीकरण करनेके बाद अपने पक्षको उपस्थित करता तो अधिक उपयुक्त होता। इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचन पर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्टरूपसे ज्ञात हो जाता है कि श्रुतज्ञानी जीवोंके सामने जो भी सांसारिक समस्याएँ हैं उनका एकमात्र हल केवलज्ञानके विषयके अनुसार श्रद्धा कर तदनुसार प्रवृत्ति करना ही है, अन्य दूसरे सब उपाय झूठे हैं। कार्य-कारणभावकी समस्याका सम्यक् समाधान प्राप्त करनेका भी यही उपाय है, क्योंकि जिनागममें वस्तुस्वरूपके विवेचनके प्रसंगसे कार्य-कारणभावका स्पष्ट निर्देश किया ही है।

१०. क्रमबद्ध या नियतक्रम पदका अर्थ

अब उक्त प्रतिशंकाके उस भाग पर विचार करते हैं जिसमें 'क्रमबद्ध' पदका अर्थ करके अपर पक्ष द्वारा श्रुतज्ञानकी दृष्टिसे वस्तुकी द्रव्यपर्यायों और गुणपर्यायोंके नियतपने और अनियतपनेकी स्थापना की गई है। 'क्रमबद्ध' पदका अर्थ करते हुए अपर पक्षने जो यह लिखा है कि 'सामान्यतः क्रम शब्दका प्रयोग कालिकसम्बन्धके आधार पर हुआ करता है।' सो इस सम्बन्धमें इतना ही लिखना है कि 'क्रम' शब्दका प्रयोग दैशिक क्रम, कालिक क्रम और गणनाक्रम आदि अनेक अर्थोंमें होता है। इतना अवश्य है कि प्रकृतमें एक द्रव्य या एक गुणसम्बन्धी पर्यायें विवक्षित होनेसे यहाँ कालिक क्रम ही लिया गया है। किन्तु पर्यायें

एकके बाद एक होती हुई वे अपने-अपने स्वकालके अनुसार नियत क्रमसे ही होती हैं या उनका अपना-अपना कोई स्वकाल न होनेसे वे अनियत क्रमसे भी होती है इस बातका यहाँ विचार करना है। अपर पक्ष केवलज्ञानकी अपेक्षा तो उनका अपने-अपने स्वकालमें नियतक्रमसे होना मानकर भी श्रुतज्ञानकी अपेक्षा उनका नियत और अनियत दोनों प्रकारसे होना मानना चाहता है। इस तरह वह केवलज्ञानके विषयसे श्रुतज्ञानके विषयमें भेद करके अपने अभिमतकी सिद्धि करना चाहता है। यहाँ अपर पक्षने कुछ पर्यायोंमें श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अनियत क्रम और नियत क्रमकी कल्पना कर उनके कुछ उदाहरण देकर लिखा है—

'जैसे जीवकी क्रोध पर्यायके बाद क्रोध, मान, माया और लोभरूप पर्यायोंमेंसे यथासम्भव कोई भी एक पर्याय हो सकती है। इसीप्रकार मानादि पर्यायके बाद भी उक्त चारों पर्यायोंमेंसे कोई भी एक पर्याय हो सकती है नियत कोई एक पर्याय नहीं। इसी प्रकारकी व्यवस्था यथासम्भव मनुष्य, तिर्यञ्च, देव और नारक पर्यायोंके बारेमें भी समझना चाहिए। इन सब पर्यायोंमें एकके बाद एकरूप क्रम तो रहता है परन्तु नियत क्रम नहीं रहता। इतनी बात अवश्य है कि मुक्तिरूप पर्याय केवल मनुष्य पर्यायके बाद ही हुआ करती है और नारक तथा देवपर्यायके बाद सिर्फ तिर्यञ्च अथवा मनुष्य पर्याय ही हुआ करती है और किसी-किसी नारक पर्यायसे सिर्फ तिर्यञ्च पर्याय तथा किसी-किसी देव पर्यायसे केवल मनुष्य पर्याय ही हुआ करती है। कोई मनुष्य पर्याय भी ऐसी होती है जिसके बाद केवल मनुष्य या देव पर्याय और कोई-कोई मनुष्य पर्यायसे केवल देवपर्याय ही सम्भव होती है। तिर्यञ्च पर्यायके बाद भी आगम समस्त अपने ढंगकी ऐसी ही व्यवस्था है। इस तरह नियतक्रम और केवल क्रम (अनियत-क्रम) पर्यायोंमें यथायोग्य समझना चाहिए।' इत्यादि।

श्रुतज्ञानकी अपेक्षा पर्यायोंमें नियतक्रम और अनियतक्रम किस प्रकार है इस बातसे सम्बन्ध रखनेवाला यह अपर पक्षका कथन है। अपर पक्षने इस कथनमें एक स्थल पर 'आगम सम्मत अपने ढंगकी ऐसी ही व्यवस्था है।' यह उल्लेख भी किया है। इससे इतना तो सुनिश्चित ज्ञात होता है कि अपर पक्ष आगम-सम्मत व्यवस्थाके अनुसार ही यह सब लिख रहा है और आगमकी रचना सर्वज्ञ वीतरागकी दिव्यध्वनिके अनुसार ही हुई है। ऐसी अवस्थामें पर्यायोंसम्बन्धी इस व्यवस्थाको केवलज्ञानके विषयके अनुसार मानना ही उचित होगा। और इस तथ्यको तो अपर पक्षने ही स्वीकार किया है कि केवलज्ञानमें सब पर्यायें नियत-क्रमसे होती हुई ही झलकती हैं, अनियतक्रमसे होती हुई नहीं। ऐसी अवस्थामें आगमके अनुसार प्रवृत्त हुए श्रुतज्ञानमें भी उन सब पर्यायोंका एकमात्र नियतक्रमसे होना अपर पक्षको निश्छल भावसे स्वीकार कर लेना चाहिए। श्रुतज्ञानमें यदि नियतक्रमसे कब कौन पर्यायें उत्पन्न होंगी यह पर्यायोंके परोक्ष होनेके कारण ज्ञात नहीं हो पाता तो इतने मात्रसे उनका अनियत क्रमसे होना स्वीकार नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः अपर पक्षने जिस ढंगसे पर्यायोंके नियतक्रम और अनियतक्रमसे होनेके विषयमें अपनी प्रतिशंका प्रस्तुत की है वह ढंग मूल प्रश्नको स्पर्श नहीं करता, क्योंकि क्रोध, मान, माया या लोभ या नारकादि चारों पर्यायें किस क्रमसे हों तो नियतक्रम समझा जाय और उस क्रमसे न हों तो अनियतक्रम समझा जाय ऐसी व्यवस्था आगममें नहीं की गई है। अतएव अपर पक्षने पर्यायोंके नियतक्रम और अनियत-क्रमके विषयमें जो भाष्य किया है वह प्रकृतमें लागू नहीं होता। प्रकृतमें प्रश्न ही दूसरा है जिसे दृष्टि ओझल करके अपर पक्ष जिस किसी प्रकार श्रुतज्ञानके नाम पर अपने कथित अभिप्रायकी पुष्टि करना चाहता है। क्रोधके बाद दूसरे क्षणमें अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार अन्य द्रव्यकी पर्यायको निमित्तकर क्रोधादि

चारोंमेंसे एक कोई भी हो इसमें बाधा नहीं है। यहाँ देखना तो यह है कि जब क्रोधके बाद अपने प्रति नियत उपादानके अनुसार जो पुनः क्रोध होता है तब उसके स्थानमें क्रोध न होकर बाह्य सामग्रीके बल पर मानादि तीनमेंसे क्या अन्य कोई हो सकता है ? इस सम्बन्धमें आगमके अनुसार हमारा कहना तो यह है कि क्रोधके बाद पुनः क्रोध होता है तब वह अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार स्वकालमें ही होता है, बाह्य सामग्रीके बलसे उसमें फेर-बदल नहीं हो सकता। अतीत कालकी सभी पर्यायें प्रत्येक समयके अपने-अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार इसी नियतक्रमसे होती आई हैं और भविष्यमें भी प्रत्येक समयके अपने-अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार इसी नियतक्रमसे होतीं रहेंगी। प्रत्येक द्रव्यमें अतीत, अनागत और वर्तमान सभी पर्यायें प्रत्येक समयमें अपने-अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार अपने-अपने कालमें पांच समवाययुक्त कारक साकल्यके साथ नियतक्रमसे ही हुईं हैं, होंगी और होती है। प्रत्येक द्रव्य तीनों कालोंकी पर्यायोंका पिण्ड है यह वचन आगममें इसी आधार पर कहा गया है। गोम्मटसार जीवकाण्डमें लिखा है—

एयदवियम्मि जे अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि।
तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं ॥ ५८२ ॥

एक द्रव्यमें त्रिकालसम्बन्धी जितनी अर्थ पर्याय और व्यञ्जन पर्याय हैं उतना ही द्रव्य है ॥५८२॥

द्रव्यका यह लक्षण तभी बनता है जब जितने कालके समय हैं पर्याय दृष्टिसे तत्प्रमाण प्रत्येक द्रव्यके स्वरूपको स्वतःसिद्ध स्वीकार कर लिया जाय और इस आधार पर जिस प्रकार लोकाकाशके एक-एक प्रदेशपर आधार-आधेयभाव (निमित्त-नैमित्तिकभाव)से एक-एक कालाणु अवस्थित है उसी प्रकार कालके एक-एक विवक्षित समयके साथ पर्यायदृष्टिसे प्रत्येक द्रव्यका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्वीकार करना उचित ही है। केवलज्ञान तो ऐसे नियतक्रमको प्रत्यक्षरूपसे जानता ही है, श्रुतज्ञानी भी आगमके बलसे ऐसा ही निश्चय करता है। यही कारण है कि कार्य-कारणभावमें कालको भी स्थान मिला हुआ है। प्रत्येक कार्यके प्रति प्रति-नियत कारणरूपसे जिन पांचका समवाय निश्चित है उसका निर्देश इसी प्रत्युत्तरमें हम पहले कर ही आये हैं। अणुरूपसे काल द्रव्यको पृथक्-पृथक् क्यों माना गया है इसका निर्देश करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ३९९ का यह कथन द्रष्टव्य है—

नानाद्रव्यं कालः, प्रत्याकाशप्रदेशं युगपद् व्यवहारकालभेदान्यथानुपपत्तेः। तत्र दिवसादिभेदतः पुनः क्रियाविशेषभेदान्नैमित्तिकानां लौकिकानां च सुप्रसिद्ध एव। स च व्यवहारकालभेदो गौणः परैरभ्युपगम्यमानो मुख्यकालद्रव्यमन्तरेण नोपपद्येत। यथा मुख्यसत्त्वमन्तरेण क्वचिदुपचरितसत्त्वमिति प्रतिलोकाकाशप्रदेशं कालद्रव्यभेदसिद्धिः, तत्साधनस्यानवद्यत्वात्, अन्यथानुपपन्नत्वसिद्धेः।

काल द्रव्य नाना है, अन्यथा आकाशके प्रत्येक प्रदेशके प्रति व्यवहार कालका भेद नहीं बन सकता है। उसमें दिवसादिके भेदसे तथा क्रियाविशेषके भेदसे नैमित्तिक और लौकिक जनोंमें व्यवहार कालका भेद प्रसिद्ध ही है। और दूसरोंके द्वारा स्वीकार किया गया वह व्यवहार कालका भेद गौण है जो कि मुख्य काल द्रव्यके बिना नहीं बन सकता। जिस प्रकार मुख्य सत्त्वके बिना कहीं पर उपचरित सत्त्व नहीं बनता, इसलिये लोका-काशके प्रत्येक प्रदेशपर काल द्रव्यके भेदकी सिद्धि होती है। अन्यथा व्यवहार काल नहीं बन सकता, इससे निश्चय कालकी सिद्धि निर्दोष है।

यह उल्लेख स्वयंमें बहुत स्पष्ट है। इससे यह अच्छी तरह ज्ञात होता है कि कालके विवक्षित समय-को निमित्त कर जो पर्याय उत्पन्न होती है उसका वही स्वकाल है। उस समय वह उत्पन्न न हो या उ

टालकर उत्पन्न हो यह नहीं हो सकता। इस प्रकार मणियोंको मालाके समान प्रत्येक द्रव्य या प्रत्येक गुण-की तीनों कालसम्बन्धी पर्यायोंके मणि सूत्रके समान प्रत्येक द्रव्य या प्रत्येक गुणमें नियतक्रमसे गुम्फित हैं। जिस प्रकार सूत्रमें गुम्फित मणियोंको अपने-अपने स्थानसे च्युत नहीं किया जा सकता उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य या प्रत्येक गुणमें गुम्फित तीनों कालसम्बन्धी पर्यायोंको उस-उसकाल समयसे अलग नहीं किया जा सकता। कोई इसे माने या न माने, प्रत्येक वस्तु तो स्वरूपसे स्वतःसिद्ध ऐसी ही है। इसमें अन्य किसीका दखल नहीं। इस लिए प्रत्येक द्रव्य या गुणकी सभी पर्यायें अपने-अपने कालमें नियतक्रमसे ही होतीं हैं ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए (देखो प्रवचनसार गाथा ९९ की अमृतचन्द्र आचार्यकृत संस्कृत टीका।)

इस प्रकार उक्त विवेचनसे प्रकृतमें क्रमबद्ध या नियतक्रम पदका क्या अर्थ इष्ट है उसका स्पष्ट ज्ञान हो जाता है।

११.स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गा. ३२३ की संस्कृत टीका

अब हम प्रकृत प्रतिशंकाके उस भाग पर विचार करेंगे जिसमें स्वामी कार्तिकेयानुपेक्षाकी गाथा ३२३ की संस्कृत टीकामें उद्धृत 'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं' इत्यादि प्रसिद्ध पदके आधारपर अपर पक्षने अपना मन्तव्य प्रकट किया है। इस संबन्धमें अपर पक्षका वक्तव्य हैं कि—

'उस टीकामें उद्धृत 'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं' इत्यादि पद प्रकृत विषयकी मर्यादाके बाहर होते हुए भी आपने उसका उपयोग अपने पक्षकी पुष्टिके लिए करनेका प्रयत्न किया है जो मालूम पड़ता है कि प्रकृत प्रश्नके महत्त्वको पाठकोंकी दृष्टिमें कम करनेके उद्देश्यसे ही आपने किया है।'

सो अपर पक्षका यह वक्तव्य हमें बड़ा ही उपहासास्पद प्रतीत हुआ, क्योंकि उक्त पद एक तो संस्कृत टीकामें जहाँ जैसा निबद्ध था, हमने उस टीकाके साथ वैसा ही उद्धृत कर दिया है और संस्कृत टीकाके अर्थके साथ उसका भी अर्थ लिख दिया है। हमने उक्त पदके आधार पर जब किसी प्रकारकी टीका-टिप्पणी ही नहीं की ऐसी अवस्थामें हमने उसका उपयोग अपने पक्षकी पुष्टिके लिये किया है या हम पाठकोंकी दृष्टिमें प्रकृत प्रश्नका महत्त्व घटाना चाहते हैं, अपर पक्षकी ओरसे ऐसा लिखा जाना मात्र पक्षपात पूर्ण दृष्टिका सूचक प्रतीत होता है।

दूसरे प्रकृतमें उक्त पदका उपयोग ही नहीं है यह लिखना न केवल हमें लांछित करता है, अपि तु संस्कृत टीकाकारको भी लांछित करनेवाला है। टीकाकारने उसे उद्धृत किया और बुद्धिपूर्वक उसे उद्धृत किया, क्योंकि स्वामी कार्तिकेयको 'एवं जो णिच्छयदो' इत्यादि ३२३ संख्याक गाथाके द्वितीय चरणके अन्तमें 'दव्वाणि सव्वपज्जाए' पाठ पठित है। इसलिये इस पाठके आधारपर वे द्रव्य और सब पर्यायें कौन है इस बातका ज्ञान करानेके लिये ही टीकाकारने 'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं' इत्यादि पद उद्धृत किया है। इसलिये प्रकृतमें उक्त पदका उद्धृत किया जाना न केवल उपयोगी है, किन्तु आवश्यक भी है। इससे यह भली-भाँति ज्ञात हो जाता है कि तीन काल,छह द्रव्य,नव पदार्थ, छह कायिक जीव, छह लेश्या, पाँच अस्तिकाय तथा व्रत, समिति, गति, ज्ञान और चारित्रके भेद आदि जो भी सब द्रव्य और सब पर्यायें जिनागममें कहे गये हैं वे सब नियत और क्रमनियत ही होते हैं। द्रव्य नियत होते हैं और पर्यायें क्रमनियत ही होती हैं, क्योंकि नियतरूप द्रव्यके साथ पर्यायोंका बननेवाला क्रम क्रमनियत ही होगा। अन्यथा द्रव्य, गुण और पर्यायोंकी एक सत्ता नहीं बन सकती। वस्तुतः अपर पक्षको उक्त श्लोकका संस्कृत टीकामें उद्धृत किया जाना खटका, इसलिए उसकी ओरसे उक्त श्लोकको आलम्बन कर गलत ढंगसे यह टीका-टिप्पणी की गई है।

१२. सम्यक् श्रद्धानुसारी ज्ञान ही सम्यक् श्रुतज्ञान है।

इस टीका-टिप्पणीके बाद अपर पक्षने विस्तारके साथ यह दिखलानेका पुनः प्रयत्न किया है कि क्या नियत है और क्या अनियत है और अन्तमें आप्तमीमांसाकी कारिका १०५ 'स्याद्वाद-केवलज्ञाने' उद्धृत करनेके पूर्व यह वक्तव्य निबद्ध किया है—

'यदि कार्यके स्वदेश और स्वकालका अभिप्राय जैसा कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२१ और गाथा ३२२ में प्रगट किया गया है वैसा गृहीत किया जावे तो वह भी इस प्रकारसे सही होगा कि केवलज्ञानमें सभी कार्य प्रतिनियत कारणोंसे स्वकालमें उत्पन्न होते हुए झलक रहे हैं, लेकिन केवलज्ञानमें यदि कार्य ऐसा झलक रहा है तो श्रुतज्ञानमें भी केवलज्ञानकी तरह ही कार्य झलकना चाहिए—यह अभिप्राय उन गाथाओंका नहीं है, कारण कि केवलज्ञानी और श्रुतज्ञानियोंका ज्ञानभेद और अवस्थाभेद पूर्वमें बतलाया जा चुका है, अतः स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा ३२३ द्वारा श्रुतज्ञानीको केवलज्ञानके विषयके प्रति मात्र श्रद्धा करनेका उपदेश देते हुये ऐसे श्रद्धावान व्यक्तिको सम्यग्दृष्टि प्रतिपादित किया है।'

यह अपर पक्षका प्रकृत विषयमें उपसंहारात्मक वक्तव्य है। आचार्य समन्तभद्रने तो 'स्याद्वाद-केवलज्ञाने' इत्यादि १०५ संख्याक कारिका द्वारा केवलज्ञान और श्रुतज्ञानमें यथावस्थित पदार्थोंको मात्र प्रत्यक्ष और परोक्षरूपसे जाननेकी अपेक्षा भेद बतलाया है—सब द्रव्यों और उनकी पर्यायोंको केवलज्ञान प्रत्यक्षरूपसे जैसा जानता है, श्रुतज्ञान उनको परोक्षरूपसे वैसा ही जानता है। केवलज्ञान एक ही ज्ञेयको किसी दूसरे प्रकारसे जाने और श्रुतज्ञान उसी ज्ञेयको किसी दूसरे प्रकारसे जाने ऐसा भेद इन ज्ञानोंमें नहीं है और न उक्त कारिकाका यह आशय ही है। आचार्य विद्यानन्दिने भी इसकी टीका अष्टसहस्रीमें 'साक्षादसाक्षाच्च तत्परिच्छित्तिनिबन्धनत्वात् तद्भेदस्य' इस वचन द्वारा यही प्रगट किया है कि केवलज्ञान-में जो पदार्थ जिस रूपमें प्रत्यक्षरूपसे झलकते हैं, श्रुतज्ञानमें वे ही पदार्थ उसी रूपमें आगमके बलसे परोक्ष रूपमें झलकते हैं। फिर नहीं मालूम कि अपर पक्ष इन दोनों ज्ञानोंमें अन्य किस प्रकारसे अपने कल्पित भेदको प्रसिद्ध करना चाहता है। अपर पक्ष द्वारा ऐसा लिखा जाना तो पूरे जिनागमका अपलाप करनेके समान है। इसका न केवल हमें आश्चर्य है, किन्तु समस्त जैनपरम्परा इसमें आश्चर्यका अनुभव करेगी। अब तक तो पूरी जैन परम्परा यह जानती और श्रद्धान करती आई कि सब पदार्थ केवलज्ञानमें जैसे झलके हैं वैसा प्रत्येक जैनको आगमानुसार श्रद्धान करना चाहिए और जानना भी वैसा ही चाहिये। प्रवचनसारमें साधुको 'आगमचक्षु' (गाथा २३४) इसी अभिप्रायसे कहा है। और साधु श्रुत-संयमधर ही होते है, इसलिए श्रुतके आधारसे साधु जैसा उपदेश दें श्रावकोंको भी वैसा ही मानना चाहिए और श्रद्धान करना चाहिए। किन्तु अब अपर पक्ष अपने नये विचारोंको जैन परंपरामें प्रस्थापित करनेके अभिप्रायसे केवलज्ञान और श्रुतज्ञानके विषयमें भेद बतलाकर ऐसा मत प्रकट करनेका साहस करता है कि केवलज्ञानमें जिस प्रकार सब कार्य क्रम नियतरूपसे झलकते हैं उस प्रकार श्रुतज्ञानमें सब कार्य क्रमनियतरूपसे नहीं झलकते, इसलिए श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कुछ कार्य क्रम-नियत हैं और कुछ कार्य क्रम-अनियत हैं।

अपर पक्षके इस कथनके आधारपर विचार यह करना है कि यदि किसी श्रुतज्ञानमें सब कार्य अपने प्रतिनियत कारणोंसे स्वकालमें नियतक्रमसे होते हुए नहीं झलकते हैं तो यह किसका दोष है—केवलज्ञानका या आगमका या उस श्रुतज्ञानका? केवलज्ञानका तो यह दोष माना नहीं जा सकता, क्योंकि यह तो अपर पक्षने ही स्वीकार कर लिया है कि—'केवलज्ञानमें सभी कार्य प्रतिनियत कारणोंसे स्वकालमें उत्पन्न होते हुए झलक रहे हैं।'

आगमका भी यह दोष नहीं माना जा सकता है, क्योंकि जैन परम्परामें आगम उसीको स्वीकार किया गया है जिसकी रचना केवलज्ञानी वीतराग जिनकी द्वादशांग वाणीके अनुसार हुई है। इसलिए ऐसे आगममें वही बात प्रतिपादित की गई होगी जो केवलज्ञानमें झलकी होगी। केवलज्ञानमें कुछ दूसरी बात झलकी हो और आगममें कोई दूसरी बात लिपिबद्ध की गई हो यह त्रिकालमें नहीं हो सकता। ऐसा मानना और लिखना तो पूरे जिनागमको ही अप्रमाण ठहराना है। आशा है अपर पक्ष इस तथ्य पर गम्भीरता पूर्वक तो विचार करेगा ही। साथ ही वह अपने कल्पित अभिमतकी पुष्टिमें जो आगम वाक्योंका विपर्यास कर रहा है उससे विरत होनेकी भी चेष्टा करेगा।

अब रह गया तीसरा विकल्प सो इसका अपर पक्षको ही निश्चय करना है कि जो श्रुतज्ञान केवलज्ञानमें झलकनेवाले विषयको आगमानुसार उसी रूपमें न जानकर उससे विपरीतताको लिये हुए जानता है उसे सम्यक् श्रुतज्ञान कैसे कहा जा सकता है, वह तो मिथ्या श्रुतज्ञान ही ठहरेगा।

इसलिए सिद्ध हुआ कि यदि मिथ्या श्रुतज्ञानकी अपेक्षा अपर पक्ष सभी कार्योंका नियतक्रम और अनियतक्रमसे होना सिद्ध करना चाहता है तो भले करे, उसकी इच्छा। परन्तु उस पक्षका यह प्रयास आगमानुसारी सम्यक् श्रुतज्ञानके अनुसार किया गया उपक्रम तो नहीं माना जा सकता, क्योंकि आगमानुसारी सम्यक् श्रद्धापूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है, आगममें उसे ही सम्यक् श्रुतज्ञानके रूपमें स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार इस विवेचनके प्रकाशमें जब हम उन बातों पर विचार करते हैं जिनके द्वारा विविध उदाहरण उपस्थित कर कुछ कार्योंको क्रमनियत और कुछ कार्योंको क्रमअनियत सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया है तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि वह सब कथन सम्यक् श्रुतज्ञान या केवलज्ञानके विषयके अनुसार प्रतिपादन करनेवाले परमागमकी प्रतिष्ठा करनेके अभिप्रायसे नहीं किया गया है किन्तु केवल बाह्य इन्द्रियज्ञान और मानसिक कल्पनाओंकी पुष्टिमें उसका विपरीत ढंगसे उपयोग किया गया है। अपर पक्षके उक्त कथनमें निहित अभिप्रायके पीछे न तो परमागमका ही बल है और न ही केवलज्ञानके अनुसार पदार्थ व्यवस्थाके सम्बन्धमें हुई श्रद्धाका ही बल है। अतएव सम्यक् श्रद्धानुसारी ज्ञान ही सम्यक् श्रुतज्ञान है, क्योंकि दीपक और प्रकाशके समान सम्यग्दर्शन कारण हैं और सम्यग्ज्ञान कार्य है। (देखो पुरुषार्थसिद्धयुपाय श्लोक ३४) ऐसा समझ कर यही निर्णय करना चाहिए कि सब पदार्थ केवलज्ञानमें जिस प्रकार झलकते हैं श्रुतज्ञानमें भी वे सब पदार्थ आगमके बलसे उसी प्रकार झलकते हैं। इसमें अवस्था भेद और ज्ञानभेद बाधक नहीं है।

१३. प्रकृत प्रतिशंकाके कतिपय कथनोंका खुलासा

अब इसी बातको उक्त वक्तव्यके कतिपय कथनोंके माध्यमसे थोड़ा आगम और तर्ककी कसौटीपर कस कर देख लेना चाहते हैं।

: १ :

अपर पक्षकी ओरसे उपस्थित की गई प्रतिशंकामें एक बात मुक्त जीवोंके अवस्थानको लक्ष्यमें रख कर लिखी गई है। उस पक्षका कहना है कि—

'मुक्त जीवोंका लोकके अग्रभागमें अवस्थान स्वभावतः नहीं है, क्योंकि उनका स्वभाव तो ऊर्ध्वगमन

करनेका ही है, परन्तु गमन करने के लिए उन्हें चूंकि धर्मद्रव्यका अवलम्बन आगे प्राप्त नहीं है अतः लोकके अग्रभागमें ही उनका अवस्थान हो जाता है।'

यह अपर पक्षका वक्तव्य है। यहाँ सर्व प्रथम विचार यह करना है कि जो भी कार्य होता है वह स्वभावकी परिधिमें होकर भी समर्थ उपादानके अनुसार स्वकालमें अन्य द्रव्यको निमित्त कर होता है या उपादानके बिना केवल स्वभावके अनुसार अन्य द्रव्यको निमित्त कर होता है? द्वितीय पक्ष तो इसलिए ठीक नहीं है, क्योंकि आगममें कहीं भी उपादानके बिना केवल स्वभावसे अन्य द्रव्यको निमित्तकर कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार नहीं की गई है। रह गया प्रथम पक्ष सो उसे स्वीकार करने पर तो यही मानना उचित है कि मुक्त जीवोंका उपादान ही लोकान्त तक गमन करनेका होता है, इसलिए उनकी लोकान्त तक ही ऊर्ध्वगति होती है और लोकान्तमें स्थित होनेका उपादान होनेसे वहाँ वे स्थित हो जाते हैं। इस गति और स्थितिमें बाह्य द्रव्योंका आलम्बन भी तदनुकूल होता है, इसलिए जैसे उनकी स्वभाव ऊर्ध्वगति होती है उसी प्रकार लोकान्तमें स्वभाव स्थिति भी होती है। मुक्त जीवोंकी ये दोनों गति और स्थिति स्वभावरूप ही हैं। यदि मुक्त जीवोंका लोकान्तमें अवस्थान स्वभावतः नहीं माना जाता है तो वहाँ उस विभावरूप स्थितिका विभावरूप उपादान और उनके अनुकूल निमित्त भी स्वीकार करना होगा। किन्तु इसका स्वीकार किया जाना न तो आगम संगत है और न ही तर्क संगत है। उदाहरणार्थ एक पुद्गल परमाणुको लीजिए। इसमें लोकान्तप्रापिणी द्रव्ययोग्यताके रहते हुए भी अपने उपादानके अनुसार उसकी एक प्रदेश, दो प्रदेश आदि तक ही स्वभावगति होती है और अपने उपादानके अनुसार वह नियत प्रदेशतक गमनकर स्वभाव स्थिति कर लेता है। श्री तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० १७ में लिखा है—

जीव-पुद्गलानां स्वयमेव गतिपरिणामिनां तदुपग्रहकारणत्वेनानुमीयमानो धर्मास्तिकायः। तेषामेव स्वत एव स्थितिमास्कन्दतां बाह्योपग्रहकारणत्वेनानुमीयमानोऽधर्मास्तिकायः।

स्वयं गति करनेवाले जीव और पुद्गलोंकी गतिमें उपग्रहकारणरूपसे अनुमान किया गया धर्मास्तिकाय है तथा स्वयं ही स्थितिको धारण करनेवाले उन्हींकी स्थितिमें बाह्य उपग्रह कारणरूपसे अनुमान किया गया अधर्मास्तिकाय है।

इसमें स्पष्ट शब्दोंमें यह स्वीकार किया गया है कि जीव और पुद्गल स्वयं गति करते हैं और स्वयं स्थित होते हैं। अब यदि अपर पक्षके कथनानुसार सिद्ध जीवोंका लोकाग्रमें अवस्थान स्वभावतः न माना जाय तो उनका वहाँ अवस्थित होना स्वयं ही स्थित होना कैसे कहलायेगा। धर्म द्रव्य तो गतिका निमित्त है, इसलिए यह कार्य उसका तो माना नहीं जा सकता और अधर्म द्रव्य उदासीन निमित्त है, इसलिए ठहरने रूप क्रियाका कर्ता उसे भी नहीं माना जा सकता। और ऐसा माना नहीं जा सकता, कि सिद्ध जीव लोकाग्र भागमें स्थित नहीं होते, क्योंकि ऐसा माननेमें आगमसे विरोध आता है। अतः प्रकृतमें यही मानना उचित है कि सिद्ध जीवोंकी गति और स्थिति अपने उपादानके अनुसार स्वभावसे होती है। उनके मुख्य कर्ता सिद्ध जीव ही हैं, धर्म-अधर्म द्रव्य नहीं। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० १७ में लिखा है—

उपकारो बलाधानं अवलम्बनं इत्यनर्थान्तरम्। तेन धर्माधर्मयोः गतिस्थितिनिर्वर्तने प्रधानकर्तृत्वमपोदितं भवति।

उपकार, बलाधान और अवलम्बन ये एकार्थवाची शब्द हैं। इससे धर्म और अधर्म द्रव्यका गति और स्थितिके करनेमें प्रधान कर्तापनका निरसन हो जाता है।

आगममें एक प्रश्न उठाया गया है कि आलोकाकाशमें कालद्रव्यका अभाव होनेसे वहाँ उसको उत्पाद-व्यय रूप पर्यायका बाह्य कारण क्या है ? इस प्रश्नका समाधान करते हुए वहाँ बतलाया है कि लोकाकाश और अलोकाकाश यह प्रयोजन विशेषसे किया गया विभाग है, वस्तुतः स्वयं आकाशमें ऐसा भेद नहीं है, इसलिए सर्वत्र आकाशकी उत्पाद-व्ययरूप पर्यायमें कालद्रव्यकी निमित्तता बन जाती है। इसी न्यायसे यदि सिद्ध जीव लोकाग्रको लांघकर ऊर्ध्वगति कर जावें, मात्र अधोभागके कुछ आत्मप्रदेश लोकाकाशकी ऊर्ध्व सतहको स्पर्श किये रहे तो उनकी उस गतिमें धर्मद्रव्यकी निमित्तता बन जानेसे कोई बाधा नहीं आती। फिर ऐसा क्यों नहीं होता ? किन्तु ऐसा होता नहीं यह तो आगमसे ही स्पष्ट है। इससे विदित होता है कि सिद्ध जीवोंकी लोकके अग्रभाग तक गति और वहाँ स्थिति तत्त्वतः अपने उपादानके अनुसार ही होती हैं, धर्म और अधर्म द्रव्य तो उनकी गति और स्थितिमें निमित्तमात्र हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त समग्र विवेचनपर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिस प्रकार सिद्ध जीवोंकी विभावके कारणभूत उपादान और बाह्य सामग्रीके अभावमें स्वभावगति होती है उसी प्रकार विभावके कारणभूत उपादान और बाह्य सामग्रीके अभावमें उनकी स्वभाव स्थिति भी होती है। और यह बात असिद्ध भी नहीं है, क्योंकि सिद्धोंकी ऊर्ध्वगति स्वाभाविकी होती है इसे सब आचार्योंने एक स्वरसे स्वीकार किया है।

मुक्तस्योर्ध्वगतिरेका स्वाभाविकीत्यत्रोक्तम्।—पंचास्तिकाय गा० ७३ टीका।

तथा स्थितिका अन्तर्भाव परिणाममें होनेसे वह स्वाभाविकी है ही। तत्त्वार्थवार्तिक अ० ५ सू० २२में 'स्थितिर्हि परिणामेऽन्तर्भवति' ऐसा कहा भी है। अतः अपर पक्षका न तो यह लिखना ही ठीक है कि 'सिद्ध जीवोंका लोकके अग्रभागमें अवस्थान स्वभावतः नहीं है और न यह लिखना ही ठीक है कि 'केवल धर्मास्तिकायके अभावमें सिद्ध जीव लोकाग्रसे आगे गमन नहीं करते।' लोकाग्रसे आगे सिद्ध जीव गमन नहीं करते यह नयवचन है जो गतिके मुख्यकर्ता निश्चय उपादानका सूचन करता है। इसलिए 'धर्मास्तिकायाभावात् (त० सू०, अ० १० सू० ८) इस वचनको व्यवहारनयका वचन मानकर व्याख्यान करना उचित है।

सिद्ध जीवोंका ऊर्ध्वगमन होता है यह भी नयवचन है जो इस बातको सूचित करता है कि मुक्त जीवोंका ऊपरको ही गमन होता है, दिगन्तर गमन नहीं होता ऐसा स्वभाव है, ऊर्ध्वगमन करते ही रहना ऐसा उनका स्वभाव नहीं है। तत्त्वार्थवार्तिक अ० १० सू० ८ में इस तथ्यको ध्यानमें रखकर लिखा भी है—

मुक्तस्योर्ध्वमेव गमनं न दिगन्तरगमनमित्ययं स्वभावः, नोर्ध्वगमनमेवेति।

यदि स्वभावकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो स्वभावसे ही सब द्रव्य लोकमें अवस्थित हैं, अन्यके कारण नहीं। और इसी कारण 'यत्र षड्द्रव्याणि लोक्यन्ते स लोकः' जहाँ छह द्रव्य देखे जाते हैं वह लोक है यह कथन किया गया है।

: २ :

अपर पक्षने दूसरी जिस बातका उल्लेख किया है वह द्रव्ययोग्यतासे सम्बन्ध रखती है। केवलज्ञानमें जो अपरिमित सामर्थ्य (योग्यता)का आगममें वर्णन आता है, या सर्वार्थसिद्धिके देवोंमें सातवें नरक तक गमन करनेकी सामर्थ्यका वर्णन आता है, या देवेन्द्रका जम्बूद्वीपको पलटनेरूप सामर्थ्यका वर्णन आता है, या कुम्हारमें निमित्तपनेकी अपेक्षा विविध प्रकारके मिट्टीके घट आदि बनानेकी सामर्थ्यका वर्णन आता है,

या मिट्टीमें छोटे-बड़े अनेक घटादि कार्यरूप परिणमनेकी सामर्थ्यका वर्णन आता है, या अध्यापक और शिष्यमें क्रमसे निमित्त-उपादानकी अपेक्षा अनेक शास्त्रोंके पढ़ाने-पढ़नेरूप सामर्थ्यका वर्णन आता है सो यह सब कथन द्रव्यार्थिक दृष्टिसे किया गया है या पर्यायार्थिक दृष्टिसे इस तथ्य पर यदि अपर पक्षका ध्यान जाता तो उसने जिस अभिप्रायकी पुष्टिमें वह सब वक्तव्य लिखा है उसके लिखनेका प्रयोजन ही नहीं रहता। प्रश्न तो यह है कि प्रत्येक समयमें जो कार्य होता है वह कैसे होता है? क्या जो द्रव्य-पर्यायशक्तियुक्त मिट्टी घट-रूप परिणम रही है वह उसी समय गाय आदि खिलौनारूप परिणम सकती है? द्रव्यदृष्टिसे तो प्रत्येक द्रव्यमें जितनी त्रैकालिक पर्यायें सम्भव हैं वे सब योग्यतारूपमें विद्यमान हैं। परन्तु प्रत्येक समयमें जो एक-एक पर्याय होती है उसका कारण क्या? आचार्योंने तो इसका अन्तरंग (वास्तविक) कारण पर्यायशक्तियुक्त द्रव्यको बतलाया है। जिस समय जिसका जैसा पर्यायशक्ति युक्त द्रव्य उपादान होता है उसीके अनुसार उससे दूसरे समयमें कार्य होता है और दूसरे समयमे जैसा पर्यायशक्ति युक्त द्रव्य पदार्थ उपादान होता है उसके अनुसार उसके तीसरे समयमें कार्य होता है। इसी प्रकार सब समयोंकी अपेक्षा सब द्रव्योंमें कार्यकारणभावको जान लेना चाहिए। स्पष्ट है कि प्रकृतमें द्रव्य-योग्यताओंका उल्लेख कर किन्हीं कार्योंको नियत (निश्चित) और किन्हींको अनियत (अनिश्चित) सिद्ध करना ठीक नहीं है।

: ३ :

अपर पक्षने नियत (निश्चित) योग्यतारूपसे तीसरी जिस बातका उल्लेख किया है वह पर्याय-शक्तियुक्त द्रव्ययोग्यतासे सम्बन्ध रखती है। मिट्टी तभी मिट्टी कहलाती है जब वह पुद्गलकी विवक्षित पर्यायरूपसे परिणमती है, इसलिये इसकी कालक्रमसे पर्यायशक्तियुक्त द्रव्ययोग्यताऍं भी सीमित हैं। वस्त्र वानस्पतिक पर्याययुक्त पुद्गलसे बनता है, मिट्टी पर्याययुक्त पुद्गलसे नहीं। इसलिये यह उदाहरण ही इस तथ्यकी पुष्टि करता है कि विवक्षित पर्यायशक्तियुक्त द्रव्य ही विवक्षित कार्यको जन्म देता है। उससे बाह्य सामग्रीके बल पर अन्य कार्य त्रिकालमें नहीं हो सकता यह सुतराम् सिद्ध हो जाता है। यदि इसी नियत (निश्चित) योग्यतायुक्त मिट्टीको उदाहरण बनाकर अपर पक्ष कार्य-कारणभावको लक्ष्यमें ले तो सभी कार्य अपने-अपने प्रतिनियत उपादानके अनुसार नियत समयमें ही होते हैं यह सिद्धान्त उसकी समझमें आनेमें देर न लगे।

: ४ :

अपर पक्षने चौथी बात यह लिखी है कि 'प्रत्येक वस्तुकी त्रैकालिक पर्यायें उत्पत्तिके लिहाजसे उतनी ही संख्यामें मानी जा सकती हैं जितने त्रिकालके समय निश्चित हैं। परन्तु इससे वस्तुकी पर्यायोंके उत्पन्न होनेकी योग्यताऍं निश्चित नहीं की जा सकती हैं।' साथ ही अपने इस अभिप्रायकी पुष्टिमें अपर पक्षने पुनः केवलज्ञानको उदाहरणरूपमें उपस्थित किया है सो इस सम्बन्धमें भी यही निवेदन है कि प्रत्येक द्रव्यमें पर्यायशक्तियुक्त द्रव्य कार्यकारी माना गया है, अतएव आगममें उसीकी उपादान संज्ञा है। यतः आगममें प्रत्येक द्रव्यकी सब पर्यायें कालके सब समयोंके बराबर होती है, न कम होती हैं और न अधिक होती हैं। इसलिये सब द्रव्योंमें उतनी ही पर्यायें होती हैं और उतने ही उनके उपादान होते हैं। योग्यताकी दृष्टिसे द्रव्यशक्तियाँ चाहे जितनी मानी जाँय, परन्तु उससे कार्योंकी पूर्वोक्त व्यवस्थामें कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि जो वर्तमानमें पर्याय शक्ति है वह स्वयं द्रव्यशक्तिके साथ उपादान बनकर अगले समयके कार्यका

नियमन करती है। यही क्रम सब द्रव्योंकी सब पर्यायोंमें जान लेना चाहिए। इस विषयकी पुष्टिमें अष्टसहस्री पृष्ठ २२६का यह वचन द्रष्टव्य है—

न द्रव्यं केवलमर्थक्रियानिमित्तं क्रमयौगपद्यविरोधात् केवलपर्यायवत्। पर्यायो वा न केवलोऽर्थक्रियाहेतुः, तत एव केवल द्रव्यवत्।

केवल द्रव्य अर्थक्रियाका हेतु नहीं है, क्योंकि क्रमयौगपद्यका विरोध है, केवल पर्यायके समान। अथवा केवल पर्याय अर्थक्रियाका हेतु नहीं है, उसी कारणसे, केवल द्रव्यके समान।

अतएव अनेक द्रव्यशक्तियोंके आधार पर उपादानको अपने-अपने कार्यके प्रति अनिश्चित सिद्ध करना उचित नहीं है। स्पष्ट है कि द्रव्यशक्तियाँ कितनी ही क्यों न हों, किन्तु एक कालमें वे सब कार्योत्पत्तिके सन्मुख न होकर जो पर्यायशक्ति जिस कार्यका उपादान होती है उसी कार्यके अनुकूल द्रव्यशक्ति कार्यके सन्मुख होती है।

: ५ :

आगे अपर पक्षने कार्य-कारण परम्पराके अनुसार पहले तो उपादानके अनुसार कार्यका होना स्वीकार कर लिया है। परन्तु इससे अपने पक्षकी हानि होती हुई देखकर यह भी लिख दिया है कि—

'यहाँ पर वस्तुकी जिस पर्यायके अनन्तर जिस पर्यायका होना सम्भव हो इस वाक्यमें 'सम्भव हो' के स्थानमें 'नियत हो' यह प्रयोग इसलिए नहीं किया गया है कि कार्यके अनन्तर पूर्ववर्ती उस पर्यायके अनन्तर विवक्षित पर्याय ही उत्पन्न होगी यह नियम नहीं बनाया जा सकता है। कारण कि उस पर्यायके अनन्तर उपादानगत योग्यताके आधारपर भिन्न-भिन्न निमत्तोंका योग मिलनेपर विविध प्रकारकी पर्यायोंमेंसे कोई एक पर्यायका होना सम्भव है, केवल किसी एक नियत पर्यायका होना ही सम्भव नहीं है।' आदि।

सो इस सम्बन्धमें पृच्छा यह है कि आगममें जो उपादानका लक्षण किया है वह सम्भावनाको ध्यानमें रखकर किया है या कार्यका नियमन करनेकी दृष्टिसे किया है? आचार्य समन्तभद्र तो 'यद्यसत्सर्वथा कार्यं' (४२) आप्तमीमांसाकी इत्यादि कारिका द्वारा उपादानको कार्यका नियामक बतला रहे हैं और अपर पक्ष उसे सम्भावनामें मान रहा है सो यह क्या बात है? मालूम पड़ता है कि अपने द्वारा माने हुए जिस श्रुतज्ञानके द्वारा कार्य-कारण भावकी व्यवस्था की जानेको अपर पक्षने पूर्वमें प्रतिज्ञा की है उसीको आधार बनाकर अपर पक्षके द्वारा यह सब लिखा जा रहा है, आगमानुसारी सम्यक् श्रुतज्ञानके आधारपर नहीं। आगममें जहाँ-जहाँ उपादानका सुनिश्चित लक्षण लिपिबद्ध हुआ है वहाँ-वहाँ या अन्यत्र कहीं भी आगममें ऐसा एक भी वाक्य दृष्टिगोचर नहीं हो सका जिससे इस बातकी पुष्टि हो कि उपादानका सुनिश्चित लक्षण सम्भावनाकी दृष्टिसे लिखा जा रहा है। उपादानके लक्षणमें द्रव्यके पूर्व दो विशेषण दिये हैं प्रथम विशेषण तो है 'पर्याययुक्त' पद, और कैसा पर्याययुक्त द्रव्य होना चाहिए इसका विशेष स्पष्टीकरण करनेके लिए कहा है कि 'जो द्रव्य अनन्तर पूर्वपर्याययुक्त होता है' वही अपने अगले समयके कार्यका उपादान होता है, अन्य नहीं। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उपादानका यह लक्षण सम्भावनाकी दृष्टिसे न लिखा जाकर उपादानके अन्तरंग स्वरूपपर प्रकाश डालनेके अभिप्रायसे ही लिखा गया है। यह उपादानका आत्मभूत लक्षण है। आगममें जिन-जिन वस्तुओंके जो जो आत्मभूत लक्षण लिखे गये हैं वे सब उन-उन वस्तुओंके वास्तविक स्वरूपपर प्रकाश डालनेके अभिप्रायसे ही लिखे गये हैं। उपादानके इस लक्षणको भी उसी प्रकारका समझना चाहिए।

आगममें जिसकी प्रागभाव संज्ञा है उसीको उपादान संज्ञा है, ये दोनों विधि-निषेध मुखसे एक ही

अर्थको सूचित करते हैं। यतः प्रागभाव किसी नियत कार्यका ही माना जा सकता है इससे भी यह सिद्ध होता है कि उपादानका उक्त लक्षण नियत कार्यको दृष्टिसे ही आगममें स्वीकार किया गया है। यदि पर्यायशक्तिको अगले कार्यका उपादान न मानकर केवल अनेक द्रव्यशक्तियोंको ही उपादान रूपसे स्वीकार किया जाता है तो कार्योत्पत्तिके समय अनन्तर पूर्व पर्यायका प्रध्वंसाभाव नहीं बनेगा, क्योंकि विवक्षित कार्यके प्रति अनन्तर पूर्व पर्याय तो कार्यकारी हुई नहीं, केवल कोई एक द्रव्यशक्ति ही कार्यकारी हुई, ऐसी अवस्थामें अनन्तर पूर्व पर्याय कार्यके कालमें तद्वस्थ ही बनी रहेगी। उसका प्रध्वंसाभाव नहीं होगा और इस प्रकार केवल द्रव्यशक्तिसे कार्यकी उत्पत्ति मानने पर प्रत्येक कार्यके कालमें अतीत सब पर्यायोंके स्वीकार करनेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। यह तो बड़ी भारी आपत्ति उपस्थित होती ही है इसके साथ और भी अनेक आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं जिनका विशेष विचार प्रसंगानुसार प्रतिशंका छहके उत्तरमें करेंगे। मात्र यहाँ इस बातका उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं कि यदि अपर पक्षके कथनानुसार उपादानमें अनेक योग्यताएँ मानकर निमित्तोंके अनुसार कार्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो जिसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है उसमें भी अनेक योग्यताएँ होनेसे एक तो कार्यकी उत्पत्ति ही नहीं बन सकेगी, क्योंकि जैसे उपादानमें अनेक योग्यताएँ होनेसे कौन योग्यता कार्यरूपसे परिणत हो यह निश्चित नहीं किया जा सकता उसी प्रकार सहकारी सामग्रीमें भी अनेक योग्यताएँ होनेसे कौन योग्यता उस कार्यके लिए निमित्त हो यह भी निश्चित नहीं हो सकेगा। और ऐसी अवस्थामें किसी भी द्रव्यसे कोई भी कार्य नहीं उत्पन्न हो सकेगा। और कार्यके न उत्पन्न हो सकनेसे द्रव्य अपरिणामी हो जायगा। और इस प्रकार अन्तमें सब द्रव्योंका अभाव ही मानना पड़ेगा। यतः किसी भी द्रव्यका अभाव न हो, अतः नियत उपादानसे ही नियत कार्यकी उत्पत्ति मान लेना यही कार्य-कारणभावकी सम्यक् व्यवस्था है। साथही उसका नियत निमित्त भी मानना चाहिए, क्योंकि प्रत्येक कार्यके प्रति इन दोनोंका सुमेळ (मैत्री) है। वस्तुस्वभाव ही ऐसा है कि प्रत्येक कार्यके प्रति आभ्यन्तर और बाह्य उपाधिकी समग्रता बनती रहती है। कहीं यह समग्रता विस्रसा बनती है और कहीं पुरुषप्रयत्नसापेक्ष बनती है। कार्यकारणकी परम्परामें क्रमानुपातीरूपसे दोनोंका यह योग बनता रहता है इतना सुनिश्चित है।

हमें इस बातका अत्यन्त खेद है कि अपर पक्षने भगवान् समन्तभद्रकी आप्तमीमांसाकी कारिकाएँ १०५ और १०१ अपने गलत अभिप्रायकी पुष्टिमें उपस्थित कीं। कहाँ तो समन्तभद्र स्वामी उन कारिकाओं द्वारा आगमानुसारी श्रुतज्ञानको केवलज्ञानके समान बतलाकर दोनोंके मध्य प्रत्यक्ष और परोक्षका भेद होते हुए भी दोनोंका विषय एक बतला रहे हैं और कहाँ अपर पक्ष अपने सम्यक् श्रद्धा विहीन श्रुतज्ञानकी पुष्टिमें उनका उपयोग करना चाहता है। इसे आगमका दुरुपयोग करनेके सिवाय और क्या कहा जा सकता है। यदि कारिका १०१ में केवलज्ञानके सिवाय शेष चारों ज्ञानोंको क्रमभावी कहा भी है तो वह दूसरे अभिप्रायसे ही कहा है। फिर मालूम नहीं कि अपर पक्षने उक्त कारिकामें आये हुए 'क्रमभावि' पदसे अपने अभिप्रायकी पुष्टि करनेका कैसे साहस किया। अथवा क्रम शब्दके साथ सर्वत्र आया हुआ 'अक्रम' शब्द युगपत्वाची है, इसलिए भी अपर पक्षके अभिमतकी सिद्धि नहीं होती। विशेष विचार आगे करने वाले हैं ही।

१४. आगमपठित क्रम-अक्रम पदका सही अर्थ

आगे अपर पक्षने धवला पुस्तक १३ पृ० ३४६ से 'सइं भयवं' इत्यादि मूल सूत्र उद्धृत कर धवला टीकामें आये हुए अनुभागका लक्षण लिख कर उसमें पठित 'कमाकमेहि' पदसे अपने अभिप्रायके

अनुसार नियतक्रमता (निश्चितक्रमता) और अनियतक्रमता (अनिश्चितक्रमता) रूप अर्थ फलित करनेकी चेष्टा की है। सो अपर पक्ष द्वारा उक्त कथनसे यह अर्थ फलित करना ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ पर आया हुआ 'अक्रम' शब्द 'युगपत्' अर्थका वाची है, 'अनियतक्रमता' अर्थका वाची नहीं। जैनदर्शनके ग्रन्थोंमें यह पद 'क्रमाक्रमाभ्याम्' या 'क्रमयौगपद्याभ्याम्' इस रूपमें अनेक स्थलों पर आता है और वहाँ पर 'क्रम' पदसे क्रमानुपाती पर्यायोंका तथा 'अक्रम' पदसे एक साथ होनेवाली पर्यायोंका ग्रहण हुआ है इस बातको प्रत्येक दर्शनशास्त्रका अभ्यासी अच्छी तरहसे जानता है। प्रकृतमें 'अक्रम' पदका अर्थ ही 'न क्रम-अक्रम अर्थात् युगपत्' होता है। ऐसी अवस्थामें अपर पक्षने 'अक्रम' पदका अर्थ 'अनियतक्रमता' कैसे कर लिया इसका हमे आश्चर्य है। अनगारधर्मामृत अ० २ पृष्ठ १०२ में 'जीवे नित्येऽर्थसिद्धिः' इत्यादि श्लोकमें 'क्रमादक्रमाद्वा' इस पाठके साथ 'क्रम' और 'अक्रम' ये शब्द आये हैं। वहाँ इनका अर्थ करते हुए लिखा है—

क्रमात् कालक्रमेण देशक्रमेण च। न केवलम्, अक्रमाद्वा अक्रमेण च यौगपद्येन,

पर्यायें क्रमवृत्त भी होती हैं और युगपत्वृत्त भी। इसका स्पष्टीकरण करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक अ० ४ सू० ४२ पृ० २५६ का यह वचन अवलोकन करने योग्य है—

स च पर्यायो युगपद्वृत्तः क्रमवृत्तो वा। सहवृत्तो जीवस्य पर्यायः अविरोधात् सहावस्थायी सहवृत्तेः गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमादिः। क्रमवर्ती तु क्रोधादि देवादि-बाल्याद्यवस्था-लक्षणः।

और वह पर्याय युगपत् भी होती है और क्रमवर्ती भी होती है। अविरोधसे एक साथ होनेवाली जीवकी पर्याय एक साथ होनेके कारण गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान और संयम आदि सहावस्थायी पर्याय है तथा क्रोधादि, देवादि और बाल्यादि अवस्थालक्षण क्रमवर्ती पर्याय है।

भट्टाकलंकदेव जैनदर्शनके प्रभावक आचार्य हो गये हैं। उन्होंने अपने लघीस्त्रयमें भी क्रम और अक्रम शब्दोंका प्रयोग क्रम और युगपत्के अर्थमें किया है। वे लिखते हैं—

अर्थक्रिया न युज्येत नित्य-क्षणिकपक्षयोः।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता।

सर्वथा नित्य पक्ष और सर्वथा क्षणिक पक्षमें क्रम और यौगपद्यरूपसे अर्थक्रिया नहीं बन सकती, किन्तु वह (अर्थक्रिया) पदार्थोंकी लक्षणरूपसे स्वीकार की गई है।

प्रकृत कारिकामें आये हुए क्रम और अक्रम पदका उक्त अर्थ हमने ही किया हो यह बात नहीं है। उक्त कारिकाके टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र और अभयचन्द्रने भी इन पदोंका यही अर्थ किया है।

आचार्य विद्यानन्दिने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० ५, सूत्र ३८ में सहानेकान्त और क्रमानेकान्त का उल्लेख कर दो ही प्रकारके अनेकान्त बतलाये हैं। वे लिखते हैं—

गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्यायवद्द्रव्यं क्रमानेकान्तवित्तये ॥२॥

गुणवाला द्रव्य है यह सहानेकान्तकी सिद्धिके लिए कहा है और पर्यायवाला द्रव्य है यह क्रमानेकान्त-की जानकारीके लिए कहा है ॥२॥

इससे स्पष्ट विदित होता है कि सभी पर्यायें अपने नियत क्रमको लिए हुए स्वकालमें ही होती हैं। इसलिए धवलाके उक्त कथनमें आये हुए 'कमाकमेहि' पदका अर्थ नियतक्रम और अनियतक्रम न होकर क्रम और युगपत् ही होता है। अतएव उक्त पदके आधारसे प्रकृतमें यही अर्थ करना उचित है कि केवली भगवान्का ज्ञान सूत्र पठित सब बातोंके ज्ञानके साथ-साथ द्रव्योंके क्रमसे और युगपत् होनेवाले सभी परिणमनोंको भी जानता है। अतः अपर पक्षके द्वारा धवलाके उक्त पदके आधारसे यह अर्थ फलित किया जाना उचित नहीं है कि—

नियतक्रमता और अनियतक्रमता ये दोनों वस्तु-परिणमनके ही धर्म हैं और वे अपने प्रतिनियत कारणोंसे ही उनमें सम्पन्न होते हैं। और चूंकि पदार्थकी जैसी स्थिति हो वैसी ही केवलज्ञानीके ज्ञानमें झलकती है अतः वस्तु परिणमनमें पाये जानेवाले नियतक्रमता और अनियतक्रमतारूप दोनों धर्म केवलज्ञानके भी विषय होते हैं।' आदि।

क्योंकि अपर पक्ष द्वारा अपनी कल्पनाके आधार पर धवलामें आये हुए उक्त पदका नियतक्रमता और अनियतक्रमता रूप अर्थ करने पर न तो केवलज्ञानकी ही सिद्धि होती है और न ही पदार्थव्यवस्था बन सकती है। साथ ही अपर पक्ष द्वारा पूर्वमें स्वीकृत केवलज्ञानके स्वरूप और उसके विषयके साथ जो विरोध आता है वह भी एक विचारणीय महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। अतएव सभी आचार्योंने क्रम और अक्रम पदका जो क्रमनियत और युगपत् अर्थ किया है वही यहाँ लेना चाहिए। इससे सभी व्यवस्था सुघटित बन जाती है।

इसके बाद पूर्वोक्त पूरे कथनका पिष्टपेषण करते हुए अपर पक्षने अन्तमें जो यह लिखा है कि—

'इस प्रकार कार्यसिद्धिके लिए कार्य-कारणभावको समझिए, पुरुषार्थ कीजिए, आवश्यकतानुसार निमित्तोंको भी जुटाइए लेकिन इसमें अहंकारी मत बनिए, अधीरता मत दिखाइए, असफलतासे दुखी मत हूजिए, विवेकी, गम्भीर और स्थिरबुद्धि बनकर अपनी दृढ़ श्रद्धाके साथ कर्तव्य पथपर डट जाइए, डट जावें तो फिर डटे रहिए, उस कर्तव्यपथसे च्युत नहीं हूजिए—यही सम्यक्त्वका चिह्न है, इसीमें आस्तिक्य भाव झलकता है, इसीमें अनेकान्तवादका प्रकाशपुंज आपको मिलेगा और निर्वेदभाव, अनासक्तिभावकी छाया इसीमें प्राप्त होगी।'

सो एक ओर जब अपर पक्षके पिछले कथनके विरुद्ध अतएव अटपटे इस कथनको पढ़ते हैं और दूसरी ओर ऐसा लिखनेवाले अपर पक्षके उस सिद्धान्तपर दृष्टिपात करते हैं जिसमें यह कहा गया है कि उपादानमें अनेक योग्यताऐं है। उनमेंसे कौन योग्यता कार्यरूप परिणमे यह निमित्तोंके आधीन है।' तो हम दंग रह जाते हैं। कहाँ एक ओर तो स्वावलम्बनकी मुख्यतासे लिखे गये उक्त वचन और कहाँ दूसरी ओर कार्य-कारणमें पराधीनता स्वीकार करानेवाले दूसरे वचन। मालूम पड़ता है कि स्वालम्बन क्या वस्तु है और परावलम्बन क्या वस्तु है इनके सम्यक् स्वरूपकी ओर ध्यान न देनेके कारण ही अपर पक्षने यह परस्पर विरुद्ध कथन किया है, गीतामें आये हुए 'कर्मण्येव अधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' इस वचनकी उक्त वचनोंको कापी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। गीता भी तो यही कहती है कि फल अर्थात् कार्यमें तुम्हारा कोई अधिकार नहीं, वह ईश्वरके आधीन है। अपर पक्षका भी यही कहना है कि किस उपादानसे क्या कार्य हो यह उपादानके आधीन नहीं, यह सब निमित्तके आधीन है। इस प्रकार जब कि गीता और अपर पक्ष दोनोंके अभिप्रायसे कार्य निमित्तोंके आधीन हो गया तो विचार कीजिए कि कर्ममें उपादानका अधिकार कहाँ रह गया। अपर पक्षके कथनानुसार उपादानका कार्य है कि वह प्रत्येक समयमें मात्र उपस्थित रहे। निमित्तको उसमें जैसी रचना करना होगी, करेगा। उपादान इसमें ननु न च नहीं कर

सकता । ऐसी अवस्थामें इसका विचार अपर पक्ष ही करे कि उसकी ओरसे जो 'पुरुषार्थ कीजिए, आवश्यकतानुसार निमित्तोंको भी जुटाईए' इत्यादि रूपसे प्रेरणाप्रद वचन लिखे गये हैं उनका क्या प्रयोजन रह जाता है ? अर्थात् कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता । हम नियतिवादी रूपसे इसलिये लांछित किये जाते है, क्योंकि हम प्रत्येक कार्यके नियत उपादानको स्वीकार करनेके साथ उसकी बाह्य सामग्रीको भी नियतरूपसे स्वीकार करते हैं और अपर पक्ष अपनेको नियतिवादी इसलिए नहीं स्वीकार करना चाहता, क्योंकि प्रत्येक कार्यकी बाह्य उपाधिको नियत मानकर भी उसके उपादानको नियत माननेमें उसे नियतवादकी गन्ध आती है ।

वस्तुतः जिस प्रकार केवल नियतिवादको माननेवाले एकान्ती हैं, अतएव वे अनेकान्तवादके प्रकाश पुंजसे वंचित रहते हैं उसी प्रकार बाह्य उपाधिके आधारसे उपादानमें कार्यकी व्यवस्था बनानेवाले भी अनेकान्तके सम्यक् स्वरूपके ज्ञाता नहीं माने जा सकते । प्रत्येक कार्यके प्रति बाह्य उपाधि तो नियत हो और जो उपादान उस कार्यका निश्चय कर्त्ता है वह नियत न हो यह कैसा अनेकान्त है ? उसे तो अनेकान्तका उपहास ही कहना चाहिए । जब कि प्रत्येक द्रव्य अपनी एक पर्यायका व्यय और दूसरी पर्यायका उत्पाद अपने अन्तरंग बलसे ही करता है । बाह्य उपाधिका कार्य तो मात्र उसका ज्ञान करा देने तक ही सीमित है । ऐसी अवस्थामें वह कार्य अपने आप हो जाता है यह कैसे कहा जा सकता है ? अर्थात् नहीं कहा जा सकता है । अत एव प्रकृतमें क्रम और अक्रम पदका अर्थ जो अपर पक्षने नियतक्रमता और अनियतक्रमता किया है वह ठीक न होकर उन शब्दोंका क्रमसे क्रमभावी और युगपद्भावी अर्थ करना ही ठीक है आगमका भी यही अभिप्राय है ।

१५. निमित्तवादी पुरुषार्थी नहीं हो सकता

हम देखते है कि लोकमें जड़—चेतन अनन्त पदार्थ हैं और वे प्रत्येक समयमें अपना-अपना कार्य करते है, क्योंकि अर्थक्रिया पदार्थका लक्षण है । उनमेंसे किन्हीं कार्योंमें पुरुषका प्रयत्न निमित्त है और किन्हींमें नहीं । **सब कार्य पुरुषके प्रयत्नको ही निमित्तकर होते हैं यह जैनदर्शन न होकर ईश्वरवादियोंका दर्शन है** । औरकी बात तो छोड़िये, कर्मोंका जो उपशमादि कार्य होता है वह भी पुरुष प्रयत्न निरपेक्ष विस्रसा होता है । ऐसी अवस्थामें जिन कार्योंके होनेमें पुरुषके प्रयत्नकी निमित्तता नहीं है उन कार्योंका क्या अपने आप होना कहा जायगा ? यदि अपर पक्ष कहे कि—नहीं, तो फिर सर्वत्र यही मानकर चलना चाहिए कि जिस पदार्थमें जिस समय जो कार्य होता है उसमें उस समय उस कार्यके अनुरूप बल होता ही है । इसलिए अपर पक्षका यह कहना तो उचित नहीं है कि जब जो होना होगा वह होगा ऐसा माननेसे हम पुरुषार्थहीन हो जायेंगे । **यदि विचारकर देखा जाय तो यही ज्ञात होता है कि जब तक यह संसारी प्राणी परसे कार्यसिद्धिका स्वप्न देखता रहेगा तब तक न तो उसका सम्यक् पुरुषार्थ ही जागृत होगा और न ही वह आत्मकार्यमें सावधान होकर मोक्षमार्गका पथिक ही बन सकेगा** । परसे कार्य होता है इस मान्यताका फल ही तो संसार है, अतएव ऐसी मान्यताके त्यागके लिए जो पुरुषार्थ होगा वही सच्चा पुरुषार्थ है और वही मोक्ष का द्वार है ।

'खूब पुरुषार्थ कोजिये' ऐसा लिखनेवाले अपर पक्षसे हम पूछते हैं कि क्या पुरुषार्थ करना आपके हाथमें है ? एक ओर यह लिखना कि निमित्तोंके अनुसार कार्य होता है और दूसरी ओर यह लिखना कि 'खूब पुरुषार्थ कोजिये' इनमेंसे किसे सच्चा माना जाय ? जरा विचार तो कोजिए कि पुरुषार्थ करना किसके हाथमें रहा । अपर पक्षके मतानुसार संसारी प्राणीके हाथमें, या निमित्तोंके हाथमें ।

इसी प्रकार यह लिखना कि 'आवश्यकतानुसार निमित्तोंको जुटाईये' कल्पनामात्र है। जब कि अपर पक्षको अपने उपादानकी ही खबर नहीं है तो किस कार्यका कौन निमित्त है इसकी खबर उसे कहाँसे हो गई? और फिर कोई भी प्राणी निमित्तोंको जुटानेवाला कौन? आवश्यकतानुसार निमित्तोंको जुटानेका कार्य तो निमित्तोंको ही करना होगा। संसारी प्राणी तो चाहता है कि 'किसी कार्यके होने पर मैं अहंकारी न बनूं, अधीरता न दिखलाऊँ, कार्यमें असफल होनेपर दुखी न होऊँ, विवेकी गंभीर और स्थिरबुद्धि बना रहूँ, कभी भी कर्तव्य पथसे च्युत न होऊँ, कर्तव्य पथपर डट गया तो डटा रहूँ, उससे हटूँ न।' पर यह सब हो कैसे? क्या यह सब कर सकना या ऐसा विचार करना स्वयं उसके हाथमें है? एक ओर प्रत्येक कार्य निमित्तोंके अनुसार होता है ऐसी प्रसिद्धि करना और दूसरी ओर उक्त प्रकारके उपदेशका आडम्बर रचना हमें तो पूर्वापर विरुद्ध ही प्रतीत होता है, अतएव अपर पक्षद्वारा कल्पित कार्य-कारणके इस आगम-विरुद्ध मार्गको छोड़कर यही निश्चय करना चाहिए कि भगवानके ज्ञानमें जिस समय जिन प्रतिनियत कारणोंसे जिस कार्यकी उत्पत्ति झलकी है उस समय वही कार्य उसी प्रकार होगा, सम्यक् श्रुतज्ञानी ऐसा ही निश्चय करता है, क्योंकि केवलज्ञानीने जैसा जाना है श्रुतज्ञानी श्रुतके बलसे वैसा ही निर्णय करता है। कारण कि ऐसे निर्णयपूर्वक आत्मप्राप्तिमें प्रवृत्त होना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

१६. श्रद्धा और कर्तव्यका समन्वय

अब रही सम्यक् श्रद्धा और तदनुसार कर्तव्यके समन्वय की बात सो जिसके सम्यग्ज्ञानके साथ भीतरसे यह श्रद्धा हो गई है कि 'जिसका जिस कालमें जिस नियत सामग्रीके बलसे जैसा होना वीतरागने देखा है उसका उस कालमें उस नियत सामग्रीके बलसे वैसा ही होगा, अन्य प्रकारसे नहीं होगा। वह जब लोकमें जिसे अनहोनी कहते हैं उसे अनहोनी मानता ही नहीं तब अनिच्छित कार्यके होनेपर अधीर हो नहीं सकता और यदि अधीर होता है तो समझना चाहिए कि उसके कर्तव्य और श्रद्धामें अन्तर है। वस्तुतः जिसने इस अन्तरको पाट लिया वही विवेकी है और जो इस अन्तरके झूलेमें झूलता रहा वही अविवेकी है। किसीको अविवेकी कहना और बात है पर अविवेकीकी अविवेकपूर्वक की गई विवक्षित कार्यके प्रति बाह्य उठा-धरीको सम्यक् श्रुतज्ञान निरूपित करनेके लिए उपादानके नियत लक्षणमें परिवर्तनका साहसकर प्रत्येक कार्यकी प्रसिद्धि निमित्तोंके अनुसार मानना और बात है। यह श्रद्धा और कर्तव्यका समन्वय न होकर सम्यक्-श्रुतका परिहासमात्र है। हमने उपलब्ध जिनागमका यथासम्भव पर्यालोचन करनेका असकृत् प्रयत्न किया है। किन्तु हमें इस आशयका एक भी वचन कहीं ढूंढे नहीं मिला कि 'जिसमें एक कालमें एक साथ अनेक कार्योंके करनेकी योग्यता होती है उसकी समर्थ उपादान संज्ञा है ऐसा कहा गया है। अष्टशती, अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक और स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि अनेक ग्रन्थोंमें समर्थ उपादानके स्वरूप पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है पर उन सब ग्रन्थोंमें अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यको ही समर्थ उपादान कहा है। इसके सिवाय अपर पक्षद्वारा स्वीकृत समर्थ उपादानका लक्षण आगममें कहीं भी बतलाया हो ऐसा हमारे देखनेमें नहीं आया और न ही अपर पक्षने अपने तथाकथित लक्षणकी पुष्टिमें कोई आगम प्रमाण ही दिया। स्पष्ट है कि जिसे अपर पक्ष श्रद्धा और कर्तव्यका समन्वय घोषित करता है वह मात्र कल्पनाओंपर आधारित होनेसे सच्चा समन्वय नहीं है।

अब यहाँ आत्माका सच्चा हित किसमें है और उसकी प्राप्ति कैसे होती है इसका विचार करते हैं। आगममें सब जीवोंको दो भागोंमें विभक्त किया गया है—संसारी और मुक्त। जो अपने अज्ञानादिवश

चतुर्गतिमें परिभ्रमण करते रहते हैं उन्हें संसारी कहते हैं और जिन्होंने संसारके कारणोंमें हेय बुद्धि कर उनके त्यागपूर्वक निराकुललक्षण अतीन्द्रिय सुखके निधान आत्माको अपने पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त कर लिया है वे मुक्त जीव हैं। अतएव जो संसारके कारण हैं वे स्वयं दुःखरूप और दुःखके कारण हैं ऐसा जान, उनमें हेय बुद्धि कर उनसे निवृत्त होना तथा सम्यग्दर्शनादि जो स्वयं सुखरूप और सुखके कारण हैं उनमें उपादेय बुद्धि कर उनमें प्रवृत्त होना यह संसारी जीवका प्रधान कर्तव्य है। पण्डितप्रवर दौलतरामजी छहढालाकी तीसरी ढालके प्रारम्भमें लिखते हैं—

आतमको हित है सुख सो सुख आकुलता विन कहिए।
आकुलता शिवमांहि न तातैं शिवमग लाग्यो चहिए॥

इस प्रकार जो जीव संसार और संसारके कारणोंको अहितकारी जानकर उनमें हेयबुद्धिपूर्वक उनसे निवृत्त होता है और मोक्ष तथा मोक्षके कारणोंको हितकारी जानकर उनमें उपादेय बुद्धिपूर्वक प्रवृत्त होता है वही परम अतीन्द्रिय निराकुललक्षण अव्याबाधस्वरूप आत्मसुखका अनन्त काल तक भोक्ता होता है।

किन्तु इसकी प्राप्तिका एकमात्र उपाय आत्मस्वभावका अवलम्बन करना ही है। आचार्य कुन्दकुन्द समयसारमें लिखते हैं—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहइ जीवो।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ॥१८६॥

शुद्ध (परद्रव्य-परभावोंसे भिन्न) आत्माको जानता हुआ जीव शुद्ध ही आत्माको पाता है और अशुद्ध आत्माको जानता हुआ जीव अशुद्ध आत्माको ही पाता है॥१८६॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य जयसेन लिखते है—

जो भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्मसे रहित अनन्त ज्ञानादि गुणस्वरूप शुद्ध आत्माको निर्विकार शुद्धात्मानुभूतिलक्षण भेदज्ञानके द्वारा अनुभवता है वह ज्ञानी जीव है। उक्त जीव उक्त गुणविशिष्ट जैसे आत्माको ध्याता है वैसे ही आत्माको प्राप्त करता है, क्योंकि उपादानके अनुसार ही कार्य होता है ऐसा नियम है। किन्तु इसके विपरीत जो मोह, राग और द्वेषभावपरिणत आत्माको अनुभवता है वह नर, नारक आदिरूप अशुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है। (मूल टीकाके आधारसे)

अतएव कैसे भी आत्मपुरुषार्थको जागृत कर अपने धारावाही ज्ञानके द्वारा जो निश्चल शुद्ध आत्माको प्राप्त कर तिष्ठता है वह परपरिणतिके निरोधस्वरूप उदयको प्राप्त हुए क्रीड़ावनस्थानीय शुद्ध आत्माको ही प्राप्त करता है।

यह निराकुल सुखलक्षण वीतराग विज्ञानघन आत्माको प्राप्त करनेके अनुरूप सम्यक् पुरुपार्थ है। संसारी जीवने अपना प्रधान कर्तव्य समझ कर अन्य सब किया, किन्तु आजतक एकमात्र यह कार्य नहीं किया। जिसे प्रमुखरूपसे इसका भान हो गया है वह संसारकी प्रयोजक अन्य सब समस्याओंको हेय जान उनसे विरत होनेके अनुरूप पुरुपार्थको ही अपना यथार्थ कर्तव्य मानता है। श्रद्धा और कर्तव्यका यह यथार्थ समन्वय है। उसके लिए 'सब कार्य अपने-अपने स्वकालके प्राप्त होने पर ही होते हैं' यह निर्णय आत्महितके कार्यमें बाधक न होकर साधक ही है, क्योंकि विवेकपूर्वक जिसने ऐसा निर्णय किया है वह परके कर्तृत्वके अहंकारसे मुक्त हो आत्मकार्यमें सावधान हुए बिना रह नहीं सकता। ऐसा ही इनका योग है क्योंकि जिसने 'सब कार्य अपने-अपने नियत कालमें होते हैं' ऐसा निर्णय नहीं किया वह परके कर्तृत्वके अहंकारसे मुक्त नहीं हो सकता और जो परके कर्तृत्वके अहंकारसे मुक्त नहीं हो सकता वह परके आश्रयसे होनेवाले विविध प्रकारके

संकल्प-विकल्पोंसे मुक्त नहीं हो सकता और जो परके आश्रयसे होनेवाले विविध प्रकारके संकल्प-विकल्पोंसे मुक्त नहीं हो सकता उसका स्वभावसन्मुख हो आत्मकार्यमें सावधान होना ऐसे ही असम्भव है जैसे बालुसे तेल उत्पन्न करना असम्भव है। अतएव जो पुरुषार्थहीनताका आरोप कर सम्यक् नियतिके सिद्धान्तकी अव-हेलना करता है वह परके कर्तृत्वकी भावनासे आकुलित चित्तवाला होकर यथार्थमें अपने आत्माका ही छेद करता है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। स्पष्ट है कि प्रत्येक व्यक्तिका श्रद्धानुसारी ही कर्तव्य होना चाहिए। वास्तवमें यही इन दोनोंका समन्वय है। इसके विपरीत अन्य प्रकार (परस्पर विरुद्ध मार्ग)से इन दोनोंके समन्वयकी बात सोचना केवलज्ञान, आगम और आगमानुसारी श्रद्धा व ज्ञान इन सबका अपलाप करना है।

१७. एकान्त नियति और सम्यक् नियतिमें अन्तर

अब हम इस बात पर दृष्टिपात करें कि केवलज्ञानमें नियत कार्य और नियत कारणरूपसे जो पदार्थ झलक रहे हैं उनकी जो उसी प्रकार श्रद्धा करते हैं और उसे दृष्टिपथमें रख कर तदनुसार अपने कर्तव्यका निर्णय करते हैं वे क्या एकान्त नियतिवादी हो जाते हैं। एकान्त नियतिवादका क्या तात्पर्य है इसका स्पष्ट-रूपसे विवेचन गोम्मटसार कर्मकाण्ड गा० ८८२, प्राकृत पंचसंग्रह पृष्ठ ५५७ और अमितिगति पंचसंग्रह गाथा ३१२ में किया है। इन तीनों ग्रन्थोंमें इस सम्बन्धमें जो विवेचन उपलब्ध होता है वह समान होनेसे यहाँ मात्र गोम्मटसार कर्मकण्डकी उक्त गाथा दी जाती है। वहाँ एकान्त नियतिवादका निर्देश करते हुए लिखा है—

जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तदा तस्स हवे इदि वादो णियदिवादो दु ॥८८२॥

जो जिस समय जिससे जिस प्रकार जिसके नियमसे होता है वह उस समय उससे उस प्रकार उसके होता है ऐसा कथन एकान्त नियतिवाद है ॥८८२॥

यह एकान्त नियतिवादका स्वरूप है। बाह्य दृष्टिवालोंको स्वा० का० अ० के 'जं जस्स जम्मि देसे' द्वारा तथा पद्मपुराणके 'यत्प्राप्तव्यं यदा' इत्यादि श्लोक द्वारा भी लगभग यही बात कही गई ज्ञात होती है। केवलज्ञानमें झलकनेवाले विषयकी अपेक्षा विचार करने पर भी लगभग यही ज्ञात होता है कि जिस कालमें जिससे जिसका जो होना है वही होगा, अन्य प्रकार नहीं होगा। इस प्रकार इन सब कथनोंमें बाह्य दृष्टि-वालोंको एकरूपता प्रतीत होती है, परन्तु इन सब कथनोंमें एकान्त नियतिवादके स्वरूपको बतलानेवाले गोम्मटसार कर्मकाण्डके उक्त कथनसे जो मौलिक अन्तर है, उसे हमें समझना है। यदि हम शास्त्र (परमागम) के विवेचक बनना चाहते हैं तो हमें भीतर घुस कर उसके रहस्यको भी समझना होगा। अतएव इस अन्तरको स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे तत्काल हम गोम्मटसार कर्मकाण्डके उसी प्रकरणको लेते हैं जिसमें एकान्त नियति-वादका निर्देश किया गया है। उसे दृष्टिपथमें लेने पर विदित होता है कि वहाँ पर केवल एकान्त नियति-वादका ही निर्देश नहीं किया गया है, किन्तु उसके साथ वहाँ एकान्त कालवाद, एकान्त ईश्वरवाद (निमित्त-वाद), एकान्त आत्मवाद और एकान्त स्वभाववादका भी निर्देश किया गया है। एकान्त कालवादका निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है—

कालो सव्वं जणयदि कालो सव्वं विणस्सदे भूदं।
जागत्ति हि सुत्तेसु वि ण सक्कदे वंचिदुं कालो ॥८७९॥

काल ही सबको उत्पन्न करता है और काल ही सबका नाश करता है, सोते हुए प्राणियोंमें काल

ही जागता है। ऐसे कालको ठगनेके लिए कौन समर्थ हो सकता है, इस प्रकार मात्र कालसे सब कार्योंकी उत्पत्ति-नाश मानना यह एकान्त कालवाद है ॥८७९॥

एकान्त ईश्वरवाद (निमित्तवाद) का निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है—

अण्णाणी दु अणीसो अप्पा तस्स य सुहं च दुक्खं च।
सग्गं णिरयं गमणं सव्वं ईसरकयं होदि ॥८८०॥

आत्मा अज्ञानी है, अनीश है। उसके सुख-दुख, स्वर्ग-नरकगमन सब ईश्वरकृत हैं ऐसा वाद एकान्त ईश्वर (निमित्त) वाद है ॥८८०॥

एकान्त आत्मवादका निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है—

एक्को चेव महप्पा पुरिसो देवो य सव्ववावी य।
सव्वंगणिगूढो वि य सचेयणो णिग्गुणो परमो ॥८८१॥

एक ही महात्मा है, वही पुरुष है, वही देव है और सर्वव्यापी है, सर्वांगपने अगम्य है, सचेतन है, निर्गुण है और उत्कृष्ट है। ऐसे आत्मासे सबकी उत्पत्ति मानना एकान्त आत्मवाद है ॥८८१॥

एकान्त नियतिवादका निर्देश पूर्वमें ही कर आये हैं। एकान्त स्वभाववादका निर्देश करते हुए वहाँ बतलाया है—

को करइ कंटयाणं तिक्खत्तं मिय-विहंगमार्दीणं।
विविहत्तं तु सहाओ इदि सव्वं पि य सहाओ त्ति ॥८८३॥

काटोंमें तीक्ष्णपना कौन करता है? मृग और पक्षी आदिमें विविधपना कौन करता है? इस सबका कारण स्वभाव है। इस प्रकार स्वभावसे सबकी उत्पत्ति मानना एकान्त स्वभाववाद है ॥८८३॥

ये पाँच एकान्तवाद हैं। यहाँ आत्मवादका तात्पर्य पुरुषार्थवादसे है। क्रियावादी अर्थात् पूर्वोक्त पाँचमें-से एक-एक कारणसे कार्यकी उत्पत्ति माननेवाले कोई स्वतः, कोई परतः, कोई नित्यपने और कोई अनित्यपने इन कालादि पाँचमेंसे केवल एक एकके द्वारा नो पदार्थों सम्बन्धी कार्यकी उत्पत्ति मानते हैं, इसलिए ये १८० प्रकारके एकान्त क्रियावादी मिथ्यादृष्टि माने गये हैं। प्रकृतमें एकान्त नियतिवादका इसी अर्थमें उल्लेख हुआ है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि एकान्त नियतिवादी वह है जो न तो कालको कारण मानता है, न निमित्तको स्वीकार करता है, न पुरुषार्थको कारण मानता है और न ही स्वभावको कारण मानता है। मात्र नियतिको सर्वस्व मान कर कार्यकी उत्पत्ति मानता है। उसके मतमें कार्यके लिए नियति ही सब कुछ है, अन्य कालादि कुछ नहीं। यह नियतिवादका अर्थ है। पूर्वमें हमने एकान्त क्रियावादियोंके जो १८० भेद गिनाये हैं उनमें एकान्त नियतिवादियोंके ३६ भेद परिगणित किये गये हैं। वे कोई स्वतः, कोई परतः, कोई नित्यपने और कोई अनित्यपने मात्र नियतिसे नौ पदार्थों सम्बन्धी कार्यकी उत्पत्ति मानते है। इसलिए ये ३६ प्रकारके नियतिवादी एकान्ती होनेसे मिथ्यादृष्टि हैं। सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र आदिने इसी अर्थमें एकान्त नियतिवादका निर्देश किया है।

किन्तु जैनदर्शन ऐसे एकान्त नियतिवादको स्वीकार नहीं करता। वह प्रत्येक कार्यमें नियतिको कारणरूपसे स्वीकार करके भी स्वभाव, पुरुषार्थ और काल आदिके साथ ही उसे स्वीकार करता है। इसलिए जैनदर्शनके द्वारा स्वीकार की गई कार्य कारणपरम्परामें अन्य कारणोंके समान नियतिको स्थान होने पर भी एकान्त नियतिवादका प्रसंग उपस्थित नहीं होता। यह मिथ्या नियति और सम्यक् नियतिमें फरक है।

स्वामी कार्तिकेयने अपनी द्वादशानुप्रेक्षामें केवलज्ञानके जाननेकी अपेक्षा और आचार्य रविषेणने पद्मपुराणमें सम्यक् नियतिकी मुख्यतासे जो वर्णन किया है वह नय दृष्टिसे वर्णन होनेके कारण प्रमाणभूत है। यदि विचार कर देखा जाय तो इन आचार्योंने अपने कथनमें देश और काल आदि कारणोंका भी उल्लेख किया है इसलिये उसे केवल नियतिवादका कथन कहना उपयुक्त न होगा। प्राकृत पंचसंग्रह आदिमें एकान्त नियतिवादका जो वर्णन आया है वह उक्त कथनोंसे सर्वथा भिन्न प्रकारका है, क्योंकि उसमें कालादिको न स्वीकार कर मात्र नियतिको ही स्वीकार किया गया है। जैसा कि नियतिवादियोंके पूर्वोक्त ३६ भंगोंसे भली प्रकार विदित होता है, इसलिए वह वर्णन एकान्त आग्रहका सूचक होनेसे अप्रमाणभूत है। यही सम्यक् नियति और मिथ्यानियति इन दोनोंके विवेचनोंमें अन्तर है। अपर पक्ष यदि भविष्यमें इस अन्तरको हृदयसे स्वीकार करले तो वह पक्ष यह लिखनेका साहस कभी नहीं करेगा कि 'श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कोई कार्य नियतक्रमसे होता है और कोई कार्य अनियत क्रमसे होता है।'

हम तो यह समझनेके लिए हैरान हैं कि वह अपने इस वक्तव्य द्वारा क्या कहना चाहता है? (१) क्या वह अपने इस वक्तव्य द्वारा यह कहना चाहता है कि जिस कार्यका जिन हेतुओंसे जिस कालमें होना केवलज्ञानमें झलका है वह कार्य उन हेतुओंसे केवल उस कालमें न होकर अन्य कालमें भी हो सकता है? (२) या क्या वह अपने उस वक्तव्य द्वारा यह कहना चाहता है कि जिस कार्यका जिन हेतुओंसे जिस कालमें होना केवलज्ञानमें झलका है वह कार्य उन हेतुओंसे होता तो उसी कालमें है परन्तु उस कार्यका उस कालमें होना मात्र नियतिपर अवलम्बित न होकर नियति सहित सब कारणोंसे होता है? (३) या क्या वह अपने उस वक्तव्य द्वारा यह कहना चाहता है कि जिस कार्यका जिन हेतुओंसे जिस कालमें होना केवलज्ञानमें झलका है उसका हम अल्पज्ञानियोंको पता न होनेके कारण श्रद्धा तो वैसी ही रखनी चाहिए, किन्तु किन हेतुओंसे किस कालमें कौन कार्य होनेवाला है यह भले प्रकार ज्ञात न होनेके कारण अपनी दृष्टिमें काल, नियति और स्वभाव आदिको मुख्य न कर पुरुषार्थको ओर विशेष ध्यान देना चाहिए? किन्तु अपर पक्षने इन तीन विकल्पोंमेंसे किसे मुख्यकर अपनी प्रतिशंका प्रस्तुत की है इसका उसकी ओरसे कोई सम्यक् स्पष्टीकरण न होनेके कारण यहाँ उन विकल्पोंके आधारसे विचार किया जाता है—

(१) प्रथम विकल्पमें जो यह कहा गया है कि जिस कार्यका जिन हेतुओंसे जिस कालमें होना केवलज्ञानमें झलका है वह कार्य उन हेतुओंसे केवल उस कालमें न होकर अन्य कालमें भी हो सकता है? सो यह कथन केवलज्ञानको न स्वीकार करनेवाला होनेके कारण स्वयं अपनेमें अप्रमाण है, क्योंकि कोई कार्य केवलज्ञानमें प्रतिनियत कालमें प्रतिनियत हेतुओंसे उत्पन्न होता हुआ झलके और श्रुतज्ञानकी अपेक्षा वह उस कालमें न हो यह कैसे हो सकता है? अर्थात् त्रिकालमें नहीं हो सकता। अतएव प्रथम विकल्प स्वयं अपनेमें मिथ्या होनेके कारण उसके आधारसे प्रकृतमें किसी कार्यको क्रम-नियत और किसी कार्यको क्रम-अनियत नहीं ठहराया जा सकता।

(२) दूसरे विकल्पमें जो यह कहा गया है कि जिस कार्यका जिन हेतुओंसे जिस कालमें होना केवलज्ञानमें झलका है वह कार्य उन हेतुओंसे उस कालमें होता हुआ नियति सहित अपने सब कारणोंसे होता है सो इस विकल्पके स्वीकार करने पर तो यही सिद्ध होता है कि सभी कार्य क्रम-नियत होते हैं। ऐसा एक भी कार्य नहीं हो सकता जो अपने नियत क्रमको छोड़कर उत्पन्न हो जाय। अतएव इस आधारपर एक मात्र यही स्वीकार करना चाहिए कि सब कार्य अपने-अपने कालमें होकर भी अपने-अपने प्रतिनियत हेतुओंसे ही

होते हैं। साथ ही उस-उस कालमें उन-उन कार्योंके अपने-अपने प्रतिनियत हेतु ही उपस्थित रहते है और उनसे उस-उस कालमें प्रतिनियत कार्य ही होते हैं, अन्य कार्य नहीं उत्पन्न होते।

(३) तीसरा विकल्प दूसरे विकल्पसे कुछ भिन्न नहीं है। मात्र इसमें पुरुषार्थकी मुख्यता कही गई है। सो यह उचित ही है। किन्तु समग्र जिनागमका तात्पर्य वीतरागता है और उसे प्राप्त करनेका उपाय है आत्मकार्यमें सावधान होना। इसीलिए परमागममें स्वभावसन्मुख होकर उसे प्राप्त करनेका प्रमुखतासे उपदेश दिया गया है।

यहाँ पर कोई प्रश्न करता है कि जब कि आप काललब्धि और भवितव्यकी बात करते हो तब उसमें पुरुषार्थकी बात कहाँ रहती है? समाधान यह है कि परमागममे एक कार्य अनेक कारणसाध्य बतलाया है, सो जहाँ मोक्षका उपाय बनता है वहाँ तो सभी कारण मिलते हैं और जहाँ मोक्षका उपाय नहीं बनता है वहाँ उसके सभी कारण नहीं मिलते हैं। यहाँ जो काललब्धि और भवितव्य कही है सो जिस समय विवक्षित कार्य होता है वही उसकी काललब्धि है और उस कार्यका होना ही भवितव्य है। तथा जो कर्मका उपशमादिक है वह पुद्गल कर्मकी अवस्थाविशेष है। उसका आत्मा कर्ता-हर्ता नहीं। तथा पुरुषार्थपूर्वक जो उद्यम किया जाता है सो वह आत्माका कार्य है, इसलिए आत्माको पुरुषार्थपूर्वक उद्यम करनेका उपदेश दिया जाता है।

नियम यह है कि जिस कारणसे कार्यसिद्धि नियमसे होती है उस रूप यदि यह आत्मा उद्यम करता है तो अन्य कारण मिलते ही हैं और कार्यकी सिद्धि भी होती है। सो परमागममें जो मोक्षका उपाय कहा है उससे मोक्षकी प्राप्ति नियमसे होती है, इसलिए जो जीव पुरुषार्थपूर्वक जिनेश्वरके उपदेशके अनुसार मोक्षका उपाय करते हैं उनके उसके अनुरूप काललब्धि और भवितव्य दोनों हैं। साथ ही वहाँ कर्मका उपशमादिक भी है, तभी तो यह जीव ऐसा उपाय करता है। इसलिए जो पुरुषार्थ पूर्वक मोक्षका उपाय करते हैं उन्हें बाह्याभ्यन्तर सब कारणोंकी युगपत् प्राप्ति होती है ऐसा निश्चय करना ही यहाँ उपादेय है। साथ ही उन्हें मोक्षकी प्राप्ति भी नियमसे होती है।

किन्तु जो जीव पुरुषार्थपूर्वक मोक्षका उपाय नहीं करते हैं उनके उसकी काललब्धि और भवितव्य भी नहीं है। साथ ही उनके कर्मका उपशमादिक भी नहीं हुआ है। यही कारण है कि वे मोक्षके उपायमें सन्नद्ध नहीं हो पाते। इसलिए जो पुरुषार्थपूर्वक मोक्षका उपाय नहीं करते हैं उन्हें मोक्षके कोई कारण नहीं मिलते और मोक्षकी प्राप्ति भी नहीं होती।

यहाँ कोई कहता है कि उपदेश तो सब सुनते है। उनमेंसे कोई मोक्षका उपाय कर पाते और कोई नहीं कर पाते सो इसका क्या कारण है? समाधान यह है कि जो उपदेश सुनकर पुरुषार्थ करते हैं वे तो मोक्षका उपाय कर सकते है और जो पुरुषार्थ नहीं करते हैं वे मोक्षका उपाय नहीं कर पाते। उपदेश तो शिक्षामात्र है। फल जैसा पुरुषार्थ करता है वैसा मिलता है।

यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि जो द्रव्यलिंगी मुनि मोक्षके लिए गृहस्थपना छोड़ कर तपश्चरणादि करते है सो यहाँ पुरुषार्थ तो किया परन्तु कार्य सिद्ध न हुआ, इसलिए पुरुषार्थ करना भी कार्यकारी नहीं है? समाधान यह है कि अन्यथा पुरुषार्थ करनेमें तो इष्ट फलकी सिद्धि होता नहीं। तपश्चरणादि व्यवहार साधनमें अनुरागी होकर प्रवर्तनेका फल तो जिनागममें शुभबन्ध कहा है और यह जीव इससे मोक्ष चाहता है सो इससे मोक्षकी सिद्धि कैसे हो सकती है। यह तो भ्रममात्र है।

यदि कोई कहे कि भ्रमका भी तो कारण कर्म ही है, यह जीव पुरुषार्थ कैसे कर सकता है? समाधान यह है कि यथार्थ उपदेशको ग्रहण कर निर्णय करने पर भ्रम दूर हो जाता है। सो यह जीव

ऐसा पुरुषार्थ नहीं करता है, इसलिए भ्रम बना रहता है। निर्णय करनेका पुरुषार्थ करे तो भ्रमका बाह्य कारण जो मोहकर्म है उसका भी उपशमादिक हो जाता है। और तब भ्रम भी दूर हो जाता है। क्योंकि निर्णय करनेवालेके परिणामोंमें विशुद्धता होनेसे मोह कर्मका स्थिति अनुभाग स्वयमेव घट जाता है।

यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि यह जीव निर्णय करनेमें भी उपयोगको नहीं लगाता है सो उसका कारण भी तो कर्म है ? समाधान यह है कि एकेन्द्रियादिकके तो विचार करनेकी शक्ति नहीं है, उनके बाह्य कारण तो कर्म है। परन्तु इस जीवके तो ज्ञानावरणादिकका क्षयोपशम होनेसे निर्णय करनेकी शक्ति प्रगट हुई है, इसलिए जहाँ उपयोगको लगायगा उसका निर्णय हो सकता है। परन्तु यह अन्यका निर्णय करनेमें उपयोग लगाता है, यहाँ नहीं लगता है, सो यह तो इसीका दोष है, इसमें कर्मका कुछ प्रयोजन नहीं है।

यहाँ कोई कहता है कि सम्यक्त्व और चारित्रका तो घातक मोह है। उसका अभाव हुए बिना मोक्षका उपाय कैसे बन सकता है ? समाधान यह है कि तत्त्वनिर्णय करनेमें उपयोगको नहीं लगाना यह तो इसीका दोष है। यदि पुरुषार्थपूर्वक तत्त्वनिर्णय करनेमें उपयोगको लगाता है तो स्वयमेव मोहका अभाव होनेपर सम्यक्त्वादिरूप मोक्षके उपायका पुरुषार्थ बन जाता है। इसलिए मुख्यरूपसे तो तत्त्वनिर्णय करनेमें उपयोगको लगानेका पुरुषार्थ करना चाहिए। उपदेश भी दिया जाता है सो इसी पुरुषार्थके करानेके लिए दिया जाता है।

—मोक्षमार्गप्रकाशकके आधारसे

इस प्रकार प्रकृत प्रश्नपर विचार करनेपर यही ज्ञात होता है कि जिस प्रकार केवलज्ञान उनका ज्ञाता-दृष्टा है उसी प्रकार श्रुतज्ञान भी आगमानुसार उनका ज्ञाता-दृष्टा है। वस्तु-स्वभाव और तदनुसार कार्य-कारणपरम्परामें केवलज्ञानके समान श्रुतज्ञानका अन्य प्रयोजन नहीं है। तटस्थभावसे वे दोनों ज्ञाता-दृष्टामात्र हैं। अतएव प्रत्येक कार्य स्वभाव आदि पाँचके समवायमें होता है ऐसा यहाँ निर्णय करना चाहिए क्योंकि जो प्रत्येक कार्यमें सम्यक् नियतिको स्वीकार करता है वह पाँचोंको युगपत् स्वीकार करता है। किसी भी कार्यके प्रति इनमेंसे किसी एककी स्वीकृतिमें जहाँ एकान्तका आग्रह है वहाँ इन सबकी स्वीकृतिमें अनेकान्तका प्रकाशपुंज दृष्टिगोचर होता है। जैनदर्शनके अनुसार कार्य-कारणभावमें अनुपचरित-उपचरितरूपसे ऐसे ही अनेकान्तको स्थान मिला हुआ है। इस प्रकार एकान्तनियति और सम्यक् नियतिमें क्या अन्तर है इसका सांगोपांग विचार किया।

१८. उपादान विचार

हम अनेक स्थानोंपर उपादानका 'अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यको उपादान कहते हैं' यह लक्षण लिख आये हैं और अपने इस कथनकी पुष्टिमें अष्टसहस्री टिप्पण, प्रमेयकमलमार्तण्ड और तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदिके प्रमाण भी उपस्थित कर आये हैं, किन्तु अपर पक्ष समझता है कि हमने इस लक्षणका उपयोग अपने गलत अभिप्रायकी पुष्टिमें किया है। उसने अपने इस अभिप्रायके समर्थनमें स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें आये हुए उपादानके लक्षणको उद्धृतकर उसका जो अर्थ किया है वह यहाँ दिया जाता है—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं च्चिय कज्जं हवे णियमा॥ २२२ व २३०॥

द्रव्य अपने पूर्ण परिणामकी अवस्थामें कारणरूपसे रहता है और जब वह उत्तर परिणाममे युक्त हो जाता है तब वह नियमसे कार्यरूप हो जाता है ॥ २२२ व २३० ॥

यह अपर पक्षद्वारा किया गया उक्त गाथाका अर्थ है। इसका सही अर्थ इस प्रकार है—

अनन्तर पूर्व परिणामसे युक्त द्रव्य नियमसे कारण रूपसे वर्तता है और अनन्तर उत्तर परिणामसे युक्त वही द्रव्य नियमसे कार्य होता है ॥ २२२ व २३० ॥

इसके संस्कृत टीकाकारने भी वही अर्थ किया है जिसे हमने पूर्वमें दिया है। प्रकृतमें उपयोगी टीकाका वह अंश इस प्रकार है—

द्रव्यं जीवादिवस्तु पूर्वपरिणामयुक्तं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभावेन उपादानकारणत्वेन वर्त्तते।

अब हम इन दोनों अर्थोंमें अन्तर क्या है इसपर सर्वप्रथम विचार करते हैं—

गाथाके पूर्वार्द्धका अन्वय इस प्रकार होता है—**पुव्वपरिणामजुत्तं दव्वं कारणभावेण वट्टदे।** इसका शब्दार्थ है—पूर्व परिणामसे युक्तद्रव्य कारण भावसे वर्तता है।

हमने गाथाके पूर्वार्द्धका यही अर्थ किया है। मात्र गाथाके उत्तरार्धमें पठित 'उत्तर' पदको ध्यानमें रखकर तथा इसकी अगली गाथामें आये हुए कार्यकारणभावके निरूपणको भी लक्ष्यमें रखकर और अन्यत्र प्ररूपित उपादानके लक्षणको भी ध्यानमें रखकर गाथाके अर्थके प्रारंभमें 'अनन्तरपद' और जोड़ा है! यहाँ गाथाका 'पुव्वपरिणामजुत्तं' पद 'दव्वं' पदका विशेषण है। कैसा द्रव्य उपादानसंज्ञाको प्राप्त होता है ऐसी जिज्ञासा होनेपर गाथामें स्पष्टरूपसे बतलाया गया है कि पूर्व (अनन्तर पूर्व) पर्यायसे युक्त द्रव्य उपादान संज्ञाको प्राप्त होता है। यह निश्चय उपादानका स्वरूप है।

किन्तु अपर पक्षको यह अर्थ इसलिए इष्ट नहीं है, क्योंकि उपादानके उक्त प्रकारके अर्थपरक लक्षणको स्वीकार करनेपर उसके सामने सभी कार्योंको क्रमनियत माननेका प्रसंग उपस्थित होता है, इसलिए उस पक्षकी ओरसे इस गाथाके पूर्वार्धके अर्थको बदलकर उसका इच्छानुसार पूर्वोक्त प्रकारसे कल्पित अर्थ किया गया है, गाथाके पूर्वार्धका प्रथम चरण है—'**पुव्वपरिणामजुत्त**।' इसका सीधा अर्थ है—'पूर्व परिणामसे युक्त।' किन्तु इसके स्थानमें अपर पक्षने इसका अर्थ किया है—'अपने पूर्व परिणामकी अवस्थामें।'

यह है अपर पक्षकी ओरसे किये गये अर्थ परिवर्तनका एक प्रकार। अन्यत्र भी अपर पक्षने जो मूल वाक्योंके अर्थ बदले हैं वे भी यथास्थान देखनेको मिलेंगे।

स्वामी कार्तिकेयने उक्त गाथा दो बार निबद्ध की है। प्रथम बार इस गाथाको निबद्ध करनेके बाद इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं—

कारण-कज्जविसेसा तीसु वि कालेसु हुंति वत्थूणं।
एक्केक्कम्मि य समए पुव्वुत्तरभावमासिज्ज ॥ २२३ ॥

वस्तुओंके पूर्व और उत्तर परिणामोंको लेकर तीनों ही कालोंके प्रत्येक समयमें कारण-कार्यभाव होता है ॥ २२३ ॥

इस वचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अनन्तर पूर्व पर्याय युक्त द्रव्यका नाम ही उपादानकारण है। अतः अपर पक्षने पूर्व पर्यायकी अवस्थामें जो मात्र द्रव्यको उपादान कारण कहा है, उसका वह कहना ठीक नहीं है।

यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि गाथा २२२ में तो पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यको ही उपादानकारण कहा है, इसलिए पूर्व पर्याय' पदसे केवल 'अनन्तर पूर्व पर्यायको' ही ग्रहण नहीं करना चाहिए। अपर पक्षने अपनी प्रतिशंका ३ में इस बातको ध्यानमें रखकर ऐसा निर्देश किया भी है। सो इसका समाधान यह है कि कोई भी द्रव्य एक समयमें एक ही पर्यायसे युक्त होता है, इसलिए कार्य होनेके पूर्व जिस पर्यायसे युक्त द्रव्य उपलब्ध होता है उसी पर्यायसे युक्त द्रव्य वास्तवमें उत्तर पर्याय युक्त द्रव्यका कारण हो सकता है, अन्य नहीं। यद्यपि आगममें स्थूल पर्यायोंकी अपेक्षा भी कारण-कार्यका कथन उपलब्ध होता है पर वह व्यवहार (उपचार) कथन है। निश्चय कथन तो यही है कि अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य उपादान कारण है और अनन्तर उत्तर पर्याययुक्त द्रव्य कार्य है। इस प्रकार प्रत्येक समयमें उस उस पर्यायसे युक्त द्रव्य कारण भी है और कार्य भी है। अनन्तर पूर्व पर्यायकी अपेक्षा विचार करने पर कार्य है और अनन्तर उत्तर पर्यायकी अपेक्षा विचार करनेपर कारण है। हमें प्रसन्नता है कि अपर पक्षने उपादानके इस लक्षणको प्रारम्भमें किसी न किसी रूपमें स्वीकार कर लिया है। साथ ही उस पक्षकी ओरसे इस लक्षण-परक गाथाके पूर्वार्धका जो अर्थ किया गया है उस पर भी वह स्थिर न रह सका और उपादानके इस लक्षण परक गाथाके पूर्वार्धका जो अर्थ संस्कृत टीकाकारने तथा हमने किया है उसे भी अपने व्याख्यानके प्रसंगसे स्वीकार कर लिया है।

१९. कार्यका नियामक उपादान कारण होता है

अब उस पक्षको विवाद कहाँ है इस बात पर दृष्टिपात करते हैं। उस पक्षका कहना है कि उपादान कारणसे जो कार्य होता है वह क्या हो इसकी नियामक निमित्तसामग्री है, उपादान कारण नहीं। अपने इस अभिप्रायकी पुष्टिमें उसका कहना है—

'परन्तु वह एक उत्तर पर्याय किस रूपमें होगी ? इसकी नियामक आगमके अनुसार निमित्त सामग्री है। जैसे चनेको खप्परमें डालकर अग्निके जरिये भूना भी जा सकता है और बटलोईमें उबलते हुए पानीमें डालकर उसी चनेको उसी अग्निके द्वारा पकाया भी जा सकता है। लेकिन आप ऐसा माननेके लिए तैयार नहीं है। आपकी मान्यता तो इस विषयमें मात्र इतनी ही है कि पूर्व पर्यायके बाद एक नियत ही उत्तर पर्याय होगी। परन्तु इस पर हमारा कहना यह है कि आपकी मान्यतामें पूर्व पर्यायके बाद एक नियत उत्तर पर्यायके होनेका नियामक कौन होगा ? यदि कहा जाय कि गाथामें भी 'णियमा' पद पड़ा हुआ है उससे ही सिद्ध होता है कि पूर्व पर्याय ही उत्तर पर्यायकी नियामक हो जाती है, क्योंकि वह 'णियमा' पद उस पूर्व पर्यायके अनन्तर दो आदि पर्यायोंमेंसे एक पर्याय होगी इसका विरोधक ही है तो इसपर भी हमारा कहना यह है कि गाथामें पठित 'णियमा' पद किसी एक निश्चित पर्यायकी सूचना देनेके लिए नहीं है। उससे तो केवल इतनी ही बात जानी जा सकती है कि पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य कारण कहलाती है और उत्तर पर्याय विशिष्ट वस्तु नियमसे कार्य कहलाती है, फिर भले ही उत्तर पर्याय किसी रूपमें क्यों न हो। इस तरह पूर्व पर्यायके बाद जो भी उत्तर पर्याय होगी वह नियमसे उस पूर्व पर्यायका कार्य होगी।'

यह अपर पक्षके वक्तव्यका कुछ अंश है। आगे अपने इस वक्तव्यकी पुष्टिमें उसकी ओरसे जो कहा गया है उसका कुछ आवश्यक अंश इस प्रकार है—

'इस प्रकार यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि कार्यसे अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायमें उपादान कारणभूत वस्तुके विद्यमान रहते हुए भी यदि विवक्षित कार्यके अनुकूल अन्य कारणोंकी अविकलता

(पूर्णता) विद्यमान नहीं होगी तो उस समय वहाँपर उस उपादानसे विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति कदापि नहीं होगी फिर तो जिस कार्यके अनुकूल अन्य कारणोंकी पूर्णता वहाँ विद्यमान होगी उसके अनुसार ही कार्य निष्पन्न होगा। यदि आप कहें कि होगा तो वही जो केवलज्ञानमें झलका होगा। तो इस पर हमारा कहना यह है कि बेचारे श्रुतज्ञानीको क्या मालूम कि केवलज्ञानीके ज्ञानमें क्या झलका है। इसलिए जो कुछ होता है उसकी दृष्टिमें कार्य-कारणभावके आधार पर ही होता है कार्योत्पत्तिके विषयमें इससे अधिक वह सोच ही तो नहीं सकता है।'

आगे अपने विषयको और भी स्पष्ट करते हुए अपर पक्षने लिखा है—

'इसलिए यह बात तो ठीक है कि पूर्वकी क्रोधरूप पर्याय विशिष्ट जीव आगे अव्यवहित उत्तर-क्षणमें उत्पन्न होनेवाली अपनी पर्यायका उपादान कारण है परन्तु श्रुतज्ञानीकी दृष्टिमें यह नियम नहीं बन सकता है कि उत्तर क्षणमें उस पूर्वकी क्रोध पर्याय विशिष्ट जीवके क्रोधरूप, मानरूप, मायारूप और लोभरूप पर्यायोंमेंसे अमुक पर्याय ही होना चाहिए अर्थात् चूँकि वस्तु परिणमनस्वभाववाली होती है अतः क्रोधरूप पूर्व पर्याय विशिष्ट उस जीवका उत्तर क्षणमें परिणमन तो अवश्यंभावी है, परन्तु क्रोधरूप, मानरूप, मायारूप और लोभरूप परिणमनोंमेंसे कौनसा परिणमन होगा यह बात अन्य अनुकूल बाह्य सामग्रीपर ही निर्भर है। यानें जीवकी पूर्व पर्यायमें क्रोधरूपता है वह क्रोधरूपता जीवके अपने स्वतःसिद्ध स्वभावरूपसे नहीं है। अपने स्वतःसिद्ध स्वभावरूपसे तो केवल पर्यायरूपता ही है, क्योंकि जीवका उसका अपना स्वतःसिद्ध स्वभाव केवल परिणमनशीलता ही है क्रोधादि रूप परिणमनशीलता उसका अपना स्वतःसिद्ध स्वभाव नहीं है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि जीवकी अपनी पर्यायमें जो क्रोधादिरूपता पाई जाती है वह क्रोधादिरूपता पौद्गलिक क्रोधादि कर्मोंके उदयके निमित्तसे ही पाई जाती है।'

ये अपर पक्षकी ओर निमित्तके अनुसार कार्य होता है इस आशयको स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे अपनी प्रतिशंका ३ में जो वक्तव्य लिपिबद्ध किया गया है उसके कुछ अंश हैं। आगे इनके आधारसे विचार करते हैं—

: १ :

इन उल्लेखोंमेंसे सर्व प्रथम 'कार्यका नियामक कौन' यह विचारणीय है। अपर पक्षका कहना है कि कार्यका नियामक निमित्त सामग्री होती है, उपादान नहीं। और हमारा कहना है कि कार्यका नियामक होता तो उपादान कारण ही है। मात्र प्रत्येक उपादानसे कार्य होते समय अन्य जो बाह्य सामग्री उसके होनेमें निमित्त होती है उससे हम यह जानते हैं कि इस समय इस उपादानसे इस सामग्रीको निमित्त कर यह कार्य हुआ है। जैसे—उड़दके जलयुक्त बटलोईमें अग्नि संयोगको निमित्तकर पकने पर बहुतसे उड़द जल्दी पक जाते हैं, बहुतसे उड़द कुछ देरमें पकते हैं और कुछ उड़द ऐसे भी होते हैं जो पकते ही नहीं। साथ ही कुछ उड़द ऐसे भी होते हैं जो बटलोईमें डालते समय जमीन पर गिर जाते हैं। उनमेंसे कुछ उड़द तो ऐसे होते हैं जिन्हें उठाकर बटलोईमें डाल दिया जाता है और कुछ उड़द ऐसे भी होते हैं जो जमीन पर ही पड़े रह जाते हैं। ऐसा क्यों होता है? पकानेवाला तो उन सबको पकाना चाहता है। उनमेंसे कोई गिर न जाये और सब पक जाएँ इसके लिये वह पूरा ध्यान भी रखता है। फिर भी यह विचित्रता होती है। अग्निके संयोगमें भी किसी प्रकारका पक्षपात नहीं किया जाता है। अग्निका संयोग होनेपर सब उड़द नीचे-ऊपर होते हुए खुद-बुद, खुद-बुद चुरने भी लगते हैं। फिर भी उनके चुरनेमें विचित्रता देखी जाती है। सो

क्यों ? इससे स्पष्ट विदित होता है कि बाह्य संयोग लाख हो पर कार्य होता है उपादानके अनुसार ही। अपर पक्ष द्वारा माने हुए श्रुतज्ञानी जीवको आन्तर उपादानशक्तिका भान नहीं, इसलिये वह अपनी मिथ्या कल्पनावश भले ही यह मानता रहे कि कार्यकी नियामक निमित्त सामग्री होती है। किन्तु जैसा कि पूर्वोक्त उदाहरणसे स्पष्ट है, वस्तुतः कार्यका नियामक उपादान कारण ही होता है, निमित्त सामग्री नहीं। व्यवहार नयसे निमित्त सामग्रीको नियामक कहना दूसरी बात है।

अब प्रकृत विषयकी पुष्टिमें दूसरा उदाहरण लीजिए—कुछ चरम-शरीरी समवसरणमें जाते हैं। वे सब तद्भव मोक्षगामी हैं। उनके लिये समवसरण आदिका योग प्राप्त है और हैं वे सब बालब्रह्मचारी। समवसरणमें ऐसी कोई प्रतिबन्धक बाह्य सामग्री भी नहीं है जिसके कारण यह कहा जाय कि वे मुनिधर्म स्वीकार करनेमें असमर्थ हैं। ऐसी उत्तम बाह्य अनुकूलता उन्हें मिली हुई है। फिर भी वे सब एक साथ मुनिधर्म स्वीकार नहीं करते। सो क्यों? ऐसा क्यों होता है कि उनमेंसे कोई सम्यग्दृष्टि बनता है, कोई देशव्रती बनता है और कोई महाव्रती। ऐसा क्यों होता है? मोक्ष जानेकी योग्यता सबमें है। वे सब तद्भव मोक्षगामी भी हैं। सबको साक्षात् जिनदेवका सानिध्य, उपदेश लाभ आदि अनुकूल सब बाह्य सामग्री भी मिली हुई है, प्रतिकूल सामग्री कुछ भी नहीं है। फिर भी उनमें यह भेद दृष्टिगोचर होता है। सो क्यों? इससे विदित होता है कि जिसका जिस कालमें जैसा उपादान होता है, कार्य उसीके अनुसार होता है। बाह्य-सामग्री तो उसमें धर्मादि द्रव्योंके समान निमित्तमात्र है। यही कारण है कि आचार्य पूज्यपादने अपने इष्टोपदेशमें अन्य सब बाह्य-सामग्रीको गति आदिमें धर्मादि द्रव्योंके समान निमित्तमात्र स्वीकार किया है।

यहाँपर अपर पक्षकी ओरसे यह कहा जाना ठीक नहीं है कि जिसके जैसे कर्मका उदय, उपशम, क्षयोपशम या क्षय होता है, कार्य उसके अनुसार होता है, उपादानके अनुसार नहीं, क्योंकि अपर पक्षके मतानुसार कर्मका उदयादि भी तो जब अपने उपादानपर निर्भर नहीं है। वह भी जब निमित्त सामग्रीके अनुसार होता है तो ऐसी अवस्थामें समवसरणादि बाह्य-सामग्रीके मिलनेपर सबके एकसा कर्मका उदयादि क्यों नहीं हो जाता? उन जीवोंके कर्मके उदयादिमें अन्तर क्यों बना रहता है। क्या इससे यह सिद्ध नहीं होता कि प्रत्येक द्रव्यका प्रत्येक समयमें जो परिणमन होता है वह अपने-अपने उपादानके अनुसार होकर भी स्वयं ही होता है। हाँ, इतना अवश्य ही होता है कि जब प्रत्येक उपादान अपने-अपने कार्यके सन्मुख होता है तब व्यवहारसे उसके अनुकूल बाह्य सामग्री विस्रसा या प्रयोगसे मिलती ही है। इनका ऐसा ही योग है। यही कारण है कि तथ्यका विवेचन करते समय सभी आचार्योंने एक स्वरसे यह स्वीकार किया है कि 'कार्यमें बाह्य सामग्री तो व्यवहारसे निमित्तमात्र है' इसी बातको स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० ५, सूत्र २० में लिखते हैं—

अत्रोपग्रहवचनं सद्वेद्यादिकर्मणां सुखाद्युत्पत्तौ निमित्तमात्रत्वेनानुग्राहकत्वप्रतिपत्त्यर्थम्, परिणामकारणं जीवः सुखादीनां, तस्यैव तथ्यपरिणामात्।

सातावेदनीय आदि कर्म सुखादिककी उत्पत्तिमें निमित्तमात्र होनेसे अनुग्राहक हैं इस बातका ज्ञान करानेके लिये सूत्रमें उपग्रह वचन दिया है। वास्तवमें सुखादिकरूप परिणामका कारण जीव है, क्योंकि उसीके सुखादिकरूप परिणाम होता है।

उपादान कारण ही समर्थ कारण है। वह अन्त्य क्षणको प्राप्त होकर सम्पूर्ण इस संज्ञाको प्राप्त होता है इस बातका निर्देश करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७० में लिखा है—

विवक्षितस्वकार्यकरणेऽन्त्यक्षणप्राप्तत्वं हि सम्पूर्णम्।

विवक्षित अपना कार्य करनेमें अन्त्य क्षणको प्राप्त होना ही उपादानकी परिपूर्णता है।

इसलिये उपादानके वास्तविक स्वरूपपर विशेष प्रकाश डालते हुए अष्टसहस्री पृ० २१० में लिखते हैं—

तन्तुद्रव्यं हि प्राच्यापटाकारपरित्यागेन तन्तुत्वापरित्यागेन चापूर्वपटाकारतया परिणमदुपलभ्यते पटाकारस्तु पूर्वाकारात् व्यतिरिक्त इति सिद्धं, सर्वथा त्यक्तरूपस्यापूर्वरूपवर्तिन एवोपादानत्वायोगादपरित्यक्तात्मपूर्वरूपवर्तिवत् तथा प्रतीतेः, द्रव्यभावप्रत्ययोत्पत्तिनिबन्धनत्वादुपादानोपादेयभावस्य। भावप्रत्यासत्तिमात्रात्तद्भावे समानाकाराणामखिलार्थानां तत्प्रसङ्गात्, कालप्रत्यासत्तेस्तद्भावे पूर्वोत्तरसमनन्तरक्षणवर्तिनामशेषार्थानां तत्प्रसक्तेः, देशप्रत्यासत्तेस्तद्भावे समानदेशानामशेषतस्तद्भावापत्तेः, सद्द्रव्यत्वादिसाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तेरपि तद्भावानियमात्। असाधारणद्रव्यप्रत्यासत्तिः पूर्वाकारभावविशेषप्रत्यासत्तिरेव च निबन्धनमुपादानत्वस्य स्वोपादेयं परिणामं प्रति निश्चीयते।

तन्तुद्रव्य पहलेके अपटाकारका त्यागकर और तन्तुत्व सामान्यका त्याग न कर अपूर्व पटाकार रूपसे परिणमन करता हुआ उपलब्ध होता है। इससे पटाकार पहलेके आकारसे भिन्न ही है यह सिद्ध होता है, क्योंकि सर्वथा त्यक्त रूप होकर अपूर्व रूपवर्ति ही उपादान नहीं हो सकता। जैसे कि अपने पूर्वरूपको छोड़े बिना उपादान नहीं होता, क्योंकि वैसी प्रतीति नहीं होती। कारण कि जिसमें द्रव्य और भावकी प्रत्यासत्ति है उसीमें उपादान-उपादेय भाव बन सकता है ऐसा नियम है। भावप्रत्यासत्ति मात्रसे उपादान-उपादेय भावके स्वीकार करने पर सामान आकारवाले समस्त पदार्थोंमें उपादान-उपादेय भावका प्रसंग आता है, काल प्रत्यासत्ति मात्रसे उपादान-उपादेय भावके स्वीकार करने पर पूर्वोत्तर समनन्तर क्षणवर्ती समस्त पदार्थोंमें उपादान-उपादेय भावका प्रसंग आता है, देश प्रत्यासक्तिमात्रसे उपादान-उपादेय भावके स्वीकार करनेपर समान देशवाले समस्त पदार्थोंमें पूरी तरहसे उपादान-उपादेय भावकी आपत्ति प्राप्त होती है। सत्त्व, द्रव्यत्व आदिरूप साधारण द्रव्य प्रत्यासत्तिके कारण भी उपादान-उपादेय भावका नियम नहीं बन सकता। अतएव **असाधारण द्रव्य प्रत्यासत्ति और पूर्वाकारभाव-विशेषरूप भाव प्रत्यासत्ति ही अपने उपादेयरूप परिणामके प्रति उपादानपनेका हेतु है ऐसा निश्चय होता है।**

यह आगमवचन है। इसमें उपादानका यथार्थ स्वरूप क्या है इस बातको चारों ओरसे बाँध कर बतलाया गया है। इसमें यह स्पष्ट रूपसे स्वीकार किया गया है कि कार्य द्रव्यके साथ जिसकी असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्ति और पूर्वाकार भावविशेषरूप भावप्रत्यासत्ति उपलब्ध होती है वही उस कार्यका उपादान हो सकता है। यहाँ पर असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्तिसे तात्पर्य जीवादि प्रत्येक द्रव्यसे है। जिस द्रव्यका जो कार्य है वह उसीमें होता है यह उक्त कथनका भाव है। तथा पूर्वाकार भावविशेषरूप भावप्रत्यासत्तिसे तात्पर्य कार्यके अनन्तर पूर्ववर्ती भावविशेषसे है। द्रव्यमें सत्त्व, द्रव्यत्व, आदि अन्य सामान्य शक्तियाँ भले ही रहा करें पर मात्र ये सामान्य शक्तियाँ उपादान-उपादेय भावके लिए कारण नहीं हैं। इस प्रकार प्रत्येक उपादान अपने उपादेयका नियमसे नियामक होता है इस बातको ध्यानमें रखकर स्वामी समन्तभद्रने आप्तमीमांसा कारिका ४२ में 'सोपादाननियामो भूत्' यह वचन कहा है। इस विषयकी विशेष जानकारीके लिए अष्टशती समन्वित अष्टसहस्री पृ० १८९-१९० का पाठ विशेष रूपसे द्रष्टव्य है। इस विषयका उपसंहार करते हुए भट्टाकलंकदेव और आचार्य विद्यानन्दि अपनी अष्टशती और अष्टसहस्री पृ० १९० में लिखते हैं—

कथञ्चिदाहितविशेषतन्तूनां पटस्वभावप्रतिलम्भोपलम्भात् तदन्यतरविधि-प्रतिषेधनियमनिमित्तास्यताऽऽत् । प्रतीतेरलमपलापेन । न हि तन्तुतद्विशेषयोरन्यतरस्य विधौ निषेधे च नियमनिमित्तमस्ति । न हि तन्तव एवातानादिविशेषनिरपेक्षाः पटस्वभावं प्रतिलभमानाः समुपलभ्यन्ते, येन तन्तुमात्रस्यैव विधिनियमो विशेषप्रतिषेध नियमो वा स्यात् । नापि तन्तुनिरपेक्षो विशेष एव पटस्वभावं स्वीकुर्वन्नुपलभ्यते, यतो विशेषविधिनियमस्तन्तुप्रतिषेधनियमो वावतिष्ठेत । न चोपलब्ध्यनुपलब्धी मुक्त्वान्यन्निमित्तं तद्विधिप्रतिषेधयोर्नियमेऽस्ति येन तदन्यर्येऽपि तदुभयप्रतीतेरपलापः शोभेत ।

कथंचित् आतान-वितानरूपसे अवस्थित विशेष तन्तुओंमें पटस्वभावकी प्राप्ति उपलब्ध होती है, क्योंकि तदन्यतर विधिनियम और तदन्यतर प्रतिषेधनियमरूप निमित्तका अभाव है । इसलिए प्रतीतिके अपलापसे क्या लाभ । तन्तु और उनके विशेष (पर्याय) इनमेंसे किसी एककी विधि और दूसरेके निषेधमें नियम निमित्तता नहीं बनती । आतानादि विशेष निरपेक्ष केवल तन्तु ही पटस्वभावको प्राप्त करते हुए नहीं उपलब्ध होते हैं, जिससे कि एक वस्तुमें तन्तुसामान्यका ही विधिनियम अथवा आतानादि विशेषका प्रतिषेध नियम बने । इसी प्रकार तन्तु निरपेक्ष आतानादि विशेष ही पटस्वभावको स्वीकार करता हुआ नहीं उपलब्ध होता है जिससे कि एक वस्तुमें विशेष विधिनियम अथवा तन्तु प्रतिषेध नियम बने । और उपलब्धि तथा अनुपलब्धिको छोड़कर तन्तु सामान्य और तन्तु विशेषके विधि तथा प्रतिषेधके नियममें अन्य कोई निमित्त नहीं है, जिससे कि उनके अभावमें भी उन दोनोंकी प्रतीतिका अपलाप शोभाको प्राप्त होवे ।

यह आगम प्रमाण है । इससे यह बात बहुत अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है कि प्रत्येक कार्यमें उसका उपादान कारण ही नियामक होता है, जो निश्चय कथन होनेसे परमार्थरूप है । निमित्त सामग्रीको नियामक मानना व्यवहार कथन है । परन्तु श्रुतज्ञानी जीव अपने अल्पज्ञानके कारण प्रत्येक समयके कार्यका कौन उपादान और कौन निमित्त है इसका ठीक निर्णय नही कर सकते । इसलिए वे प्रायः व्यवहारका अवलम्बन लेकर प्रवृत्ति करते हैं । विवक्षित कार्यके अनुकूल प्रयोगसे या विस्रसा बाह्य सामग्रीके मिलने पर भी जो विवक्षित कार्य नहीं होता और निराश होना पड़ता है, उसका कारण भी यही है, किन्तु आगममें कार्यकारण भावको व्यवहार कथनोका उल्लेख होनेके साथ निश्चय कथन और उसके नियम भी दिये गये हैं । इसलिये उन नियमोंको दृष्टिमें रखकर यथार्थमें प्रत्येक कार्यका नियामक उपादान कारणको ही समझना चाहिए । और इसी कारण बृहद्द्रव्यसंग्रह गाथा २१ में उपादानके समान कार्य होता है इसका निर्देश करते हुए **'उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति'** यह वचन कहा गया है । आचार्य जयसेनने समयसार गाथा ३७२ की टीकामें भी इसी तथ्यको स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे यह कथन किया है—

तस्मात्कारणान्मृत्तिकादिसर्वद्रव्याणि कर्तृणि घटादिरूपेण जायमानानि स्वकीयोपादानकारणेन मृत्तिकादिरूपेण जायन्ते न च कुम्भकारादिबहिरंगनिमित्तरूपेण । कस्मात् इति चेत् ? उपादानकरणसदृशं कार्यं भवतीति यस्मात् ।

किस कारणसे मिट्टी आदि सभी द्रव्य कर्ता होकर घटादि रूपसे उत्पन्न होते हुए अपने उपादान कारण मिट्टी आदि रूपसे उत्पन्न होते हैं, कुम्हार आदि बहिरंग निमित्तरूपसे नहीं, क्योंकि कार्य उपादान कारणके सदृश होता है ।

अतएव अपर पक्षने जो चने आदि पदार्थोंके उदाहरण देकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि कार्योंकी नियामक निमित्त सामग्री होती है । सो पूर्वोक्त प्रमाणोंको ध्यानमें लेकर विचार करने पर विदित होता है कि वे उदाहरण केवल कल्पनाके आधार पर दिये गये हैं, कार्य-कारणभावके निश्चित नियमोंके आधार

पर नहीं । वस्तुत: उपादान कारणगत योग्यता ही प्रत्येक कार्यकी नियामक है इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० २३७ में कहा है—

तत्रापि हि कारणं कार्येणानुपक्रियमाणं यावत् प्रतिनियतं कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नोत्पादयतीति चोद्ये योग्यतैव शरणम् ।

उसमें भी कारण कार्यसे उपक्रियमाण न होता हुआ जैसे प्रतिनियत कार्यको उत्पन्न करता है वैसे वह सब कार्योंको क्यों नहीं उत्पन्न करता ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं कि योग्यता ही शरण है ।

इसी तथ्यको और भी स्पष्ट रूपसे समझने के लिये स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २१७ का यह टीका वचन पर्याप्त होगा—

स कालः संक्रमविधानेन स्वगुणैः नान्यद्द्रव्ये परिणमति, न च परद्रव्यगुणान् स्वस्मिन् परिणामयति, नापि हेतुकर्तृत्वेनान्यद्द्रव्यमन्यगुणैः सह परिणामयति । किं तर्हि ? विविधपरिणामिकानां द्रव्याणां परिणमनस्य स्वयमुदासीननिमित्तं भवति । यथा कालद्रव्यं तथा सर्वद्रव्यमपि । —स्वा० का० अ० गा० २१७ टीका

वह काल संक्रम विधिसे अपने गुणोंके द्वारा अन्य द्रव्यमें परिणमित नहीं होता और न परद्रव्यके गुणोंको अपनेमें परिणमाता है तथा हेतुकर्त्ता होकर अन्य द्रव्यको अन्य गुणोंके साथ नहीं परिणमाता है । तो क्या है ? विविध प्रकारसे परिणमनेवाले द्रव्योंके परिणमनका स्वयं उदासीन निमित्त है । जिसप्रकार काल द्रव्य है उसी प्रकार सभी द्रव्य हैं ।

इस उल्लेखमें 'यथा कालद्रव्यं तथा सर्वद्रव्यमपि' यह वचन विशेष रूपसे ध्यान देने योग्य है । इससे यह बात अच्छी तरहसे समझमें आ जाती है कि निमित्तपनेकी अपेक्षा सभी द्रव्योंकी स्थिति काल द्रव्यके समान है । कोई भी द्रव्य किसी अन्य द्रव्यके कार्यमें व्यापृत नहीं होता । निमित्त कारणके जो उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त ऐसे भेद किये गये हैं उन भेदोंका कारण अन्य है, जिसका निर्देश हम पहले उदाहरण देकर कर आये है । अतएव निष्कर्षरूपमें यही समझना चाहिए कि वास्तवमें प्रत्येक कार्यकी नियामक निमित्त सामग्री न होकर उस-उस कार्यका उपादान कारण ही होता है, किन्तु जिस प्रकार प्रत्येक कार्यके साथ प्रत्येक उपादान कारणकी अन्तर्व्याप्ति उपलब्ध होती है उसी प्रकार प्रत्येक कार्यकी उस-उस कार्यसम्बन्धी निमित्त सामग्रीके साथ बाह्य व्याप्ति भी पाई जाती है । इसलिए निश्चयनयसे उपादान कारण कार्यका नियामक है और असद्भूत व्यवहारनयसे निमित्त सामग्री कार्यका नियामक है ऐसा सिद्धान्त स्थिर होता है ।

२०. परिणमन क्रिया और परिणाम दो नहीं

अपनी प्रतिशंकामें अपर पक्षने एक यह बात भी लिखी है कि 'जीवका उसका अपना स्वत:सिद्ध स्वभाव केवल परिणमनशीलता ही है क्रोधादिरूप परिणमनशीलता उसका अपना स्वत:सिद्ध स्वभाव नहीं है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि जीवकी अपनी पर्यायमें जो क्रोधादिरूपता पाई जाती है वह क्रोधादिरूपता पौद्गलिक कर्मोंके उदयके निमित्तसे ही पाई जाती है ।' सो सर्वप्रथम तो प्रकृतमें यह देखना है कि यहाँपर उपादानरूप जीवका ग्रहण अपर पक्षने किया है या सामान्य जीवका । सामान्य जीवका ग्रहण तो प्रकृतमें हो नहीं सकता, क्योंकि अनन्तरपूर्व उस-उस पर्याय युक्त द्रव्य ही कार्यकारी माना गया है, केवल

सामान्य द्रव्य नहीं। अतएव जब वह अशुद्ध पर्यायका उपादान होता है तब वह परके लक्ष्यसे अपनेमें अशुद्ध कार्यको ही जन्म देता है और जब वह शुद्ध पर्यायका उपादान होता है तब वह स्वके लक्ष्यसे स्वभाव (शुद्ध) पर्यायको ही जन्म देता है। जीव द्रव्यका ऐसा ही स्वभाव है। प्रत्येक द्रव्यका केवल परिणमनशीलता स्वभाव स्वतःसिद्ध स्वभाव न होकर जिस समय जिस द्रव्यमें जो कार्य उत्पन्न होता है उसे उत्पन्न करना यह उसका स्वतःसिद्ध स्वभाव है। एक सत्ता और एकाश्रयवृत्ति होनेसे परिणमनशीलता परिणामसे भिन्न नहीं है। यदि परिणमनशीलता मात्र जीव द्रव्यका स्वतःसिद्ध स्वभाव माना जाता है और क्रोधादिरूपता परकृत मानी जाती है तो अरिहन्तों और सिद्धोंमें भी केवलज्ञानादि और सुखादिरूपता परकृत ही माननी पड़ेगी, क्योंकि अपर पक्षके मतानुसार केवल परिणमनशीलता ही उसका स्वतःसिद्ध स्वभाव है। जिस समय जो परिणाम उत्पन्न होता है उसे उत्पन्न करना तो उसका स्वतःसिद्ध स्वभाव है नहीं। ऐसी अवस्थामें क्रोधादिरूपताके समान केवलज्ञानादि और सुखादिरूपता भी परकृत ही ठहरेंगे। किन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि परिणामी, परिणाम और परिणाम क्रिया ये तीनों वस्तुरूपसे एक ही हैं, तीन नहीं। और एक द्रव्य अपने किलेको तोड़कर पर द्रव्यके किलेका भेदनकर प्रवेश कर सकता नहीं, अतः **निश्चयसे जीव द्रव्य स्वयं परकी अपेक्षा किये विना अपने क्रोधादिरूप परिणामको उत्पन्न करता है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।** आचार्य कुन्दकुन्दने इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर यह वचन कहा है—

> जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा दु होंति रागादि।
> एवं जीवो कम्मं च दो वि रागादिमावण्णा ॥१३७॥
> एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं।
> ता कम्मोदयहेदूहि विणा जीवस्स परिणामो ॥१३८॥

जो कर्मके साथ जीवके रागादिरूप परिणाम होते हैं तो इस प्रकार जीव और कर्म दोनों रागादि भावको प्राप्त हुए। और यदि अकेले जीवके रागादि परिणाम होते हैं तो कर्मोदयरूप हेतुओंके बिना ही वह रागादि जीवका परिणाम है ॥१३७-१३८॥

इससे स्पष्ट है कि कर्मोदय आदिको रागादिकी उत्पत्तिमें असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा निमित्तरूपसे तो स्वीकार किये गये है, किन्तु वे रागादि परिणाम जीवके होनेसे कर्मोदयादिरूप बाह्य हेतुओंके बिना ही जीवके होते हैं। उपादान बनकर स्वयं जीव उन्हें उत्पन्न करता है। केवल परिणमनशीलता ही जीवका स्वतःसिद्ध स्वभाव नहीं है, किन्तु परके लक्ष्यसे रागादिको उत्पन्न करना यह भी उसका स्वतःसिद्ध स्वभाव है। जब शुद्ध या अशुद्ध जिस प्रकारका यह जीव अपनेको अनुभवता है तब उस प्रकारकी शुद्ध या अशुद्ध पर्यायको वह जन्म देता है यह उक्त कथनका तात्पर्य है। यदि अपनेको शुद्ध अनुभवता है तो शुद्ध पर्यायकी उत्पत्तिमें कर्मोदयादि निमित्त न होकर केवल कालादि द्रव्य निमित्त होते हैं और जब परके लक्ष्यसे अपनेको रागादिरूप अनुभवता है तब रागादिकी उत्पत्तिमें कर्मोदयादि निमित्त होते हैं यह यहाँ निष्कर्ष जानना चाहिए। ऐसी ही प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें उपादानके साथ बाह्य सामग्रीकी निमित्त होकर व्याप्ति है। कार्य-कारणकी परम्परामें अन्य जितने प्रकारके विचार हैं वे सब कल्पनामात्र हैं।

२१. 'णियमा' पदकी सार्थकता

पूर्वोक्त उल्लेखोंमेंसे स्वा० का० अनु० की 'पुव्वपरिणामजुत्तं' इत्यादि गाथामें पठित 'णियमा' पदके सम्बन्धमें यह विचार करना है कि वह पद उक्त गाथामें क्यों निबद्ध किया गया है? अपर पक्षने इस

पदकी केवल कार्यके साथ योजना करके यह अर्थ किया है कि पूर्वपर्याय विशिष्ट द्रव्य कारण कहलाती है और उत्तर पर्यायविशिष्ट वस्तु नियमसे कार्य कहलाती है। सो इस सम्बन्धमें इतना ही संकेत करना पर्याप्त है कि पूर्व पर्याय युक्त द्रव्य कारण तो कहलावे, परन्तु वह अपनेसे जायमान कार्यका नियामक न हो इसे कौन बुद्धिमान् स्वीकार करेगा। अर्थात् ऐसी अटपटी बातको कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति स्वीकार नहीं कर सकता। उपादान कारणका यह लक्षण सभी शास्त्रकारोंने स्वीकार किया है और इसीके आधारसे उससे जायमान कार्यकी व्यवस्था भी की है। यह उपादान कारणका उपचरित लक्षण न होकर निश्चय (यथार्थ) लक्षण है। जिसकी पुष्टिमें हम प्रकरण '१६ कार्यका नियामक उपादान कारण होता है' इस शीर्षकके अन्तर्गत अनेक आगम प्रमाण दे आये हैं, किन्तु अपर पक्ष उसे कार्यका नियामक न मानकर उसे उपचरित कारण ठहराना चाहता है। अनुपचरित उपादान कारणका लक्षण क्या है इसे वह आगमसे बतला देता तो अति उत्तम होता। हम तो अभी तक उपलब्ध समस्त आगमका आलोडन करके यही जान सके हैं कि आगममें जिसका जो लक्षण किया गया है वह अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोषोंसे रहित ही किया गया है। यही कारण है कि स्वामी कार्तिकेयने उपादान कारण और कार्यके लक्षणोंमेंसे इन्हीं तीन दोषोंका परिहार करनेके लिये उपादान-कारण और कार्यके लक्षणपरक उक्त गाथाके अन्तमें 'णियमा' पदकी योजना की है, जिसकी पुष्टि उसी ग्रन्थकी गाथा २२३ से भले प्रकार हो जाती है। २२३ संख्याक गाथाका उल्लेख हम पूर्वमें ही कर आये हैं। ये दोनों गाथाएँ परस्परमें एक दूसरेकी पूरक हैं। अतएव उक्त गाथाके अन्तमें पठित 'णियमा' पदका अर्थ यह करना ही उचित है कि 'पूर्व पर्यायसे युक्त द्रव्य नियमसे उपादान कारण है और उत्तर पर्यायसे युक्त वही द्रव्य नियमसे कार्य है।' इतना अवश्य है कि तीनों काल सम्बन्धी सभी उपादानों और उनसे होनेवाले सभी कार्योंमें उक्त लक्षणकी प्रत्येक समयमें व्याप्ति बनती जानेके कारण सामान्य रूपसे ये उपादान कारण और उपादेय रूप कार्यके लक्षण कहे गये हैं। किन्तु विवक्षित उपादान और उससे जायमान विवक्षित कार्य-के लक्षणोंकी अपेक्षा यदि विचार किया जाता है तो वहाँ पर विवक्षित पदकी योजना करके विवक्षित उपादान और उससे जायमान विवक्षित कार्यकी अपेक्षा यह कहा जायगा कि विवक्षित पर्याय युक्त द्रव्य विवक्षित कार्यका उपादान कारण है और उससे जायमान उत्तर पर्याय युक्त द्रव्य उसका विवक्षित कार्य है। इसी प्रकार जहाँ पर प्रत्येक गुणकी अपेक्षा कार्य-कारणभावका विचार करना हो वहाँ पर 'द्रव्य' पदके स्थानमें 'गुण' पदकी योजना कर लेनी चाहिए। इस प्रकार इतने विवेचनसे यह अच्छी तरह सिद्ध हो जाता है कि कि विवक्षित उपादानसे अन्य कोई कार्य उत्पन्न न होकर विवक्षित कार्य ही उत्पन्न होता है।

२२. निमित्तविचार

पूर्वोक्त उल्लेखोंके आधारसे एक यह बात भी विचारणीय है कि प्रत्येक समयमें अनन्तर पूर्व पर्याय-युक्त द्रव्यरूप उपादानके अपने कार्यके सन्मुख होने पर उसकी निमित्तभूत बाह्य सामग्री अविकलरूपसे पाई जाती है या नहीं ? अपर पक्षका कहना है कि 'कार्यके अव्यवहित पूर्वक्षणवर्ती पर्यायमें उपादान कारणभूत वस्तुके विद्यमान रहते हुए भी यदि विवक्षित कार्यके अनुकूल अन्य कारणोंकी अविकलता (पूर्णता) विद्यमान नहीं होगी तो उस समय वहाँ पर उस उपादानसे विवक्षित कार्यकी उत्पत्ति कदापि नहीं होगी।' सो अपर पक्षका यह वक्तव्य स्वयं अपनेमें भ्रामक है, क्योंकि विवक्षा प्राणीके चित्तमें होती है। यदि वह किसी दूसरे कार्यके उपादानसे अपने विवक्षित कार्यकी सिद्धि करना चाहे और बाह्य सामग्रीके आधारपर यह कहे कि 'यहाँ बाह्य सामग्रीकी कमी है, इसलिये विवक्षित कार्य नहीं हुआ' उचित नहीं है। क्योंकि जिस कार्यका वह

उपादान है उससे जायमान कार्यके अनुकूल ही बाह्य सामग्रीकी अविकलता वहाँ पर रहेगी। विवक्षित कार्यके अनुकूल न तो वह उपादान ही है और न ही वहाँ पर बाह्य सामग्रीकी अविकलता भी है। उपादान किसी दूसरे कार्यका हो और उससे अपनी इच्छानुसार किसी दूसरे कार्यकी उत्पत्ति हो जाय यह त्रिकालमें सम्भव नहीं है। **बाह्य-आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता कार्यके अनुकूल ही होती है, विवक्षाके अनुकूल नहीं।**

अपर पक्षका यह कहना कि 'कार्य-कारणका विचार वस्तु व्यवस्थाके आधारपर होना चाहिए, बीचमें केवलज्ञानको लाकर खड़ा न किया जाय।' हम इस बातको हृदयसे स्वीकार करते हैं, इसलिए हमने अपने पिछले उत्तरोंमें आगममें स्वीकृत उपादान कारणके सुनिश्चित लक्षणको ध्यानमें रखकर इसका विशेष विचार किया है। किन्तु मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष अपने उक्त कथनपर टिका रहनेके लिये राजी नहीं है, इसलिए ही वह कार्य-कारणका विचार केवलज्ञान और तदनुसारी आगम तथा श्रद्धाको तिलांजलि देकर श्रुतज्ञानके आधारसे करनेके लिये प्रस्तुत हुआ है और मजा यह कि यह श्रुतज्ञान कौन-सा? आगमानुसारी नहीं, किन्तु पाँच इन्द्रियों और मनसे जैसा समझमें आया तदनुसारी। उसकी पुष्टिमें उसने जो आगम उपस्थित किया है वह अपने चित्तको बहलानामात्र है। प्रकृतमें अपर पक्षसे हम निवेदन करना चाहते हैं कि बेचारे श्रुतज्ञानीको केवलज्ञानीके ज्ञानमें जो कुछ झलका है उसकी खबर हो या न हो, इससे क्या? तदनुसारी ऐसा आगम तो उस (श्रुतज्ञानी) के सामने उपस्थित है ही जिसमें कार्य-कारणभावके निश्चित नियमोंका उल्लेख है, इसलिये उस आधारसे तो श्रुतज्ञानी यह निर्णय कर सकता है कि जिस समय जिस कार्यका जो उपादान होगा उस समय उससे वही कार्य होगा, अन्य नहीं। साथ ही उस उपादानके अपने अनुरूप कार्यको जन्म देनेके सन्मुख होनेपर कार्यके अनुकूल बाह्य-सामग्री भी अवश्य रहेगी। श्रुतज्ञानीका कार्य आगमानुसारी कार्य-कारणभावके नियमोंके अनुसार उसका निर्णय करना है, न कि अपने अभिप्रायकी पुष्टिके लिए कार्य-कारणभावके निश्चित नियमोंमें अर्थ विपर्यास कर अपने अभिप्रायको सिद्ध करना। आशा है अपर पक्षका इस तथ्यपूर्ण वक्तव्यकी ओर विशेष ध्यान जायगा।

२३. उपादान कारण ही कार्यका नियामक है

पूर्वोक्त उल्लेखोंके आधारसे एक यह बात भी विचारणीय है कि यदि क्रोध पर्याययुक्त कोई जीव अनन्तर उत्तर समयमें क्रोधादि चारोंमेंसे किसी एकको उत्पन्न करता है तो उसका वह उपादान अनन्तर उत्तर समयमें जिस एकको उत्पन्न करता है उसके अनुकूल होता है या बाह्य-सामग्रीके बलपर चारोंमेंसे किसीको भी उत्पन्न करे इस रूपमें होता है, क्योंकि अपर पक्ष इस सम्बन्धमें ऐसा मानकर चल रहा है कि उपादान तो चारोंका होता है, परन्तु बाह्य-सामग्रीके अनुसार किसी एकको उत्पत्ति होती है। यह अपर पक्षके कथनका सार है। समाधान यह है कि बात ऐसी नहीं है जैसी कि अपर पक्ष समझ रहा है। किन्तु अनन्तर उत्तर समयमें क्रोधादि चारोंमेंसे जो पर्याय उत्पन्न होगी, उपादान उसीके अनुकूल होगा तथा कर्म और नोकर्म रूप निमित्त भी उसीके अनुकूल होंगे। कारण कि कर्मशास्त्रके नियमानुसार क्रोधादि चारों द्रव्यकर्मोंकी सत्ता होनेपर भी एक समयमें एकके उदयका विधान इसी आधारपर किया गया है कि जिस कषायका उपादान अपने विवक्षित कार्यके सन्मुख होता है, उदय भी उसी कषाय द्रव्यकर्मका होता है। ऐसा ही दोनोंका योग है। अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य उपादान कारण होता है इस लक्षणको तो अपर पक्षने स्वीकार किया ही है। और इस बातके स्वीकार कर लेनेपर यह भी निश्चित हो जाता है

कि उपादान कारण कार्यके एक समय पूर्व होता है, क्योंकि कर्मशास्त्रकी उदयादि व्यवस्थापर दृष्टिपात करनेपर यह सुनिश्चित रूपसे ज्ञात होता है कि जिस बाह्य-सामग्रीमें निमित्त व्यवहार होता है वह कार्यके उत्पन्न होते समय ही होती है। सो क्यों ? कर्म-शास्त्र इस प्रश्नका उत्तर देता है और समर्पक उत्तर देता है। उसमें सप्रतिपक्ष प्रकृतियोंके उदयको ध्यानमें रखकर बतलाया है कि उनमेंसे किसी एकका उदय नोकर्म रूप बाह्य-सामग्रीके अनुसार न होकर उपादानके अनुसार होता है, क्योंकि जिसका अनन्तर समयमें उदय होनेवाला हो वह तो उपादानके कालमें उदयावलिमें तदवस्थ रहती है, मात्र शेष प्रकृतियोंका उसमें स्तिबुकसंक्रमण हो जाता है और इस प्रकार उपादान तथा कर्मोदयकी कार्यके प्रति एकरूपता बनी रहती है। क्या कर्म-शास्त्रको इस व्यवस्थासे यह ज्ञान नहीं हो जाता है कि उपादान अनेक कार्योंका न होकर नियमसे किसी एक कार्यका ही होता है और जिस कार्यका वह उपादान होता है नियमसे उसी कार्यको उत्पन्न करता है। साथ ही निमित्त व्यवहारके योग्य बाह्य-सामग्री भी उसी कार्यके अनुकूल उपस्थित रहती है। कार्य-कारणभावको समग्ररूपसे प्रसिद्ध करनेवाली यह कर्म-शास्त्रकी व्यवस्था है, कुछ मानसिक कल्पना नहीं। हमें आशा है कि अपर पक्ष इन तथ्योंपर ध्यान देकर अपने विचारोंमें सुधार करेगा और वह अपनी इस मान्यताको छोड़ देगा कि 'जीवका अपना स्वतःसिद्ध स्वभाव केवल परिणमनशीलता है, क्रोधादिरूप परिणमन-शीलता उसका अपना स्वतःसिद्ध स्वभाव नहीं। कारण कि स्वभावदशामें जिस प्रकार विवक्षित सम्यक्त्वादि पर्यायरूप परिणमनशीलता उसका अपना स्वतःसिद्ध स्वभाव है उसी प्रकार विभावदशामें विवक्षित क्रोधादिरूप परिणमनशीलता भी उसका अपना स्वतःसिद्ध स्वभाव है। जीव या पुद्गल किसी भी द्रव्यके परिणमनमें विभाव-रूपता परके द्वारा की गई नहीं होती यह एकान्त नियम है। (इसके लिये देखिए श्लोकवार्तिक अध्याय ५ सू० १६ पृ० ४१०) इतना अवश्य है कि चाहे स्वभाव पर्याय युक्त जीव उपादान हो या विभाव पर्याययुक्त। किन्तु उपादानभूत जीव यदि परके लक्ष्यसे परिणमता है तो नियमसे विभाव पर्यायकी उत्पत्ति होती है और उपादानभूत वही जीव यदि स्वभावके लक्ष्यसे परिणमता है तो नियमसे स्वभाव पर्यायकी उत्पत्ति होती है। कार्यकालमें परपदार्थका निमित्त होना और बात है और स्व या परको लक्ष्य कर प्रवर्तना और बात है। जिनागममें इसी तथ्यको ध्यानमें रख कर उपदेश ग्रहण करनेके योग्य प्रत्येक पात्र जीवको बाह्य सामग्रीकी उठाधरीके विकल्पसे बचते हुए स्वभावको लक्ष्यमें लेनेका उपदेश दिया गया है। आचार्य अमृतचन्द्र इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर समयसार कलशमें लिखते हैं—

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनैः
तन्मन्ये व्यवहार एव निखिलोऽप्यन्याश्रयस्त्याजितः।
सम्यङ् निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तो धृतिम् ॥१७३॥

सभी वस्तुओंमें जो अध्यवसान है उन सभीको जिनेन्द्रदेवने छोड़ने योग्य कहा है सो आचार्य कहते हैं कि हम ऐसा मानते हैं कि भगवान्ने परके आश्रयसे प्रवर्तनेवाला सभी व्यवहार छुड़ाया है। इसलिए आचार्य उपदेश करते हुए कहते हैं कि जो सत्पुरुष हैं वे सम्यक् प्रकार एक निश्चयको ही जिस तरह हो सके उस तरह निश्चित अंगीकार करके शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप अपनी महिमामें स्थिरता क्यों नहीं धारण करते ॥१७३॥

आगे समयसार गाथा २७२ की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्रने 'आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः' इस प्रकार जो निश्चयनय और व्यवहारनयका लक्षण किया है सो उसका भी यही

तात्पर्य है। इस विवेचन द्वारा वे यह सूचित कर रहे हैं कि ज्ञायकस्वरूप आत्माको लक्ष्य कर जो विकल्प होता है वह सविकल्प-निश्चयनय है और पर अर्थात् ऐन्द्रियिक सुख-दुख आदिमें निमित्त होनेवाली बाह्य सामग्रीको लक्ष्यकर 'यह सुख देनेवाली सामग्री है, यह दुख देनेवाली सामग्री है आदिरूप' जो विकल्प होता है वह व्यवहारनय है। तो ऐसा अध्यवसानरूप व्यवहारनय निश्चयनयका अवलम्बन लेकर त्यागने योग्य है, क्योंकि ऐसे विकल्पके छूटने पर बाह्य सामग्री नियमसे छूट जाती है। सो क्यों? जब कि अपर पक्षके कथनानुसार परिणमनशीलतामात्र उपादानका कार्य है। किसरूप परिणमन हो यह उसका कार्य न होकर बाह्य सामग्रीके आधीन है तो फिर उन बाह्य सामग्रीमें 'यह सामग्री सुखकर है और यह सामग्री दुखकर है' आदिरूप अध्यवसानको छोड़नेका उपदेश तीर्थंकरों, गणधरों और आचार्योंने क्यों दिया? और ऐसे अध्यवसान विकल्पको मिथ्या क्यों बतलाया। यदि श्रुतज्ञानी जीव यह जानता है कि 'मेरा सुख-दुख आदि संसाररूप कार्य और सम्यक्त्वादिरूप मोक्षकार्य कर्म और नोकर्मके आधीन है, इसका कर्ता मैं स्वयं नहीं। मैं उपादान कारण इसलिए कहलाता हूँ कि वे मुझमें मात्र होते हैं। होगा वही, जैसा कर्मोका उदयादि और बाह्य सामग्री मिलेगी। यदि संसार कार्यका मैं कर्ता होता तो मैं उसे टालनेके उपक्रममें लगता। पर मैं क्या कर सकता हूँ, कर्म और नोकर्म तो इसे मुझमें किये ही जा रहे हैं। क्योंकि एक कालमें कार्य होनेके अनुरूप मुझमें अनेक शक्तियाँ हैं, उनमेंसे कौन शक्ति कार्यरूप परिणमे यह तो बाह्य सामग्रीके आधीन है। इसलिए बाह्य सामग्री ही मुझमें यथार्थ कर्ता है, मैं तो वास्तविक कर्ता हूँ नहीं।' तो अपर पक्षके कथनानुसार उसका ऐसा जानना यथार्थ ही ठहरता है। तब तो आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा २४७ आदिमें तथा आचार्य अमृतचन्द्रने पूर्वोक्त कलशमें या तत्सम अन्य कलशों व टीकामें उस श्रुतज्ञानीके ऐसे विचारोंको अध्यवसान कह कर जो मिथ्या ठहराया है वह सब कथन अयुक्त ही ठहरता है। फिर तो अपर पक्षके मन्तव्यानुसार यही कहना और मानना युक्त होगा कि जीवमें राग-द्वेष, सुख-दुख, नारक-तिर्यञ्च आदि रूप संसार कार्य तथा सम्यक्त्व, केवलज्ञान आदिरूप मुक्तिकार्य जो भी होता है वह सब कर्मों और बाह्य सामग्रीके अनुसार ही होता है। जीव तो जैसे स्वतन्त्र रूपसे राग-द्वेप आदिरूप संसार कार्यको नहीं कर सकता वैसे ही वह सम्यक्त्वादिरूप मुक्तिकार्यको भी नहीं कर सकता, क्योंकि उसका स्वतःसिद्ध स्वभाव तो मात्र परिणमनक्रिया ही है। वह परिणमनक्रिया किसरूप हो यह सब तो कर्मों और बाह्य सामग्रीके आधीन है। उसे उत्पन्न करना उसका स्वभाव नहीं।

संभव है कि अपर पक्ष यहाँ पर यह तर्क उपस्थित करे कि स्वभावदशामें जैसे परिणमनशीलता जीवका स्वभाव है उसी प्रकार सम्यक्त्वादिको उत्पन्न करना भी उसका स्वभाव है। किन्तु विभाव दशामें मात्र परिणमनशीलता ही उसका स्वभाव है, उसमें राग-द्वेपादिको उत्पन्न करना उसका स्वभाव नहीं। ये तो निमित्तके बलसे उत्पन्न होते हैं। तो उसपर हमारा कहना यह है कि जिस प्रकार अपर पक्षके मतसे जीवकी विभाव दशामें राग-द्वेपादि निमित्तके बलसे उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार अपर पक्षको यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि उसकी विभाव दशामें परिणमन क्रिया भी निमित्तोंके बलसे उत्पन्न होती है। वह जीव का अपना कार्य नहीं, क्योंकि परिणमन क्रिया राग-द्वेषादिरूप परिणामसे अभिन्न होनेके कारण यदि राग-द्वेषादिरूप परिणामका वास्तविक कर्ता अन्य द्रव्यको माना जाता है तो उससे अभिन्न परिणामक्रियाका कर्ता भी दूसरा द्रव्य ही ठहरेगा। और ऐसी अवस्थामें विभावदशामें जीवद्रव्य स्वयं कूटस्थ हो जायगा और अन्तमें उसका अभाव ही मानना पड़ेगा।

यदि अपर पक्षको 'विभावदशामें जीव द्रव्य स्वयं कूटस्थ है' ऐसा मानना इष्ट न हो तो उसे आगमके

अनुसार अन्तःकरणसे यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि जिस प्रकार स्वभावदशामें परिणाम और परिणमनक्रिया दोनों अभिन्न होनेसे उनका वास्तविक कर्त्ता स्वयं जीव है उस प्रकार विभावदशामें भी वे दोनों अभिन्न होनेके कारण उनका भी वास्तविक कर्त्ता स्वयं जीव ही है, दूसरा पदार्थ नहीं। यही कारण है कि आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्रने समयसार गाथा ८४ और उसकी टीकामें 'आत्मा अनेक प्रकारके पुद्गल कर्मको करता है और उसे भोगता है' इसे लोगोंका अनादिरूढ़ लौकिक व्यवहार बतलाकर गाथा ८५ और उसकी टीका द्वारा उक्त प्रकारके व्यवहारको दोषयुक्त घोषित किया है। उक्त दोनों आचार्य समयसार गाथा १०६ और उसकी टीकामें यह व्यवहार दोषयुक्त होनेसे उपचरित क्यों है इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखते हैं—

जोधेहि कदे जुद्धे राएण कदं ति जंपदे लोगो।
ववहारेण तह कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

जिस प्रकार योद्धाओंके द्वारा युद्ध किये जाने पर राजाने युद्ध किया ऐसा लोक (व्यवहारसे) कहते हैं उसी प्रकार जीवने ज्ञानावरणादि कर्मको किया ऐसा व्यवहारसे कहा जाता है ॥१०६॥

यह व्यवहार वास्तविक न होकर उपचरित ही है इसका स्पष्टीकरण इस टीका वचनसे हो जाता है—

यथा युद्धपरिणामेन स्वयं परिणममानैः योधैः कृते युद्धे युद्धपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्य राज्ञो राज्ञा किल कृतं युद्धमित्युपचारो न परमार्थः। तथा ज्ञानावरणादि-कर्मपरिणामेन पुद्गलद्रव्येण कृते ज्ञानावरणादिकर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्यात्मनः किलात्मना कृतं ज्ञानावरणादि कर्मेत्युपचारो न परमार्थः ॥१०६॥

जैसे युद्ध परिणामरूपसे स्वयं परिणमते हुए योद्धाओंके द्वारा युद्ध किये जाने पर युद्ध परिणामसे स्वयं नहीं परिणमनेवाले राजामें 'राजाने युद्ध किया' यह उपचार होता है जो परमार्थभूत नहीं है। वैसे ही ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामरूपसे स्वयं परिणमते हुए पुद्गल द्रव्यके द्वारा ज्ञानावरणादि कर्म किये जानेपर ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामरूपसे स्वयं नहीं परिणमते हुए आत्मामें 'आत्माने ज्ञानावरणादि कर्म किये' यह उपचार होता है जो परमार्थभूत नहीं है ॥१०६॥

इस प्रकार उक्त उल्लेखसे जहाँ यह बात स्पष्टरूपसे विदित हो जाती है कि जिस द्रव्यमें जो परिणाम होता है उसे वह द्रव्य स्वयं स्वतंत्ररूपसे कर्त्ता बनकर (स्वतंत्रः कर्त्ता १।२।१२५ जैनेन्द्रमहावृत्ति पृ० ७१) करता है। परिणामक्रिया जिस परिणामरूप होती है उस परिणामको कोई दूसरा पदार्थ करे और परिणामक्रियाका कर्ता वह स्वयं बने ऐसा न तो है ही और न ही उक्त उल्लेखसे ज्ञात होता है।

जैनेन्द्रमहावृत्तिके उक्त सूत्रकी टीका करते हुए आचार्य अभयनन्दि लिखते हैं—

स्वतंत्र आत्मप्रधानः। क्रियासिद्धौ स्वतन्त्रो योऽर्थस्तत् कारकं कर्तृसंज्ञं भवति।

स्वतन्त्र आत्मप्रधान। क्रियाकी सिद्धिमें जो अर्थ स्वतन्त्र है वह कारक कर्तृसंज्ञक होता है।

जैनेन्द्रमहावृत्तिके इस उल्लेखसे भी यही ज्ञात होता है कि प्रत्येक द्रव्य परनिरपेक्ष होकर ही प्रत्येक समयमें अपना कार्य करता है।

इसपर यद्यपि यह शंका की जा सकती है कि कर्ता दो प्रकारके होते हैं—एक निश्चय कर्ता और दूसरा व्यवहार कर्ता। निश्चय कर्ता तो स्वयं वह द्रव्य होता है जिसमें कार्य होता है और व्यवहार कर्ता

दूसरा द्रव्य होता है। इन दोनोंको सम्मिलित क्रियाद्वारा ही 'प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति होती है, इसलिए जिस प्रकार निश्चय कर्ता यद्यपि कर्ता होता है उसी प्रकार व्यवहार कर्ताको कारयिताके रूपमें यथार्थ कर्ता ही मानना चाहिए। एकको परमार्थभूत माना जाय और दूसरेको अपरमार्थभूत माना जाय यह कथन युक्तियुक्त नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्दके समक्ष भी यह प्रश्न उपस्थित था। वे इस प्रश्नका समाधान करते हुए स्वयं क्या लिखते हैं यह उन्हींके शब्दोंमें पढ़िये—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिह्णदि य।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥

आत्मा पुद्गल द्रव्यको उत्पन्न करता है, करता है, बाँधता है, परिणमाता है और ग्रहण करता है यह व्यवहारनयका वक्तव्य है ॥१०७॥

इसकी टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

अयं खल्वात्मा न गृह्णाति न परिणमयति नोत्पादयति न करोति न बध्नाति व्याप्यव्यापकभावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म। यत्तु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणमयत्युत्पादयति करोति बध्नाति वात्मेति विकल्पः स किलोपचारः ॥१०७॥

जैसे यह आत्मा प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य पुद्गल द्रव्यस्वरूप कर्मको नियमसे न ग्रहण करता है, न परिणमाता है, न उत्पन्न करता है, न करता है और न बाँधता है; क्योंकि उन दोनोंमें व्याप्य-व्यापक भावका अभाव है। तो भी व्याप्य-व्यापकभावका अभाव होनेपर भी जो यह विकल्प होता है कि आत्मा प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य पुद्गल द्रव्यात्मक कर्मको ग्रहण करता है, परिणमाता है, उत्पन्न करता है, करता है और बाँधता है वह नियमसे उपचार है ॥१०७॥

यह आगमवचन है। इससे यह स्पष्टरूपसे ज्ञात होता है कि श्रुतज्ञानी जीवको भी यह विकल्प होता है कि कर्मने जीवमें राग-द्वेषादि कार्य किया वह (विकल्प) मात्र उपचाररूप ही है। इसका तात्पर्य यह है कि जीवके राग-द्वेषकी उत्पत्तिमें कर्म और नोकर्म व्यवहारसे निमित्तमात्र हैं, इसलिए निमित्त हुए पर द्रव्यको देखकर यह विकल्प होता है और उस विकल्पके अनुसार कहनेमें भी ऐसा ही आता है कि कर्म जीवको संसारी बनाता है, सुख देता है, दुख देता है आदि। किन्तु यह सब कथनमात्र है। आगममें एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका कार्य करता है इत्यादि रूपसे जितना भी कथन उपलब्ध होता है वह सब व्यवहारनयकी मुख्यतासे ही किया गया है, इसलिए उसे परमार्थभूत न मानकर यह समझना ही परमार्थभूत है कि प्रत्येक द्रव्यमें त्रैकालिक जितने भी परिणाम कार्य होते हैं उन सबका प्रत्येक द्रव्य स्वयं कर्ता है और वे सब कार्य प्रत्येक द्रव्यके कर्म हैं। 'सिद्धी दु ण दीसए अण्णा' (समयसार गाथा ३११)—दूसरे प्रकारसे कर्ता-कर्मकी सिद्धि नहीं दिखलाई देती। अतएव उपादान कर्ता यथार्थ कर्ता है और निमित्त कर्ता उपचरित कर्ता है यह तथ्य फलित होता है।

इसी बातको स्पष्ट करते हुए प्रवचनसार गाथा २१ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद् द्रव्यकर्मकर्ताप्युपचारात्।

तथा आत्मा अपने परिणामका कर्ता होनेसे द्रव्यकर्मका कर्ता उपचारसे है।

निष्कर्ष रूपमें उक्त पूरे विवेचनका प्रकृतमें सार यह समझना चाहिये कि परिणाम और परिणमन क्रिया परिणामीसे अभिन्न होनेके कारण विवक्षित उपादान ही विवक्षित परिणामका यथार्थ कर्ता होता है। अतएव प्रकृतमें यह मानना युक्तिसंगत नहीं है कि 'उपादान अनेक योग्यताओंवाला होता है, इसलिए उपादानमें विद्यमान जिस योग्यताके अनुकूल निमित्त सामग्री मिलती है, कार्य वही होता है।' किन्तु इसके स्थानमें यही मानना उचित है कि विवक्षित पर्याय-शक्तियुक्त द्रव्यशक्ति उपादान होकर विवक्षित कार्यको उत्पन्न करती है और उसमें व्यवहार नयसे निमित्त होनेवाली बाह्य सामग्री भी तदनुकूल रहती है। कारण-जातिके भेदके समान शक्तिभेद भी होना चाहिए तभी कार्यभेद बन सकता है इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० १० में कहा है—

यथा च कारणजातिभेदमन्तरेण कार्यभेदो नोत्पद्यते तथा तच्छक्तिभेदमन्तरेण।

जिस प्रकार कारणजातिके भेदके बिना कार्यभेद नहीं बनता उसी प्रकार कार्यरूप होनेवाली शक्ति-भेदके बिना कार्यभेद नहीं बनता।

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रत्येक द्रव्यमें प्रति समय जो कार्यभेद दृष्टिगोचर होता है उसका मुख्य कारण उपादानभेद ही है। जैनदर्शनमें कारकसाकल्यको या इन्द्रियवृत्ति आदिको या सन्निकर्षविशेषको प्रमाण न मान कर जो ज्ञानको प्रमाण माना है सो उसका कारण भी यही है। इसी बातको स्पष्ट करते हुए प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० १५ में कहा है—

अस्याः स्वार्थग्रहणशक्तिलक्षणभावेन्द्रियस्वभावायाः यदसन्निधाने कारकान्तरसन्निधानेऽपि यन्नोत्पद्यते तत्तत्कारणकम्।

स्वार्थग्रहण शक्तिलक्षण भावेन्द्रियस्वभाव जिस योग्यताके असन्निधानमें कारकान्तरके सन्निधान होने पर भी जो नहीं उत्पन्न होता है वह तत्तत्कारणक जानना चाहिए।

जिस प्रकार जैनदर्शनमें कारकसाकल्य आदिको उपचारसे प्रमाण मान कर भी वास्तवरूपमें प्रमाण ज्ञानको ही स्वीकार किया है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए।

इसलिए प्रकृतमें निष्कर्षरूपमें यही समझना चाहिए कि—

अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सहावेहिं।
गच्छन्ति कम्मभावं अण्णोण्णावगाहमवगाढा ॥६५॥—पंचास्तिकाय।

आत्मा अपने भाव (रागादि भाव) को करता है, तब वहाँ रहनेवाले पुद्गल अपने भावोंसे, जीवमें अन्योन्य अवगाहरूपसे प्रविष्ट हुए कर्मभावको प्राप्त होते हैं ॥६५॥

इस प्रकार इस विवेचनसे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि उपादान कारण ही वास्तवमें अपने कार्यका नियामक है, बाह्य सामग्री नहीं।

२४. दो आगम प्रमाणोंका यथार्थ तात्पर्य

अपर पक्षने इसी प्रसंगसे दो आगमप्रमाण उपस्थित किये हैं। प्रथम प्रमाण स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २२२ वीं गाथाकी संस्कृत टीकाका वाक्यांश है और दूसरा प्रमाण अष्टसहस्री पृ० १०५ में आया हुआ अष्टशतीका वाक्यांश है। किन्तु इन दोनों प्रमाणोंसे अपर पक्षके अभिप्रायकी पुष्टि कैसे नहीं होती यह बात यहाँ विचारणीय है, जिसका क्रमसे विचार किया जाता है—

उक्त गाथाकी संस्कृत टीकाका वह वचन इस प्रकार है—

····तदेव द्रव्यं पूर्वपर्यायाविष्टं कारणभूतं मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं कारणान्तरावैकल्येन उत्तरक्षणे कार्यं निष्पादयत्येव ।

मणि–मन्त्रादिकसे अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाला पूर्व पर्यायाविष्ट कारणभूत वही द्रव्य कारणान्तरोंकी अविकलता होनेके कारण उत्तर क्षणमें कार्यको उत्पन्न करता ही है ।

यह उक्त वचनका शब्दार्थ है । मालूम नहीं कि इस परसे अपर पक्षने यह कैसे फलित कर लिया कि अनन्तर पूर्व पर्यायाविष्ट द्रव्यरूप विवक्षित उपादानके अपने विवक्षित कार्यके सन्मुख होने पर मणि-मन्त्रादिक प्रतिबन्धक कारणोंकी उपस्थिति और कारणान्तरोंकी विकलता सम्भव है । जब कि आ० शुभचन्द्रने 'मणिमन्त्रादिना अप्रतिबद्धसामर्थ्यं' इस पदको 'तदेव द्रव्यं' इत्यादि पदका विशेषणरूपसे प्रयुक्त कर तथा 'कारणान्तरावैकल्येन' पद द्वारा कारणान्तरोंको अविकलता (पूर्णता) को स्पष्ट शब्दोंमें सूचित कर अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यरूप उपादानको अपने कार्यका नियमसे उत्पादक कहा है । पूरे वाक्यके अन्तमें आया हुआ 'एव' पद यही सूचित करता है कि उक्त प्रकारका उपादान अपने कार्यको नियमसे उत्पन्न करता है और जब वह अपने कार्यको उत्पन्न करता है तब प्रतिबन्धक सामग्रीके अभावके साथ कारणान्तरोंकी अविकलता नियमसे होती है ।

उपादान कारणमें कार्यको उत्पन्न करनेकी शक्तिका होना यह उपादान कारणगत योग्यता है और कार्यका उससे जायमान होना यह कार्य (उपादेय) गत योग्यता है, इससे उसका प्रतिनियम होता है । इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७८ में कहा है—

योग्यता हि कारणस्य कार्योत्पादनशक्तिः, कार्यस्य च कारणजन्यत्वशक्तिस्तस्याः प्रतिनियमः ।

इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए वहाँ बतलाया है—

शालिबीजांकुरयोश्च भिन्नकालत्वाविशेषेऽपि शालिबीजस्यैव शाल्यंकुरजनने शक्तिर्न यवबीजस्य, तस्य यवांकुरजनने न शालिबीजस्येति ।

शालिबीज और शालि-अंकुरके भिन्न कालवर्ती (पूर्वोत्तर क्षणवर्ती) होने पर भी शालिबीजमें ही शालि-अंकुरको उत्पन्न करनेकी शक्ति है, यवबीजमें नहीं । और इसी प्रकार यवबीजमे यव-अंकुरको उत्पन्न करनेकी शक्ति है, शालिबीजमें नहीं ।

इससे इस बातका सम्यक् रीतिसे ज्ञान हो जाता है कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें अपने नियत कार्यका ही उपादान कारण है और उससे नियत कार्यको हो जन्म मिलता है । अन्यथा 'शालिबीज' और 'यवबीज' इस प्रकार पर्यायाविष्ट द्रव्यको उदाहरणरूपमें स्वीकार कर उपादान-उपादेयभावका आचार्य खुलासा नहीं करते ।

अब प्रश्न यह है कि जब विशिष्ट पर्याययुक्त द्रव्य विशिष्ट कार्यको उत्पन्न करता है तब व्यवहारसे उसके अनुकूल बाह्य सामग्रीकी समग्रता रहती है या नहीं ? प्रमेयकमलमार्तण्ड अ० २ सू० १ पृ० २९८ में इस प्रश्नका समाधान इन शब्दोंमें किया है—

यद्यदाविकलकारणं तत्तदा भवत्येव, यथाऽन्त्यक्षणप्राप्तायाः सामग्रीतोऽङ्कुरः, अविकलकारणं चाशेषं कार्यम् ।

जो कार्य अविकल कारणवाला होता है वह तब होता ही है, जैसे अन्त्यक्षण प्राप्त सामग्रीसे अंकुर और अविकल कारणवाले समस्त कार्य होते हैं।

इससे स्पष्ट है कि प्रतिसमयमें सब द्रव्योंका प्रत्येक उपादान अविकल कारणवाला होकर उत्तर क्षणमें अपने सुनिश्चित कार्यको नियमसे जन्म देता है। उक्त उल्लेखमें आया हुआ 'अन्त्यक्षणप्राप्त' पद ध्यान देने योग्य है, जो सामग्रीका विशेषण होकर उपादानके उस लक्षणकी पुष्टि करता है जिसके द्वारा अनन्तर पूर्व पर्याय-युक्त द्रव्यको उपादान कहा गया है। अतएव स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी संस्कृत टीकाके आधारसे यही निर्णय करना चाहिए कि अनन्तर पूर्वपर्याययुक्त द्रव्यको सभी शास्त्रकारोंने जो उपादान कहा है वह इसी अपेक्षासे ही कहा है कि प्रत्येक द्रव्यके प्रत्येक समयमें उपादानकी भूमिकामें आते रहनेपर उस-उस उपादानसे उत्पन्न होनेवाले प्रतिनियत कार्यके अनुकूल बाह्य-सामग्रीकी समग्रता रहती ही है। वहाँ न तो कारणान्तरोंकी विकलता होती है और न ही प्रतिबन्धक कारण उपस्थित रहते हैं।

(२) अपर पक्षने अपनी प्रतिशंकाको स्थापित करते हुए अष्टसहस्री पृ० १०५ से लेकर अष्टशतीका जो वचन उद्धृत किया है वह मीमांसकोंद्वारा माने गये वर्णात्मक शब्दोंकी नित्यता और व्यापकताके खण्डनके प्रसङ्गमें आया है। मीमांसा-दर्शन वर्णात्मक शब्दोंका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव न मानकर भी ताल्वादिके द्वारा उनकी अभिव्यक्ति स्वीकार करता है। उस दर्शनका कहना है कि पुरुषव्यापारके पूर्व और बादमें भी शब्दोंके अखंडित स्वभाव होनेपर भी उनका सुनना पुरुषव्यापारसापेक्ष होनेसे वे कभी सुनाई पड़ते हैं और कभी सुनाई नहीं पड़ते। इसपर चर्चा करते हुए मीमांसकोंसे यह पूछा गया कि वे शब्द अपने विषयकी संवित्ति करनेमें समर्थ है या असमर्थ ? यदि समर्थ हैं तो कारणान्तरोंकी अपेक्षाका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता और यदि असमर्थ हैं तो सहकारी इन्द्रिय-मनोभिव्यञ्जकलक्षण व्यापार उनकी असामर्थ्यका खण्डन करता है या नहीं ? इस प्रकार आचार्य विद्यानन्दिने इन दो प्रश्नोंको उपस्थित कर भट्टाकलंकदेवकी अष्टशतीका यह वचन दिया है जिसको अपर पक्षने अपने अभिमतकी पुष्टिमें समझकर प्रकृतमें उसे उद्धृत किया है। वह वचन इस प्रकार है—

तदसामर्थ्यमखण्डयदकिञ्चित्करं किं सहकारिकारणं स्यात्।

उस (शब्द) की असामर्थ्यका खण्डन नहीं करता हुआ अकिञ्चित्कर क्या सहकारी कारण हो सकता है ?

यह अष्टशतीके उक्त वचनकी पृष्ठभूमि है। इसके प्रकाशमें जब हम जैनदर्शनकी अपेक्षा विचार करते हैं तो हमें मीमांसादर्शनसे जैनदर्शनमें अनेक विशेषताएँ ज्ञात होती हैं—

(१) मीमांसादर्शन शब्दको सर्वथा नित्य मानता है किन्तु जैनदर्शन उसे पुद्गल द्रव्यकी व्यञ्जन पर्याय स्वीकार करता है। इतना ही नहीं, जैनदर्शनने प्रत्येक द्रव्यको सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य स्वीकार न करके कथंचित् नित्यानित्य स्वीकार किया है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री पृ० २२६ में लिखा है—

द्रव्यस्य पर्यायस्य वा सर्वथैकस्वभावस्य क्रमयौगपद्यादर्शनात्, अनेकपर्यायात्मन एव द्रव्यस्य तदुपलम्भात्।

सर्वथा एक स्वभाववाले द्रव्य या पर्यायमें क्रम-यौगपद्य नहीं देखा जाता, क्योंकि अनेक पर्यायस्वरूप द्रव्यमें ही उसकी उपलब्धि होती है।

अष्टसहस्रीके इस उल्लेखसे जहाँ इस बातका पता लगता है कि जिस प्रकार मीमांसादर्शन शब्दको सर्वथा नित्य मानता है उस प्रकार जैनदर्शनने किसी भी पदार्थको सर्वथा नित्य स्वीकार नहीं किया है। वहाँ इस बातका भी पता लगता है कि पदार्थको सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य स्वीकार करनेपर भी क्रमसे और युगपत् अर्थक्रियाका विरोध आता है, नित्यानित्य स्वीकार करनेपर नहीं।

(२) मीमांसादर्शन शब्दको सर्वथा सदात्मक मानता है, किन्तु जैनदर्शन किसी पदार्थको सर्वथा सत्स्वरूप न मानकर कथंचित् सदसत्स्वरूप स्वीकार करता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए भट्टाकलंकदेव अष्टशती (अष्टसहस्री पृ० १४०) में लिखते हैं—

सप्तभंगीविधौ स्याद्वादे विधि-प्रतिषेधाभ्यां समारूढं वस्तु सदसदात्मकमर्थक्रियाकारि, कथंचित्सित एव सामग्रीसन्निपातिनः स्वभावातिशयोत्पत्तेः, सुवर्णस्येव केयूरादिसंस्थानं।

सप्तभंगी विधिरूप स्याद्वादमें विधि-प्रतिषेध उभयरूप वस्तु सदसदात्मक होकर अर्थक्रियाकारी है, क्योंकि सामग्री प्राप्त कथंचित् सत्में ही स्वर्णमें केयूरादि संस्थानके समान स्वभावातिशय (पर्याय) की उत्पत्ति होती है।

(३) मीमांसादर्शन शब्दको सर्वथा नित्य और व्यापक मान कर भी उसकी अभिव्यक्ति ताल्वादि सहकारी सामग्रीसे स्वीकार करता है। जब कि जैनदर्शन प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति अपने उपादानसे ही स्वीकार करता है, क्योंकि जैनदर्शन उपादान कारणसे कार्यको सर्वथा भिन्न न मानकर उपादान-उपादेयकी एक सत्ता स्वीकार करता है। इस तथ्यका स्पष्टीकरण आप्तमीमांसा कारिका ७१ और ७२ तथा उनकी अष्टसहस्री टीकामें विशदरूपसे किया है।

इस प्रकार मीमांसादर्शनमें स्वीकृत शब्दकी क्या व्यवस्था है और जैनदर्शनमें स्वीकृत प्रत्येक पदार्थकी क्या व्यवस्था है इसका यह अतिसंक्षिप्त स्पष्टीकरण है। इसे दृष्टिपथमें लेनेपर यह ज्ञात होनेमें देर नहीं लगती कि भट्टाकलंकदेवने मीमांसादर्शनमें स्वीकृत शब्दकी उक्त प्रकारकी असामर्थ्यका उद्भावन कर और उस असामर्थ्यका सहकारी कारणों द्वारा खण्डन स्वीकार न करने पर मीमांसकोंके ऊपर सहकारी कारणोंको अकिंचित्करता दोषका आपादन क्यों किया है ? क्या जिस प्रकार मीमांसादर्शनने शब्दोंकी सर्वथा नित्यतामें बाधा न आते हुए केवल सहकारी कारणोंसे ध्वनिकी अभिव्यक्ति स्वीकार की है उस प्रकार क्या जैनदर्शन उपादान कारणको सर्वथा नित्य मानता है, जिससे कि उसमें कार्यकी असामर्थ्यको स्वीकार करके सहकारी कारणोंके व्यापार द्वारा उस (असामर्थ्य) का खण्डन स्वीकार किया जाय। स्पष्ट है कि मीमांसा-दर्शनमें स्वीकृत शब्दके स्वरूपको ध्यानमें रखकर भट्टाकलंकदेवने उसके सामने आपत्ति उपस्थित करते हुए उक्त प्रकारके दोषका आपादन किया है जो जैनदर्शनमें स्वीकृत कार्यकारणपरंपरापर अणुमात्र भी लागू नहीं होता, क्योंकि जैनदर्शनके अनुसार प्रत्येक उपादान ऐसी सामर्थ्यवाला स्वीकार किया गया है जिसे वह उत्पन्न करता है और साथ ही जैनदर्शन प्रत्येक द्रव्यको ध्रुवस्वभाव मानकर भी परिणमनशील स्वीकार करता है, अतएव इस दर्शनके अनुसार उपादानमें जब कि कार्यको असामर्थ्य नहीं स्वीकार की गई है ऐसी अवस्थामें सहकारी कारणों द्वारा उस (असामर्थ्य) के खण्डनका प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। अतः भट्टा-कलंकदेवके द्वारा अष्टशतीमें कहे गये उक्त वचनको ध्यानमें रखकर अपर पक्षद्वारा यह फलित किया जाना उचित नहीं है कि—

'इस विवेचनसे यह बात भी अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होने पर ही

होते हैं इस मान्यताके आधार पर आप जो निमित्तोंको अकिंचित्कर मान लेना चाहते हैं वह असंगत है।'

किन्तु इसके स्थानमें अपर पक्षको पूर्वोक्त प्रमाणोंको ध्यानमें रखकर यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि 'स्वयं प्रत्येक उपादान विवक्षित शक्तिसम्पन्न और परिणामस्वभावी होनेके कारण अपने बलसे अपने-अपने कालमें व्यवहारनयसे बाह्य सामग्रीको निमित्तकर विवक्षित कार्यको जन्म देता है।'

इसी प्रकार अपर पक्षने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २१९ और उसकी संस्कृत टीकाको प्रमाण रूपमें उपस्थितकर अपने प्रतिशंकारूप वक्तव्यके बलपर जो यह निष्कर्ष निकालनेका प्रयत्न किया है कि 'प्रत्येक उपादान अनेक योग्यतासम्पन्न होता है, अतः कालादि बाह्य सामग्री जब जैसी मिलती है उसके आधारसे उनमेंसे कोई एक योग्यता कार्यरूपसे परिणमन करती है।' सो अपर पक्षका ऐसा कथन करना भी आगमसम्मत नहीं है, क्योंकि जैसा कि हम पूर्वमें अष्टसहस्री पृ० १५० का उल्लेख उपस्थित कर आये हैं उससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जैसा कार्य होता है उसरूप परिणमनशक्ति लक्षणवाली प्रतिविशिष्ट अन्तःसामग्री ही व्यवहार नयसे बाह्य सामग्रीको निमित्तकर कार्यरूपसे परिणमन करती है। आचार्य विद्यानन्दिने इस वचनमें यह बात स्पष्टरूपसे स्वीकार की है कि प्रत्येक उपादान प्रतिविशिष्ट अन्तःसामग्री सम्पन्न होता है और साथ ही उसरूप परिणमन स्वभाववाला भी होता है, इसीलिए ही वह अपने-अपने कार्य कालमें अपने-अपने कार्यको जन्म देता है। मालूम पड़ता है कि अपर पक्षने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाके समग्र कथनपर ध्यान नहीं दिया है। तभी वह पक्ष प्रत्येक उपादानको कार्यकारणरूप अनेक शक्तिसम्पन्न मानकर उससे बाह्य सामग्रीके बलपर किसी एक कार्यकी उत्पत्ति माननेका साहस कर रहा है। किन्तु आगमका यह अभिप्राय नहीं है। इसकी पुष्टि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १५१ के उसी वचनसे हो जाती है जिसका उल्लेख अपर पक्षने अपनी प्रतिशंकामें किया है। उसमें कहा है—

क्रमभुवोः पर्याययोरेकद्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्।

क्रमसे होनेवाली दो पर्यायों (पूर्वोत्तर पर्यायों) में एक द्रव्यकी प्रत्यासत्ति होनेसे (अर्थात् एक द्रव्यका अन्वय होनेसे) उपादान-उपादेयभाव स्वीकार किया गया है।

इसमें अनन्तरपूर्व और अनन्तर उत्तर दो पर्यायोंमें एक द्रव्यका अन्वय होनेसे उपादान-उपादेयभाव स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया गया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि उपादान उसीकी संज्ञा है जिस रूप कार्य होता है। मालूम पड़ता है कि अपर पक्षको उक्त उल्लेखमें 'द्रव्यप्रत्यासत्तेः' पदको देखकर यह भ्रम हो गया है कि द्रव्यप्रत्यासत्तिका नाम उपादान है और इस भ्रमके कारण ही उसने यह कल्पना कर ली है कि 'उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, इसलिए बाह्य सामग्रीके अनुसार ही उसमें कार्य होता है।' हमें आशा है कि वह अपनी इस मान्यताको बदलकर आगमके अनुसार इस तथ्यको स्वीकार कर लेगा कि 'जैसा कार्य होता है आगममें वैसी कए योग्यतावाला ही उपादान स्वीकार किया गया है।' तभी तो आचार्य प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड अध्याय दो सू० ७, पृ० २३७ में यह वचन कहा है—

तत्रापि हि कारणं कार्येऽनुपक्रियमाणं यावत् प्रतिनियतं कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नोत्पादयतीति चोद्ये योग्यतैव शरणम्।

कार्य कारणका तो उपकार करता नहीं, फिर भी वह जैसे प्रतिनियत कार्यको उत्पन्न करता है वैसे सब कार्योंको क्यों उत्पन्न नहीं करता ऐसा प्रश्न होनेपर उसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि योग्यता ही शरण है।

यह आगम वचन है। यह अन्यके कार्यमें व्यवहारसे निमित्त होनेवाली बाह्य-सामग्री तथा उपादान कारण दोनोंपर लागू होता है। जैसे—अपर पक्ष उपादान कारणको अनेक योग्यतावाला मानता है वैसे ही उसे व्यवहारसे निमित्त होनेवाली बाह्य-सामग्रीको भी अनेक योग्यतावाला स्वीकार करना पड़ेगा और ऐसी अवस्थामें उसके सामने 'नियत योग्यतासम्पन्न उपादान कार्यको जन्म देता है और व्यवहारसे तदनुकूल योग्यतासम्पन्न बाह्य-सामग्री उसमें निमित्त होती है।' इसे स्वीकार किये बिना चारा नहीं रहता। अपर पक्षने चालू प्रतिशंकामें कालप्रत्यासत्तिके रूपमें बाह्य-सामग्रीको कारणता स्वीकार की है सो वह कालप्रत्यासत्ति क्या वस्तु है इसकी ओर यदि उसका ध्यान जाय तो उसके सामने इसे स्वीकार किये बिना अन्य गति नहीं होगी कि प्रत्येक उपादानका जो अपने कार्यका काल है उस कालमें वह सामग्री जो उसमें निमित्त व्यवहारको प्राप्त होती है नियमसे उपस्थित रहती है। आचार्य अमृतचन्द्रदेवने प्रवचनसार गा० ११३ की टीकामें इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर यह वचन कहा है—

पर्याया हि पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः काल एव सत्त्वात्ततोऽन्यकालेषु भवन्त्यसन्त एव।

पर्यायें पर्यायभूत स्वव्यतिरेक व्यक्तिके कालमें ही सत् (विद्यमान) होनेसे उससे अन्य कालोंमें असत् (अविद्यमान) ही हैं।

इसी तथ्यका समर्थन करते हुए पञ्चास्तिकाय गाथा २१ की टीकामें वे कहते हैं—

यदा तु द्रव्यगुणत्वेन पर्यायमुख्यत्वेन विवक्ष्यते तदा प्रादुर्भवति विनश्यति, सत्पर्यायजातमतिवाहितस्वकालमुच्छिनत्ति, असदुपस्थितस्वकालमुत्पादयति चेति।

किन्तु जब द्रव्यकी गौणता और पर्यायकी मुख्यतासे जीव विवक्षित होता है तब वह उपजता है और विनशता है,, जिसका स्वकाल बीत गया है ऐसे सत् (विद्यमान) पर्यायसमूहको नष्ट करता है और जिसका स्वकाल उपस्थित हुआ है ऐसे असत् (अविद्यमान) पर्यायसमूहको उत्पन्न करता है।

पंचास्तिकायका यह वचन केवल जीव द्रव्यकी कुछ पर्यायोंके लिए नहीं आया है। किन्तु यावद् द्रव्यभावी सभी पर्यायोंके लिए आया है। इससे स्पष्ट विदित होता है कि एक जीव द्रव्य ही नहीं, किन्तु सभी द्रव्योंकी सभी पर्यायोंका उत्पाद अपने-अपने कालमें ही होता है। आगममें सर्वत्र कार्यमात्रके प्रति जो काललब्धिका विशेषरूपसे उल्लेख दृष्टिगोचर होता है सो उसका कारण यही है। इसके लिए देखो स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा १८८, २१९ और २४४ तथा अन्य आगम साहित्य। सब कार्य स्वकालमें होते हैं इसका क्या तात्पर्य है इसे स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ९० में लिखते हैं—

न हि स्वाभाविकं निःश्रेयसम्, तत्त्वज्ञानादिकतदुपायानर्थक्यत्वापत्तेः। नापि स्वकाले स्वयमुत्पत्तिः तस्य युक्ता, तत एव। केचित् संख्यातेन कालेन सेत्स्यन्ति भव्याः, केचिदसंख्यातेन, केचिदनन्तेन। केचिदनन्तानन्तेनापि न सेत्स्यन्तीत्यागमान्निःश्रेयसस्य स्वकाले स्वयमुत्पत्तिरिति चेत्? न, आगमस्यैवंपरत्वाभावात्। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमात्मीभावे सति संख्यातादिना कालेन सेत्स्यन्तीत्येवमर्थतया तस्य निश्चितत्वात्। दर्शनमोहोपशमादिजन्यत्वाच्च न दर्शनं स्वकालेनैव जन्यते यतः स्वाभाविकं स्यात्।

निःश्रेयस स्वाभाविक नहीं है, क्योंकि ऐसी अवस्थामें इसके उपायभूत तत्त्वज्ञानादिके अनर्थकपनेका प्रसंग आता है। स्वकालमें स्वयं उत्पत्ति भी उसकी योग्य नहीं है, उसी कारणसे।

शंका—कोई भव्य जीव संख्यात कालद्वारा, कोई असंख्यात कालद्वारा और कोई अनन्त कालद्वारा मोक्ष

जायेंगे। किन्तु कोई जीव अनन्तानन्त कालद्वारा भी मोक्ष नही जायेंगे ऐसा आगम होनेसे विदित होता है कि निःश्रेयसकी स्वकालमें स्वयं उत्पत्ति होती है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि आगमका यह आशय नहीं है। कारण कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रकी स्वरूपलब्धि होनेपर संख्यातादि कालके द्वारा मोक्ष जायेंगे इस अर्थमें वह आगम निश्चित है। दर्शनमोहके उपशमादिजन्य होनेसे सम्यग्दर्शन मात्र स्वकालजन्य नहीं है, जिससे कि वह स्वाभाविक होवे।

यह आगमवचन है। तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ३ में भी इसी रूपमें उक्त तथ्यका स्पष्टीकरण उपलब्ध होता है। सो इन सब प्रमाणोंसे यही ज्ञात होता है कि प्रत्येक कार्य स्वकालमें होकर भी कारणसामग्रीसे जायमान होता है। इसलिए सभी कार्योंकी प्रतिनियत कालमें प्रतिनियत सामग्रीसे उत्पत्ति मानना ही योग्य है। स्पष्ट है कि अपर पक्षने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २१९ में पठित 'णाणासत्तीहिं संजुदा' पदका अर्थ जो अनेक योग्यताओंवाला एक उपादान किया है वह ठीक नहीं है। उस गाथामें 'अत्था' पद बहुवचन है और 'वे सब नानाशक्तिवाले होते हैं।' इतना ही कहा गया है। उसमें उपादानकी तो कहीं चरचा भी नहीं की गई है। संस्कृत टीकाकारने भी इसकी चरचा नहीं की है। उसमें तो सामान्यरूपसे इतना ही कहा गया है कि 'कालादिलब्धिसे युक्त और नाना शक्तियोंसे संयुक्त पदार्थ स्वयं परिणमन करते हुए किसीके द्वारा रोके नहीं जा सकते।' फिर नहीं मालूम कि अपर पक्षने 'उपादान अनेक शक्तिवाला होता है' यह अर्थ उसमेंसे कैसे फलित कर लिया। इसका हमें ही क्या सभीको आश्चर्य होगा। अतएव प्रकृतमें ऐसा ही समझना चाहिए कि प्रत्येक समयमें प्रत्येक उपादान अपने प्रतिनियत कार्यको उत्पन्न करता है और बाह्य सामग्री उसमें व्यवहार हेतु होती है। स्वामी कार्तिकेयकी उक्त गाथाका एक मात्र यही तात्पर्य है, दूसरा नहीं। उक्त गाथाकी संस्कृत टीकामें भव्यत्वशक्तिसे युक्त जीव ही रत्नत्रयको प्राप्त करते हैं या ओदनशक्तिसे युक्त चावल ही ओदन बनता है इत्यादि कथन भी इसी तथ्यको सिद्ध करनेके लिए किया गया है कि जिस कालमें जिस प्रकारका कार्य होता है उसका उपादानकारण उस प्रकारकी शक्तिसे युक्त होकर उस कालमें उस प्रकारके कार्यको करता है। बाह्य सामग्रीके बलसे कार्य होता है इस प्रकारका कथन तो मूल गाथामें किया ही नहीं है, संस्कृत टीकामें भी इस आशयका वचन उपलब्ध नहीं होता।

२५. अनन्तर पूर्वोत्तर दो पर्यायोंमें ही हेतु-फलभाव होता है

अपर पक्षने अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यको उपादान कारण स्वीकार करके भी अपनी इस मान्यताकी पुष्टिके लिए कि 'यदि विवक्षित कार्यकी प्रतिबन्धक सामग्री हो या कारणान्तरोंकी विकलता हो तो उससे विवक्षित कार्य न होकर अन्य वह कार्य होगा जिसके कारणोंकी वहाँ समग्रता रहेगी' यह लिखकर प्रत्येक उपादानको अनेक शक्तिवाला स्वीकार कर लिया है और इस प्रकार अनन्तर पूर्व पर्यायमें उपादानताका निषेध कर मात्र द्रव्यप्रत्यासत्तिमें उपादान कारणता स्वीकार करली है। किन्तु प्रत्येक कार्यमें द्रव्यप्रत्यासत्ति है इसका निर्णय कैसे हो इसके लिए उसने बाह्य सामग्रीकी कालप्रत्यासत्तिको स्वीकार कर लिया है। बाह्य सामग्रीके साथ कार्यकी कालप्रत्यासत्ति है इसका निर्णय कैसे हो इसके लिए 'जिसके बाद जो कार्य होता है वह उसका कारण है, इसे कालप्रत्यासत्तिका नियामक मान लिया है। इस प्रकार अपर पक्षके पूरे कथन पर दृष्टिपात करनेसे विदित तो यही होता है कि द्रव्यमें अपने सब कार्योंको करनेकी शक्तियाँ सदा विद्यमान हैं किन्तु जब जैसी कार्यके अनुकूल बाह्य सामग्री मिलती है तब वह कार्य होता है। अपर

पक्षने अपनी प्रकृत प्रतिशंकामें अपने अभिप्रायकी पुष्टिमें जो पाँच तर्कणाएँ प्रस्तुत की हैं उनका भी यही अभिप्राय है। प्रत्येक द्रव्यमें अतीत, वर्तमान और भविष्यरूप जितने भी कार्य हुए, होते हैं और होंगे वे सब शक्तियाँ सदा विद्यमान हैं इस तथ्यको तो अपर पक्ष अस्वीकार कर नहीं सकता, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य त्रैकालिक पर्यायोंका समुच्चय है इसे आगम ही स्वीकार करता है। आप्तमीमांसामें कहा भी है—

नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां समुच्चयः।
अविभ्राड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा ॥१०७॥

नय और उपनयोंके विषयभूत त्रैकालिक पर्यायोंके अपृथक् भावलक्षण सम्बन्धरूप समुदायका नाम द्रव्य है, जो एक और अनेक प्रकारका है ॥१०७॥

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक द्रव्यमें त्रैकालिक पर्यायें शक्तिरूपमें सदा विद्यमान रहती हैं। अतएव जब कि अपर पक्ष कार्यके अनन्तर पूर्व पर्यायको उपादान कारणरूपसे स्वीकार नहीं करता, ऐसी अवस्थामें सूक्ष्मरूपसे प्रत्येक द्रव्य अनन्तर पूर्व पर्यायकी अ थामें आने पर ही उपादान कारण होता है ऐसा लिखना तो उसका कहानामात्र है। फिर तो उसे यही स्वीकार करना चाहिए कि वास्तवमें द्रव्य सदा उपादान कारण है। किन्तु जब जिस कार्यके अनुकूल बाह्य सामग्री अविकलरूपसे मिलती है तब उसके अनुरू कार्य होता है। चाहे विवक्षित कार्य हो या अविवक्षित कार्य ही क्यों न हो, होगा वह बाह्य सामग्रीके आधार पर ही। इस प्रकार अपर पक्षके पूरे कथनका आलोडन करनेपर एकमात्र यही तथ्य फलित होता है कि प्रत्येक द्रव्यका जो भी कार्य होता है वह बाह्य सामग्रीके द्वारा ही होता है। प्रत्येक द्रव्यमें अपने सब कार्योंकी योग्यता है इतना ही मात्र उपादानकारणका अर्थ है।

किन्तु यह सब कथन कैसे असंगत है, आगे इस बातका विचार करते हैं—

(१) प्रकृत विषयको समझनेके लिए सर्व प्रथम तो यह देखना है कि केवल द्रव्यप्रत्यासत्तिमें ही उपादान कारणता है या उसके साथ पर्यायप्रत्यासत्तिका होना आवश्यक है। अनन्तर पर्वोत्तर पर्यायोंमें ही हेतु-फलभाव देखा जाता है, व्यवहित पूर्वोत्तर पर्यायोंमें नहीं इस तथ्यका निर्देश करते हुए श्री लघु अनन्तवीर्य प्रमेयरत्नमाला अ० ३ सू० ५७ में लिखते हैं—

अनन्तरयोरेव पूर्वोत्तरक्षणयोर्हेतु-फलभावस्य दृष्टत्वात्, व्यवहितयोस्तदघटनात्।

इस उल्लेखमें अव्यवहित पूर्वोत्तर दो पर्यायोंमें उपादान-उपादेयभाव स्वीकार किया गया है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य विद्यानन्दि अष्टसहस्री पृ० १०१ में लिखते हैं—

तत्र ऋजुसूत्रनयार्पणात्तावदुपादेयक्षण एवोपादानस्य प्रध्वंसः।

वहाँ ऋजुसूत्रनयकी मुख्यतासे तो उपादेयरूप पर्याय ही उपादानका प्रध्वंस है।

इस प्रकार इस कथनसे भी यही प्रमाणित होता है कि अव्यवहित पूर्व पर्याय उपादान है और अव्यवहित उत्तर पर्याय उपादेय है।

यह हम मानते हैं कि आगममें द्रव्यप्रत्यासत्तिका भी उपादान कारणरूपसे निर्देश किया गया है सो उसका तात्पर्य यह है कि ये अव्यवहित पूर्वोत्तर पर्याय एक ही द्रव्यकी होनी चाहिए, तभी उनमें उपादान-उपादेयभाव बन सकता है। इस प्रकार आगमके बलसे यह सिद्ध हुआ कि असाधारण द्रव्यप्रत्यासत्ति और अव्यवहित पूर्व पर्यायप्रत्यासत्ति ये दोनों मिल कर ही उपादानकारण कहलाते हैं। अतएव अपर पक्षने जो केवल द्रव्यप्रत्यासत्तिको उपादान कारण स्वीकार किया है वह ठीक नहीं है।

(२) अपर पक्षने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १५१ के—

यदनन्तरं हि यदवश्यं भवति तत्तस्य सहकारिकारणमितरत्कार्यमिति प्रतीतम् ।

सम्भवतः इस वचनको देखकर यह मत बनाया है कि सहकारी सामग्री ही कार्यकी नियामक होती है। किन्तु जब बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता प्रत्येक कार्यमें होती है। ऐसी अवस्थामें केवल व्यवहार हेतुके बल पर कार्यका उसे नियामक मानना उचित नहीं है। वस्तुतः कार्यका नियामक उपादान-कारण ही होता है, क्योंकि उसका परिणाम ही उपादेय है। इस बातको स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री पृ० १०१ में लिखा है—

यद्भावे एव यस्यात्मलाभस्तदुपादानमितरदुपादेयमिति चेन् ? तर्हि प्रागभावे कारणात्मनि पूर्वक्षणवर्तिनि सति प्रध्वंसस्य कार्यात्मनः स्वरूपलाभोपपत्तेरुपादानोपादेयभावोऽस्तु ।

जिसके होने पर ही जिसका आत्मलाभ होता है वह उपादान है और दूसरा उपादेय है, यदि इसे स्वीकार करते ही तो पूर्व क्षणवर्ती कारणस्वरूप प्रागभावके होने पर कार्यस्वरूप प्रध्वंसका स्वरूपलाभ बनता है, इसलिए उनमें उपादान-उपादेयभाव रहे ।

आगममें यह उपादान-उपादेयभावकी व्यवस्था है, निमित्त-नैमित्तिकभावकी व्यवस्था उससे जुड़ी हुई है, क्योंकि जो उपादेय है वही बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा नैमित्तिक व्यवहारपदवीको प्राप्त है और जो बाह्य सामग्री है वही उपादानकी अपेक्षा बाह्य व्याप्तिवश निमित्त संज्ञाको प्राप्त होती है। **जहाँ प्रतिबंधक सामग्री या कारणान्तरोंकी विकलता अपर पक्षने स्वीकार की है वहाँ वह विवक्षित कार्यकी अपेक्षा ही उसे स्वीकार कर रहा है। उस समय वहाँ होनेवाले कार्यकी अपेक्षा नहीं। सो विवक्षा तो मनमें होती है। विवक्षाके अनुसार कोई कार्य होना ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। कार्य तो अपने उपादानके अनुसार उसकी नियत बाह्य सामग्रीको निमित्तकर वस्तुमें होता है।** अतएव विवक्षित कार्यकी अपेक्षा यदि वहाँ पर प्रतिबन्धक सामग्री या कारणान्तरोंकी विकलता या दोनों है तो इससे क्या ? क्या इससे कार्य-कारणपरंपराके अनुसार उस समय होनेवाले कार्यके ऊपर किसी प्रकारकी आँच आना सम्भव है अर्थात् त्रिकालमें आना संभव नहीं है। जिसे अपर पक्ष विवक्षित कार्यकी अपेक्षा प्रतिबन्धक सामग्री या कारणान्तरों की विकलता लिखा रहा है, बहुत सम्भव है कि उस समय होनेवाले कार्यकी अपेक्षा वह उसकी व्यवहारनयसे सहायक बाह्य सामग्री हो ।

आगममें उपादान कारणका तीन प्रकारसे विचार किया है—पर्यायविशेषकी अपेक्षा, द्रव्य (सामान्य) की अपेक्षा और अनन्तर पूर्वपर्याय युक्त द्रव्यकी अपेक्षा। पर्यायकी अपेक्षा विचार करते हुए कार्यको अव्यवहित पूर्व पर्यायको उपादान कहा है, द्रव्यकी अपेक्षा विचार करते हुए मृदादि द्रव्यको उपादान कहा है और द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तुकी अपेक्षा विचार करते हुए कार्यके अव्यवहित पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यको उपादान कहा है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि प्रत्येक उपादान अनेक योग्यताओंवाला न होकर नियत पर्यायशक्ति युक्त द्रव्य ही होता है। अतएव उससे तदनन्तर समयमें प्रतिनियत कार्यको ही जन्म मिलता है और जब वह प्रतिनियत कार्यकी उत्पत्तिके सन्मुख होता है तो प्रतिनियत पर्याययुक्त बाह्य सामग्री ही उसमें निमित्त होती है, इसलिए अपर पक्षने अपनी प्रतिशंकामें क, ख आदि विभाग द्वारा जिन पाँच निष्कर्षोंका निर्देश किया है उन्हें कल्पनामात्र ही जानना चाहिए, **क्योंकि कार्यकी उत्पत्ति विवक्षामें नहीं हुआ करती, उसकी उत्पत्ति तो वस्तुमें होती है।** अतः प्रतिनियत कार्यके प्रतिनियत उपादानको गौणकर और

विवक्षामें आये हुए कार्यको मुख्यकर कुछ भी तर्कणाऐं क्यों न की जाएँ, उनसे क्या ? वे सब तर्कणाएँ प्रतिनियत उपादानकी कसौटी पर कसने पर सब व्यर्थ ठहर जाती हैं।

जैसा कि अपर पक्षने क, ख आदि विभागों द्वारा अपने पक्षको उपस्थित करते हुए हमारे मतके रूपमें यह संकेत किया है कि 'हम स्वकालको उपादान कारण मानते हैं' सो अपर पक्षका ऐसा लिखना कल्पनामात्र है, क्योंकि हमने स्वकालको कहीं भी क्षणिक उपादान नहीं लिखा है। हाँ यदि स्वकालका अर्थ उस-उस द्रव्यकी पर्याय लिया जाता है तो उसे उपादानरूपसे स्वीकार करनेमें कोई आपत्ति भी नहीं है, क्योंकि ऋजुसूत्र नयकी अपेक्षा अनन्तर पूर्व पर्यायको ही उपादान कहा है। प्रमाण दृष्टिसे अवश्य ही अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य उपादान ठहरेगा। ये उपादानके निश्चय-परमार्थभूत लक्षण हैं। व्यवहारनयसे अवश्य ही निश्चय उपादानसे पूर्व वही द्रव्य व्यवहार उपादान कहलाता है और ऐसे उपादानको विवक्षितकर यदि अपर पक्ष क, ख आदि विभाग द्वारा निष्कर्षरूपमें अपनी तर्कणाएँ प्रस्तुत करता है तो उनसे हमें कुछ भी लेना देना नहीं है, क्योंकि आचार्योंने भी व्यवहार उपादानकी अपेक्षा कार्यके अनियमका विधान अनेक स्थलोंपर किया है। किन्तु परमार्थभूत उपादान पर ये तर्कणाऐं लागू नहीं होतीं। वहाँ तो एक मात्र यही कहा जाएगा कि प्रतिनियत जिस कार्यका वह उपादान है अपने स्वकालमें वह उसीको जन्म देगा। इसके लिए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६८ का—

तत एवोपादानस्य लाभे नोत्तरस्य नियतो लाभः

आदि आगम वचन और पृ० ७१ का—

द्व्यादिसिद्धक्षणैः सहायोगिकेवलिचरमसमयवर्तिनो

इत्यादि आगम वचन पढ़ लीजिए। उससे सब स्थिति स्पष्ट हो जायगी।

इन उल्लेखोंसे साफ जाहिर होता है कि व्यवहारसे उपादान संज्ञाको प्राप्त वस्तुके रहनेपर बाह्य-सामग्रीको अनुकूलता और प्रतिकूलताकी अपेक्षा चाहे जितनी तर्कणाएँ प्रस्तुत की जा सकती हैं। न्यायके ग्रन्थोंमें उपादान कारणगत सामर्थ्यकी प्रतिबंधक सामग्री और कारणान्तरोंकी विकलताका निर्देश इसी आधारपर किया गया है, निश्चय उपादानको ध्यानमें रखकर नहीं। यह परीक्षामुख अध्याय ३ सूत्र ६० की टीका प्रमेयकमलमार्तण्डसे स्पष्ट ज्ञात होता है। यदि अपर पक्ष निश्चय उपादानको व्यवहार उपादानकी पंक्तिसे पृथक् रखकर व्यवहार उपादानकी अपेक्षा अपनी प्रतिशंका प्रस्तुत करता तो हम भी 'ओम्' लिखकर व्यवहार नयसे उसे स्वीकार कर लेते। किन्तु उसकी ओरसे तो निश्चय उपादानको ही असमर्थ उपादान बनानेका अश्लाघ्य प्रयत्न किया जा रहा है जो अवश्य ही चिन्ताका विषय है। इस प्रसंगमें अपने पूर्वोक्त समग्र कथनकी पुनरावृत्ति करते हुए अपर पक्षने जो हमें उपदेश देनेका प्रयत्न किया है सो इस सम्बन्धमें हम उससे इतना ही निवेदन कर देना पर्याप्त समझते हैं कि उस पक्षका पुरुषार्थके नामपर अपने उपादानको भूलकर बाह्य-सामग्रीकी कार्य-कारिताके समर्थनमें इतना अधिक उलझ जाना उचित नहीं है। कारण कि उसके इस आचरणके फलस्वरूप स्वावलंबनके मूर्तरूप सच्चे मोक्षमार्गकी गतिके रुद्ध हो जानेकी अधिक सम्भावना है। —देखो प्रवचनसार गाथा १६ की सूरिकृत टीकाका अन्तिम भाग।

इस प्रकार स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २२२ वीं गाथाकी संस्कृत टीकाका तथा अष्टसहस्री पृ० १०५ के 'तदसामर्थ्यं'—इत्यादि वचनका और इनके उल्लेखके साथ प्रस्तुत प्रतिशंकामें उपस्थित की गई अन्य सामग्रीका सप्रमाण विचार किया।

२६. आगमिक अन्य दो प्रमाणोंका यथार्थ तात्पर्य

इसी प्रसंगमें अपर पक्षने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक अ० १ पृ० ७७ के अपने पक्षका समर्थन करनेवाले जानकर दो प्रमाण उपस्थित किये हैं। प्रथम प्रमाण है—

कारणस्याप्रतिबन्धस्य स्वकार्यजनकत्वप्रतीतेः।

प्रतिबन्धरहित कारण ही अपने कार्यका जनक प्रतीत होता है।

सो प्रकृतमें देखना यह है कि आचार्य विद्यानन्दिने यह कथन निश्चय उपादानको लक्ष्यमें रखकर किया है या व्यवहार उपादानको लक्ष्यमें रखकर किया है। आगे इसी बातका विचार करते हैं—

कोई जिज्ञासु शंका करता है कि जब सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानका कारण है तो क्षायिक सम्यग्दर्शन केवलज्ञानको क्यों उत्पन्न नहीं करता ? इसी प्रश्नका समाधान करते हुए आचार्य विद्यानन्दिने निष्कर्षरूपमें उक्त वचन कहा है। क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथेसे लेकर सातवें तक किसी एक गुणस्थानमें उत्पन्न होता है और केवलज्ञानकी उत्पत्ति तेरहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें होती है। इससे स्पष्ट है कि जब यह जीव १२वें गुणस्थानके अन्तिम समयको प्राप्त होता है तभी वह केवलज्ञानकी उत्पत्तिकी अपेक्षा निश्चय उपादान कारण बनता है, उसके पूर्व नहीं। अतः इसके पूर्व यदि 'क्षायिक सम्यग्दर्शन, प्रतिबन्धक कारणोंके कारण केवलज्ञानको उत्पन्न करनेमें असमर्थ है।' यह उत्तर दिया जाता है तो वह युक्तियुक्त है। यहाँपर आचार्य महाराजने प्रतिबन्धक कारणोंसे केवल ज्ञानावरणादि बाह्य-सामग्रीको ग्रहण नहीं किया है। किन्तु उसके साथ उस आत्माको भी ग्रहण किया है जो स्वयं बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयको प्राप्त होनेके पूर्व केवलज्ञानको उत्पन्न करनेमें असमर्थ है। 'प्रतिबन्धक कारण' यह सामान्य निर्देश है। अतः जहाँ इससे केवलज्ञानकार्यके असमर्थ उपादानका ग्रहण होता है वहाँ ऐसी बाह्य-सामग्रीका भी ग्रहण होता है जिसकी बाह्य-व्याप्ति केवलज्ञानकी उत्पत्तिके साथ न होकर उसके पूर्ववर्ती क्षायोपशमिक ज्ञानादिरूप अन्य कार्योंके साथ है। अतः इस उल्लेखद्वारा यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि निश्चय उपादानके अपने कार्यके सन्मुख होनेपर यदि उसका प्रतिबन्धक सामग्री उपस्थित हो जाय तो जिसका वह समर्थ उपादान कारण है वह कार्य न होकर अन्य कार्य होता है। स्पष्ट है कि यह उल्लेख तो अपर पक्षके अभिमतकी पुष्टिमें सहायक नहीं हो सकता।

दूसरा उल्लेख है—

स्वसामग्र्या विना कार्यं न हि जातुचिदीक्ष्यते।

अपनी सामग्रीके बिना कभी भी कोई कार्य नहीं देखा जाता।

यह इस उल्लेखका अर्थ है सो इसे तो कोई भी तत्त्वज्ञ स्वीकार करेगा, क्योंकि बाह्य और आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें कार्य होता है यह एकान्त नियम है। किन्तु प्रकृतमें विचार तो यह चल रहा है कि प्रत्येक कार्यकी निश्चय व्यवहारसे उत्पादक आभ्यन्तर और बाह्य सामग्रीकी समग्रता कब होती है ? इसीके उत्तरस्वरूप हमने आगमप्रमाणके बलपर यह सिद्ध कर दिखाया है कि निश्चय उपादानके कार्यके सन्मुख होनेपर उसकी उत्पत्तिमें बाह्य सामग्रीकी समग्रता रहती ही है। इसी बातको ध्यानमें रखकर तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७० में यह वचन कहा है।

विवक्षितस्वकार्यकारणेऽन्त्यक्षणप्राप्तत्वं हि सम्पूर्णं। तच्च न केवलात्प्रागस्ति चारित्रस्य। ततोऽप्यू-

ध्वंसघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपतया सम्पूर्णस्य तस्योदयात् । न च 'यथाख्यात पूर्णं चारित्रमिति प्रवचनस्यैवं बाधास्ति, तस्य क्षायिकत्वेन तत्र पूर्णत्वाभिधानात् । आदि ।

विवक्षित अपने कार्यके करनेमें अन्त समयको प्राप्तपनेका नाम ही सम्पूर्ण है । किन्तु वह सम्पूर्णता केवलज्ञानके पूर्व चारित्रमें नहीं है । उसके बाद भी अघातिकर्मोंको प्रध्वंस करनेरूपसे सम्पूर्ण चरित्रका उदय होता है । और इससे 'यथाख्यात पूर्ण चारित्र है' इस प्रवचनमें कोई बाधा भी नहीं आती, क्योंकि उसे क्षायिकपनेकी अपेक्षा वहाँ पर पूर्ण कहा है । आदि ।

इससे स्पष्ट है कि अपर पक्षने जो 'स्वसामग्र्या विना' इत्यादि दूसरा उल्लेख अपने पक्षका समर्थक जानकर प्रकृतमें उपस्थित किया है सो उससे भी अपर पक्षका समर्थन न होकर हमारे पक्षका ही समर्थन होता है । आशा है कि अपर पक्ष इस दूसरे उल्लेखको भी अपने आगमविरुद्ध अनिश्चित विचारोंकी पुष्टिमें न समझकर उससे इष्टार्थको समझनेकी ही चेष्टा करेगा ।

२७. टीकांशका पुनः खुलासा

हम पहले स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा गाथा २३० में आये हुए 'णियमा' पदका क्या तात्पर्य है इसका स्पष्टीकरण कर ही आये हैं । इसी प्रकार गाथा २२२ की टीकामें 'मणिमन्त्रादिना' इत्यादि वाक्यांशका भी खुलासा कर आये हैं । परन्तु इन दोनोंकी चरचा अपर पक्षने पुनः की है । सो प्रकृतमें इतना ही स्पष्टीकरण पर्याप्त है कि गाथा २३० में 'णियमा' पद भी निश्चय उपादान और उसके कार्यका नियम करनेके लिए आया है । तथा टीकाका उक्त वाक्यांश भी नियम करनेके लिए आया है । वह नियम इस प्रकार है कि तीनों कालोंके समयप्रमाण जितने भी निश्चय उपादान हैं वे सब अपने-अपने समयमें अपने-अपने कार्यके लिए व्यापारवान् होने पर मणि-मन्त्रादिकसे अप्रतिबद्ध सामर्थ्यवाले होते हैं और उनसे जायमान प्रत्येक कार्यमें कारणान्तरोंकी अविकलता भी रहती है । आशय यह है कि अन्त्यक्षण प्राप्त बाह्य-आभ्यन्तर सामग्री सम्पूर्ण ही होती है, न्यूनाधिक नहीं । और इस प्रकार उससे उत्पन्न होनेवाले कार्यमें कोई बाधा नहीं आती ।

यह ठीक है कि टीकाके इस वाक्यांशद्वारा सामान्यतया बाह्य सामग्री पर प्रकाश डाला गया है । पर इस द्वारा यही तो बतलाया गया है कि जब उपादान अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्य होता है तब कार्यकी बाह्य सामग्री भी परिपूर्ण होती है । ऐसी बाह्य सामग्री नहीं होती जिसे व्यवहारनयसे निश्चय उपादानकी सामर्थ्यको रोकनेवाला माना जा सके या निश्चय उपादानसे जायमान कार्यमें बाह्य सामग्रीकी विकलताकी कल्पना भी की जा सके । अन्यथा 'मणिमन्त्रादिना' पदके पूर्व 'यदि' पद अवश्य दिया गया होता । स्पष्ट है कि गाथा २३० में आया हुआ 'णियमा' पद और उक्त टीकांश भी अपर पक्षके अभिमतका अणुमात्र भी समर्थन नहीं करता ।

२८. अन्य दो प्रमाण तथा उनका खुलासा

आगे अपर पक्षने हमारे द्वारा पिछले उत्तरोंमें दिये गये तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० १०१ और पृ० ७१ के दो प्रमाण उपस्थित कर यह तो स्वीकार कर लिया है कि वे समर्थ उपादानका ज्ञान करानेके लिए आये है । किन्तु वह साथमें निश्चय उपादानके समर्थ उपादान और असमर्थ उपादान ऐसे दो भेद करके अपनी कल्पित मान्यताको दुहरानेके प्रयत्नमें ही लगा हुआ है । उक्त दोनों प्रमाणोंमेंसे प्रथम प्रमाण द्वारा तो स्पष्ट शब्दोंमें निश्चय उपादानका जो लक्षण आगममें सर्वत्र आता है, न केवल उसका समर्थन किया गया है, अपितु उसमें मात्र ऐसी योग्यता मानी गई है जो एक मात्र मोक्षरूप कार्यको ही उत्पादक है और साथ

ही इसे निश्चय उपादान कहा गया है। समर्थ उपादानके स्वरूपपर प्रकाश डालनेवाला इससे और अच्छा उदाहरण नहीं हो सकता।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका दूसरा प्रमाण भी उसी तथ्यकी पुष्टि करता है। इसमें अयोगकेवलीके अन्तिम समय स्थित रत्नत्रयविशिष्ट आत्मा प्रथम समयमें होनेवाली सिद्ध पर्यायको ही क्यों उत्पन्न करता है, द्वितीयादि समयमें होनेवाली सिद्ध पर्यायको क्यों नहीं उत्पन्न कर सकता इसे अग्नि और धूमका उदाहरण देकर सुस्पष्ट शब्दोंमें समझाया गया है। इस उदाहरणमें भी यही बतलाया गया है कि अग्नि प्रथम धूमक्षणको ही उत्पन्न करती है, द्वितीयादि धूमक्षणको नहीं अतएव वह उसका समर्थ उपादान कारण है और साथ ही यह भी सूचना की है कि यदि उपादानको अपने कार्यको उत्पन्न करनेवाला नहीं स्वीकार किया जाता है तो बेचारी कार्य-कारणताकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि अन्त्यक्षण प्राप्त प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें समर्थ उपादान ही होता है और वह अनेक योग्यताओंवाला न होकर एक मात्र ऐसी योग्यतावाला होता है जिससे उसी कार्यको जन्म मिलता है जिस प्रकारकी योग्यता उस उपादानमें होती है।

इस प्रकार इन दोनों उद्धरणोंसे एकमात्र यही सिद्ध होता है कि सभी द्रव्योंकी सभी पर्यायें नियत-क्रमसे ही होती हैं। आगममें उपादान कारणका जो लक्षण दिया है उसे सभी आचार्योंने एक स्वरसे स्वीकार किया है। वह लक्षण कहीं पर समर्थ उपादान कारणको सूचित करता है और कहीं पर असमर्थ उपादान कारणको भी सूचित करता है, आगममें इस आशयका निर्देश कहीं पर अभी तक हमारे देखनेमें नहीं आया है और न ही अपर पक्षकी ओरसे ऐसा एक भी पुष्ट आगम प्रमाण उपस्थित किया गया है जिससे यह ज्ञात किया जा सके कि इसे समर्थ उपादान कारणका लक्षण नहीं समझना चाहिए। शास्त्रीय चर्चा शास्त्रीय प्रमाणोंके आधार पर ही सफल हो सकती है। हम तो आशा करते थे कि अपर पक्ष अपने अभिमतकी पुष्टिमें कोई प्रबल शास्त्रीय प्रमाण उपस्थित करेगा। किन्तु उसकी ओरसे अभी तक ऐसा एक भी प्रमाण उपस्थित नहीं किया जा सका इसका हमें आश्चर्य है। अतएव उक्त दोनों प्रमाणोंको हमारे आशयकी पुष्टिमें समर्थ प्रमाण ही समझना चाहिए। स्वामी कार्तिकेयकी एक-एक गाथा इस आशयकी स्पष्ट शब्दोंमें घोषणा करती है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका भी यही अभिप्राय है और यदि अष्टसहस्रीको दृष्टिपथमें लिया जाय तो उसमें भी कार्य-कारणभावकी व्यवस्था उपादानके उक्त लक्षणके आधार पर ही की गई है।

२९. अन्य दो उल्लेखोंका स्पष्टीकरण

आगे अपर पक्षने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७९ का एक उद्धरण उपस्थित किया है। उस उद्धरणमें बतलाया तो यही गया है कि जब तक कोई भी द्रव्य किसी भी कार्यकी अनन्तर पूर्व पर्यायकी भूमिकामें नहीं आ जाता तब तक वह उस कार्यका समर्थ उपादान कारण नहीं हो सकता। यद्यपि इस उल्लेखमें कालादि सहकारी साधनोंकी भी चर्चा की गई है और यह बतलाया गया है कि यथाख्यातचारित्र सहकारी विशेषसे अपेक्षित होकर ही मुक्तिको उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है सो प्रकृतमें यही विचार करना है कि क्षायिकचारित्र केवलज्ञानके पूर्व मुक्तिकी उत्पत्तिके लिए समर्थ उपादान है या इसके समर्थ उपादान होनेमें स्वयंकी कुछ कमी है ? दूसरा यह विचार करना है कि वह कालादि सामग्री क्या वस्तु है जिसके बिना केवल मोहक्षय मुक्तिको उत्पन्न करनेमें असमर्थ है ? ये दो प्रश्न हैं जिनका यहाँ क्रमसे विचार करना है—

(१) उपादान-उपादेयका विचार करते हुए आचार्य विद्यानन्दि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६८ में लिखते हैं—

दर्शनपरिणामपरिणतो ह्यात्मा दर्शनं। तदुपादानं विशिष्टज्ञानपरिणामस्य निष्पत्तेः, पर्यायमात्रस्य निरन्वयस्य जीवादिद्रव्यमात्रस्य च सर्वथोपादानत्वायोगात् कूर्मरोमादिवत्। तत्र नश्यत्येव दर्शनपरिणामे विशिष्टज्ञानात्मतयात्मा परिणमते, विशिष्टज्ञानासहचरितेन रूपेण दर्शनस्य विनाशात्तत्सहचरितेन रूपेणोत्पादात्। अन्यथा विशिष्टज्ञानसहचरितरूपतयोत्पत्तिविरोधात् पूर्ववत्। तथा दर्शनज्ञानपरिणतो जीवो दर्शनज्ञाने, ते चारित्रस्योपादानम्, पर्यायविशेषात्मकस्य द्रव्यस्योपादानत्वप्रतीतेः घटपरिणमनसमर्थ-पर्यायात्मकमृद्द्रव्यस्य घटोपादानत्ववत्। तत्र नश्यतोरेव दर्शनज्ञानपरिणामयोरात्मा चारित्रपरिणाममियर्ति, चारित्रासहचरितेन रूपेण तयोर्विनाशाच्चारित्रसहचरितेनोत्पादात्। अन्यथा पूर्ववच्चारित्रासहचरितरूपत्व-प्रसंगात्। इति कथंचित्पूर्वरूपविनाशस्योत्तरपरिणामोत्पत्त्यविशिष्टत्वात् सत्यमुपादानोपमर्दनेनोपादेयस्य भवनं। न चैवं सकृद्दर्शनादित्रयस्य सम्भवो विरुद्ध्यते, चारित्रकाले दर्शनज्ञानयोः सर्वथा विनाशाभा-वात्। एतेन सकृद्दर्शनज्ञानद्वयसम्भवोऽपि क्वचिन्न विरुध्यते इत्युक्तं वेदितव्यम्, विशिष्टज्ञानकार्यस्य दर्शनस्य सर्वथा विनाशानुपपत्तेः, कार्यकालमप्राप्नुवतः कारणत्वविरोधात् प्रलीनतमवत्, ततः कार्योत्पत्तेरयोगाद्-गत्यन्तरासम्भवात्।

निश्चयसे दर्शनपरिणाम परिणत आत्मा दर्शन है। वह उपादान है, क्योंकि उससे विशिष्ट ज्ञान परिणामकी उत्पत्ति होती है। निरन्वय पर्यायमात्र और जीवादि द्रव्यमात्रको सर्वथा उपादान होनेका अयोग है, कूर्मादिरोमके समान। वहाँ दर्शनपरिणामके नाश होने पर ही आत्मा विशिष्ट ज्ञानरूपसे परिणमता है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञानसे असहचरितरूपसे दर्शनका नाश होता है तथा उससे सहचरितरूपसे उसका उत्पाद होता है, अन्यथा पहलेके समान विशिष्ट ज्ञान सहचरितरूपसे उसकी उत्पत्तिका विरोध है। तथा दर्शन-ज्ञानसे परिणत जीव ज्ञान-दर्शन हैं। वे चारित्रके उपादान हैं, क्योंकि पर्यायविशेषस्वरूप द्रव्यमें उपादानत्वकी प्रतीति है, घटपरिणमनमें समर्थ पर्यायात्मक मिट्टी द्रव्यके घटोपादानके समान। वहाँ दर्शन-ज्ञान परिणामके नाश होने पर ही आत्मा चारित्र परिणामको प्राप्त होता है, क्योकि वहाँ चारित्र असहचरितरूपसे उनका विनाश होता है और चारित्र सहचरितरूपसे उनका उत्पाद होता है। अन्यथा पहलेके समान चारित्र असहचरितरूपताका प्रसंग आता है। इस प्रकार कथंचित्पूर्वरूपका विनाश उत्तर परिणामकी उत्पत्तिसे अभिन्न होनेके कारण उपादानके उपमर्दनसे उपादेय उत्पन्न होता है यह सत्य है और इस प्रकार एक साथ दर्शनादित्रयकी उत्पत्ति विरोधको प्राप्त नहीं होती, क्योंकि चारित्रके कालमें दर्शन-ज्ञानके सर्वथा विनाशका अभाव है। इससे एक साथ दर्शन-ज्ञानकी उत्पत्ति भी कहीं पर विरोधको प्राप्त नहीं होती यह कहा गया जान लेना चाहिए, क्योंकि विशिष्ट ज्ञान है कार्य जिसका ऐसे दर्शनका विनाश नहीं बन सकता। जो कार्यकालको नहीं प्राप्त होता उसमें कारणत्वका विरोध है, अत्यन्त पहले नष्ट हुएके समान, क्योंकि उससे कार्यकी उत्पत्तिका अयोग है, अन्य कोई गति नहीं।

उपादान-उपादेय भावके ऊपर सर्वाङ्गरूपसे विशेष प्रकाश डालनेवाला यह उल्लेख है। इससे विदित होता है कि—(१) केवल द्रव्य (सामान्य) उपादान नहीं होता, (२) केवल पर्याय उपादान नहीं होता। (३) पर्याय युक्त द्रव्यके उपादान होनेपर भी कार्यका अव्यवहित पूर्व-पर्याययुक्त द्रव्य ही अपने नियत कार्यका उपादान होता है। यह समर्थ उपादानका लक्षण है यह भी इससे स्पष्ट हो जाता है। इसके समर्थनमें आचार्य श्रीने घटरूप परिणामके परिणमनमें समर्थ मिट्टी द्रव्यको घटका उपादान सुस्पष्ट शब्दोंमें सूचित किया है, अतः इससे हम यह भी जान लेते है कि प्रत्येक उपादान अनेक योग्यतावाला न होकर प्रतिनियत कार्यको प्रतिनियत योग्यतावाला ही होता है।

यह उक्त उल्लेखका आशय है। इसके प्रकाशमें जब हम अपर पक्षके द्वारा प्रस्तुत किये गये पूर्वोक्त उल्लेखपर दृष्टिपात करते हैं तो विदित होता है कि वह उल्लेख 'व्यवहार उपादान कार्यकारी नहीं, किन्तु उसके स्थानमें निश्चय उपादान ही कार्यकारी है' इस तथ्यके समर्थनमें ही आया है।

अपर पक्षका यह लिखना कि 'सयोगकेवली गुणस्थानके रत्नत्रय और अयोगकेवली गुणस्थानके चरम समयमें विद्यमान रत्नत्रयके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है' हमें ऐकान्तिक प्रतीत हुआ। अपर पक्षका यह ऐसा ही लिखना है कि जैसे कोई लिखे कि 'स्थासरूप मिट्टीमें और कुशूलरूप मिट्टीमें कोई अन्तर नहीं है।' यदि अपर पक्ष स्थासरूप मिट्टी और कुशूलरूप मिट्टीमें पर्यायभेद मानकर उनमें अन्तर स्वीकार करता है तो प्रकृतमें भी उसे सयोगकेवलीके रत्नत्रयसे अयोगकेवलीके चरम समयमें विद्यमान रत्नत्रयमें पर्यायदृष्टिसे अन्तरको स्वीकार कर निश्चयसे उसे ही सिद्ध पर्यायका उपादान स्वीकार कर लेनेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

आगममें व्यवहारनयकी मुख्यतासे भी कार्य-कारणका विवेचन उपलब्ध होता है और निश्चयकी की मुख्यतासे भी। उसमें व्यवहारनयसे जो विवेचन किया गया है उसका प्रयोजन सामान्य उपादानका ज्ञान करानामात्र है। ऐसे उपादानको अनेक योग्यतावाला कहनेमें भी आपत्ति नहीं। किन्तु जो निश्चय उपादानका विवेचन है वह ऐसे उपादानको ही सूचित करता है जो प्रतिनियत योग्यतावाला होकर प्रतिनियत कार्यको ही जन्म देता है। स्पष्ट है कि इस उल्लेखसे अपर पक्ष अपने अभिमतकी सिद्धि नहीं कर सकता।

अब रह गया दूसरा प्रश्न जिसमें कालादिसामग्रीके विषयमें सूचना की गई है। अपर पक्षका सम्भवतः यह ख्याल है कि अयोगकेवलीके अन्तिम समयके पूर्व ही रत्नत्रय मोक्ष पर्यायको उत्पन्न करनेमें समर्थ है। मात्र कालादि बाह्य सामग्रीके अभावमें ही वह मोक्षकार्यको उत्पन्न करनेमें असमर्थ हो रहा है। अपने इस पक्षके समर्थनमें उसकी ओरसे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७० का 'कालादिसामग्रीको हि' इत्यादि उल्लेख उपस्थित किया गया है। सो प्रकृतमें वह कालादि सहकारी सामग्री क्या वस्तु है इसका यहाँ विस्तारके साथ विचार करना है। आचार्य विद्यानन्दिने सहकारी सामग्रीमें कालविशेषको स्वीकार करके भी अन्तरंग शक्तिविशेषको भी स्वीकार किया है। वे तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६५ में लिखते हैं—

दंडकपाटप्रतरलोकपूरणक्रियानुमेयोऽपकर्षणपरप्रकृतिसंक्रमणहेतुर्वा भगवतः स्वपरिणामविशेषः शक्तिविशेषः। सोऽन्तरंगः सहकारी निःश्रेयसोत्पत्तौ रत्नत्रयस्य, तदभावे नामाद्यघातिकर्मत्रयस्य निर्जरानुपपत्तेः निःश्रेयसानुत्पत्तेः। आयुषस्तु यथाकालमनुभवादेव निर्जरा, न पुनरुपक्रमात्तस्यानपवर्त्यत्वात्। तदपेक्षं क्षायिकरत्नत्रयं सयोगकेवलिनः प्रथमसमये मुक्तिं न संपादयत्येव, तदा तत्सहकारिणोऽसत्त्वात्।

दंड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण क्रियासे अनुमान होता है कि भगवानका स्वपरिणामविशेषरूप शक्तिविशेष अपकर्षण और परप्रकृति संक्रमणका निमित्त है। वह मोक्षकी उत्पत्तिमें रत्नत्रयका अन्तरंग सहकारी कारण है, क्योंकि उसके अभावमें नामादि तीन अघातिया कर्मोंकी निर्जरा नहीं बन सकती और मोक्षकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। आयुकर्मकी तो यथाकाल अनुभवसे ही निर्जरा होती है, उपक्रमसे नहीं; क्योंकि वह अनपवर्त्य है। इसलिए अन्तरंग सहकारी परिणामविशेषकी अपेक्षा रखनेवाला क्षायिक रत्नत्रय सयोगकेवलीके प्रथम समयमें मुक्तिको नहीं ही उत्पन्न करता है, क्योंकि उस समय उसके सहकारी कारणका अभाव है।

आचार्य विद्यानन्दिका यह उल्लेख अपनेमें बहुत ही स्पष्ट है। अपर पक्षने अपने कथनमें जहाँ कालविशेषरूप सहकारी सामग्रीका उल्लेखकर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि केवल बाह्य सामग्रीके अभावमें

केवलीका क्षायिक रत्नत्रय मुक्तिको उत्पन्न करनेमें असमर्थ है वहाँ इस उल्लेखसे यह सिद्ध होता है कि केवलीके क्षायिक रत्नत्रयमें अन्तरंग सहकारी कारणरूप परिणामविशेषका अभाव होनेसे वह मुक्तिको उत्पन्न करनेमें असमर्थ है। इसलिए इस कथनसे यह सिद्ध हो जाता है कि विशिष्ट पर्याय शक्तियुक्त द्रव्य ही अपने कार्यको करनेमें समर्थ है और साथ ही इससे यह भी सिद्ध होता है कि जब प्रत्येक द्रव्य विशिष्ट शक्तियुक्त होता है तब उसके अनुकूल बाह्य सामग्री मिलती ही है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्यमें प्रत्येक समयमें विशिष्ट बाह्याभ्यन्तर सामग्रीका योग मिलता जाता है और उससे प्रत्येक समयमें विशिष्ट कार्यकी उत्पत्ति होती जाती है।

अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनमें जो उल्लेख उपस्थित किये हैं उसमें आया हुआ 'कालविशेष' पद कालविशेषको तो सूचित करता ही है। साथ ही प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायविशेषको भी सूचित करता है, क्योंकि आगममें कालका अर्थ केवल समय ही न करके प्रत्येक द्रव्यकी पर्यायके अर्थमें भी उसका उल्लेख हुआ है। इसके लिए धवला पुस्तक ४ पृ० ३१७ का यह वचन अवलोकनीय है—

दव्वकालजणिदपरिणामो णोआगमभावकालो भण्णदि। पोग्गलादिपरिणामस्स कधं कालववएसो? ण एस दोसो, कज्जे कारणोवयारणिबंधणत्तादो।

द्रव्यकालसे उत्पन्न हुआ परिणाम नोआगमभावकाल कहा जाता है।

शंका—पुद्गलादि द्रव्योंके परिणामकी काल संज्ञा कैसे है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि कार्यमें कारणोपचारनिमित्तक यह संज्ञा है।

प्रत्येक द्रव्यके स्वद्रव्यादिचतुष्टयमें पठित 'स्वकाल' शब्द भी प्रत्येक द्रव्यकी प्रत्येक पर्यायको सूचित करता है इस तथ्यसे अपर पक्ष अनभिज्ञ हो ऐसी बात नहीं है। सो इससे भी यही सूचित होता है कि **प्रकृत उल्लेखमें आया हुआ कालविशेष पद जहाँ बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा कालविशेषरूप निमित्तको सूचित करता है वहाँ जीवद्रव्यकी मुक्ति प्राप्तिकी उपादानकारणरूप पर्यायविशेषको भी सूचित करता है।**

इस प्रकार पूर्वोक्त आगम प्रमाणोंके प्रकाशमें विचार करने पर यह अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका 'कालादिसामग्रीको हि' इत्यादि वचन भी व्यवहार उपादानको ध्यानमें रख कर ही लिखा गया है, निश्चय उपादानको ध्यानमें रखकर नहीं। अतएव 'सब द्रव्योंका प्रत्येक समयका निश्चय उपादान अपने-अपने कार्यकालमें अपने कार्यको नियमसे उत्पन्न करता है और व्यवहारसे उसके अनुकूल विस्रसा या प्रायोगिक बाह्य सामग्री प्रत्येक समयमें नियमसे उपस्थित रहती है।' एकमात्र इस आगमको निर्विवादरूपसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

३०. अनवस्था दोषका परिहार

अब प्रतिशंकाके उस भाग पर विचार करते हैं जिसमें 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि वचनको ध्यानमें रख कर जो अनवस्थादोष दिया गया है। अपर पक्षका कहना है कि—

'जिस प्रकार विवक्षित कार्यकी उत्पत्तिके लिए भवितव्यताको निमित्तोंका सहयोग अपेक्षित है उसी प्रकार उन निमित्तोंकी प्राप्तिरूप कार्यकी उत्पत्तिके लिए भी अन्य निमित्तोंके सहयोगकी अपेक्षा उसे (भवितव्यताको) नियमसे होगी और फिर उन निमित्तोंकी प्राप्ति भी भवितव्यताको अन्य निमित्तोंके सहयोगसे ही

हो सकेगी। इस प्रकार यह प्रक्रिया अनवस्थाकी जनक होनेके कारण कार्योत्पत्तिके विषयमें स्वीकार करनेके अयोग्य है।'

सो मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष स्वयंके द्वारा मानी गई कार्यकारणकी प्रक्रियामें आनेवाले अनवस्था दोषसे बचनेके अभिप्रायसे ही ऐसा लिख रहा है। वस्तुतः यह दोष भवितव्यताको मुख्य मान कर कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार करने पर नहीं उपस्थित होता, क्योंकि अपनी अपनी भवितव्यतानुसार सभी कार्य अपने अपने कालमें हो रहे हैं और उनका पूर्वोत्तर पर्यायोंकी अपेक्षा परस्पर उपादान-उपादेयभाव तथा अन्वय-व्यतिरेकके नियमानुसार प्राप्त बाह्य सामग्रीके साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सहज ही बनता जाता है। कार्य-कारणकी इस प्रक्रियामें कोई किसीके आधीन होकर प्रवृत्ति करता है यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। हाँ अपर पक्ष प्रत्येक उपादानको अनेक योग्यतावाला मानकर कार्य-कारणपरम्पराको अनवस्था दोषसे मुक्त नहीं रख सकता, क्योंकि जिस बाह्य सामग्रीको वह कार्यक्षम मानता है वह भी अलग-अलग अनेक योग्यता सम्पन्न होनेसे उनमेंसे किस कार्यके लिए कौन योग्यता निमित्त हो यह उससे भिन्न बाह्य सामग्री पर अवलम्बित रहेगा और तद्भिन्न वह बाह्य सामग्री भी अलग-अलग अनेक योग्यता सम्पन्न होनेसे उनमेंसे भी किसको कौन योग्यता निमित्त हो यह अन्य बाह्य सामग्री पर अवलम्बित रहेगा। और इस प्रकार सर्वत्र कार्य-कारण परंपरामें अनवस्था दोष आनेके कारण या चक्रक और इतरेतराश्रय दोष आनेके कारण किसी भी बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीसे किसी भी कार्यका उत्पन्न होना अशक्य हो जानेके कारण सभी द्रव्य अर्थक्रियासे शून्य होकर अपरिणामी हो जावेंगे। और अन्तमें उनका अभाव होकर जगत् द्रव्यशून्य हो जायगा। भट्टाकलंकदेव इस तथ्यको जानते थे। तभी तो उन्होंने पिछले पुण्य-पाप और प्रत्येक जीवमें विद्यमान पौरुषरूप परिणमनेकी सामर्थ्यको लक्ष्यमें रखकर पौरुषकी उत्पत्तिका निर्देश करते हुए 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि वचन कहा है। स्वामी समन्तभद्र भी इस तथ्यसे भलीभाँति परिचित थे और यही कारण है कि उन्होंने भी कार्य-कारणके हार्दको जानकर अपने आप्तमीमांसामें 'दैवादेवार्थसिद्धिः' (का० ८८) इत्यादि कारिका कही है।

३१. बाह्य सामग्रीमें अकिंचित्करपनेका खुलासा

बाह्य सामग्री अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त होकर भी अकिंचित्कर है इसका यह तात्पर्य है कि एक द्रव्य और उसके गुण पर्यायोंका दूसरे द्रव्य और उसके गुण-पर्यायोंमें अत्यन्ताभाव है। प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी प्रतिनियत सत्ताके भीतर ही कार्यशील है। कोई भी द्रव्य अपनी प्रतिनियत सत्ताको छोड़कर अन्य द्रव्यकी प्रतिनियत सत्तामें प्रवेश नहीं कर सकता। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर आचार्य समन्तभद्रने अपनी आप्तमीमांसामें यह वचन कहा है—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते ॥१५॥

स्वरूपादिचतुष्टयकी अपेक्षा सभी पदार्थ सत् ही हैं इसे कौन स्वीकार नहीं करेगा, तथा पररूपादिचतुष्टयकी अपेक्षा सभी पदार्थ असत् ही हैं इसे भी कौन स्वीकार नहीं करेगा। यदि ऐसा न होवे तो प्रत्येक प्रतिनियत पदार्थकी व्यवस्था ही नहीं बन सकती ॥१५॥

आचार्य विद्यानन्दि भी इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए दूसरे शब्दोंमें लिखते हैं—

स्वपररूपोपादानापोहनव्यवस्थापाद्यत्वाद्वस्तुनि वस्तुत्वस्य।

अपने स्वरूपके उपादान और परके स्वरूपके अपोहनकी व्यवस्था करना ही वस्तुका वस्तुत्व है।

यही कारण है कि **अपने गुण-पर्यायों द्वारा एक द्रव्यका दूसरे द्रव्यमें व्यापार होना त्रिकालमें असंभव है,** इसलिए तो बाह्य सामग्रीको पर द्रव्यके कार्यमें व्यवहारसे निमित्तरूपसे स्वीकार करके भी वह कर्ता आदिपनेकी दृष्टिसे परद्रव्यका कार्य करनेमें अकिंचित्कर ही है। फिर भी एक द्रव्यके कार्यमें दूसरे द्रव्यकी विवक्षित पर्यायको जो व्यवहारसे निमित्त संज्ञा प्राप्त है उसका कारण उस कार्यके प्रति उसकी व्यवहारनयसे अनुकूलता ही समझनी चाहिये। व्यवहारनयकी अपेक्षा यह अनुकूलता दो प्रकारसे प्राप्त होती है—एक तो बलाधान हेतुरूपसे और दूसरे अनुकूल क्रिया परिणामरूपसे। विशेष खुलासा पूर्वमें कर ही आये हैं। अतः अपर पक्षने प्रकृतमें इस प्रसंगको लेकर जो नाना आपत्तियाँ उपस्थित की हैं वे हमारे कथन पर लागू नहीं होतीं।

३२. नयोंके विषयका स्पष्टीकरण

प्रकृतमें अपर पक्षने व्यवहारनयके विषयको आरोपित स्वीकार करने पर जो आपत्ति उपस्थित की है वह भी हमारे कथनपर लागू नहीं होती, क्योंकि सब ज्ञान हैं और उनके निश्चय-व्यवहाररूप सब विषय हैं। जीवकी संसार-मुक्त अवस्था है और संसारके बाह्यआभ्यन्तररूप उपचरित-अनुपचरित सब हेतु हैं। इसलिए न तो किसीका अभाव है और न असत् युक्तियोंसे उनका अभाव ही किया जा सकता है। जो जिस रूपमें हैं वे सम्यग्ज्ञान द्वारा उसीरूपमें जाने जाते हैं। बाह्य द्रव्यमें निमित्तता किस रूपमें स्वीकृत है यह भी वह जानता है, असद्भूतव्यवहारनय जैसा कहता है, वस्तु वैसी नहीं है यह भी वह जानता है। जैसे असद्भूत व्यवहारनयकी अपेक्षा किसीको 'कमलनयन' कहते हैं, परन्तु जिसका नाम कमलनयन है वह द्रव्य, गुण और पर्याय इन तीनों रूपसे कमलनयन नहीं है। इसलिए सम्यग्ज्ञानी पुरुष यह जानते हैं कि इसे असद्भूत-व्यवहारनयसे 'कमलनयन' कहा जा रहा है, वह परमार्थरूपमें कमलनयन नहीं है। धवला पु० १ पृ० ७४ में नामके दश भेद करके 'नोगौण्य पद' का खुलासा करते हुए आचार्य वीरसेन लिखते हैं—

नोगौण्यपदं नाम गुणनिरपेक्षमनन्वर्थमिति यावत्। तद्यथा—चन्द्रस्वामी सूर्यस्वामी इन्द्रगोप इत्यादीनि नामानि।

जिन संज्ञाओंमें गुणोंकी अपेक्षा न हो, अर्थात् जो असार्थक नाम है उन्हें नोगौण्य पद नाम कहते हैं। जैसे—चन्द्रस्वामी, सूर्यस्वामी, इन्द्रगोप इत्यादि नाम।

सर्वार्थसिद्धि अध्याय १ सू० ५ में इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं—

अतद्गुणे वस्तुनि संव्यवहारार्थं पुरुषकारान्नियुज्यमानं संज्ञाकर्म नाम।

अतद्गुण वस्तुमें व्यवहारके लिये अपनी इच्छासे की गई संज्ञाको नाम कहते हैं।

यह वस्तुस्थिति है जिसे सभी आचार्योंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है, अतएव सम्यग्ज्ञानमें ऐसा स्वीकार करने पर व्यवहारका लोप हो जायगा, अपर पक्षका ऐसा कहना सर्वथा असंगत है। वस्तुस्थिति क्या है और व्यवहार क्या है इतना दिखलाना मात्र निश्चयनय-व्यवहारनयका प्रयोजन है। हमें विश्वास है कि अपर पक्ष इस प्रकार वस्तुस्थितिको समझकर आगममें जहाँ जिस दृष्टिसे प्रतिपादन किया गया है उसे हृदयंगम करेगा। अपनी प्रतिशंकाको उपस्थित करते हुए अपर पक्षने जो अन्य प्रतिशंकाओंमें इस विषयके विशेष विवेचनकी सूचना की है या उनपर दृष्टि डालनेका संकेत किया है सो उन प्रतिशंकाओंका उत्तर लिखते समय वे दृष्टिपथमें आई हैं या आवेंगी ही। वहीं उनपर विशेष विचार किया है या करेंगे।

३३. समयसारकी ८० वीं गाथाका वास्तविक अर्थ

अपर पक्षने इसी प्रसंगमें सभी वस्तुओंमें परस्पर निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध कैसे बन रहा है और इस आधारसे कहाँ किस प्रकार निश्चित क्रम और अनिश्चित क्रम है इसका अपनी कल्पनाके आधार पर विवेचन करते हुए समयसार गाथा ८० को उपस्थितकर उसके अर्थको बदलनेका भी प्रयास किया है। समयसारकी गाथा है—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि ॥८०॥

इस गाथाका सही अर्थ है—

जीवके परिणामोंको निमित्तकर पुद्‌गल कर्मरूपसे परिणमते हैं और पुद्‌गल कर्मोंको निमित्तकर जीव भी उसी प्रकार परिणमता है ॥८०॥

इस गाथाकी संस्कृत टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं—

यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्‌गलाः कर्मत्वेन परिणमन्ति, पुद्‌गलकर्म निमित्तीकृत्य जीवोऽपि परिणमति।

इस टीकाका अर्थ वही है जो हमने पूर्वमें किया है। किन्तु अपर पक्षने अपने अभिप्रायकी सिद्धि करनेके लिये उक्त गाथाका यह अर्थ किया है—

'जीवके परिणमनका सहयोग पाकर पुद्‌गल कर्मरूप परिणत होते हैं और पुद्‌गलकर्मका सहयोग पाकर जीव भी परिणमनको प्राप्त होते हैं। अतः जीवों और पुद्‌गलोंके ऐसे परिणमन भी स्व-परप्रत्यय माने गये है।'

गाथाके पूर्वार्द्धमें 'परिणमंति' और उत्तरार्द्धमें 'परिणमदि' पाठ है। आचार्य अमृतचन्द्रने अपनी टीकामें इन क्रियापदोंको इसी रूपमें रखा है। इनका शब्दार्थ हम पूर्वमें दे ही आये हैं। किन्तु अपर पक्षने इन क्रियापदोंका 'परिणमते हैं' या 'परिणमता है' यह अर्थ न करके इसके स्थानमें क्रमशः 'परिणत होते हैं' या 'परिणमनको प्राप्त होते हैं' यह अर्थ किया है। यों तो साधारण दृष्टिसे उक्त क्रियापदोंसे व्यक्त होनेवाले अर्थमें और अपर पक्ष द्वारा इन क्रियापदोंके किये गये अर्थमें सामान्य मनुष्यको अन्तर नहीं प्रतीत होगा। किन्तु अपर पक्षने उक्त क्रियापदों द्वारा स्पष्टरूपसे व्यक्त होनेवाला कर्तृपरक अर्थ न करके दूसरा अर्थ सकारण किया है।

बात यह है कि निश्चय और व्यवहारके भेदसे षट्कारक दो प्रकारके आगममें वर्णित हैं। उनमेंसे निश्चय षट्कारक यथार्थ हैं और व्यवहार षट्कारक उपचरित हैं, अर्थात् व्यवहार षट्कारक एक द्रव्यके वास्तविक कर्ता आदि धर्मोंको दूसरे द्रव्य पर आरोपित कर कहे गये हैं। उपचारका प्रयोजन किस द्रव्यकी किस द्रव्यके साथ बाह्य व्याप्ति किस रूपमें है इस द्वारा निश्चय षट्कारकका ज्ञान करानामात्र है। इसके लिए पञ्चास्तिकाय गाथा ५७ से लेकर ६५ तककी गाथाएँ और उनकी आचार्य अमृतचन्द्र कृत टीका अवलोकनीय है। जिनवचन क्या है इसका सम्यक् प्रकारसे विवेचन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द वहीं पर लिखते हैं—

कुव्वं सगं सहावं अत्ता कत्ता सगस्स भावस्स।
ण हि पोग्गलकम्माणं इदि जिणवयणं मुणेयव्वं ॥६१॥

अपने स्वभाव (पर्याय) को करता हुआ आत्मा अपने भावका कर्ता है, पुद्गलकर्मोंका नहीं, यह जिन-वचन जानना चाहिए ॥६१॥

यह उक्त गाथाका अर्थ है। इसी शास्त्रकी गाथा ६२ की संस्कृत टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने कर्म और जीव दोनोंकी अपेक्षा निश्चय षट्कारकका स्पष्ट शब्दोंमें विवेचन किया है। तथा व्यवहार षट्कारक परमार्थभूत क्यों नहीं हैं इसका कर्ताकारककी मुख्यतासे एक वाक्य द्वारा निषेध कर दिया है। वे लिखते हैं—

अतः कर्मणः कर्तुर्नास्ति जीवः कर्ता, जीवस्य कर्तुर्नास्ति कर्म कर्तृ निश्चयेनेति।

इसलिए निश्चयसे कर्मरूप कर्ताका जीव कर्ता नहीं है तथा जीवरूप कर्ताका कर्म कर्ता नहीं है।

यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि निश्चयसे जीव या कर्म एक दूसरेके कर्ता भले ही न बनें। व्यवहार-नयसे तो जीव कर्मका और कर्म जीवका कर्ता है ही और इन दोनोंमें व्यवहारसे रहनेवाला कर्तृत्व धर्म यथार्थ होनेसे इसे उपचरित कहना उचित नहीं है? आचार्य अमृतचन्द्रने इसी शास्त्रकी गाथा २७ की टीकामें व्यवहारसे जीव कर्मका कर्ता है इस विषयका विशदरूपसे विवेचन किया ही है, इसलिए उसे एकान्तसे अपर-मार्थभूत कहना उचित नहीं है। यह एक प्रश्न है। समाधान यह है कि स्वयं आचार्य कुन्दकुन्दने इसी शास्त्रकी गाथा ५८ में इस प्रश्नको उपस्थित कर गाथा ६० में उसका समाधान किया है। वे गाथा ५८ में कहते हैं—

कम्मेण विणा उदयं जीवस्स ण विज्जदे उवसमं वा।
खइयं खओवसमियं तम्हा भावं कम्मकयं ॥५८॥

कर्मके विना जीवके उदय, उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम नहीं होता, इसलिए भाव (जीवभाव) कर्मकृत हैं ॥५८॥

किन्तु यह कथन यथार्थ क्यों नहीं है इसका विचार करते हुए वे गाथा ६० में लिखते हैं—

भावो कम्मणिमित्तो कम्मं पुण भावकारणं भवदि।
ण दु तेसिं खलु कत्ता ण विणा भूदा दु कत्तारं ॥६०॥

जीवभावका कर्म निमित्त है और कर्मका जीव निमित्त है, परन्तु एक दूसरेके वास्तविक कर्ता नहीं हैं और वे कर्ताके बिना होते हैं ऐसा भी नहीं है ॥६०॥

यहाँपर आचार्य कुन्दकुन्द जीव कर्मका और कर्म जीवका कर्ता है इस व्यवहारका निषेध करते हैं तथा जीव अपने जीवभावका और कर्म अपने कर्मपरिणामका कर्ता है इस निश्चयकी स्थापना करते हैं। सो क्यों? जिस प्रकार आचार्य महाराज व्यवहार पक्षको उपस्थित कर उसका निषेध करते हुए इसी शास्त्रकी गाथा ५९ में—

ण कुणदि अत्ता किंचि वि मुत्ता अण्णं सगं सहावं।

और समयसार गाथा २९ में—

'तं णिच्छए ण जुज्जदि'—

लिखते हैं उस प्रकार उन्होंने पहले निश्चय पक्षको उपस्थित कर क्या कहीं उसका निषेध करते हुए लिखा है कि 'तं ववहारे ण जुज्जदि।' वे व्यवहार नयको प्रतिषेध्य और निश्चयनयको प्रतिषेधक (समयसार गाथा २७२ में) क्यों लिखते हैं? इसका कोई कारण तो होना चाहिए? अपर पक्षने इस तथ्यका क्या कभी विचार किया है? यदि वह इसका समीचीन रीतिसे विचार करे तो उसे निश्चयरूप अर्थ सत्यार्थ है और असद्भूत व्यवहाररूप अर्थ उपचरित होनेसे असत्यार्थ है इसे समझनेमें देर न लगे।

हाँ, यदि वह निश्चयार्थके समान असद्भूत व्यवहारार्थको परमार्थभूत सिद्ध करनेको ही अपना चरम लक्ष्य मानता हो तो बात दूसरी है ।

दो द्रव्योंके आश्रयसे सभी आचार्योंने सर्वत्र जो यह सरणि अपनाई है सो उसका मूल कारण एक तो यह है कि प्रत्येक द्रव्यका गुण-धर्म दूसरे द्रव्यमें पाया नहीं जाता और दूसरा कारण यह है कि प्रत्येक द्रव्यका गुण-धर्म प्रतिसमय अपने व्यापारमें ही उपयुक्त रहता है, इसलिए यदि हम जीवभावको कर्म परिणाममें या कर्मके उदयको जीवभावमें निमित्तमात्र होता हुआ देखकर यह व्यवहार करते हैं कि जीवने कर्मको किया या कर्मने जीवको किया तो वह वास्तविक न होकर अपरमार्थभूत ही सिद्ध होता है, क्योंकि जीवमें जीवभावका कर्तृत्व धर्म तो है, परन्तु ज्ञानावरणादि कर्मोंका कर्तृत्व-धर्म नहीं है और इसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मोंमें अपना कर्तृत्व धर्म तो है परन्तु जीवभावका कर्तृत्व धर्म नहीं है। यही कारण है कि व्यवहारनयसे एक द्रव्यको जो दूसरे द्रव्यका कर्ता आदि कहा जाता है वह वास्तविक न होनेसे उपचरित, आरोपित, असत्यार्थ या अपरमार्थभूत कहा जाता है। दूसरोंको चिढ़ानेके लिये हम इन शब्दोंका प्रयोग करते हों ऐसा नहीं है। किसीको चिढ़ानेका उपक्रम करना यह मोक्षमार्गकी प्रक्रियाके विरुद्ध है। यह तो वस्तुस्वरूपका विश्लेषणमात्र है जो युक्तियुक्त होनेसे प्रयोजन वश किया जाता है।

इतने विवेचनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अपर पक्षने समयसार गाथा ८० का जो अर्थ किया है वह केवल व्यवहार कथनको परमार्थभूत ठहरानेके अभिप्रायसे ही किया है।

साथ ही उस पक्षकी ओरसे इसी प्रसंगमें जो 'आकाश द्रव्य समस्त वस्तुजातको अपने अन्दर समाये हुए है' इत्यादि कथन किया है वह भी इसी अभिप्रायसे किया है जो युक्तियुक्त नहीं है। आचार्य पूज्यपाद तो सर्वार्थसिद्धि अध्याय ५ सू० १२ में यह कहें कि 'धर्मादिक द्रव्योंका आकाश अधिकरण है यह व्यवहारनय से कहा जाता है।' और अपर पक्ष उसके स्थानमें यह लिखे कि 'आकाश द्रव्य समस्त वस्तुजातको अपने अन्दर समाये हुए है।' सो यह सब क्या है ? क्या यह जिनागमके विरुद्ध कथन नहीं है।

इसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द तो पञ्चास्तिकाय गाथा २४,२५ व १०० में यह कहें कि 'निमिष, काष्ठा, कला, नाली, दिन-रात, महीना, अयन और संवत्सर आदिरूप व्यवहारकाल जीव और पुद्गलोंके परिणमनसे जाना जाता है' और इसके स्थानमें अपर पक्ष यह लिखे कि 'सभी कालद्रव्य अपनेसे सम्बद्ध वस्तुओंकी सत्ताको ओर उसमें अपने-अपने प्रतिनियत कारणों द्वारा होनेवाले परिणमनोंको समय, आवली, घड़ी, घंटा, दिन, सप्ताह, पक्ष, माह और वर्ष आदिमें बद्ध करके विभाजित करते रहते है।' सो यह क्या है ? क्या यही जैन संस्कृति है ? इस आधार पर हम यह कह सकते हैं कि अपर पक्षने यह या इसी प्रकारका अन्य जितना भी कथन यहाँ पर किया है वह सबका सब इसी प्रकारके अनेक भ्रमोंको लिए हुए है। हमें इसका आश्चर्य नहीं कि उसकी ओरसे इस प्रकारका भ्रमपूर्ण कथन किया गया है। आश्चर्य इस बातका है कि वह इसे जैन संस्कृति घोषित करनेका साहस भी करता है। अस्तु, स्पष्ट है कि उसकी ओरसे व्यवहारनयसे कहे गये निमित्त-नैमित्तिक भावको लेकर अपनी प्रतिशंकामें जो कुछ भी विवेचन किया गया है उसे मात्र भ्रमोत्पादक ही जानना चाहिए।

आगे अपर पक्षने अपनी प्रतिशंका २ जिन विषयोंको लेकर स्थापित की थी और जिनका सप्रमाण समाधान हम अपने दूसरी बार लिखे गये उत्तरके समय कर आये हैं उन्हीं विषयोंके क्रमसे हमारे द्वारा दिये गये उत्तरको आधार बनाकर जो पुनः प्रतिशंका उपस्थित की गई है उसका विचार उसी क्रमसे करते हैं—

विचारणीय मुख्य विषय ये हैं—१. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी तीन गाथायें तथा तत्सम्बंधी अन्य सामग्री। २. अकालमें दिव्यध्वनि। ३. निर्जरा तथा मुक्तिका अनियत समय। ४. अनियत गुणपर्याय। ५. क्रम-अक्रमपर्याय। ६. द्रव्यकर्मकी अनियतपर्याय और ७. निमित्त-उपादान कारण।

इन विषयोंपर अपर पक्षने जो सामान्यरूपसे प्रतिशंकाका कलेवर निर्मित किया है उसका ऊहापोह तो हम कर ही आये हैं। आगे इनके आधारसे जो अपर पक्षका कहना है उस पर विचार करते हैं—

३४. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी ३ गाथायें आदि

अपर पक्षने 'एवं जो णिच्छयदो' गाथाके जिन पदोंको हमने भिन्न टाईपमें दिया है उस सम्बन्धी हमारे स्पष्टीकरणको उद्धृत कर शुद्ध सम्यग्दृष्टिका खुलासा करते हुए जो पुनः यह लिखा है कि—'श्रुतज्ञानी सम्यग्दृष्टि केवलज्ञानके विषयकी अपेक्षा उस तत्त्वको यथार्थ मानता है जिसको पूर्वोक्त दो गाथाओंमें प्रतिपादित किया गया है और श्रुतज्ञानके विषयकी अपेक्षा कार्य-कारणभाव पद्धतिको भी यथार्थ मानता है।' सो यहाँ यह देखना है कि जिसे अपर पक्ष मात्र श्रुतज्ञानका विषय बतला रहा है वह क्या केवलज्ञानके विषयके बाहर है ? वह कार्य-कारणपद्धति क्या वस्तु है जिसे केवलज्ञान नहीं जानता ? उपादान-उपादेयभावका ही दूसरा नाम कार्य-कारणभाव है जो यथार्थ है। सो यदि उसे केवलज्ञानके विषयके बाहर माना जाता है और इसलिए दिव्यध्वनि द्वारा उसका प्रतिपादन नहीं हुआ है तो उसे स्वीकार करनेवाला जीव सम्यग्दृष्टि और तदनुसार यथार्थ श्रुतज्ञानी कैसे हो सकता है ? वह तो केवल अतत्त्वश्रद्धान और मिथ्याज्ञान ही होगा, अतएव केवलज्ञानके विषयके अनुसार जैसी श्रद्धा हो, सम्यक् श्रुतज्ञानी जीव उसीके अनुसार कार्य-कारणभाव पद्धतिको यथार्थ मानता है, अन्यको नहीं ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

हम 'णिच्छयदो' पदको ध्यानमें रखकर यह लिख आये हैं कि निश्चय (उपादान) की प्रधानतासे विचार करने पर ज्ञात होता है कि आगममें अकालमृत्यु आदिका निर्देश व्यवहारनय (उपचारनय) की अपेक्षा किया गया है, निश्चयनयकी अपेक्षा नहीं। सो हमारे इस कथन पर अपर पक्षका कहना है कि—'जितना भी मरण है चाहे वह अकालमरण हो या कालमरण दोनों व्यवहाररूप हैं।' सो उस पक्षका ऐसा लिखना ठीक नहीं है, क्योंकि 'कालमरण' जीवकी व्ययरूप पर्याय होनेसे पर्यायार्थिक निश्चयनयकी अपेक्षा यथार्थ ही है। हाँ, इसमें बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा जो नयार्थकी योजना की गई है वह परसापेक्ष कथन होनेसे अवश्य ही उपचरित है। यही कारण है कि अकालमरणको हमने इस अपेक्षासे व्यवहार (उपचरित) लिखा है।

अपर पक्षका यह लिखना भी सिद्धान्तविरुद्ध है कि 'आत्मा स्वभावतः अमर है' क्योंकि द्रव्यार्थिक दृष्टिसे जैसे आत्मा अमर है वैसे ही पर्यायार्थिक दृष्टिसे वह उत्पाद-व्यय स्वभाववाला भी है। यह दोनों कथन परमार्थभूत हैं। शुद्ध निश्चयनयकी विषयभूत वही वस्तु अंश भेद करने पर सद्भूत व्यवहारनयका भी विषय हो जाती है।

हमने असद्भूतव्यवहारको उपचरित अवश्य लिखा है और है भी वह उपचरित ही। पर सद्भूत व्यवहारको हमने कहीं भी सर्वथा उपचरित नहीं लिखा, क्योंकि अखण्ड वस्तुमें गुण-पर्यायका सद्भाव वास्तविक है। स्पष्ट है कि हमने अपने पिछले उत्तरमें अकालमृत्युको व्यवहारनयकी अपेक्षा जो उपचरित लिखा है वह आगमसम्मत होनेसे यथार्थ ही लिखा है।

आगे अपर पक्षने निश्चयनय और व्यवहारनयके जो लक्षण लिखे हैं उनका विशेष विचार हम प्रतिशंका ६ के उत्तरमें करनेवाले हैं, अतः यहाँ हम उनके खण्डनमें न पड़कर इतना ही लिख देना पर्याप्त

समझते हैं कि आगममें इन नयोंके इस प्रकारके लक्षण कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होते। इसलिए वे यथार्थ नहीं हैं। हाँ, प्रकृतमें अपर पक्षका अपने कथनका यह आशय हो कि जिस वस्तुका जो गुण-धर्म है उसको उसीका जो नय कहे या जाने वह निश्चयनय है और जो बाह्य सामग्रीके संयोगको देखकर निमित्तादिवश अन्य वस्तुके गुण धर्मको अन्यका कहे या जाने वह व्यवहारनय है तो हमें कोई आपत्ति नहीं है।

आगे अपर पक्षने अपनी बातको रखनेका प्रयास करते हुए अन्तमें 'सभी कार्य स्वकालमें होते हैं' इसका विरोध करनेके अभिप्रायसे जो कार्य-कारण पद्धतिको अपनानेकी बात लिखी है सो यह केवल उस पक्षका आग्रहमात्र है, क्योंकि सभी कार्योंका स्वकालमें होना स्वीकार करनेमात्रसे कार्य-कारण पद्धतिके अपनानेमें आगमसे कोई विरोध नहीं आता। हाँ, इससे अपनी अनियन्त्रित वृत्ति (राग-द्वेष-मोह परिणति) को निरुद्ध करनेका अवसर अवश्य ही मिलता है। लोकमें जितने भी पदार्थ हैं चाहे वे अशुद्धदशामें हों या शुद्ध दशामें उन सभीके कार्य (उत्पादन-व्यय) तो कार्य-कारणपद्धतिसे ही हो रहे हैं और होते रहेंगे। अपर पक्ष जब यह मानता ही है कि 'कुछ कार्य नियत क्रमसे भी होते हैं' और ऐसा स्वीकार करने पर भी जब कार्य-कारण पद्धतिमें विरोध उपस्थित नहीं होता, ऐसी अवस्थामें सभी कार्योंका नियतक्रमसे होना स्वीकार कर लेने पर कार्य-कारणपद्धतिमें विरोध कैसे उपस्थित हो जाता है इसका वह स्वयं निर्णय करे।

इसी प्रसंगमें अपर पक्षने समयसार आत्मख्याति टीकासे 'जइ जिणमयं पवज्जह' इत्यादि गाथा उद्धृत की है सो वह गाथा निश्चयनय और सद्भूतव्यवहारनयके प्रतिपादनके प्रसंगसे आई है। परन्तु अपर पक्षकी ओरसे वह गाथा किस प्रयोजनसे उपस्थित की गई है इसका विशेष खुलासा उसकी ओरसे न किया जानेके कारण हम यहाँ पर उसके सम्बन्धमें विशेष व्याख्यान करना उचित नहीं समझते।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २१९ वीं गाथा और उसके विषयको स्वीकार करनेसे सभी कार्योंके नियत क्रमसे होनेका खण्डन कैसे हो जाता है यह बुद्धिके बाहर है। जब कि सभी कार्योंके साथ अपने-अपने उपादान-की अन्तर्व्याप्ति और निमित्त संज्ञाको प्राप्त होनेवाली बाह्य सामग्रीके साथ बाह्य व्याप्तिका स्वीकार कर इन दोनोंका आगममें सुमेल बतलाया गया है और इसीलिए आगममें उपचारसे उपकार-अपकारको कर्मकृत कहा गया है। ऐसी अवस्थामें आगमका जो प्रतिपादन है उसे समझकर ही वस्तुका निर्णय करना चाहिये यही मार्ग है। तथ्य यह है कि यह जीव स्वयं अपने शुभ-अशुभ परिणामोंका कर्ता है और वही उनके फलका भोक्ता है। शुभ-अशुभ भावोंको निमित्तकर जो कर्म बंधते हैं वे तो उन भावोंके होनेमें निमित्तमात्र हैं। यही बात उस गाथा द्वारा निष्कर्ष रूपसे सूचित की गई है।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी २१९ वीं गाथामें दो बातें स्पष्टरूपसे कही गई हैं—१. प्रत्येक द्रव्य उपादान होकर स्वयं परिणमन करता है, २. और जब वह कार्यरूप परिणमता है तब कालादि सामग्री उसमें निमित्त होती है। इस प्रकार इस गाथा द्वारा नियत क्रमका ही समर्थन होता है, अनिश्चित क्रमका नहीं। कार्य-कारणभावमें मुख्यरूपसे उपादानका और उपचाररूपसे निमित्त कहलानेवाली बाह्य सामग्रीका ग्रहण है यह नहीं भूलना चाहिये। जब कि प्रत्येक कार्यका प्रत्येक समयमें उपादानकारण सुनिश्चित है तो उससे जायमान कार्यके अनुकूल बाह्य सामग्रीका होना भी सुनिश्चित है यह भाव ही इस गाथा द्वारा सूचित किया गया है। **प्रत्येक द्रव्य स्वयं कर्ता होकर परिणमता है और व्यवहारसे तदनुकूल बाह्य सामग्री उसमें निमित्त होती है** यह व्यवस्था ही जैनदर्शनने कार्य-कारणभावमें स्वीकार की है। विशेष खुलासा पहले ही कर आये हैं।

अपर पक्षका यह लिखना कि 'उक्त गाथामें पठित 'सयं' पदके अर्थके साथ 'कालादिलद्धिजुत्ता'

पदके अर्थका उस अवस्थामें विरोध आता है यदि उस गाथाके आधारसे 'नियतक्रम' पक्षका समर्थन किया जाता है, कारण कि यदि 'सयं' पदका अर्थ 'अपने आप' अर्थात् 'बिना किसी दूसरे पदार्थकी सहायताके' ऐसा किया जाता है तो बाह्य सामग्रीको कारणरूपसे स्वीकार करना निष्फल हो जाता है, इसलिये इसका ऐसा अर्थ करना चाहिए कि 'निमित्त सामग्री सापेक्ष जो भी पदार्थमें परिणमन होता है उसे उसका (पदार्थका) अपना ही परिणमन जानना चाहिये।'

यह अपर पक्षके वक्तव्यका सार है। सो इस सम्बन्धमें पूछना यह है कि प्रत्येक पदार्थमें परिणमनको करता कौन है—बाह्य सामग्री या उपादान या दोनों ? यदि बाह्य सामग्री करती है तो वह उससे भिन्न रहकर करती है या अभिन्न रहकर करती है ? यदि कहो कि भिन्न रहकर करती है तो बाह्य सामग्रीका कर्तृत्व तो उस (परिणमन)से भिन्न रहा, फिर बाह्य सामग्रीसे भिन्न उपादानमें परिणमन हो कैसे जाता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। यदि कहो कि अभिन्न रहकर करती है तो दो या दोसे अधिक द्रव्योंमें एकता प्राप्त होती है जो युक्त नहीं है। दूसरे बाह्य सामग्रीसे उपादानमें परिणमन मानने पर पुरुषार्थकी कथा करना व्यर्थ हो जाता है और द्रव्यके उत्पाद-व्यय स्वभावकी हानिका प्रसंग उपस्थित होता है यह अलग। इसलिए बाह्य सामग्री उपादानमें परिणमन करती है यह कहना तो बनता नहीं।

यदि कहो कि उपादान और बाह्य सामग्री दोनों मिलकर उपादानमें परिणमन करते हैं तो यह कहना भी नहीं बनता, क्योंकि दोनोंके एक हुए बिना दोनों एक क्रियाके कर्ता नहीं हो सकते और दो द्रव्य मिलकर एक होते नहीं, इसलिए दोनों मिलकर एक परिणमनके कर्ता होते हैं यह कहना भी तर्कसंगत नहीं है।

यदि कहो कि 'बाह्य सामग्रीके सान्निध्यमें प्रत्येक उपादान कारण अपना कार्य करता है इसे ही हम 'दोनों मिलकर एक परिणामके कर्ता होते हैं। ऐसा कहते है तो स्पष्ट हो गया कि प्रत्येक उपादान स्वयं अपना कार्य करता है और बाह्य सामग्री उसमें यथायोग्य व्यवहारसे निमित्त होती है। अर्थात् स्वभाव-परिणमनमें बलाधानरूपसे व्यवहारहेतु होती है और विभाव परिणमनमें कार्यके अनुकूल व्यापार द्वारा व्यवहार हेतु होती है। हो रहा है सब क्रमानुपाती ही। इसलिए आगममें ऐसे स्थल पर 'स्वयं' पदका अर्थ अपने आप ,अपने में। अपने द्वारा आदि ही किया गया है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

यहाँ हमें 'भो विद्वांस:' इस पद द्वारा सम्बोधित कर जो यह लिखा है कि 'हम लोगोंमें से कौन कहता है कि उपादानके अनुसार कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है। तो फिर क्यों गलत आरोप आप हमारे ऊपर करते हैं।' आदि, सो निवेदन यह है कि एक ओर अपर पक्ष यह लिखे कि प्रत्येक उपादान अनेक योग्यतावाला होता है। किस समय कौन परिणमन हो यह निमित्तों पर अवलम्बित है। परिणमन करना मात्र उपादानका कार्य है, उसमें जो परिणाम होता है वह निमित्तोंके अनुसार ही होता है और दूसरी ओर यह लिखे कि 'हम लोगोंमें से कौन कहता है कि उपादानके अनुसार कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है।' सो हमें तो यह सब कथन परस्पर विरुद्ध अतएव विडम्बनापूर्ण ही मालूम पड़ता है। शास्त्रोंमें उपादानका लक्षण 'द्रव्यशक्तिका नाम उपादान है' ऐसा जब कि कहीं किया ही नहीं है ऐसी अवस्थामें अपर पक्ष अपनी प्रतिशंकाओंमें उपादानको मात्र द्रव्यशक्तिरूप मानकर क्यों व्याख्यान कर रहा है और शास्त्रोंमें जो उपादान का वास्तविक लक्षण किया है उसे क्यों दृष्टिओझल कर रहा है ! क्या इसका हो अर्थ यह मानना होता है कि प्रत्येक कार्य उपादानके अनुसार होता है इसका अपर पक्ष स्वयं विचार करे। भट्टाकलंकदेवने जो 'उपादा-नस्य उत्तरीभवनात्' वचन लिखा है उसे अपर पक्ष श्रद्धाकी दृष्टिसे देखता है सो यह उचित ही है। किन्तु उन्हीं आचार्योंने जो द्रव्यशक्तिके साथ पर्यायशक्तिको स्वीकार कर उपादान कारणकी व्यवस्था की है उसे

भी अपर पक्षको हृदयसे स्वीकार कर लेना चाहिए। और जब वह उपादानके इस लक्षणको अन्तःकरणपूर्वक स्वीकार कर लेगा तब वह प्रत्येक समयमें जो कार्य होता है उसका उपादान मात्र उसीरूप होता है यह भी स्वीकार कर लेगा। फिर वह यह लिखना छोड़ देगा कि उपादान मात्र द्रव्यशक्तिरूप होनेके कारण अनेक योग्यतावाला होता है, इसलिए जब जैसे निमित्त मिलते हैं, कार्य उनके अनुसार होता है। इतना ही नहीं, फिर वह यह भी लिखना छोड़ देगा कि श्रुतज्ञानके अनुसार कुछ कार्य निश्चित क्रमसे होते हैं और कुछ कार्य अनिश्चित क्रमसे भी होते हैं।

इसी प्रसंगमें ज्ञानको लक्ष्यकर अपर पक्षने यह वाक्य भी लिखा है कि 'जैसे ज्ञानका स्वतःसिद्ध स्वभाव पदार्थको जाननेका है, लेकिन ज्ञानका उपयोगाकार परिणमन किस पदार्थरूप होता है ? यह व्यवस्था तो उस पदार्थके ही आधीन है।' सो हमें यह वाक्य पढ़कर आश्चर्य ही नहीं खेद भी हुआ। एक ओर तो सब तथ्यों पर दृष्टिपात करते हुये आचार्य यह घोषणा करें कि परिच्छेद्य (ज्ञेय) होनेसे अन्धकारके समान अर्थ और आलोक ज्ञानकी उत्पत्तिके हेतु नहीं, इसलिए जैसे दीपक घट आदि पदार्थोंसे उत्पन्न न होकर भी उनका प्रकाशक है वैसे ही अर्थ और आलोकसे उपयोगाकार ज्ञान उत्पन्न न होकर भी उनका प्रकाशक (ज्ञापक) है (परीक्षामुख अ० २ सू० ६,८ व ६)। और दूसरी ओर अपर पक्ष ज्ञानके उपयोगाकार परिणमनको पदार्थोंके अधीन बतलावे यह खेदकी बात है। शायद अपने आशयको स्पष्ट करते हुए अपर पक्ष कहे कि ज्ञानका परिणमन तो स्वतःसिद्ध है। वह परिणाम जो विवक्षित उपयोगरूप होता है, ज्ञेयके आधीन है तो इसका मतलब यह हुआ कि जो अतीत और अनागत कार्य विनष्ट और अनुत्पन्न हैं उन्हें केवलज्ञान जान ही नहीं सकेगा, क्योंकि अतीत कालकी अपेक्षा जिस-जिस कालमें जो जो कार्य हुए न तो वर्तमानमें उस उस रूपमें उस उस कालका ही सत्त्व है और न ही उन-उन कार्योंका भी। इसी प्रकार भविष्यकी अपेक्षा भी जान लेना चाहिए, और जो कार्य या काल अपने रूपमें वर्तमानमें हैं नहीं उन्हें केवलज्ञान कैसे जानेगा अर्थात् नहीं जान सकेगा। एक केवलज्ञान ही क्या अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान पर भी यही बात लागू होती है। और यदि बारीकीसे विचार किया जाय तो मतिज्ञान और श्रुतज्ञानके लिये भी यही कहा जायगा। अतएव 'ज्ञेयके आधीन होकर ज्ञानका उपयोगाकार परिणमन होता है' यह कहना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

यह तो एक बात हुई। दूसरी बात यह है कि प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषात्मक मानी गई है। ऐसी अवस्थामें प्रत्येक समयमें उससे अभिन्न जो परिणाम होता है वह सामान्य-विशेषात्मक ही होता है या मात्र सामान्यात्मक ही ? अपर पक्ष उस परिणमनको मात्र सामान्यात्मक तो कह नहीं सकता, क्योंकि मात्र सामान्यात्मक वस्तुका सर्वथा अभाव है। परिशेषन्यायसे वह परिणमन सामान्य-विशेषात्मक ही मानना पड़ेगा। स्पष्ट है कि जिस प्रकार परिणमन करना प्रत्येक वस्तुका स्वतःसिद्ध स्वभाव है उसी प्रकार अपर पक्षको यह भी स्वीकार कर लेना चाहिये कि परके लक्ष्यसे विभावरूप परिणमन करना और स्वके लक्ष्यसे स्वभावरूप परिणमन करना भी उसका स्वतःसिद्ध स्वभाव है। आचार्य अकलंकदेवने इसी बातको ध्यानमें रखकर ही 'उपादानस्य उत्तरीभवनात्' यह वचन कहा है। यहाँ 'उत्तरीभवनात्' पद ध्यान देने योग्य है। केवल परिणमन करे इतना ही उपादानका कार्य नहीं है किन्तु उपादानके उत्तर क्षणमें जो कार्य होनेवाला है उस रूप परिणमन करे यह भी उपादानका ही कार्य है।

तीसरी बात यह है कि यदि प्रत्येक द्रव्यका परिणमन करना मात्र उसका स्वतःसिद्ध स्वभाव माना जाय और वह परिणमन किस रूप हो यह बाह्य सामग्री पर अवलम्बित माना जाय तो केवली जिनके सुख गुणके प्रत्येक समयके परिणमनमें अनन्त सुखरूपता नहीं बन सकती।

इत्यादि दोष प्राप्त न हों, इसलिए यही मानना उचित है कि प्रत्येक द्रव्य स्वयं उस-उस रूपसे परिणमता है, बाह्य सामग्री तो उसमें निमित्तमात्र है। यहाँ अपर पक्षने क्रोधपर्यायको प्रमुखरूपसे उदाहरण-रूपमें उपस्थित किया है सो उसके विषयमें भी इसी न्यायसे निर्णय कर लेना चाहिये।

इस प्रकार अपर पक्षने स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी तीन गाथाओं तथा उनके सम्बन्धसे अन्य जिन विषयोंकी चर्चा की है उनके सम्बन्धमें सांगोपांगरूपसे तथ्यार्थका निर्देश किया।

३५. प्रतिशंका ३ में उपस्थित ४ प्रमाणोंका स्पष्टीकरण

इसी प्रसंगमें अपर पक्षने अपने अभिमतकी पुष्टिके अभिप्रायसे जो ४ प्रमाण उपस्थित किये हैं उनमेंसे प्रथम उल्लेख भट्टाकलंकदेवने किस आशयसे किया है इसका हम पूर्वमें ही विस्तारके साथ स्पष्टीकरण कर आये हैं। वहाँ यह स्पष्ट बतला आये हैं कि मीमांसादर्शन शब्दको उपादानरूपसे स्वीकार न करके भी उससे सर्वथा भिन्न ध्वनिकार्यकी उत्पत्ति सहकारी कारणोंसे मानता है, इसलिए जैसे उसके लिए यह कहा जा सकता है कि नित्य शब्दकी असामर्थ्यका खण्डन न करता हुआ सहकारी कारण अकिंचित्कर क्यों नहीं हो जायगा उस प्रकार जैनदर्शनके ऊपर यह बात लागू नहीं होती। अतएव प्रथम प्रमाणसे तो अपर पक्षके मतका समर्थन होता नहीं।

दूसरे प्रमाणमें आचार्य विद्यानन्दिने कार्यके साथ सहकारी सामग्रीकी मात्र कालप्रत्यासत्ति स्वीकार की है, जिससे यह स्पष्ट विदित होता है कि विवक्षित उपादानके विवक्षित कार्यरूप परिणमनके समय विवक्षित बाह्य सामग्रीकी कालप्रत्यासत्ति नियमसे होती ही है, क्योंकि इन दोनोंके एक कालमें होनेका नियम है यही यहाँ कालप्रत्यासत्तिका मथितार्थ है। आचार्य विद्यानन्दिने व्यवहारनयकी अपेक्षा द्विष्ठ कार्यकारण भावको जो परमार्थभूत कहकर कल्पनारोपितपनेका निषेध किया है सो वह कालप्रत्यासत्तिको ध्यानमें रखकर ही किया है, क्योंकि इन दोनोंका एक कालमें होना कल्पनारोपित नहीं है। किन्तु अपर पक्षको मात्र इतना स्वीकार करनेमें संतोष कहाँ है। वह तो जीवके क्रोधरूप कार्यमें जो क्रोधरूप विशेषता आती है उसे सहकारी कारणका कार्य मानने पर तुला हुआ है। आचार्य विद्यानन्दिने इस उद्धरणके प्रारम्भमें जो महत्त्वपूर्ण सूचना की है उसे तो वह दृष्टि ओझल ही कर देना चाहता है। आचार्य श्री तो कहते हैं कि एक द्रव्य प्रत्यासत्ति होनेसे नियत क्रमसे होनेवाली अव्यवहित पूर्व और उत्तर दो पर्यायोंमें उपादान-उपादेयभाव सिद्धान्तविरुद्ध नहीं है। किन्तु आश्चर्य है कि अपर पक्ष इस कथनकी ओर ध्यान ही नहीं देना चाहता और अपने माने हुए श्रुतज्ञानकी अपेक्षा कुछ पर्यायोंको निश्चितक्रमरूप और कुछ पर्यायोंको अनिश्चित क्रम-रूप माननेमें ही अपनी आगमनिष्ठा समझता है जब कि तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके पृष्ठ १५१ के उक्त उल्लेखमें ही आचार्य विद्यानन्दिने

क्रमभुवोः पर्याययोः एक द्रव्यप्रत्यासत्तेरुपादानोपादेयत्वस्य वचनात्।

यह पद देकर सभी पर्यायोंकी नियतक्रमता स्वीकार कर ली है। स्पष्ट है कि पिछले उल्लेखके समान इस उल्लेखसे भी अपर पक्षके अभिमतकी पुष्टि न होकर हमारे ही अभिमतकी पुष्टि होती है।

अपर पक्षने तीसरा उल्लेख तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ३ का उपस्थित किया है सो उस द्वारा तो मात्र यह बतलाया गया है कि केवल काल ही मोक्षका हेतु नहीं है। किन्तु बाह्य-आभ्यन्तर अन्य सामग्री भी यथायोग्य उसकी हेतु है। सो इस उल्लेखसे कालकी हेतुताका खण्डन न होकर उसका समर्थन ही होता है। यही कारण है कि लोकमें जायमान सभी कार्योंका कालको भी एक व्यवहार हेतु माना गया है।

प्रत्येक कार्य स्वकालमें नियत है इसका समर्थन करते हुए आचार्य प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्तण्ड अ० २ सू० १२ पृ० २६१ में लिखते है—

स्वकालनियतसत्स्वरूपतयैव तस्य ग्रहणात् ।

स्वकालमें नियत सत्स्वरूपसे ही उसका ग्रहण होता है।

इस उल्लेखमें यह स्पष्टरूपसे बतलाया गया है कि प्रत्येक कार्य स्वकालमें नियत सत्स्वरूप है। इसलिए यह तीसरा उल्लेख भी अपर पक्षके अभिमतकी पुष्टि नहीं करता। किन्तु इससे हमारे इस अभिप्रायकी ही पुष्टि होती है कि 'सभी कार्य अपने-अपने कालमें नियतक्रमसे ही होते हैं।

अपर पक्षने चौथा उल्लेख तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७१ का उपस्थित किया है। सो इस उल्लेखसे भी यही सिद्ध होता है कि जब यह जीव अयोगकेवली गुणस्थानके उपान्त्य और अन्त्य समयमें विद्यमान होता है तब उन समयोंको निमित्तकर नामादि तीन कर्मोंकी निर्जरा होती है। ऐसा ही इनका योग है। इससे यह कहाँ सिद्ध होता है कि आत्मा सहकारी कारण बनकर चाहे जब इन ३ कर्मोंकी निर्जरा कर देता है। अपर पक्षको तो सहकारी कारणोंके बलपर कार्योंका अपने निश्चित समयको छोड़कर अनिश्चित समयमें होना सिद्ध करना है। सो यह उल्लेख भी अपर पक्षके अभिमतकी पुष्टि न कर हमारे इस आशयका ही समर्थन करता है कि सभी कार्य स्वकालमें बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीको प्राप्त कर होते हैं। आचार्य जिनसेन हरिवंशपुराण सर्ग ७ में लिखते हैं—

निमित्तमान्तरं तत्र योग्यता वस्तुनि स्थिता ।
बहिर्निश्चयकालस्तु निश्चितस्तत्त्वदर्शिभिः ॥६॥

वस्तुमें स्थित द्रव्य-पर्याय योग्यता कार्यमें आभ्यन्तर निमित्त है और निश्चयकाल बाह्य निमित्त है ऐसा तत्त्वदर्शियोंने निश्चित किया है ॥६॥

एकान्त नियतवादका गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि आर्ष ग्रन्थोंमें क्या अर्थ किया है इसका स्पष्टीकरण हम पहले ही कर आये हैं। मालूम पड़ता है कि अपर पक्ष उसपर भीतरसे दृष्टिपात नहीं करना चाहता और जिस प्रकार इतरधर्मी जैनियोंको नास्तिक कहकर जनतामें बदनाम करते हैं उसी प्रकार अपर पक्षने भी हमें एकान्त नियतिवादी कहकर आम जनतामें बदनाम करनेका मार्ग ढूँढ़ निकाला है। भट्टाकलंकदेव और आचार्य विद्यानन्दिके 'उपदानस्य उत्तरीभवनात्' वचनकी प्रत्येक कार्यके प्रति बाह्य-सामग्रीकी निमित्तता स्वीकार करनेपर भी संगति कैसे बैठती है इसका उन्होंने स्वयं अपने द्वारा रचित शास्त्रोंमें स्पष्टीकरण किया है। भट्टाकलंकदेव तत्त्वार्थवार्तिक अ० ६ सू० १ में लिखते हैं—

वीर्यान्तराय-ज्ञानावरण-क्षय-क्षयोपशमापेक्षेण आत्मनात्मपरिणामः पुद्गलेन च स्वपरिणामः व्यत्ययेन च निश्चय-व्यवहारनयापेक्षया क्रियत इति कर्म ।

वीर्यान्तराय और ज्ञानावरणके क्षय और क्षयोपशमकी अपेक्षा रखनेवाले अर्थात् इन कर्मोंके क्षय और क्षयोपशमसे युक्त आत्माके द्वारा निश्चयनयसे आत्मपरिणाम और पुद्गलके द्वारा पुद्गल-परिणाम तथा व्यवहारनयसे आत्माके द्वारा पुद्गलपरिणाम और पुद्गलके द्वारा आत्म-परिणाम किया जाता है इसलिए ये कर्म है।

इस उल्लेख द्वारा आचार्य महाराज स्पष्ट शब्दोंमें बतला रहे है कि आत्मा और पुद्गल प्रत्येकका कार्य एक-एक है, किन्तु जब आत्माश्रित निश्चयनयकी विवक्षा होती है तब जिस द्रव्यने स्वयं यथार्थ कर्ता होकर

अपनी परिणमन क्रियाद्वारा उसे किया है उसका वह कार्य कहा जायगा और जब पराश्रित व्यवहारनयकी विवक्षा होती है तब जिसने यथार्थमें उसे किया तो नहीं है, मात्र उसके होनेमें व्यवहारसे अनुकूल रहा, इसलिए उसका भी कार्य कहा जायगा। इस प्रकार प्रत्येक कार्यमें सर्वत्र निश्चय-व्यवहार हेतुओंकी युति होनेसे 'उपादानस्य उत्तरीभवनात्' वचनकी सर्वत्र संगति बैठती जाती है। इसके सिवाय केवलज्ञानके विषय और तदनुसारी श्रद्धामूलक श्रुतज्ञानके बिना स्वरूपसे अप्रामाणिक अन्य किसी श्रुतज्ञानके द्वारा समन्वयकी बात करना मिथ्या ही है।

स्पष्ट है कि अपर पक्षने जिन चार प्रमाणोंके आधारसे अपने अभिमत की पुष्टि करनी चाही है वे अपर पक्षके अभिमतकी पुष्टि न कर हमारे ही अभिमतकी पुष्टि करते हैं, इसलिए हम अपने पिछले उत्तरमें जो कुछ भी लिपिबद्ध कर आये हैं वह आगमानुसारी होनेसे प्रमाणभूत ही है ऐसा अपर पक्षको यहाँ निर्णय करना चाहिए।

३६. प्रतिशंका ३ में उपस्थित कतिपय तर्कोंका सप्रमाण खण्डन

इसी प्रसंगमें अपर पक्षने हमारे पिछले उत्तरको ध्यानमें रखकर हमारे जिस वाक्यांशको उद्धृत किया है उसे पूरे सन्दर्भके साथ हम यहाँ दे देना चाहते हैं, क्योंकि अपर पक्षने उसके पूरे सन्दर्भको छोड़कर उसे उपस्थित किया है। पूरे सन्दर्भ सहित वह वाक्यांश इस प्रकार है—

'प्रत्येक पदार्थमें प्रत्येक समयमें जो द्रव्य-पर्यायात्मक शक्ति होती है जिसे कि आचार्योंने यथार्थ (निश्चय) उपादान कहा है उसके अनुसार ही कार्यकी उत्पत्ति होती है। तभी तो आचार्य अकलंकदेव और विद्यानन्दि जैसे समर्थ आचार्य 'उपादानस्य उत्तरीभवनात्" यह कहनेमें समर्थ हुए। यदि उपादानके इस लक्षणको, जिसे कि सभी आचार्योंने अनेक तर्क देकर सिद्ध किया है, यथार्थ नहीं माना जाता है और यह स्वीकार किया जाता है कि जब जैसा बाह्य निमित्त मिलता है तब उसके अनुसार कार्य होता है तो सिद्धोंको जिनमें वैभाविक शक्ति इस अवस्थामें भी विद्यमान है और लोकमें सर्वत्र बाह्य निमित्तोंकी भी विद्यमानता है तब उन्हें संसारी बनानेसे कौन रोक सकेगा।'

यह हमारे वक्तव्यका वह अंश है जिस द्वारा हमने बाह्य सामग्रीके आधार पर कार्योत्पत्ति स्वीकार करने पर सिद्धोंके संसारी बनानेरूप जो अतिप्रसंग दोषका प्रापादन किया है वह युक्त ही है, क्योंकि अपर पक्ष जब किसी कार्यका प्रतिनियत उपादान माननेके लिए तैयार ही नहीं और बाह्य सामग्रीके बल पर प्रत्येक कार्यकी व्यवस्था बनाता है तो ऐसी अवस्थामें सिद्धोंके पुनः संसारी बन जानेकी आपत्ति उपस्थित होती है यह स्पष्ट ही है। किन्तु इस दोषको टालनेके लिए अपर पक्षका कहना है कि 'सिद्धोंके कर्मोंका संयोग और रागादि परिणाम नहीं पाये जाते, इसलिए सिद्धोंका संसारी होना संभव नहीं है।' किन्तु उनका ऐसा लिखना इसलिए ठीक नहीं है, क्योंकि जब अपर पक्ष आगममें स्वीकृत निश्चय उपादानके लक्षणको ही स्वीकार नहीं करता और बाह्य सामग्रीके बलपर किसी भी कार्यकी उत्पत्ति स्वीकार करता है तो उसे यह भी स्वीकार कर लेना चाहिये कि सिद्धोंमें द्रव्यशक्तिरूप उपादान योग्यता है ही, अतएव उसे निमित्तकर कर्मोंका संयोग हो जाने पर सिद्धोंको संसारी बनना ही पड़ेगा। अध्यात्मवेत्ता प्रतिनियत सामग्रीसे प्रतिनियत कार्यकी उत्पत्ति होती है इसे अच्छी तरह जानते हैं। संसार और मोक्षकी व्यवस्था इसी आधार पर चल रही है इसे भी वे अच्छी तरह जानते हैं, किन्तु वे यह नहीं जानते कि उपादान अनेक योग्यतावाला होता है, उनमेंसे कौन योग्यता कार्यरूप परिणमे यह बाह्य सामग्री पर अवलम्बित है और न ही उन्होंने ऐसी कोई व्यवस्था आगममें ही देखी है।

अतएव इस बातका निर्णय तो अपर पक्षको ही करना है कि—यदि हम उपादानको अनेक योग्यतावाला माननेके साथ बाह्य सामग्रीके बलपर कार्यकी उत्पत्तिको मानते रहे तो सिद्धोंको संसारी बनानेरूप अतिप्रसंगसे हमें कौन बचा सकेगा। इस प्रसंगमें अपर पक्षकी ओरसे जो आगम प्रमाण उपस्थित किये गये हैं उनकी सार्थकता तभी है जब आगम व्यवस्थाको पूर्णरूपसे स्वीकार कर लिया जाय। हमारी ओरसे जहाँ भी निमित्तोंके अनुसार कार्य होना लिखा गया है वहाँ प्रतिनियत कार्यके प्रतिनियत उपादान और प्रतिनियत बाह्य सामग्रीको ध्यानमें रखकर ही लिखा गया है, क्योंकि इन दोनोंकी समव्याप्ति है, इसलिए निश्चय नयकी अपेक्षा यह कथन किया जाता है कि कार्य उपादानके अनुसार होता है और व्यवहारनयसे यह कहा जाता है कि कार्य बाह्य सामग्रीके अनुसार होता है।

यहाँ अपर पक्षकी ओरसे हमारे इस कथनको ध्यानमें रखकर कि 'प्रत्येक द्रव्यकी संयोगकालमें होनेवाली पर्याय बाह्य निमित्तसापेक्ष निश्चय उपादानसे होती है' पुनः अपनी इस मान्यताको दोहराया है कि 'उपादानका कार्य केवल परिणमन करना है। उस परिणमनमें जो क्रोधादिरूपता परिलक्षित होती है वह कर्मोदय आदिरूप निमित्त कारणोंसे ही उत्पन्न होती है।' यद्यपि हम उनकी इस मान्यताका विचार पूर्वमें सांगोपांग कर आये हैं, फिर भी यहाँ पर इतना संकेत कर देना आवश्यक समझते हैं कि परिणाम, परिणामी और परिणमन क्रिया ये तीनों एक सत्ताक वस्तु होनेके कारण उपादान ही स्वयं अपनी शक्तिसे क्रोधादिरूप परिणामको उत्पन्न करता है, बाह्य सामग्री तो उसमें निमित्तमात्र है। इस विषयको स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचनसारमें लिखते हैं—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मय त्ति पण्णत्तं ।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो ॥८॥

जिस समय जिस स्वभावसे द्रव्य परिणमन करता है उस समय उसमय है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है इसलिए धर्मपरिणत आत्माको धर्म समझना चाहिए ॥८॥

इसकी संस्कृत टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

यत्खलु द्रव्यं यस्मिन्काले येन भावेन परिणमति तत् तस्मिन्काले किलौष्ण्यपरिणतायःपिण्डवत्तन्मयं भवति। ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवतीति सिद्धमात्मनश्चारित्रत्वम् ॥८॥

वास्तवमें जो द्रव्य जिस समय जिस भावरूपसे परिणमन करता है, वह द्रव्य उस समय उष्णतारूपसे परिणमित लोहेके गोलेकी भाँति उसमय है; इसलिए यह आत्मा धर्मरूप परिणमित होनेसे धर्म ही है। इस प्रकार आत्माकी चारित्रता सिद्ध हुई ॥८॥

यहाँ गाथामें 'परिणमति जेण' और टीकामें 'येन भावेन परिणमति' पद ध्यान देने योग्य हैं। इससे स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें स्वतन्त्र कर्ता होकर जो भी परिणमन करता है वह क्रोधादिमेंसे किसी एक भावरूप ही परिणमन करता है। अन्यथा उसका परिणमन करना ही नहीं बन सकता। अतएव प्रकृतमें अपर पक्षको यही निर्णय करना चाहिए कि जिस समय जिस द्रव्यमें जिस परिणमनकी उत्पत्ति होती है, उस समय उस परिणमनकी योग्यतावाला ही उस द्रव्यका उपादान होता है। फिर भी निमित्तरूपसे जो बाह्य-सामग्रीकी स्वीकृति है वह केवल निश्चय उपादानके साथ बाह्य-सामग्रीके कालप्रत्यासत्तिरूप अविनाभावको ध्यानमें रखकर ही की गई है। प्रयोजनका विचार हम पूर्वमें ही कर आये हैं।

आगे अपर पक्षने हमारे इस कथनको ध्यानमें रखकर कि 'निमित्त भी उसीके अनुसार मिलते हैं' जो यह भाष्य किया है कि 'इसका अभिप्राय यही तो हुआ कि कार्यक्षम निश्चय उपादान अपने द्वारा होनेवाली कार्योत्पत्तिके लिए अनुकूल निमित्तोंका समागम भी आप ही प्राप्त कर लेता है।' सो इस सम्बन्धमें इतना ही लिखना है कि प्रत्येक कार्यमें ऐसा योग सहज स्वीकार किया गया है और उसीके अनुसार कार्य होता है।

आगे अपर पक्षका कहना है कि 'यदि प्रत्येक समयका परिणमन सुनिश्चित क्रमसे होता है तो फिर क्यों आप कार्य करनेका संकल्प मनमें करते हैं? क्यों मस्तिष्कके सहारेपर कार्य-कारणभावकी निमित्तभूत और उपादानभूत वस्तुओंके साथ संगति बिठलाते हैं तथा फिर क्यों अपनी श्रमशक्तिके आधारपर तदनुकूल व्यापार करते हैं।' सो इस सम्बन्धमें निवेदन यह है कि संकल्प करना भी एक प्रतिनियत कार्य है, जो बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें होता है। इसी प्रकार अन्य जिन बातोंका उल्लेख यहाँपर अपर पक्षने किया है वे सब कार्य ही तो हैं जो राग-द्वेषरूप वृत्तिके परिणाम हैं। जबतक इस जीवके राग-द्वेषमय परिणति होती रहेगी और आत्मा उनमें उपयुक्त होता रहेगा तब तक यह संकल्प-विकल्पात्मक प्रवृत्ति इस जीवके नियमसे होगी। अतएव क्रमानुपातीरूपसे इसे स्वीकार करनेपर एकान्त नियतिवादका प्रसंग उपस्थित न होकर अनेकान्तस्वरूप सुप्रभातका दर्शन ही यहाँ होता है ऐसा यहाँ निर्णय करना चाहिए। एकान्त नियतिवाद क्या वस्तु है इसका निर्देश हम पूर्वमें विस्तारके साथ कर आये हैं।

इसी प्रसंगमें अपर पक्षने बाह्य निमित्तोंकी सार्थकताका प्रश्न उपस्थित किया है और लिखा है कि 'इसे आप स्पष्ट नहीं कर पाये हैं।' सो इस सम्बन्धमें हमारा कहना यह है कि बाह्य-सामग्री दूसरे द्रव्यके कार्यमें व्यापारवान् हो इसका नाम उसकी सार्थकता नहीं है, किन्तु इसकी सार्थकता इसीमें हो है कि उस कार्यके साथ उसकी कालप्रत्यासत्ति है, जिसे आपने मुक्तकण्ठसे स्वीकार कर लिया है।

अनेकान्तका जो स्वरूप आचार्य अमृतचन्द्रने समयसारकी टीकामें लिपिबद्ध किया है वह एक द्रव्यमें रहनेवाले परस्पर विरोधी दो-दो धर्मयुगलोंको लक्ष्यमें रखकर ही लिपिबद्ध किया है। इससे उसकी मर्यादा सुस्पष्ट हो जाती है। किन्तु अपर पक्ष प्रत्येक कार्यका यथार्थ कारण धर्म उपादानमें भी रहता है और निमित्तभूत बाह्य-सामग्रीमें भी रहता है इस अर्थमें अनेकान्तको चरितार्थ करना चाहता है जो युक्त नहीं है, क्योंकि एक कार्यका यथार्थ कारण धर्म उसी द्रव्यमें रहता है जिसका वह कार्य है, अन्य द्रव्यमें नहीं। अन्यथा वे दोनों द्रव्य एक हो जायेंगे। इसीलिए हमने अपने पिछले उत्तरमें यह लिखा है कि 'अनेकान्तकी अपनी मर्यादा है।'

कर्मशास्त्रके अभ्यासी होनेके नाते हमें अकामनिर्जरा और तप द्वारा होनेवाली निर्जराका आगममें जो सुस्पष्ट निर्देश है उसका सम्यक् प्रकारसे परिज्ञान है, तभी तो हमारा यह कहना है कि जिस कालमें जिस कर्मकी जिस प्रकारकी निर्जरा होती है वह अपनी-अपनी योग्यतानुसार ही होती है। ऐसा नहीं हो सकता कि किन्हीं कर्मपरमाणुओंकी उस कालमें निर्जरा होनेकी निश्चय उपादानयोग्यता न हो और बाह्य सामग्री उपस्थित होकर उसे कर दे। जो भी कार्य होता है वह बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें क्रमानुपाती रूपसे ही होता है, सबका कालनियम है। तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ३ में जो 'भव्यस्य' कालेन' इत्यादि वचन आया है सो उसका भी यही आशय है कि सभी कार्य अपने-अपने कालमें अपनी-अपनी प्रतिनियत सामग्रीको प्राप्त कर होते हैं। अन्य सामग्रीके अभावमें केवल कालके ही बलसे सभी कार्य होते हों ऐसा काल-

नियम नहीं है। न्यायदिवाकर पण्डित पन्नालालजीने भी अपनी हिन्दी टीकामें तत्त्वार्थवार्तिकके उक्त उल्लेखका यही अर्थ किया है। वे लिखते हैं—'ताते मोक्ष कार्य प्रति काल ही को कारण कहना यह नियम' नाहीं संभवे है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्य स्वकालमें होकर भी बाह्य-आभ्यन्तर प्रतिनियत सामग्रीके सन्निधानमें होता है। इसका सप्रमाण विशेष स्पष्टीकरण हम पूर्वमें हो कर आये हैं।

३७. कर्मशास्त्रके अनुसार भी सब कार्य क्रमनियत ही होते हैं

आगे अपर पक्षने अकामनिर्जरा या तप द्वारा 'अकालमें भी निर्जराके समर्थनमें आगम प्रमाण देकर हमारे द्वारा अपने पिछले उत्तर २में निर्दिष्ट दो नियमोंके विरोधमें जो विचार उपस्थित किये हैं उनपर सांगोपांग विचार करते हैं। वे नियम ये हैं—

१. जिस कालमें जिन कर्मोंको जितने परिमाणमें जिन परिणामोंको निमित्त कर उत्कर्षित, अपकर्षित, संक्रमित और उदीरित होनेकी योग्यता होती है, उस कालमें उन कर्मोंका उतने परिमाणमें उन परिणामोंको निमित्त कर उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, और उदीरणा होती है ऐसा नियम है।

२. बन्धके कालमें जो स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध होता है, सो उस कालमें ही उनमें ऐसी योग्यता स्थापित हो जाती है, जिससे नियत काल आने पर नियत परिणामों तथा बाह्य नोकर्मोंको निमित्त कर उन कर्मोंका उत्कर्षणादिरूप परिणमन होता है।

ये दो नियम हैं। इनमेंसे प्रथम नियम सब कार्य बाह्याभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें होते हैं इस सिद्धान्तके आधारसे लिपिबद्ध किया गया है। स्वामी कार्तिकेयने 'जं जस्स जम्मि' इत्यादि तीन गाथाएँ तथा आचार्य रविषेणने पद्मपुराणमें 'यत्प्राप्तव्यं यदा' इत्यादि श्लोक इसी सिद्धान्तके आधार पर लिपिबद्ध किये हैं। इसी सिद्धान्तको ध्यानमें रख कर भट्टाकलंकदेवने 'तादृशी जायते बुद्धिः' इत्यादि श्लोक उल्लिखित किया है। यह सिद्धान्त और उसके आधार पर बने अन्य नियम अकाट्य हैं। कुछ बाह्य जनोंकी कल्पनाओं द्वारा उनका खण्डन नहीं किया जा सकता।

दूसरा नियम आगममें प्रतिपादित १० करणोंके स्वरूपको लक्ष्यमें रख कर लिपिबद्ध किया गया है। उन १० करणोंका निर्देश करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखते हैं—

> बंधुक्कट्टकरणं संकममोकट्टुदीरणा सत्तं।
> उदयुवसामणिधत्ती णिकाचणा होंदि पडिपयडी ॥४३७॥

बन्ध, उत्कर्षण, संक्रमण, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति और निकाचना ये दस करण प्रत्येक प्रकृतिके होते हैं ॥४३७॥

इनमेंसे जीवप्रदेशों और कर्मवर्गणाओंके परस्पर अवगाहरूप सम्बन्ध विशेषको बन्ध कहते हैं। स्थिति और अनुभागके बढ़नेको उत्कर्षण कहते हैं। एक प्रकृतिके चारों प्रकारसे अन्य सजातीय प्रकृतिरूप परिणमनेको संक्रमण कहते हैं। स्थिति और अनुभागके घटनेको अपकर्षण कहते हैं। अन्यत्र स्थित कर्मका उदयमें देनेको उदीरणा कहते हैं। कर्मरूपसे रहनेको सत्त्व कहते हैं। फलकाल प्राप्त कर्मको उदय कहते हैं। उपशमकरण आदिके स्वरूपका विधान करते हुए धवला पुस्तक १६ पृ० ५१६ व ५१७ में लिखा है—

जं पदेसग्गं णिधत्तीकयं उदये दादुं णो सक्कं, अण्णपयडिं संकामिदुं पि णो सक्कं, ओकड्डिदुं णो सक्कं, एवंविहस्स पदेसग्गस्स णिधत्तमिदि सण्णा।

जं पदेसग्गं ओकड्डिदुं णो सक्कं, उक्कड्डिदुं णो सक्कं, अण्णपयडिं संकामिदुं णो सक्कं, उदए दादुं णो सक्कं, तं पदेसग्गं णिकाचिदं णाम।

उवसंत-णिधत्त-णिकाचिदाणं सण्णियासो। तं जहा—अप्पसत्थउवसामणाए जमुवसंतं पदेसग्गं ण तं णिधत्तं ण तं णिकाचिदं वा। जं णिधत्तं ण तं उवसंतं णिकाचिदं वा। जं णिकाचिदं ण तं उवसंतं णिधत्तं वा।

जो प्रदेशाग्र निधत्तीकृत है—उदयमें देनेके लिए शक्य नहीं है, अन्य प्रकृतिमें संक्रान्त करनेके लिए भी शक्य नहीं है, किन्तु अपकर्षण व उत्कर्षण करनेके लिए शक्य है ऐसे प्रदेशाग्रकी निधत्त संज्ञा है।

जो प्रदेशाग्र अपकर्षण करनेके लिए शक्य नहीं है, उत्कर्षण करनेके लिए शक्य नहीं है, अन्य प्रकृतिमें संक्रमित करनेके लिए शक्य नहीं है तथा उदयमें देनेके लिए भी शक्य नहीं है उस प्रदेशाग्रकी निकाचित संज्ञा है।

उपशान्त, निधत्त और निकाचितका सन्निकर्ष। यथा—अप्रशस्त उपशामना द्वारा जो प्रदेशाग्र उपशान्त है वह न निधत्त और न निकाचित ही है। जो प्रदेशाग्र निधत्त है वह न उपशान्त और न निकाचित ही है। जो प्रदेशाग्र निकाचित है वह न उपशान्त है और न निधत्त ही है।

यह दस करणोंका संक्षिप्त स्वरूप है। हम समझते हैं कि जो कर्मशास्त्रके सचमुचमें अभ्यासी होंगे वे उक्त कथनसे यह भली भाँति समझ जावेंगे कि अपने-अपने सत्त्वकालमें जिस कर्मका जिसरूप परिणमन होना होता है उस कर्ममें वैसी योग्यता बन्धकालमें ही प्राप्त हो जाती है। इस विषयको और भी स्पष्टरूपसे समझनेके लिए धवला पु० १६ पृ० ५१७ में निर्दिष्ट इस अल्पबहुत्व पर दृष्टिपात कीजिए—

एदेसिमप्पाबहुअं। तं जहा—जिस्से वा तिस्से वा एक्किस्से पयडीए अधापवत्तसंकमो थोवो। उवसंतपदेसग्गमसंखेज्जगुणं। णिधत्तमसंखेज्जगुणं। णिकाचिदमसंखेज्जगुणं।

इनका अल्पबहुत्व। यथा—जिस किसी भी एक प्रकृतिका अधःप्रवृत्तसंक्रम स्तोक है। उससे उपशान्त प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है। उससे निधत्त प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है तथा उससे निकाचित प्रदेशाग्र असंख्यातगुणा है।

इस अल्पबहुत्वमें विधि-निषेधमुखसे कितने कर्म संक्रम, उदीरणा, उत्कर्षण और अपकर्षणके योग्य तथा अयोग्य होते हैं इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है। अतएव जिस कालमें जो कर्म उत्कर्षण आदिके योग्य होता है उस कालमें अन्य सामग्रीको निमित्त कर उसीका उत्कर्षण आदि होता है, प्रत्येक कर्मशास्त्रके अभ्यासीको ऐसा ही यहाँ निर्णय करना चाहिए। एक कर्मका उत्कर्षणादि ही क्या, संसारका प्रत्येक कार्य अन्य बाह्य सामग्रीको निमित्तकर अपने-अपने कालमें हो रहा है। यदि हमारा आपका श्रुतज्ञान इसके लिए साक्षीभूत नहीं है तो न सही, आगम तो इसके लिए साक्षी है। हरिवंशपुराण सर्ग ७७में इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

दिव्येन दह्यमानायां दहनेन तदा पुरि ।
नूनं क्वापि गता देवा दुर्वारा भवितव्यता ।।६१।।

उस समय दिव्य अग्निसे पुरीके जलते समय देव नियमसे कहीं चले गये ? भवितव्यता दुर्निवार है ।। ६१ ।।

हमें आशा है कि अपर पक्ष समस्त आगमको ध्यानमें रखकर वस्तुका निर्णय करेगा ।

आगे अपर पक्षने ध्रुवोदयी, अध्रुवोदयी, ध्रुव बन्धरूप और अध्रुव बन्धरूप प्रकृतियोंका संकेतमात्र करके गोम्मटसार कर्मकाण्ड गाथा १२४ व १२६ को उद्धृत कर उन प्रकृतियोंका संकेत किया है जिनमेंसे कुछका ध्रुवबन्ध होता है और कुछका नहीं । सो मालूम नहीं कि यहाँ यह खुलासा किस प्रयोजनसे किया गया है । संभवतः इसलिये कि कुछ प्रमाण देना चाहिए और कुछ लिखना चाहिए । ध्रुव बन्धवाली या ध्रुव उदयवाली वा अन्य कोई प्रकृति क्यों न हो ? यहाँ विचार तो यह चला है कि सत्तामें स्थित जो भी कर्म है उसमें उत्कर्षणादि किन नियमोंके आधार पर होता है ? और इसी प्रश्नका पूर्वमें समुचित रीतिसे समाधान किया गया है । अतएव प्रकृतमें गो० क०की पूर्वोक्त जो दो गाथाएँ अपर पक्षने उद्धृत की हैं वे प्रकृतमें उपयोगी नहीं ऐसा यहाँ समझना चाहिए ।

आगे अपर पक्षने जयधवला पु० ९ पृ० ४-६के कुछ प्रमाण उद्धृत कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि इससे हमारी अपकर्षण आदि सम्बन्धी मान्यताका खण्डन हो जाता है। यहाँ अपर पक्षने जो प्रमाण उद्धृत किये हैं उनमें यह बतलाया गया है कि प्रथम स्पर्धक अपकर्षित नहीं होता, क्योंकि वहाँ पर अतिस्थापना और निक्षेप नहीं देखे जाते । इसी प्रकार द्वितीय स्पर्धकसे लेकर जघन्य अतिस्थापना और जघन्य निक्षेप प्रमाण स्पर्धक अपकर्षित नहीं होते हैं । इसके आगे अन्य स्पर्धकोंके अपकर्षित होनेमें कोई बाधा नहीं । यह आगम वचन है । इसपरसे निष्कर्षको फलित करते हुए अपर पक्षने लिखा है—

'ऊपरके प्रमाणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक स्पर्धकमें अपकर्षित होनेकी योग्यता है । किन्तु स्वगत योग्यता होते हुए भी अतिस्थापना और निक्षेपके अथवा अकेले निक्षेपके अभावके कारण पहले अनन्त स्पर्धकोंकी अपकर्षणरूप प्रवृत्ति नहीं हो सकती है । अतः आपके इस सिद्धान्तका स्पष्टतया खण्डन हो जाता है कि उपादान ही नियामक है, जब उस योग्यताको लिए हुए उपादान होता है तो उसके अनुकूल अन्य सर्व कारण अवश्य मिल ही जाते हैं, ऐसा नहीं हो सकता कि उस योग्यताको लिये हुए उपादान हो, किन्तु अन्य कारण न मिलें और कार्य होनेसे रुक जाय क्योंकि यहाँ उपादानमें अपकर्षण होनेकी योग्यता विद्यमान है किन्तु अभावरूप अन्य कारणके हेतुसे वह कार्यरूप प्रवृत्त नहीं हो सकता है । यदि योग्यता न होती तो आचार्य यह कहते कि इतने स्पर्धकोंमें योग्यता नहीं है, अतः यह अपकर्षित नहीं हो सकते हैं । किन्तु आचार्योंने अतिस्थापना और निक्षेपका अभाव इसका कारण बतलाया है, योग्यताका अभाव इसका कारण नहीं बतलाया है ।'

यह अपर पक्षका वक्तव्य है । इसे पढ़नेपर ऐसा मालूम देता है कि अपर पक्ष अपने पक्षके समर्थनमें उत्कर्षणके और अपकर्षणके लक्षणको ही भूल गया है । स्थिति और अनुभागके घटनेका नाम अपकर्षण है इसे अपर पक्ष न भूले यह हमारा निवेदन है । प्रकृतमें अपर पक्षने जो प्रमाण उपस्थित किया है वह अनुभाग-अपकर्षणसम्बन्धी है ।

साधारण नियम है कि जिस कर्मके जिस अनुभागमें अपकर्षण होता है वह अपनेसे लगे हुए नीचेके अनन्त स्पर्धक अनुभागरूप न परिणम कर उससे नीचेके अनुभागरूप परिणमता है। यहाँ जिसरूप नहीं परिणमा उसकी अतिस्थापना संज्ञा है और जिस रूप परिणमा उसकी निक्षेप संज्ञा है। यह परिणमन अपनेमें हुआ है। अपनी एक पर्याय-अपकर्षण संज्ञावाली है और उसका व्यय होकर जो पर्याय उत्पन्न हुई उसकी निक्षेप संज्ञा है और इन दोनोंके बीचमें जो अन्तराल रहा उसको अतिस्थापना संज्ञा है। यहाँ अतिस्थापना और निक्षेप निमित्त नहीं है, निमित्त तो जीवके संक्लेश अथवा विशुद्धिरूप परिणाम हैं। अतएव अपर पक्षने कर्मशास्त्रके इस सूक्ष्म रहस्यको हृदयंगम न करके जो समर्थ उपादानकी नियमाकताके खण्डनका प्रयास किया है उसके बिना प्रयोजनके किये गये इस परिश्रमके लिए हम उसे क्या कहे ?

संक्रम अनुयोगद्वारमें संक्रमका निक्षेप करते हुए क्षेत्रसंक्रमके निरूपणके प्रसंगसे बतलाया है कि एक क्षेत्रका क्षेत्रान्तरको प्राप्त होनेका नाम क्षेत्रसंक्रम है। इसपर शंका हुई कि क्षेत्र क्रिया रहित है, इसलिए उसका संक्रम कैसे संभव है ? इसका समाधान करते हुए वीरसेन स्वामी लिखते हैं कि आधेयमें आधारका उपचार करके सक्रिय जीव और पुद्गलोंमें क्षेत्र संज्ञा संभव होनेसे उनका संक्रम बन जाता है और क्षेत्रका संक्रम व्यवहार अप्रसिद्ध भी नहीं है। क्योंकि 'ऊर्ध्वलोक संक्रान्त हुआ' ऐसा व्यवहार पाया जाता है। धवला पु० १६ पृ० ३३९ का वह वचन इस प्रकार है—

एगक्खेत्तस्स खेत्तंतरगमणं खेत्तसंकमो णाम। किरियाविरहिदस्स खेत्तस्स कधं संकमो ? ण, जीव-पोग्गलाणं सक्किरियाणं आधेये आधारोवयारेण लद्धे खेत्तववएसाणं संकमुवलंभादो। ण च खेत्तस्स संकमववहारो अप्पसिद्धो, उड्ढलोगो संकतो त्ति ववहारुवलंभादो।

यह क्षेत्रसंक्रमका उदाहरण है। अनुभागसंक्रममें इस दृष्टिसे विचार करनेपर यह सुस्पष्ट होनेमें देर नहीं लगती कि स्थितिसंक्रम और अनुभागसंक्रम इन दोनोंमें अतिस्थापना और निक्षेप ये दोनों कोई पृथक्-भूत पदार्थ नहीं है, केवल सुस्पष्टरूपसे स्थितिसंक्रम और अनुभागसंक्रमका ज्ञान करानेके लिए इनका पृथग्भूत कर्ममें व्यवहार अवश्य किया जाता है। अतएव अतिस्थापना और निक्षेप इन दोनों द्वारा निमित्तभूत वस्तुका कथन न होकर उपादानभूत वस्तुकी अवस्थाविशेषका ही कथन किया गया है।

अब रही प्रथम आदि स्पर्धकरूप अनुभागके संक्रम न होनेकी बात सो इस सम्बन्धमें अपर पक्षका जो यह कहना है कि 'प्रथम आदि स्पर्धकोंमें अपकर्षित होनेकी योग्यता तो है, किन्तु अभावरूप अन्य कारणके हेतुसे वह कार्यरूप प्रवृत्त नहीं हो सकती है।' सो उस पक्षका यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सबसे जघन्य अनुभागस्पर्धककी ही प्रथम स्पर्धक संज्ञा है। जितने भी कर्म है चाहे वे घाती हों या अघाती उन सबमें अपनी-अपनी मर्यादाके भीतर जो जघन्य अनुभाग स्पर्धक होता है उसे ही आदि स्पर्धक या प्रथम स्पर्धक कहते हैं। ऐसी अवस्थामें जब कि इससे कम अनुभाग स्पर्धक और कर्म हो ही नहीं सकता तो फिर अपर पक्षने जो यह अर्थ फलित किया है कि 'प्रथम आदि स्पर्धकोंमें संक्रमित होनेकी योग्यता तो है' सो यह अर्थ उसने किस आधारसे फलित किया इसका उसे स्वयं विचार करना चाहिए। यह तो अपकर्षणका सामान्य नियम है कि ऊपरकी उसी स्थिति या अनुभागका अपकर्षण हो सकता है जिससे नीचे उतनी स्थिति और अनुभाग पाया जाय जिसे अतिस्थापना और निक्षेप बनाया जा सके। यहाँ प्रथमादि अनंत स्पर्धकोंका अपकर्षणके इस नियममें अन्तर्भाव नहीं होता, इसलिए उनमें अपकर्षित होनेकी द्रव्य-पर्याय उभयरूप उपादान योग्यता नहीं

है। उसीको आचार्य महाराजने जयधवलामें दूसरे शब्दों द्वारा व्यक्त किया है। स्पष्ट है कि अपर पक्षने जयधवलाके उक्त उल्लेखको ध्यानमें रखकर जो विधान किया है वह समीचीन नहीं है।

आगे अपर पक्षने यह तो स्वीकार कर लिया है कि 'बन्धके समय कुछ प्रदेशोंका उपशम, निधत्ति और निकाचितरूप बन्ध होना संभव है। किन्तु वह बन्ध कारणकलाप पाकर टूट जाता है' अपने इस अभिप्रायके समर्थनमें अपर पक्षने जो धवला पु० ६ पृ० ४२७–२८ का उद्धरण उपस्थित किया है उस पर भी यहाँ सांगोपांग विचार कर लेना इष्ट प्रतीत होता है।

उपशम, निधत्ति और निकाचितके विषयमें विशेष नियम यह है कि जो जीव उपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करते समय अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश करता है उसके दर्शनमोहनीयकर्म अनुपशान्त, अनिधत्त और अनिकाचित हो जाता है। जो जीव अनंतानुबन्धीको विसंयोजना करता है उसके अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश करने पर अनन्तानुबन्धीचतुष्क अनुपशान्त, अनिधत्त और अनिकाचित हो जाता है। तथा जो जीव चारित्र मोहनीयकी उपशमना और क्षपणा करता है उसके अनिवृत्तिकरण गुणस्थानमें प्रवेश करने पर सभी कर्म अनुपशान्त, अनिधत्त और अनिकाचित हो जाते हैं। देखो धवला पु० १६ पृ० ५१६–५१७।

इसी बातको स्पष्ट करते हुए गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखा है—

उदये संकममुदये चउसु वि दादुं कमेण णोसक्कं।
उवसंतं च णिधत्तिं णिकाचिदं तं अपुव्वो त्ति ॥४५०॥

जो कर्म उदयावलिमें नहीं दिया जा सकता उसकी उपशान्त संज्ञा है, जो कर्म संक्रम और उदयावलिमें नहीं दिया जा सकता उसकी निधत्ति संज्ञा है तथा जो कर्म उदयावलिमें न दिया जा सके, जिसका संक्रम, उत्कर्षण और अपकर्षण भी न हो सके उसकी निकाचित संज्ञा है। ये तीनों अपूर्वकरण तक होते हैं, आगे इनकी व्युच्छित्ति है।

उपशम, निधत्ति और निकाचित इन तीनके विषयमें कर्मशास्त्रका यह अकाट्य नियम है, इसमें अपवाद नहीं। अतएव इसके प्रकाशमें जब हम धवला पु० ६ पृ० ४२७–२८ के वचन पर विचार करते हैं तो उससे यही तथ्य फलित होता है कि स्वभावदृष्टिसे जिनदेवका जो स्वरूप है वही आत्माका स्वरूप है ऐसा निर्णय करके जो आसन्न भव्य जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्वको उत्पन्न करनेके प्रसंगसे जिनबिम्बका अवलोकन करते समय अन्तरङ्गमें स्वभावसन्मुख होकर अधःकरण और अपूर्वकरण परिणामोंको उलंघन कर अनिवृत्तिकरणमें प्रवेश करता है उसका निधत्ति और निकाचितरूप मिथ्यात्वादि कर्मकलाप अनिधत्त और अनिकाचित हो जाता है। यह धवलाके उक्त कथनका तात्पर्य है। धवलाका वह कथन सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके प्रकरणसे ही सम्बन्ध रखता है, इसलिए आचार्य वीरसेनने उक्त कथन द्वारा उसी नियमका सूचन किया है जिसका प्रकृतमें हमने स्पष्टीकरण किया है। इसपरसे यदि अपर पक्ष यह तथ्य फलित करना चाहे कि बाह्यमें चाहे जैसी भूमिका रहने पर केवल बाह्य निमित्तोंके बलसे उपशान्त, निधत्ति और निकाचितरूप कर्म अनुपशान्त, अनिधत्त और अनिकाचित हो जाते होंगे, सो अपर पक्षका ऐसा विचार करना आगम सम्मत नहीं है। आगममें सब व्यवस्थाएँ सुनिश्चित हैं। उन्हीके आधारसे सब कार्य होते हैं।

उपशान्त, निधत्ति और निकाचित कर्मका स्वमुखसे ही उदय होता है ऐसा कर्मशास्त्रका नियम भी नहीं है। हमने अपने पूर्व वक्तव्यमें ऐसा विधान भी नहीं किया है, इसलिए इस प्रश्नको यहाँ उपस्थित कर उसकी चर्चा करना बेमतलब है।

'जो कर्म उपशम, निधत्ति और निकाचितरूप नहीं है वे बन्धावलिके बाद उदीरणा आदिके योग्य होते हैं' यह अपर पक्षने स्वीकार कर लिया यह प्रसन्नताकी बात है। किन्तु किस कर्मकी कब उदीरणा हो, कब उत्कर्षण, अपकर्षण या संक्रमण हो यह केवल द्रव्ययोग्यतासे सम्बन्ध रखनेवाली बात न होकर द्रव्य-पर्याय दोनों प्रकारकी योग्यतासे सम्बन्ध रखती है। आशय यह है कि जब प्रत्येक कर्म समर्थ उपादान होकर उदीरणा आदिके सन्मुख होता है तभी बाह्य सामग्रीको निमित्तकर उसकी उदीरणा, उत्कर्षण आदि होते हैं।

कर्मशास्त्रमें बन्धावलिके बाद उत्कर्षण आदि होना संभव है यह जो विधान किया है वह यथार्थ है, परन्तु काल भी एक निमित्त है, इसलिए कोई भी काल किसी भी कार्यके लिए निमित्त हो जाय ऐसा आगमका नियम नहीं है। किन्तु निश्चित कार्यके लिए निश्चित काल ही निमित्त होता है ऐसा कालनियम अवश्य है। निश्चित कालके साथ निश्चित अन्य बाह्य सामग्री भी प्रत्येक कार्यमें निमित्त होती है, इसलिए आचार्योंने केवल कालसे ही सब कार्य होते हैं इसका निषेध अवश्य किया है। पर निश्चित काल निमित्त न हो और कार्य हो जाय ऐसा नहीं है। देखो, अप्रशस्त उपशम आदिरूप कर्मको जो उदीरणा आदिके अयोग्य बतलाया है सो उसे भी प्रतिनियत काल तक ही ऐसा जानना चाहिए। इससे प्रतिनियत काल ही प्रतिनियत कार्यके लिए हेतु होता है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। इसी बातको स्पष्ट करते हुए जयधवला पु० ७, पृ० २४७ में लिखा है—

एत्थ चोदओ भणदि—उदयावलियबाहिरं वि ओकड्डणादो ज्झीणट्ठिदियमप्पसत्थउवसामणा–णिधत्ती-करण-णिकाचणाकरणेहि अत्थि चेव जाव दंसण-चरित्तमोहक्खवगुवसामयअपुव्वकरणचरिमसमओ त्ति तदो किं वुच्चदे उदयावलियबाहिरट्ठिदिट्ठिदपदेसग्गमोकड्डणादो अज्झीणट्ठिदियमिदि ? एत्थ परिहारो वुच्चदे—जिस्से ट्ठिदीए पदेसग्गस्स ओकड्डणा अच्चंतं ण संभवइ सा ट्ठिदी ओकड्डणादो झीणा वुच्चइ, तिस्से अच्चंताभावेण पडिग्गहियत्तादो। ण च णिकाचिदपरमाणूणमेवंविहो णियमो अत्थि, अपुव्वकरणचरिम-समयादो उवरि तेसिमोकड्डणादिपाओग्गभावेण पडिणियदकालपडिबद्धाए ओकड्डणादीणमणागमण-पइज्जाए अणुवलंभादो।

शंका—यहाँ पर शंकाकार कहता है कि उदयावलिके बाहिर भी अप्रशस्त उपशामना, निधत्तीकरण और निकाचनाकरणके सम्बन्धसे ऐसे कर्मपरमाणु बच रहते हैं जो अपकर्षणके अयोग्य हैं और उनकी यह अयोग्यता दर्शनमोहनीय या चारित्रमोहनीयकी क्षपणा या उपशमना करनेवाले जीवके अपूर्वकरणके अन्तिम समय तक बनी रहती है, तब फिर यह क्यों कहा जाता है कि उदयावलिके बाहिरकी स्थितियोंमें स्थित कर्मपरमाणु अपकर्षणके योग्य है ?

समाधान—जिस स्थितिके कर्मपरमाणुओंकी अपकर्षणा बिलकुल ही सम्भव नहीं, केवल वही स्थिति यहाँ अपकर्षणाके अयोग्य कही गई है, क्योंकि यहाँ ऐसे कर्मपरमाणुओंकी अपकर्षणाका निषेध किया है जो किसी भी हालतमें सम्भव नहीं है। किन्तु निकाचित आदि अवस्थाको प्राप्त हुए कर्मपरमाणुओंका ऐसा नियम तो है नहीं, क्योंकि वे कर्मपरमाणु अपूर्वकरणके अन्तिम समयके बाद अनिवृत्तिकरणमें अपकर्षणा आदिके योग्य हो जाते हैं। और तब फिर उनकी अपकर्षणा आदिको नहीं प्राप्त होनेकी जो प्रतिनियत काल तककी प्रतिज्ञा है वह भी नहीं रहती।

इस उल्लेखसे यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि सत्तामें स्थित किस कर्मकी किस समय, घटी, घंटा या

मुहूर्तबाद उदीरणा आदि होनेका नियम है उस कर्मकी उस कालमें-नियमसे उदीरणा आदि होती है। उदयावलिके भीतर स्थित कर्म अपकर्षणादिकके सर्वथा अयोग्य हैं, इसलिए वहाँ उसका सर्वथा निषेध किया है। किन्तु उदयावलिके बाद स्थित जितने भी कर्म हैं उनमेंसे सबकी उदीरणा आदिका एक कालनियम न होनेके कारण साथ ही सबकी एक-सी व्यवस्था न होनेके कारण उनका अलग-अलग निर्देश किया है। इसके लिए जयधवला पु० ७ में क्षीणाक्षीणचूलिका अनुयोगद्वार द्रष्टव्य है।

यहाँ अपर पक्षने उद्वेलना आदिकी चरचा करते हुए यह बतलानेका प्रयत्न किया है कि 'ये उद्वेलना आदि अनियमसे होते हैं।' किन्तु अपर पक्ष यह भूल जाता है कि कर्मशास्त्रमें जिसके लिए जो नियम निर्दिष्ट किये गये हैं उन नियमोंको उल्लंघन कर न उदीरणा होती है, न उद्वेलनासंक्रम होता है और न हो गुणसंक्रम या दूसरा कार्य ही होता है। यदि सम्यक्त्व और सम्यग्मिथ्यात्वकी उद्वेलना मिथ्यात्व गुणस्थानमें होनेका नियम है तो क्या बाह्य सामग्रीके बल पर वह अन्य गुणस्थानमें की जा सकती है? यदि नहीं तो फिर यह सिद्धान्त स्वीकार कर लेनेमें क्या आपत्ति है कि प्रत्येक कार्य अपने-अपने समर्थ उपादानके अनुसार बाह्य सामग्रीको निमित्त कर स्वकालमें ही होता है। कर्मके जिस कार्यका जो स्थान और योग्यता नियत हैं उसके प्राप्त होने पर ही वह कार्य होता है यही तो नियति है और नियति किस वस्तुका नाम है।

मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही मिथ्यात्वकी उदीरणा होती है और वेदकसम्यक्त्वके होनेपर ही सम्यक्त्वकी उदीरणा होती है। यही तो नियम है और नियम क्या वस्तु है। यही उनकी उदीरणाका स्वकाल है। फिर नहीं मालूम कि अपर पक्ष इनकी उदीरणाका नियत काल होने पर भी उसका निषेध किस आधार पर करनेका साहस करता है।

यदि क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीवके क्षायिक सम्यक्त्वको उत्पन्न करते समय सम्यक्त्व प्रकृतिका गुणसंक्रम और सर्वसंक्रम नहीं होता है तो गुणसंक्रम और सर्वसंक्रमके स्वकालमें होनेका निषेध कैसे हो गया। यह कोई तर्क है कि 'क्षायिक सम्यक्त्वको उत्पन्न करते समय यदि सम्यक्त्व प्रकृतिका गुणसंक्रम या सर्वसंक्रम नहीं होता तो इनका कालनियम ही नहीं बनता।' सम्यक्त्व प्रकृतिके गुणसंक्रम, और सर्वसंक्रम उद्वेलनाके समय बनते हैं, क्षायिक सम्यक्त्वकी प्राप्तिके समय नहीं बनते ऐसी इस कर्मकी व्यवस्था है। और इसीके अनुसार इनके होनेका पृथक्-पृथक् जीवोंकी अपेक्षा पृथक्-पृथक कालनियम है।

उपशमश्रेणि अनिवृत्तिकरण गुणस्थानपर एक साथ आरोहण करनेवाले दो जीवोंमेंसे अनन्तर समयमें एक मरकर चतुर्थ गुणस्थानको प्राप्त होता है और दूसरा सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानको प्राप्त होता है सो इन दोनोंका एक उपादान है यह अपर पक्षने किस आधारसे निर्णय किया? यदि इसका वह स्पष्टीकरण कर देता तो तत्त्वमीमांसा करनेमें सुगमता जाती। मालूम पड़ता है कि अपर पक्षने केवल अनिवृत्तिकरणरूप परिणामको ही उपादानकारण समझ लिया है। उन दोनोंकी भवस्थिति जो जुदी-जुदी है उसे उसने लक्ष्यमें ही नहीं लिया है। कैसी भवस्थितिके साथ कैसा अनिवृत्तिकरण परिणाम होने पर उत्तर क्षणमें किस गुणस्थानरूप क्या परिणाम होता है ऐसा नियम है। उसी नियमके अनुसार एक उपशम अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाला जीव मर कर अपने समर्थ उपादानके अनुसार चतुर्थ गुणस्थानको प्राप्त होता है और दूसरा सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानको प्राप्त होता है। यह है अपने-अपने उपादानगत विशेषताका फल। आशा है अपर पक्ष इस ओर ध्यान देकर अपने विचारोंमें सुधार अवश्य कर लेगा।

जब प्रत्येक जीवका मोक्ष जानेका कालनियम है और इसी नियमके आधार पर ६०८ जीवोंका ६ माह ८ समयमें मोक्ष जानेका निर्देश किया है, इसलिए प्रत्येक जीवको तपके लिए अलग-अलग कालनियम बन जाता है और उसके बन जानेसे निर्जराका भी नियम बन जाता है। किसी भी चरमशरीरीका मोक्ष जानेका तो कालनियम हो और व्रतग्रहण, तपश्चरण आदिका कालनियम न हो यह नहीं हो सकता, अतएव सभी कार्य बाह्य-आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रतामें स्वकालमें ही होते हैं ऐसा यहाँ निश्चय करना चाहिए।

३८. करणानुयोगसम्बन्धी विषयों पर उपस्थित आपत्तियोंका समाधान

अपर पक्षने प्रतिशंका २ में अकामनिर्जरा तथा उत्कर्षण, संक्रमण आदिके विषयमें चरचा स्वयं चलकर की है और इसीकारण उत्तर २ में इन सब विषयों पर हमें विचार करना पड़ा है। किन्तु अब अपर पक्षकी शिकायत है कि इन सब विषयोंकी चरचा निमित्तसम्बन्धी प्रश्नके उत्तरमें करनी थी। यहाँ यह सब चरचा क्यों की गई? इस पर हमारा उत्तर स्पष्ट है कि यदि शंकाकार पक्ष प्रत्येक प्रश्नकी मर्यादाको ध्यानमें रख कर अपनी शंका प्रस्तुत करता तो हमारी ओरसे उस मर्यादाका अवश्य ही पालन किया जाता। अस्तु,

हमने अपने पिछले उत्तरमें जो हेतु नं० ३ व ४ दिये हैं। उन परसे अपर पक्षने जो यह तात्पर्य फलित किया है कि एक ही निमित्तकारण होनेसे 'एक ही कार्य होना चाहिए था, भिन्न-भिन्न नहीं।' सो अपर पक्षने यह ठीक आशय लिया है। यही तो हमारा कहना है कि यदि बाह्य सामग्री निमित्त बन कर दूसरे द्रव्यके कार्यमें व्यापार करती है तो उससे एक कालमें एक ही कार्य होना चाहिए, क्योंकि कोई भी वस्तु एक कालमें एक ही क्रिया कर सकती है, एक वस्तु एक कालमें अनेक क्रिया करे यह तो जिनागम नहीं है।

अपर पक्षने लिखा है कि एक लाठीके प्रयोगसे भिन्न-भिन्न आकारवाले कपालोंकी उत्पत्ति देखी जाती है और इसकी पुष्टिमें धवला पु० १ पृ० २१९ का प्रमाण दिया है। सो एक तो यह प्रमाण ही यह सिद्ध करता है कि प्रत्येक कार्य अपने-अपने उपादानके अनुसार ही होता है, बाह्य सामग्री तो उसमें निमित्त मात्र है। दूसरे अपर पक्षने प्रमाणरूपमें धवला पु० १ पृ० २१९ का जितना अंश उद्धृत किया है वह केवल भ्रममें डालनेके अभिप्रायसे ही उसने उद्धृत किया है। अन्यथा वह उसके आगेके अंशको अवश्य ही उपस्थित करता। वह आगेका अंश इस प्रकार है—

तत्थ वि होदु णाम मोग्गरो एओ, ण तस्स सत्तीणमेयत्तं। तदो एयकवल्लुप्पत्तिपसंगादो इदि चे तो क्खहि एत्थ वि भवदु णाम ट्ठिदिकंडयघाद–अणुभागकंडयघाद-ट्ठिदिबंधोसरण-गुणसंकम-गुणसेढी-ट्ठिदि-अणुभागबंधपरिणामाणं णाणत्तं। तो वि एगसमयसंठियणाणाजीवाणं सरिसा चेव, अण्णहा अणियट्टिविसेसणाणुववत्तीदो।

शंका—वहाँपर मुद्गर एक भले ही रहा जावे, परन्तु उसकी शक्तियोंमें एकपना नहीं बन सकता है। यदि मुद्गरकी शक्तियोंमें एकपना मान लिया जावे तो उससे एक कपालरूप कार्यकी ही उत्पत्ति होगी?

समाधान—यदि ऐसा है तो यहाँपर भी स्थितिकाण्डकघात, अनुभागकाण्डकघात, स्थितिबन्धापसरण, गुणसंक्रमण, गुणश्रेणिनिर्जरा, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धरूप परिणामोंमें नानापना रहा आवे। तो भी एक समयमें स्थित नाना जीवोंके परिणाम सदृश ही होते हैं, अन्यथा अनिवृत्ति यह विशेषण नहीं बन सकता।

यह ऐसा प्रमाण है जो प्रतिनियत कार्यके प्रतिनियत उपादान और उसकी निमित्तभूत प्रतिनियत बाह्य-सामग्रीको सूचित करता है। देखिए, सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थानके अन्तिम समयमें परिणाम एक है पर वहाँ होनेवाले ज्ञानावरणादि कर्मोंके स्थितिबन्ध और अनुभागबन्धमें कितनी विलक्षणता देखी जाती है। क्या इससे सर्वत्र यह अनुमान नहीं किया जा सकता कि सभी कार्योंकी बाह्याभ्यन्तर सामग्री प्रतिनियत है। यद्यपि ऐसा है फिर भी प्रत्येक उपादानसे जो भी कार्य होता है वह बाह्य-कारणनिरपेक्ष ही होता है। जयधवला पु० ७ पृ० ११७ में इस विषयको स्पष्ट करते हुए लिखा भी है—

बज्झकारणणिरवेक्खो वत्थुपरिणामो।

प्रत्येक वस्तुका परिणमन बाह्यकारण निरपेक्ष होता है। अतएव अनेक कार्योंकी निमित्तभूत बाह्य सामग्री चाहे एक हो या अनेक, कार्य बाह्य सामग्रीसे निरपेक्ष होकर उपादानके अनुसार ही होता है ऐसा यहाँ समझना चाहिए। इतना अवश्य है कि बाह्य-सामग्री उपादानगत विशेषताकी सूचक होनेसे प्रत्येक कार्यकी उत्पत्तिमें व्यवहारसे कारणरूपसे उसका भी निर्देश किया जाता है। अपर पक्षने धवला पु० १२ पृ० ३८० व ४५१ का सहकारीकारणके भेदसे कार्यभेदका जो प्रमाण उपस्थित किया है वह इसी आशयको सूचित करता है। बाह्य-सामग्रीको उपचरित हेतु, व्यवहार हेतु, उपकरणमात्र, निमित्तमात्र आदि कहनेका भी यही कारण है। जब कि प्रत्येक पर्याय स्वकालमें स्वयं सत् है ऐसी अवस्थामें उसकी उत्पत्ति परसे मानना कथमपि सम्भव नहीं है। बाह्य-सामग्री तो भट्टाकलंकदेवके शब्दोंमें (तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० २) उपकरणमात्र है। इसका तात्पर्य ही यह है कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें अपनी-अपनी शक्तिसे ही उस उस पर्यायरूपसे उत्पन्न होता है। अन्यके द्वारा अन्यकी उत्पत्ति होती है यह तो कथनमात्र है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए हरिवंशपुराण सर्ग ४४ में कहा है—

स्वयं कर्म करोत्यात्मा स्वयं तत्फलमश्नुते।
स्वयं भ्राम्यति संसारे स्वयं तस्माद्विमुच्यते ॥१२॥

आत्मा स्वयं कर्म करता है, स्वयं उसके फलको भोगता है, स्वयं संसारमें भ्रमता है और स्वयं उससे मुक्त होता है ॥१२॥

यह सम्यक् जैनदर्शन है। इस आधारसे जितनी भी कार्य-कारणव्यवस्था परमागममें उपदिष्ट है वह यथार्थ है। अतएव इस आधारसे कार्य-कारणभावका निर्णय करना प्रत्येक श्रुतज्ञानी जीवका कर्तव्य है।

अपर पक्षने विस्रसोपचयका प्रश्न उपस्थित कर 'समर्थ उपादान या निश्चय उपादानकी अपेक्षा प्रत्येक समयमें कुछ विस्रसोपचय बन्धके योग्य होते हैं और कुछ बन्धके योग्य नहीं होते,' हमारे इस अभिप्रायका खण्डन करते हुए लिखा है कि 'कर्मवर्गणाका लक्षण ही यह है कि वह द्रव्यकर्मरूप परिणमनके योग्य है। द्रव्यकर्मरूप परिणमन करनेका नाम ही बन्ध है। जैसे ऊपर कह आये हैं श्री वीरसेन स्वामीने भी धवल पु० १२ पृ० २७६–७७ पर यह ही उत्तर दिया कि कर्मस्कन्धोंमें समान शक्ति होते हुए भी, जीवमें इतनी शक्ति नहीं है जो सर्व कर्मवर्गणाओंको एक समयमें कर्मरूप परिणमा सके। यह उत्तर नहीं दिया कि जिन कर्मवर्गणाओंमें योग्यता है वही कर्मरूप परिणमती हैं, शेष योग्यता नहीं होनेके कारण नहीं परिणमती हैं। प्रत्युत सबमें समान शक्ति मानी गई है।'

आगे अपने इस अभिप्रायको पुष्ट करनेके लिए अपर पक्षने धवला पु० १२ पृ० २७६–७७ का वह प्रमाण उपस्थित कर अन्तमें पूर्वोक्त अभिप्रायकी पुष्टिमें एक नोट भी लगाया है। तथा आगे इसी विषयके समर्थनमें और प्रमाण भी उपस्थित किया है।

इस प्रकार इस पूरे कथनके आधार पर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि जिस द्रव्यमें जो जो कार्य होता है वह तो उसके लिए सदा ही उपादान है, मात्र जब जैसे निमित्त मिलते हैं उनके अनुसार कार्य होता है। यदि सब विस्रसोपचय एक साथ कर्मरूप नहीं परिणमते तो इसका कारण वे विस्रसोपचय स्वयं नहीं हैं। यदि इसका कोई मुख्य कारण है तो जीवमें सबको एक साथ कर्मरूप परिणमा सकनेकी शक्तिका अभाव ही है। अपर पक्षकी दृष्टिसे यदि इसी बातको और फैलाकर कहा जाय तो यह कहा जा सकता है कि जितने भी भव्य जीव हैं उन सबमें मुक्त होनेकी सदा ही द्रव्य-पर्याय योग्यता है। यदि उन्हें एक साथ मुक्ति नहीं मिलती तो इसका कारण वे भव्य जीव स्वयं नहीं हैं। यदि इसका कोई कारण है तो निमित्तोंमें सबको एक साथ मुक्ति न दिला सकनेकी शक्तिका अभाव ही है।

यह अपर पक्षके उक्त वक्तव्यका अभिप्राय है। किन्तु अपर पक्षका यह कथन निश्चय पक्षका किस प्रकार अपलाप करनेवाला है आगे इसपर सांगोपांग प्रकाश डालते हैं—

यहाँ सर्व प्रथम तो यह देखना है कि धवला पु० १२ का वह प्रकरण कर्मबन्धका किस नयसे कौन निमित्त है इसका ज्ञान करानेके लिए लिखा गया है या किस कर्मबन्धका कौन समर्थ या निश्चय उपादान है इसका ज्ञान करानेके लिए लिखा गया है? पूरे प्रकरणपर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म-बन्धका किस नयसे कौन निमित्त है, मात्र इसका ज्ञान करानेके लिए ही वह प्रकरण लिखा गया है। धवला टीकामें भी उसी आशयको स्पष्ट किया गया है। किस कर्मबन्धका कौन समर्थ या निश्चय उपादान है इसका तो वहाँ विचार ही नहीं किया गया है।

खुलासा इस प्रकार है—नैगम, संग्रह और व्यवहार ये तीनों द्रव्यार्थिकनयके भेद हैं। और द्रव्यार्थिक-नय पर्याय योग्यताको गौणकर मात्र द्रव्य योग्यताके आधारसे विचार करता है। प्राणातिपात, मृषावाद आदिको जो कर्मबन्धका बाह्य हेतु कहा है वह द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा कहा है। आचार्य वीरसेनने इसके समर्थनमें पूर्वोक्त जितने तर्क दिये हैं वे सब द्रव्यार्थिकनयकी मुख्यतासे ही दिये हैं। उदाहरणार्थ सहकारी कारण और कार्यके मध्य कालप्रत्यासत्ति स्वीकार की गई है। इसे अपर पक्ष पहले ही स्वीकार कर आया है। किन्तु जब यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि तीन लोकमें अवस्थित कर्मवर्गणाएँ एक साथ ज्ञानावरणादिरूप क्यों नहीं परिणम जातीं तो आचार्य वीरसेन द्रव्यार्थिकनयसे इसका समाधान करते हुए लिखते हैं कि देशविषयप्रत्यासत्तिका अभाव होनेसे वे एक साथ ज्ञानावरणादिरूप नहीं परिणमतीं। आगे यह प्रश्न होनेपर कि एक अवगाहनाविषयक प्रत्यासत्तिके रहते हुए भी सभी कार्मणस्कन्ध ज्ञानावरणादिरूप क्यों नहीं परिणम जाते? आचार्य वीरसेनने कालप्रत्यासत्तिका अभाव है यह उत्तर न देकर जीवमें एक साथ उस प्रकारके परिणमानेकी शक्तिका अभाव है यह जो उत्तर दिया है सो यह उत्तर भी पर्यायार्थिकनयको गौण करके ही दिया है। जब कि वस्तुस्थिति यह है कि प्रत्येक समयमें पृथक्-पृथक् ज्ञाना-वरणादि कर्मरूप परिणमनके सन्मुख हुई कर्मवर्गणाएँ ही जीवके योग और कषायको निमित्तकर ज्ञानावरणादि-रूप परिणमती हैं।

ये प्राणातिपात आदि द्रव्यार्थिकनयसे कारण कहे गये हैं इसकी पुष्टि पूरे स्पष्टीकरणके साथ स्वयं आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलिने तथा आचार्य वीरसेनने की है। इसके लिये देखो धवला पु० १२ पृ० २८८ आदि। आचार्य वीरसेन लिखते हैं—

ण पाणादिवाद-मुसावादादत्तादाण-मेहुण-परिग्गह-रादिभोयणपच्चए णाणावरणीयं बज्झदि, तेण विणा कि अप्पमत्तसंजदादिसु बंधुवलंभादो। ण कोह-माण-माया-लोभेहि बज्झइ, कम्मोदइल्लाणं तेसि-

मुदयविरहिदद्धाए तब्बंधुवलंभादो। ण णिदाणब्भक्खाण-कलह-पेसुण्ण-रइ-अरइ-उवहि-णियदि-माण-माय-मोस-मिच्छाणाण-मिच्छदंसणेहि, तेहि विणा वि सुहुमसांपराइयसंजदेसु तब्बंधुवलंभादो। यस्मिन् सत्येव भवति नासति तत्तस्य कारणमिति न्यायात्। तम्हा णाणावरणीयवेयणा जोग-कसाएहि चेव होदि त्ति सिद्धं।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रिभोजन प्रत्ययोंसे ज्ञानावरणीयकर्मका बन्ध नहीं होता है, क्योंकि उनके बिना भी अप्रमत्तसंयतादिकोंमें उसका बन्ध उपलब्ध होता है। क्रोध, मान, माया और लोभसे भी उसका बन्ध नहीं होता, क्योंकि कर्मके उदयसे युक्त उनके उदयरहित कालमें भी उसका बन्ध उपलब्ध होता है। निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशून्य, रति, अरति, उपधि, निकृति, मान, मेय, मोष, मिथ्याज्ञान और मिथ्यादर्शनसे भी उसका बन्ध नहीं होता, क्योंकि उनके बिना भी सूक्ष्मसाम्परायिक संयतोंमें उसका बन्ध उपलब्ध होता है। जो जिसके होनेपर ही होता है और जिसके नहीं होनेपर नहीं होता है वह उसका कारण है ऐसा न्याय है। इसलिए ज्ञानावरणीयवेदना योग और कषायसे होती है यह सिद्ध हुआ।

इससे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि द्रव्यार्थिकनयसे मात्र सामान्य कारणका ज्ञान होता है। किन्तु प्रत्येक समयमें जो भी कार्य होता है वह पर्याय विशेषरूप बाह्याभ्यन्तर उभय सामग्रीके सद्भावमें ही होता है, अन्यथा नहीं होता। यह नियम व्यवहारनयसे जहाँ बाह्य सामग्रीपर लागू होता है वहाँ निश्चय-नयसे निश्चय उपादानरूप आभ्यन्तर सामग्रीपर भी लागू होता है। इन दोनोंका योग प्रत्येक समयमें मिलता है और तदनुरूप कार्य भी प्रत्येक समयमें होता है।

संक्षेपमें तात्पर्य यह है कि प्रकृतमें द्रव्यार्थिकनयका जितना भी कथन है वह मात्र इतना ज्ञान कराता है कि प्राणातिपात आदि कारण होकर भी इनके सद्भावमें ही बन्ध कार्य होता है, अन्यथा नहीं होता ऐसा नियम नहीं है। हाँ पर्यायार्थिकनयसे योग और कषाय नियमसे कार्यवाले होते है। किन्तु है यह सब असद्-भूतव्यवहार नयका ही कथन इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए धवला पु० ६ पृ० ११ में लिखा है—

मुह्यत इति मोहनीयम्। एवं संते जीवस्स मोहणीयत्तं पसजदि त्ति णासंकणिज्जं, जीवादो अभि-ण्णम्हि पोग्गलदव्वे कम्मसण्णिदे उवयारेण कत्तारत्तमारोविय तधा उत्तीदो।

जिसके द्वारा मोहा जाय वह मोहनीय है।

शंका—ऐसा होनेपर जीवको मोहनीयपना प्राप्त होता है?

समाधान—ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जीवसे अभिन्न अर्थात् एक क्षेत्रावगाहरूपसे स्थित तथा कर्म संज्ञावाले पुद्गल द्रव्यमें उपचारसे कर्तृत्वका आरोप करके उस प्रकारका कथन किया गया है।

अतएव प्रत्येक कार्यका यथार्थ हेतु समर्थ या निश्चय उपादान ही है। व्यवहारसे कालप्रत्यासत्ति होनेके कारण जिसके साथ बाह्य व्याप्ति उपलब्ध होती है उसे भी हेतु, प्रत्यय या निमित्त कहा जाता है। उक्त सन्दर्भ द्वारा आचार्य वीरसेनने यही अभिप्राय व्यक्त किया है।

आगे अपर पक्षने एक समयमें योगको निमित्त कर कितने प्रमाणमें कर्मवर्गणाएँ या आहारादि वर्गणाएँ बँधती है यह जो चर्चा की है सो यह भी प्रत्येक कार्यके प्रतिनियत निमित्तको ही सूचित करती है। जैसे प्रत्येक कार्यका प्रतिनियत उपादान होता है वैसे ही प्रतिनियत बाह्य-सामग्रीरूप निमित्त भी होता है।

यही सनातन सत्य कार्य-कारणव्यवस्था है। अपर पक्ष इसे ही तो स्वीकार करनेसे हिचकिचाता है। यदि वह इसे स्वीकार कर लेता है तो बहुत-कुछ विवाद समाप्त हो जाता है।

धवला या जयधवलामें जो यह लिखा है कि 'आगम तर्कका विषय नहीं है' वह यथार्थ लिखा है। अतएव यह अपर पक्षको ही विचार करना है कि श्रुतज्ञानियोंकी दृष्टिमे जो वह तर्काश्रित प्ररूपणा करके अपने अभिप्रायकी पुष्टि करना चाहता है वह कहाँतक ठीक है। **प्रत्येक कार्यकी अपने उपादानके साथ आभ्यन्तर व्याप्ति होती है और बाह्य-सामग्रीरूप निमित्तके साथ बाह्य-व्याप्ति होती है। यह कार्य-कारणभावकी अकाट्य व्यवस्था है।** व्याप्तिका अर्थ ही यह है कि जिसके होनेपर जो हो और जिसके अभावमें जो न हो। यह नियम ही प्रतिनियत कार्यकी प्रतिनियत बाह्याभ्यन्तर सामग्रीको सूचित करता है। किन्तु अपर पक्ष प्रमाण तो आगमका उपस्थित करता है और कहता है अपनी बात। हम उससे पूछते हैं कि यह किस आगममें लिखा है कि अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यरूप उपादान अनेक योग्यताओंवाला होता है, उनमेंसे जिस योग्यताके अनुरूप बाह्य सामग्री मिलती है, कार्य उसके अनुरूप होता है। क्या यह स्वकल्पित कल्पना नहीं है? इसका अपर पक्ष ही विचार करे। यदि उसे सचमुचमें आगमको स्वीकार करना इष्ट है तो उसे यह भीतरसे स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रत्येक कार्यकी बाह्य और आभ्यन्तर उपाधि सुनिश्चित है। इसलिए प्रत्येक द्रव्यका प्रत्येक समयमें अपने-अपने उपादानके अनुसार बाह्य सामग्रीको निमित्त कर सुनिश्चित कार्य ही होता है। धवला आदि ग्रन्थोंके टीकाकार इस नियमको उन ग्रन्थोंके आधारसे बराबर समझते हैं। उन्हें कहीं कोई भ्रम नहीं है। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि आगममें निश्चयनय और व्यवहारनय दोनो नयोंकी मुख्यतासे कथन उपलब्ध होता है। जहाँ बाह्य-निमित्त प्रधान कथन है वह व्यवहारनयका कथन है और जहाँ उपादानप्रधान कथन है वह निश्चयनयका कथन है। प्रत्येक कार्यकी अपने निश्चय उपादानके साथ आभ्यन्तर व्याप्ति है और उसमे निमित्त होनेवाली बाह्य सामग्रीके साथ बाह्य व्याप्ति है, इसलिए चाहे आभ्यन्तर व्याप्तिको लक्ष्यमें रखकर कथन किया जाय या चाहे बाह्य व्याप्तिको लक्ष्यमें रखकर कथन किया जाय, दोनोंका तात्पर्य एक ही होगा। उदाहरणार्थ आठ कर्मोंके अभावके साथ मुक्तिकी बाह्य व्याप्ति है और रत्नत्रयकी समग्रतारूपसे परिणत आत्माके साथ मुक्तिकी आभ्यन्तर व्याप्ति है, इसलिए 'आठ कर्मोंके अभावसे मुक्ति प्राप्त होती है' चाहे यह कहो या चाहे 'रत्नत्रयकी समग्रतारूपसे परिणत आत्मा मुक्तिको उत्पन्न करता है' यह कहो, दोनों कथनोंसे एक ही अर्थका ज्ञान होता है। इसलिए आगममें प्रयोजनानुसार दोनों प्रकारसे निरूपण किया गया है। इस विषयको स्पष्टरूपमें समझनेके लिए प्रवचनसार गाथा १८९ की आचार्य अमृतचन्द्रकृत टीका द्रष्टव्य है—

रागपरिणाम एवात्मनः कर्म, स एव पुण्य-पापद्वैतम्। रागपरिणामस्यैवात्मा कर्ता, तस्यैवोपादाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः। यस्तु पुद्गलपरिणाम आत्मनः कर्म, स एव पुण्य-पापद्वैतम्। पुद्गलपरिणामस्यात्मा कर्ता तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनयः।

राग परिणाम ही आत्माका कर्म है, वही पुण्य-पाप द्वैत है। आत्मा रागपरिणामका ही कर्ता है, उसीको ग्रहण करनेवाला है और उसीको त्याग करनेवाला है। यह शुद्ध द्रव्यका निरूपणस्वरूप निश्चयनय है। किन्तु जो पुद्गल परिणाम आत्माका कर्म है, वही पुण्य-पाप द्वैत है। आत्मा पुद्गल परिणामका कर्ता है, उसीको ग्रहण करनेवाला और त्यागनेवाला है। यह अशुद्ध द्रव्यका निरूपणस्वरूप व्यवहारनय है।

प्रवचनसार टीकाका यह ऐसा वचन है जिससे दोनों प्रकारकी कथनी पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है। यहाँ पर शुद्ध शब्दका प्रयोग एक द्रव्याश्रित परिणामकी विवक्षासे किया गया है और अशुद्ध शब्दका प्रयोग अन्य द्रव्यके परिणामको अन्य द्रव्यमें लगानेके अभिप्रायसे किया गया है। इससे यह बात सहज ही समझमें आ जाती है कि **एक द्रव्याश्रित जितना भी कर्ता-कर्म आदिका कथन है वह यथार्थ है और एक द्रव्यको दूसरे द्रव्यके कार्यका कर्ता आदि बनाकर जितना भी कथन किया जाता है वह असद्भूतव्यवहाररूप होनेसे उपचरित है।**

अपर पक्षका कहना है कि जीवमें एक समयमें जितने कर्मपरमाणु बाँधनेकी शक्ति है उतने कर्म-परमाणु एक समयमें जीव बाँधता है। वैसे कर्मपरमाणुओंमें तो सभीमें एक साथ बँधनेकी योग्यता है। यदि वे एक साथ नहीं बंधते है तो उसका कारण वे स्वयं न होकर जीवका हीनशक्ति होना है यह अपर पक्षका कथन है। किन्तु वस्तुस्थिति क्या है इसके लिए पञ्चास्तिकायका यह वचन अवलोकनीय है—

अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णावगाहमवगाढा ॥६५॥

आत्मा अपने भावको करता है, तथा वहाँ रहनेवाले पुद्गल अपने भावोंसे अन्योन्यावगाह-अवगाढ होकर कर्मभावको प्राप्त होते हैं ॥६५॥

इस वचनसे जहाँ उपादान-उपादेयभावकी यथार्थ व्यवस्था क्या है इसका ज्ञान होता है वहाँ उसके साथ निमित्त-नैमित्तिकभावकी क्या व्यवस्था है इसकी भी सम्यक् जानकारी मिल जाती है। अपर पक्ष बाह्य-सामग्रीमात्रको निमित्तरूपसे स्वीकार न कर जिस प्रकार प्रतिनियत पर्यायकी अपेक्षा उसे निमित्तरूपसे स्वीकार करता है उसी प्रकार वह मात्र द्रव्यप्रत्यासत्तिको उपादानरूपसे स्वीकार न कर यदि प्रतिनियत पर्यायकी अपेक्षा उसे उपादानरूपसे स्वीकार कर ले तो अपने पिछले उत्तरमें हमने जिन बातोंका निर्देश किया है वे सब उसे यथार्थ प्रतीत होने लगें। गलती कहाँ हो रही है इस ओर उसे ध्यान देना है।

हमारी छठी बातकी चरचा करते हुए अपर पक्षने लिखा है कि 'उपादानको कार्यके साथ एक द्रव्यप्रत्यासत्तिरूप कारणता होती है।' आदि। सो अपर पक्षका यह लिखना ही भ्रमोत्पादक है, क्योंकि—

१. अनन्तर पूर्वोत्तर दो क्षणोंमें ही हेतु-फलभाव देखा जाता है। व्यवहित पूर्वोत्तर दो क्षणोंमें हेतु-फलभाव नहीं बनता।—प्रमेयरत्नमाला ३, ५७।

२. परस्परमें अव्यवहित अग्नि-धूमादिकमें ही तदुत्पत्ति बनती है, व्यवहित कालवालेमें नहीं, क्योंकि ऐसा होनेपर अतिप्रसंग दोष आता है।—प्रमेयकमलमार्तण्ड ३, ६१।

३. परिणमन शक्तिलक्षण प्रतिविशिष्ट अन्तःसामग्री ही उपादान होती है।—अष्टसहस्री पृ० १५०।

४. पर्यायविशेषात्मक द्रव्यमें ही उपादानता प्रतीत होती है, घटपरिणमनमें समर्थ पर्यायस्वरूप मिट्टी द्रव्यमें घटको उपादानताके समान।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६९।

इससे स्पष्ट है कि एक द्रव्य प्रत्यासत्तिके आधारपर अव्यवहित पूर्वोत्तर दो क्षणों (पर्यायों) में ही उपादान-उपादेयभाव आगममें स्वीकार किया गया है, केवल द्रव्यप्रत्यासत्तिमें उपादान कारणता आगममें स्वीकार नहीं की गई है, अतएव समनन्तर पूर्वपर्यायमें कारणताके बन जानेसे उससे समनन्तर नियत उत्तर पर्यायकी उत्पत्ति अवश्य होगी और उसमें व्यवहारसे निमित्त होनेवाली बाह्य सामग्रीका योग भी अवश्य मिलेगा। ऐसा नहीं हो सकता कि उपादानके अपने कार्यके सन्मुख होनेपर बाह्य सामग्रीका योग न मिलनेसे

कार्य रुका रहे या जिस कार्यका वह उपादान है, उससे वह कार्य न होकर बाह्य सामग्रीके बलपर अन्य कार्य हो जाय। 'विवक्षित उपादानसे विवक्षित कार्य न होकर अन्य कार्य भी हो सकता है' ऐसा न तो आगममें ही स्वीकार किया गया है और न लोकमें हो देखा जाता है। अतएव हम अपने पिछले उत्तरके समय छठी बातमें जो कुछ तथ्य प्ररूपित कर आये हैं वह यथार्थ है।

आगे अपर पक्षने कालप्रत्यासत्तिका बाह्य सामग्रीके आधार पर जो अर्थ किया है वह भी भ्रमोत्पादक है, क्योंकि जिस समय एक कार्यकी बाह्य सामग्रीके साथ बाह्य व्याप्ति होती है उसी समय उसकी अपने उपादानके साथ आभ्यन्तर व्याप्ति होती है। इसलिये व्यवहारसे जिस प्रकार उस कार्यका बाह्य सामग्रीके साथ अन्वय-व्यतिरेक बन जानेसे वह सामग्री व्यवहारसे उस कार्यकी निमित्त कहलाती है और निष्पन्न हुई पर्याय उस सामग्रीकी नैमित्तिक कहलाती है, उसी प्रकार निश्चयमें उस कार्यका अपनी उपादानभूत प्रतिविशिष्ट अन्तःसामग्रीके साथ अन्वय-व्यतिरेक बन जानेसे निश्चयसे वह प्रतिविशिष्ट अंतःसामग्री उसकी उपादान होती है और निष्पन्न हुई वह पर्याय उसका उपादेय होती है। कालप्रत्यासत्तिका यह सम्यक् अर्थ है। आगममें कालप्रत्यासत्तिके ये दोनों अर्थ स्वीकार किये गये हैं। (उपादान-उपादेयभावकी दृष्टिसे देखो अष्टसहस्री पृ० १११ तथा निमित्त-नैमित्तिकभावकी दृष्टिसे देखो श्लोकवार्तिक पृ० १५१)।

हमें इस बातकी प्रसन्नता है कि अपर पक्षने 'एक द्रव्यका एक कालमें एक ही व्यापार होता है' इस तथ्यको स्वीकार कर यह स्पष्ट शब्दोंमें मान लिया है कि 'जो भी व्यापार होता है वह अपने उपादानकी अपेक्षा उपादेय है और अन्य वस्तुके परिणमनमें वही निमित्त है।' अब देखना यह है कि वह एक व्यापार उपादान और निमित्त दो संज्ञाओं को कैसे धारण करता है? क्या एक द्रव्यके उस व्यापारकी ये दोनों संज्ञाएँ वास्तविक हैं? दोनों संज्ञाएँ एक कालमें वास्तविक तो हो नहीं सकतीं, क्योंकि उत्तर समयमें होनेवाले कार्य की अपेक्षा उसे उपादान कहा जावे यह तो बुद्धिसंगत प्रतीत होता है। किन्तु अन्य द्रव्यके कार्यकी अपेक्षा इसे वास्तवमें निमित्त कहा जाय यह बुद्धिसंगत प्रतीत नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि इन दोनों संज्ञाओंमें उपादान यह संज्ञा अनुपचरित अर्थात् वास्तविक है और निमित्त यह संज्ञा पराश्रित होनेसे वास्तविक नहीं है। केवल दूसरेका साक्षी (सूचक) होनेसे यह संज्ञा रख दी गई है। इसीका नाम असद्भूतव्यवहार है। अतएव हमने अपने पिछले उत्तरमें अन्य वस्तुकी अपेक्षा निमित्त व्यवहारको वास्तविक माननेपर जो तीन आपत्तियाँ उपस्थित की हैं वे तब तक बराबर बनी रहती हैं जब तक अपर पक्ष निमित्तव्यवहारको असद्भूत नहीं स्वीकार कर लेता।

आगे हमने जो यह लिखा है कि सब द्रव्योंके उस-उस कालमें उस-उसरूप परिणमनेकी द्रव्य-पर्यायात्मक योग्यता सहज ही होती है आदि। सो हमारे ऐसा लिखने पर अपर पक्षको बड़ी आपत्ति है। वह नहीं चाहता कि सभी प्रकारके निमित्तोंको एक आसन पर बिठलाया जाय। वह इसमें आगम बाधा देखता है। किन्तु इस बातका विचार तो अपर पक्षको ही करना है कि प्रत्येक उपादानको अनेक योग्यता-वाला माननेपर उसके मतसे प्रेरक निमित्त और उदासीन निमित्त ये दो भेद बन कैसे सकते हैं? क्योंकि वह पक्ष जब प्रत्येक उपादानको अनेक योग्यतावाला मानता है। उनमेंसे कौन योग्यता कार्यरूप परिणमे यह बाह्य सामग्री पर अवलम्बित है, ऐसी अवस्थामें सभी निमित्तोंको प्रेरक मानना पड़ता है। निमित्तोंके उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त ये भेद बन ही नहीं सकते। किन्तु आगममें केवल द्रव्ययोग्यताको उपादान नहीं स्वीकार किया है। पर्याय उसका विशेषण है। अतएव प्रत्येक उपादानके अपने नियत कार्यको जन्म देते समय जो बाह्य सामग्री व्यवहारसे आश्रय निमित्त होती है उसको उदासीन निमित्त संज्ञा है और

जो बाह्य सामग्री व्यवहारसे कर्ता निमित्त या करण निमित्त होती है उसकी प्रेरक, प्रयोजक या निर्वर्तक निमित्त संज्ञा है। अतएव बाह्य सामग्रीमें प्रेरक निमित्त व उदासीन निमित्त ये दो भेद आगमके अनुसार तो बन जाते हैं, परन्तु अपर पक्षकी मान्यतानुसार नहीं बनते ऐसा यहाँ अभिप्राय लेना चाहिए।

आगे अपर पक्षने हमारे 'शब्द विवक्षित वाक्योंका रूप लेकर सीमित अर्थका ही प्रतिपादन करते हैं।' इत्यादि कथनके आधारसे जो यह लिखा है कि 'जहाँ पर निश्चय नयकी मुख्यतासे कथन हो वहाँ पर व्यवहारनयका कथन उसके प्रतिपक्षीपनेके रूपमें स्वीकार होता है। लेकिन आपके मतानुसार यदि यह निश्चयनयका कथन है तो भी आपको इसका प्रतिपक्षी व्यवहारनयका कथन तो स्वीकार करना ही चाहिए। परन्तु जब आप व्यवहारनयके विषयको उपचरित, कल्पनारोपित, असद्भूत, मिथ्या आदिरूप मानते हैं तो फिर कैसे माना जाय कि आप व्यवहारनयके कथनको भी स्वीकार करते हैं।'

इस पर हमारा कहना यह है कि सद्भूतव्यवहारनयका विषय तो सद्भूत ही होता है। किन्तु असद्भूत व्यवहारनयका विषय असद्भूत या उपचरित ही होता है। ऐसे स्थल पर निश्चयका अर्थ अनुपचरित है और उसके प्रतिपक्षी व्यवहारका अर्थ उपचरित है और इस प्रकार निश्चय-व्यवहारकी युति बन जाती है। असद्भूत व्यवहारका अर्थ असद्भूत या उपचरित है इसके लिए आलापपद्धतिका यह कथन दृष्टिपथमें लेने योग्य है—

अन्यत्र प्रसिद्धस्य धर्मस्यान्यत्र समारोपणमसद्भूतव्यवहारः असद्भूतव्यवहार एवोपचारः।

दूसरेमें प्रसिद्ध धर्मका दूसरेमें समारोप करना असद्भूत व्यवहार है। असद्भूत व्यवहार ही उपचार है।

आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा १०५ में इसी अर्थमें उपचार शब्दका प्रयोग किया है। उन्होंने गाथा १०६ में योद्धाओंका और राजाका जो उदाहरण दिया है वह भी इसी अर्थकी पुष्टि करता है। युद्ध योद्धा करते हैं और लोक 'राजाने युद्ध किया' यह कहते हैं। यह है लौकिक परिपाटी। इसीलिए हम उक्त आगम और तथ्यको ध्यानमें रखकर असद्भूत व्यवहारके कथनको उपचरित कहते हैं। अपर पक्ष अपने मनसे कहीं कुछ भी लिख आया हो। किन्तु उसके लिखनेमात्रसे निमित्त व्यवहार सद्भूत या वस्तुका वास्तविक धर्म सिद्ध नहीं हो जायगा। जो असद्भूत है वह असद्भूत ही रहेगा। निश्चयनयमें अंशरूप नयात्मकता अपनेमें विद्यमान कर्ता आदि धर्मोंको गौणकर धर्मीकी अपेक्षा है, परद्रव्यमें आरोपित कर्ता आदि धर्मोंकी अपेक्षा नहीं। किसी भी वस्तुमें जो भी धर्म सद्भूत होता है वह परनिरपेक्ष ही होता है। अपनेमें विद्यमान अन्य धर्मोंको गौणकर विवक्षित अंश धर्मको ग्रहण करना यह नयका कार्य है। अतएव निश्चयनयमें अंशरूप नयात्मकता रहते हुए भी असद्भूत व्यवहार निरपेक्षता ही सिद्ध होती है। हाँ, असद्भूत व्यवहार तभी व्यवहार कहलानेके योग्य है जब वह अपने निश्चयका ज्ञान करानेमें समर्थ हो। अतएव असद्भूत व्यवहारको यथार्थके आसनपर बिठलाना किसी भी अवस्थामें उचित नहीं है।

आगे अपर पक्षने पुनः स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी ३२३ वीं गाथाकी चरचा उठाकर 'णिच्छयदो' पदका अपना अर्थ सूचित किया है। सो इसका संस्कृत टीकाकारने 'निश्चयतः—परमार्थतः' अर्थ किया है। वही हमने लिया है। घूम फिरकर अपर पक्ष भी उसी अर्थको सूचित कर रहा है। केवल कुछ लिखना चाहिए, इसलिए लिखा है। ऐसा ही पद्मपुराणके 'यत्प्राप्तव्यम्' इत्यादि श्लोकके विषयमें तथा भैया भगवतीदासजीके 'जो जो देखी' इत्यादि दोहेके विषयमें तथा स्वामी समन्तभद्रके 'अलंघ्यशक्तिः' इत्यादि श्लोकके विषयमें जानना चाहिए। इसकी विस्तृत चरचा पूर्वमें की जा चुकी है।

आगे आयुकर्मकी चरचाके प्रसंगसे अपर पक्षने लिखा है कि 'वास्तवमें कालमरण और अकालमरणका जितना भी कथन आगममें पाया जाता है वह सब व्यवहार कथन ही है, क्योंकि निश्चयनयसे आत्मा अपने-आपमें अमर ही है। हमें आश्चर्य होता है कि आप कालमरणको और अकालमरणको भी कालमरणकी ही संज्ञा देकर इसे भी निश्चयनयका ही विषय मानते हैं और फिर अपनी मान्यताकी पुष्टिके लिए यह कहते हैं कि तत्त्वार्थसूत्र अध्याय २ के ५३ वें सूत्रका कथन तथा अकलंकदेव आदि आचार्योंका इस विषयसम्बन्धी कथन व्यवहारनयका कथन है।'

यह अपर पक्ष द्वारा हमारे कथनपर टिप्पणी है। अपर पक्षने यहाँपर अपनी टिप्पणीमें जिस निश्चय-नयका उल्लेख किया है वह परम पारिणामिक-भावको ग्रहण करनेवाला निश्चयनय है। पर उससे यहाँ प्रयोजन नहीं है। यहाँ निश्चयनयका अर्थ आत्माश्रितपना लिया है और व्यवहारनयका अर्थ पराश्रितपना लिया है। जब हम आयु कर्मकी अपेक्षा निषेक स्थितिके न घटनेरूप मरणको कालमरण और निषेक-स्थितिके घटनेरूप मरणको अकालमरण कहते हैं तो ये दोनों ही कथन पराश्रित होनेसे व्यवहारनयकी कक्षामें आ जाते हैं। किन्तु जब हम स्वाश्रित उपादानकी अपेक्षा पूर्व पर्यायके व्ययको मरण कहते हैं तो यहाँ काल-मरण और अकालमरण ऐसे भेद न रहकर एकमात्र स्वकालमरण ही उसे कहा जा सकता है, इसलिए स्वाश्रित होनेसे यह निश्चयनयकी कक्षामें आता है। यही भाव हमने अपने पिछले उत्तरमें दिखलाकर वहाँ यह सूचित किया है जिसे अपर पक्षने अपनी प्रतिशंकामें उद्धृत किया है। आशा है अपर पक्ष इष्टार्थको ग्रहण कर अपनी शंकाका निरसन कर लेगा।

हमारे उक्त कथनसे अपर पक्षका यह समझना ठीक है कि निश्चयकथन यथार्थ है और व्यवहार कथन उपचरित है, क्योंकि आयुकर्मकी उदय या उदीरणाक्रमसे हानिका होना यथार्थमें जीवका मरण नहीं है। जीवका यथार्थ मरण तो मनुष्यादि एक पर्यायका विनाश ही है। अपर पक्षने पूर्वमें या यहाँ निश्चयनय या व्यवहारनयकी जो परिभाषा दी है वह उसकी कल्पनामात्र है। वस्तुतः एक वस्तुके गुण-धर्मको उसीका कहना निश्चयनय है और अन्य वस्तुके गुण-धर्मको अन्यका कहना यह असद्भूत व्यवहारनय है। आगममें इन नयोंकी यही परिभाषाएँ की गई हैं। कुछ दिग्दर्शन पूर्वमें कराया ही है। अपर पक्षने जिन धर्मयुगलोंकी प्रतिशंका १७ में चरचा की होगी उनका तो वहीं विचार करेंगे। यहाँ अपर पक्षने जिन सत्-असत्, नित्य-अनित्य, तत्-अतत्, एक-अनेकरूप धर्मयुगलोंका निर्देश किया है वे एक द्रव्याश्रित होनेसे सद्भूत हैं इसमें सन्देह नहीं। परन्तु इन धर्मयुगलोंके अन्तमें जो यह लिखा है कि 'वस्तु उपादानरूप भी है और निमित्तरूप भी है।' सो यह कथन कल्पनामात्र है, क्योंकि एक वस्तुमें वस्तुतः एक ही कारणधर्म रह सकता है। जैसे एक वस्तुमें अपना भी 'सत्' धर्म रहे और अन्य वस्तुका भी 'सत्' धर्म रहे यह नहीं बन सकता उसी प्रकार एक वस्तुमें अपने कार्यका भी 'कारणधर्म' रहे और दूसरी वस्तुके कार्यका भी 'कारण धर्म' रहे यह भी नहीं बन सकता। यदि एक वस्तुमें एक साथ दो कार्योंके दो कारणधर्म स्वीकार किये जाते हैं तो उनमेंसे एक उपचरित ही होगा। दोनों वास्तविक नहीं हो सकते। यतः प्रत्येक द्रव्य अपने स्वचतुष्टयको छोड़कर पर वस्तुके स्वचतुष्टयमें किसी रूपमें नहीं पाया जाता, अतः प्रत्येक वस्तुमें अपने कार्यका कारणधर्म ही रह सकता है, पर वस्तुके कार्यका नहीं। अन्यथा एक द्रव्यके कार्यका कारणधर्म दूसरे द्रव्यमें स्वीकार करनेपर उन दोनोंमें एकता प्राप्त हो जाती है। यदि अपर पक्षको यह दूषण इष्ट न हो तो उसे यह भीतरसे स्वीकार कर लेना चाहिए कि निश्चयसे प्रत्येक द्रव्यके कार्यका कारणधर्म उसी द्रव्यमें रहता है, अन्य द्रव्यमें नहीं।

आगे अपर पक्षने निश्चयनय और व्यवहारनयकी चरचा करते हुए हमसे पृच्छा की है कि 'यदि द्रव्य वास्तविक है तो क्या पर्याय वास्तविक नहीं है आदि।' सो अपर पक्षको स्मरण रखना चाहिए कि हम यहाँ सद्भूत व्यवहारकी चरचा नहीं कर रहे हैं। निमित्त-नैमित्तिक भावकी चरचा असद्भूत व्यवहारकी कक्षामें आती है तथा गुण-गुणीभेद आदिकी चरचा सद्भूत व्यवहारकी कक्षामें आती है। अतः सद्भूत व्यवहारकी अपेक्षा जो कुछ भी कहा गया है वह वास्तविक है। द्रव्य है, पर्याय है, गुण है, गुणी है। यह सब कुछ वास्तविक है। इसका निषेध नहीं। साथ ही अपर पक्ष पर्याय आदि धर्मोंको जो व्यवहाररूप लिख रहा है वह भी ठीक नहीं, क्योंकि परमभावग्राही निश्चयनयकी दृष्टिमें यदि इन्हें व्यवहाररूप माना भी गया है तो भी ये पर्यायार्थिकरूप निश्चयनयकी दृष्टिमें निश्चय-यथार्थस्वरूप ही हैं, इसीलिए आगममें इन्हें सद्भूतरूपसे स्वीकार किया है।

यहाँ प्रश्न तो यह है कि आगममें जो निमित्त व्यवहारको असद्भूत कहा है सो इसका तात्पर्य क्या है? क्या इसका अर्थ यथार्थ लिया जाय या उपचरित? अपर पक्ष समयसार गाथा १०५ में आये हुए 'उपचारमात्र' पदका अर्थ ऐसा घुमाकर कर करता है जिससे उपचार पदमें जो अर्थ गर्भित है वह लुप्त हो जाता है। उपलब्ध पूरे जिनागमका यथासम्भव आलोडन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि जहाँ एक वस्तुके धर्मको अन्य वस्तुमें आरोपित किया जाता है वहाँ उस व्यवहारको उपचरित कहते हैं। जैसे किसी बालकको अग्नि कहना यह उपचार है। पर इस परसे यदि कोई यह समझे कि अग्निसे जो कार्य होता है वह बालकसे हो जायगा सो उसका ऐसा समझना ठीक नहीं है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर अष्टसहस्री पृ० १७४ में लिखा भी है—

न चाग्निर्माणवक इत्युपचारात् पाकादावुपयुज्यते।

अतएव अपर पक्षने उपादानके समान अन्य द्रव्यमें किये जानेवाले निमित्त व्यवहारको भी जो यथार्थ माननेका आग्रह कर रखा है उसे वह जितने जल्दी त्याग देगा उतना ही अच्छा है। निश्चयसे उपादान प्रत्येक समयमें अपना कार्य परनिरपेक्ष होकर ही करता है। परन्तु उस कार्यमें जिसके साथ उसकी बाह्य व्याप्ति है यह दिखलानेके लिए परसापेक्षताका व्यवहार अवश्य किया जाता है। यदि कहा जाय कि ऐसा व्यवहार न भी किया जाय तो क्या हानि है? सो इसका समाधान यह है कि प्रत्येक समयके ऐसे व्यवहारसे प्रत्येक समयके निश्चयकी प्रसिद्धि होती है, इसलिए सप्रयोजन होनेसे आगममें उसे स्थान मिला हुआ है। उदाहरणार्थ मिथ्यात्व कर्मका उदय जीवके मिथ्यात्व गुणस्थानकी प्रसिद्धि करता है। इसी प्रकार उसका उपशम सम्यक्त्व गुणकी प्रसिद्धि करता है। इस प्रकार बाह्य सामग्री ऐसी प्रसिद्धिका हेतु होनेसे उपचारसे उसे उस उस कार्यके हेतुरूपसे स्वीकार किया गया है। ऐसा स्याद्वाद ही यहाँ अपेक्षित है, अन्य प्रकारका नहीं। हमें आशा है कि अपर पक्ष इस तथ्यपर अवश्य ध्यान देगा।

आगे अपर पक्षने बद्धायुष्क और अबद्धायुष्क जीवोंके मरण और उत्तर भवग्रहणकी जो व्यवस्था सूचित की है उसमें एक-दो बातोंका सर्व प्रथम संकेत कर देना इष्ट प्रतीत होता है। प्रथम तो यह कि यह तो अपर पक्षने स्वीकार ही कर लिया है कि आगामी आयुका बन्ध होनेके बाद अकालमरण नहीं होता। इसका अर्थ यह हुआ कि चाहे अनपवर्त्य आयुवाला जीव हो और चाहे अपवर्त्य आयुवाला जीव हो, आगामी भवकी आयुका बन्ध होनेके बाद दोनोंके ही एक-एक स्थितिके क्रमसे अधःस्थितिगलना होकर मरण होता है। मरणके कालमें आयुकर्मकी उदीरणा होकर अकालमरण उक्त दोनों प्रकारके जीवोंमें से किसी भी जीवके

नहीं होता। फिर भी अपवर्त्य आयुवाले जीवके जो अकालमरण कहा गया है वह आगामी आयुबन्धके पूर्व ऐसे जीवके निषेकस्थितिउदीरणा हुई थी इस बातको ध्यानमें रखकर ही कहा गया है। वर्तमान मरण-समयको ध्यानमें रखकर नहीं।

दूसरी यह बात ज्ञातव्य है कि आयुकर्मके उत्तर भेदोंमें संक्रमण करणको छोड़कर नौ करण होते हैं ऐसा आगमका अभिप्राय है। इसी तथ्यको सूचित करते हुए गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखा है—

संकमकरणूणा णवकरणा होंति सव्वआऊणं।
सेसाणं दस करणा अपुव्वकरणो त्ति दस करणा ॥४४१॥

नरकादि चारों आयुओंके संक्रमण करणके बिना ९ करण होते हैं और शेष कर्मोंके १० करण होते हैं। ये दसों करण अपूर्वकरण गुणस्थान तक होते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि आयुकर्मके किसी भी भेदमें संक्रमण करणकी योग्यता तो सर्वथा नहीं होती। शेष ९ करणोंमें से बन्धके समय जिसका जैसा बन्ध हुआ हो वैसी योग्यता उसमें होती है। उदाहरणार्थ आयुके जिन कर्मपरमाणुओंका निकाचित बन्ध हुआ है उनका उत्कर्षण, अपकर्षण और उदीरणा तीनों नहीं होते, जिनका निधत्तिबन्ध हुआ है उनकी तथा जिनका अप्रशस्त उपशम बन्ध हुआ है उनकी उदीरणा नहीं होती। शेष सत्तामें स्थित कर्मपरमाणुओंका बन्धकालमें उत्कर्षण तथा बन्धकालमें और अन्यदा अपकर्षण और उदीरणा यथायोग्य हो सकती है। ऐसा परिणमन करनेका स्वभाव उनका स्वतः होता है। और जब उनके उस-उस प्रकारके परिणमनका स्वकाल आता है तब उसके अनुरूप बाह्य नोकर्म सामग्री भी मिलती है। तत्त्वार्थ-सूत्र अध्याय २ सूत्र ५३ की तत्त्वार्थवार्तिक आदि टीकाओंमें इन्हीं नोकर्मोंको लक्ष्यमें रखकर अपवर्त्य आयुवाले जीवोंके मरणको अकालमरण कहा है। यह पराश्रित कथन होनेसे असद्भूत व्यवहारनयका विषय है, इसलिए इसे उपचरित ही जानना चाहिए। यही कारण है कि भगवान् कुन्दकुन्ददेवने समयसारमें कहा है—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं ॥२४८॥
आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं।
आउं ण हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ॥२४९॥

जीवोंका मरण आयुकर्मके क्षयसे होता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है, तू पर जीवोंके आयुकर्मको तो हरता नहीं है तो तूने उनका मरण कैसे किया ॥२४८॥ जीवोंका मरण आयुकर्मके क्षयसे होता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है, पर जीव तेरे आयुकर्मको तो हरते नहीं हैं तो उन्होंने तेरा मरण कैसे किया ॥२४९॥

यहाँ जीवोंका मरण और भुज्यमान आयुका क्षय इन दोनोंकी सम व्याप्ति देखकर आचार्य महाराजने उक्त वचन कहा है। इसका अर्थ यह नहीं कि आयुकर्मका क्षय जीवोंके मरणका मुख्य हेतु है, वह तो निमित्त-मात्र है। जिस प्रकार बाह्य सामग्री आयुकर्मकी उदीरणा आदिमें निमित्तमात्र है। निश्चयसे आयुकर्मकी उदय-उदीरणा आदि अपने-अपने कारणसे होती है, बाह्य सामग्रीके कारण नहीं। उसी प्रकार प्रत्येक जीवका जन्म अथवा मरण निश्चयसे अपने-अपने उपादानके अनुसार होता है, आयुकर्म तो उसमें निमित्तमात्र है। फिर भी आचार्य महाराजने नोकर्ममेंसे आसक्ति या इष्टानिष्ट बुद्धि हटानेके लिये बन्ध प्रकरणमें ऐसा कहा है कि इस जीवका मरण आदि आयु आदि कर्मके अनुसार होता है। फिर तू ऐसा क्यों विचार करता है कि इसने इसे जिलाया या मारा आदि।

इससे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है कि जहाँ भी रक्तक्षय आदिके कारण अकालमरणका निर्देश किया है वहाँ आयु कर्मकी उदीरणा आदिको निमित्तभूत बाह्य सामग्री क्या है इसका ज्ञान करानेके लिए ही वैसा कथन किया है।

जिसे प्रतिकूल सामग्री कहते हैं उसका संयोग तो अनपवर्त्य आयुवाले अन्तःकृत केवली जीवोंको भी होता है। इनके ऊपर ऐसा घोर उपसर्ग होता है जिसकी सीमा नहीं और अपवर्त्य आयुवाले जीवोंको भी होता है। फिर क्या कारण है कि अन्तःकृत केवलियोंकी आयु अनपवर्त्य ही बनी रहती है और दूसरे जीवोंकी आयुमें अपवर्तन हो जाता है। इसका कारण बाह्य सामग्री तो मानी नहीं जा सकती, अन्तरंग हेतु कोई होना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि जो आयु अपवर्तनके योग्य होती है, स्वकाल आने पर बाह्य सामग्रीको निमित्तकर उसीका अपवर्तन होता है, अन्यका नहीं। इससे यह भलीभाँति सिद्ध हो जाता है कि निश्चयसे किसी भी जीवका अकालमरण नहीं होता।

हमें प्रसन्नता है कि अपर पक्षने अकालमरणके माननेपर हमारे द्वारा दी गई अकालजन्मकी आपत्तिको स्पष्ट शब्दोंमें अस्वीकार कर दिया है। किन्तु जहाँ उसने यह साहस किया है वहाँ उस पक्षको अकालमरणको उपचरित माननेका साहस और करना चाहिए। तभी उसके द्वारा अकालजन्मका निषेध करना सार्थक होगा, क्योंकि व्यय और उत्पादमें संज्ञा और लक्षण आदिका ही भेद है, वैसे जो व्यय है वही उत्पाद है ऐसा होने पर अकालमरणके समान अपर पक्षको विवश होकर अकालजन्म भी मानना पड़ेगा, क्योंकि क्रम सन्तानपरम्परा-के मध्यमें से किसी एकके क्रमको छोड़कर होनेपर उसके आगेकी पूरी सन्तानपरम्परा नियतक्रम रहित हो जाती है, अतएव यदि अपर पक्ष अकालजन्मको माननेमें हानि देखता है तो उसे अकालमरण भी उपचरित मान लेनेमें आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

आगे अपर पक्षने आनुपूर्वीकर्म और गतिकर्म आदिकी चरचा करते हुए हमारी आपत्तिके निरा-करणके अभिप्रायसे लिखा है कि 'कालमरण और अकालमरणवाले जीवोंके आगामी आयुकर्मका उदय एक समान होता है, इसलिए आनुपूर्वीकर्म और गतिकर्मके सहारे जीव यथास्थान पहुँच जाते हैं' आदि।

इसपर कहना यह है कि जब कोई भी कार्य क्रमनियत नहीं है ऐसी अवस्थामें अमुक जीवको अमुक स्थान पर उत्पन्न होना है यह व्यवस्था ही कैसे बन सकती है। जीव अकालमें मर कर उत्पन्न होनेके सन्मुख हो और नियत बाह्य सामग्री न हो तो उसका आयुकर्मके अनुसार उत्पन्न होना कैसे बन सकेगा, क्योंकि अपर पक्षके मतसे आयुकर्मका उदय स्वयं उपादान होनेसे अनेक योग्यतावाला है, इसलिए वह अपना कार्य किसरूप करे यह तो बाह्य सामग्री पर अवलम्बित है और बाह्य सामग्री स्वयं उपादान होनेसे अनेक योग्यतावाली है, इसलिए वह अपना कार्य किसरूप करे यह अन्य बाह्य सामग्री पर अवलंबित है।

अतएव आनुपूर्वीकर्म और गतिकर्म आयुकर्मके उदयानुसार जीवको यथास्थान पहुँचा देंगे यह अपर पक्षकी मान्यतानुसार कथमपि नहीं बन सकता। हाँ, यदि अपर पक्ष इस आपत्तिसे बचना चाहता है तो उसे सभी कार्य स्वकालमें अपनी-अपनी प्रतिनियत बाह्याभ्यन्तर सामग्रीको प्राप्त कर होते हैं यही तथ्य स्वीकार कर लेना चाहिए।

अपर पक्षने परमात्मप्रकाशकी गाथा ६६ उपस्थित कर यह सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि आत्मा तो पंगुके समान है, जो कुछ भी होता है कर्मसे ही होता है।

किन्तु यह कथन ही इस बातको प्रसिद्ध करता है कि यह सब निमित्त होनेवाली बाह्य सामग्रीको लक्ष्यमें रख कर विधान किया गया है। यदि इसे यथार्थ कथन मान लिया जाता है तो आत्मा अपने परिणामका

कर्ता न बन सकनेके कारण सांख्यमतमें माने गये पुरुषके समान कूटस्थपनेको प्राप्त हो जाता है। और उपादानके कार्यका बाह्य सामग्री वास्तविक कर्ता हो यह हो नहीं सकता, क्यों कि स्वयं आचार्य जयसेनने समयसार गाथा १६ की टीकाके बाद 'जं कुणदि भावमादा' इत्यादि गाथाका उल्लेख कर उसकी टीका करते हुए लिखा है—

ववहारा अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयात् पोग्गलकम्माण पुद्गलद्रव्यकर्मादिनां कत्तारं कर्तेति।

व्यवहारनयसे अर्थात् अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे आत्मा पुद्गल कर्मोंका अर्थात् पुद्गल द्रव्य-कर्मादिका कर्ता है।

यहाँ पर असद्भूत व्यवहारनयसे जिस प्रकार आत्माको पुद्गल द्रव्यकर्मोंका कर्ता कहा है उसी प्रकार पुद्गल द्रव्यकर्म जीवको तीन लोकमें ले जाते हैं और ले आते हैं, आत्मा तो पंगुके समान है इत्यादि पर-मात्मप्रकाशके कथनको भी असद्भूतव्यवहारनयका कथन ही समझना चाहिए। और जितना भी असद्भूत व्यवहारनयका कथन होता है वह सब उपचरित ही होता है यह स्पष्ट ही है।

आगे अपर पक्षने विचारणीय जिन तीन बातोंका उल्लेख किया है वे मात्र पुनरुक्तिको ही सूचित करती है, उनमें नई ऐसी कोई भी बात नहीं कही है।

अकालमरण क्यों कहा गया है और कालमरण क्या है इसका हम पूर्वमें ही खुलासा कर आये हैं। जिसे बद्धायुष्कको अपेक्षा कालमरण अपर पक्षने स्वीकार किया है उसे ही आयुबन्धके पूर्व विषभक्षण आदिको निमित्त कर हुई उदीरणाकी अपेक्षा अकालमरण संज्ञा आगममें दी गई है। इस प्रकार एक ही कार्य एक अपेक्षासे कालमरण और दूसरी अपेक्षासे अकालमरण कहा गया है।

उसमें भी मरणका यह कथन दो प्रकारसे किया जाता है—उपादानकी अपेक्षा और आयुकर्मकी अपेक्षा। उपादानकी अपेक्षा एकमात्र कालमरण ही सिद्ध होता है और यह स्वाश्रित होनेसे निश्चय कथन है। किन्तु जब इसे ही आयुकर्मकी अपेक्षा विवेचित किया जाता है तब वह पराश्रित होनेसे व्यवहार संज्ञाको प्राप्त हो जाता है। उसमें निश्चय कथन यथार्थ है और व्यवहार कथन उपचरित है ऐसा यहाँ विवेक करना चाहिए। आशा है इतने स्पष्टीकरणसे अपर पक्षने यहाँ पर जितना कुछ लिखा है वह अयथार्थ कैसे है यह उसकी समझमें आ जायगा।

अपर पक्ष आगमके प्रति श्रद्धावान् बना रहे यही हमारी भी आकांक्षा है। परन्तु यह श्रद्धा तभी सच्ची श्रद्धा कहलावेगी जब वह निमित्त कथनको उपचरित मान लेगा, क्योंकि निमित्त कथन उपचरित है यह हमारा कहना न होकर आगमका ही कथन है। प्रमाण हम पूर्वमें ही दे आये हैं।

आगे अपर पक्षने तत्त्वार्थवार्तिक अ० २ सू० ५३ का वचन उद्धृत किया है सो यह सच है कि आयुकर्मकी उदीरणा होती है और उसमें विषभक्षण आदि व्यवहार हेतु होता है। भट्टाकलंकदेवने उक्त वचन द्वारा उसी तथ्यकी स्वीकृति दी है। बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा कुछ कार्य प्रायोगिक होते हैं और बहुतसे कार्य वैस्रसिक भी होते है यही उक्त कथनका अभिप्राय है। समस्त जिनागमसे भी इसका समर्थन होता है। परन्तु जिसे हम बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा अकालपाक कहते हैं, अपने उपादानकी अपेक्षा वह अपने कालमें ही हुआ है। भट्टाकलंकदेवने उक्त कथनमें बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा ही विचार किया है, इसलिए उसे व्यवहारनयका वचन ही जानना चाहिए। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें एतद्विषयक जो विवेचन उपलब्ध होता है उससे भी यही सिद्ध होता है कि जो आयुकर्मरूप अदृष्ट विशेष बाह्य सामग्रीको निमित्तकर अपवर्तित नहीं होता उसकी अनपवर्त्य आयुसंज्ञा है और इससे अतिरिक्तकी अपवर्त्य आयुसंज्ञा है।

चैत्यभक्तिमें 'द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ' इत्यादि वचन आया है। इसमें दो जिनदेवको श्वेतवर्ण-वाला, दो जिनदेवको नीलवर्णवाला आदि बतलाकर इसे जिनदेवकी स्तुति कहा गया है। यद्यपि यह आगम वचन ही है और परस्पर एक क्षेत्रावगाहरूपसे अवस्थित किस भगवानके किस शरीरका क्या रंग है यह तथ्य इस वचन द्वारा प्रसिद्ध किया गया है। फिर भी इस बातको लेकर आचार्य कुन्दकुन्द समयसारमें लिखते हैं—

तं णिच्छए ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२९॥

वह स्तवन निश्चयमें ठोक नहीं है, क्योंकि शरीरके गुण केवली जिनके नहीं है। जो केवलीके गुणोंकी स्तुति करता है वही परमार्थसे केवलीकी स्तुति करता है ॥२९॥

दोनों प्रकारके वचन आगम होने पर भी निश्चयनयके कथन और व्यवहारनयके कथनमें क्या अन्तर है यह इस वचनसे भलीभाँति विदित हो जाता है। इस वचनसे यह हम अच्छी तरहसे जान लेते हैं कि परमागममें निश्चयनयके कथनको क्यों तो यथार्थ कहा गया है और क्यों व्यवहारनयके कथनको उपचरित कहा गया है। यही कारण है कि कर्ता-कर्मका विचार करते हुए आचार्य महाराजने समयसार गाथा ८४ में व्यवहारसे आत्माको पुद्गल कर्मोंका कर्ता और भोक्ता बतलाकर भी गाथा ८५ में उस व्यवहारको सदोष बतलाकर दूसरे शब्दोंमें उसका निषेध कर दिया है। हमें भरोसा है कि अपर पक्ष इन तथ्योंपर ध्यान देकर तत्त्वार्थवार्तिकके उक्त कथनको निमित्त प्रधान कथन होनेके कारण उपचरित स्वीकार कर लेगा।

३९. स्वकाल विचार

१. आगे अपर पक्षने स्वकालका विचार करते हुए जो यह लिखा है कि स्वचतुष्टयमें आया हुआ 'स्वकाल' शब्द प्रतिक्षणमें होनेवाले परिणमनोंके क्रमरूप है और फिर इस परिणमनरूप कार्यको कारणोंके अधीन बतलाकर जो नियतक्रम और अनियतक्रमके समर्थन करनेका उपक्रम किया है सो यह ठीक नहीं है, क्योंकि उपादान ही उपादेयरूपसे परिणमित होता है, अतएव प्रत्येक द्रव्यका त्रिकालका विषयभूत जितना भी स्वकाल है वह सब क्रमनियत ही होता है। बाह्य सामग्री तो उसमें उपकरणमात्र है। आगममें प्रत्येक द्रव्यके अव्यवहित पूर्वोत्तर दो क्षणोंमें उपादान-उपादेयभाव बतलाया है, अतएव प्रत्येक समयमें जो उपादान होता है, प्रत्येक कार्य उसीके अनुरूप होता है। यह निश्चय कथन है।

२. व्यवहारनयसे स्वकालका अर्थ प्रत्येक कार्यमें निमित्तभूत काल द्रव्यकी पर्याय करनेपर जितने कालके समय हैं उतने ही प्रत्येक द्रव्यके कार्य हैं, अतएव कालके प्रत्येक समयके साथ अन्य द्रव्योंके एक-एक कार्यका क्रमिक योग अनादि कालके बनता चला आनेके कारण इस अपेक्षासे भी सभी कार्य क्रमनियत ही सिद्ध होते हैं। कालद्रव्य उदासीन कारण है, इसलिए कोई भी कालसमय किसी भी कार्यके लिए निमित्त होता है यह कथन निराधार होनेसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। हम देखते हैं कि आगममें जहाँ भी दृष्टि डालो वहीं 'काललब्धि' पदका उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। अनगारधर्मामृत अ० २ श्लोक ४६-४७ में सम्यक्त्वकी सामग्रीविशेषका संकेत करते हुए लिखा है—'कालादिलब्धिभाक्।' इसी बातको स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री पृ० २७४ में लिखा है—

केषांचित् प्रतिमुक्तिः स्वकाललब्धौ स्यात्।

सर्वार्थसिद्धि अ० २ सूत्र ३ में लिखा है—

काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात् । तत्र काललब्धिस्तावत्—कर्माविष्ट आत्मा भव्यः कालेऽर्धपुद्गलपरिवर्तनाख्येऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वग्रहणस्य योग्यो भवति नाधिके इति ।

यहाँ पर काल विशेष्य है और अर्धपुद्गलपरिवर्तन संज्ञा उसका विशेषण है। इससे विदित होता है कि इस जीवके अधिकसे अधिक अर्धपुद्गल परिवर्तन जिसका नाम है ऐसे कालके संसारमें शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहणकी योग्यता होती है, इससे अधिक कालके शेष रहने पर नहीं।

प्रश्न यह है कि इससे अधिक कालके शेष रहने पर यह जीव प्रथम सम्यक्त्वके योग्य क्यों नहीं होता ? आचार्य विद्यानन्दिके सामने भी यह प्रश्न था। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ६१ में इसका समाधान करते हुए वे लिखते हैं—

प्रत्यासन्नमुक्तीनामेव भव्यानां दर्शनमोहप्रतिपक्षः सम्पद्यते नान्येषाम्, कदाचित्कारणासन्निधानात् ।

जिन भव्य जीवोंकी मुक्ति सन्निकट है उन्हें ही दर्शनमोहका प्रतिपक्ष सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, अन्यको नहीं; क्योंकि किसी कारणका सन्निधान कभी हो, किसी कारणका सन्निधान कभी हो ऐसा नहीं है।

अपने इसी कथनका उपसंहार करते हुए वे वहीं पुनः लिखते हैं—

इति युक्तिमानासन्नभव्यादिविभागः सद्दर्शनादिशक्त्यात्मकत्वेऽपि सर्वसंसारिणाम् ।

इस प्रकार सब संसारी जीवोके सम्यग्दर्शनादिरूप शक्तिके होने पर भी आसन्नभव्यादिका विभाग युक्तियुक्त है।

आशय यह है कि प्रत्येक कार्यका काल प्रतिनियत है। उसी कालमें बाह्याभ्यन्तर सामग्रीका योग हो कर वह कार्य होता है, अन्य कालमें नहीं। इस प्रकार काल द्रव्यके समयोंके आधार पर भी यही सिद्ध होता है कि सभी कार्य नियतक्रमसे ही होते हैं।

३. आगे अपर पक्षने प्रवचनसारमें प्रतिपादित कालनय और अकालनयकी चरचा करते हुए अन्तमें लिखा है कि 'इन दोनों काल तथा अकाल नयोंका विधान करके श्री अमृतचन्द्र सूरि पर्यायके एकान्त क्रमनियत कालका स्पष्ट निराकरण कर रहे हैं।'

अपर पक्षने यहाँ इन दोनों नय वचनोंका उल्लेख कर जो पर्यायोंके क्रमनियतपनेका निषेध किया है वह ठीक नहीं है, क्योंकि ये दोनों नयवचन हैं, जो सप्रतिपक्ष होनेसे मात्र अपनी अपनी विवक्षाको सूचित करते हैं। इसका अर्थ ही यह है कि उन दोनोंका कथन एक ही कालमें लागू पड़ता है।

पहले क्रमांक १६-१७ में सामान्य नय और विशेष नय कह आये हैं। सामान्य नयकी अपेक्षा आत्मद्रव्यको व्यापक और विशेषनयकी अपेक्षा उसे अव्यापक बतलाया है। सो इस परसे यदि कोई यह अर्थ करे कि कभी आत्मद्रव्य व्यापक है और कभी अव्यापक है तो उसका जैसे यह अर्थ करना ठीक नहीं होगा उसी प्रकार उक्त दोनों नयवचनोंके आधारपर अपर पक्षका यह अर्थ फलित करना भी ठीक नहीं है कि श्री अमृतचन्द्रसूरि उक्त कथन द्वारा पर्यायके एकान्त क्रमनियत कालका निराकरण कर रहे हैं।

विचार कर देखा जाय तो कालनयमें कालकी विवक्षा है और अकालनयमें कालको गौणकर अन्य

हेतुओंको विवक्षा है। जहाँ अन्य हेतुओंको गौणकर कालकी प्रधानतासे कार्यको दृष्टिपथमें लिया जाता है वहाँ वह कालनयका विषय होता है और जहाँ कालको गौणकर अन्य विस्रसा या प्रयोगसे प्राप्त हेतुओंको प्रधानतासे कार्यको दृष्टिपथमें लिया जाता है वहाँ वह अकालनयका विषय होता है। इस प्रकार एक ही कार्य कालनयका भी विषय है और अकालनयका भी। यदि ऐसा न माना जाय तो इन्हें नय वचन कहना संगत न होगा। स्पष्ट है कि आचार्य अमृतचन्द्रके उक्त कथनसे कोई पर्याय क्रमनियत होती है और कोई पर्याय क्रम अनियत होती है यह त्रिकालमें सिद्ध नहीं होता। प्रत्युत इससे यही सिद्ध होता है कि सभी कार्य क्रमनियत होकर भी वे विवक्षाभेदसे काल और अकाल इन दोनों नयोंके विषय हैं।

४. आगे अपर पक्षने प्रवचनसारमें प्रतिपादित नियतिनय और अनियतिनयकी भी चरचा की है और साथ ही स्वभावनय, अस्वभावनय आदि नयोंका भी उल्लेख किया है सो इस सब कथन परसे अपर पक्ष क्या फलित करना चाहता है इसका स्पष्ट संकेत न होनेसे हम यहाँ इन सबकी विशेष चरचा नहीं करेंगे। एकान्तका परिग्रह यदि अपर पक्षको इष्ट हो तो भले ही रहा आवे। हमने न तो एकान्तका परिग्रह ही किया है और न ही एकान्त जैन शासनमें स्वीकृत ही है। हाँ यदि अपर पक्ष एक द्रव्यके कार्यका कारणधर्म दूसरे द्रव्यमें परमार्थसे रहता है इसे स्वीकार कर और इस प्रकार दो द्रव्योंमें एकता स्थापित कर इसे अनेकान्त संज्ञा देनेमें ही चरितार्थता मानता है तो भले ही माने, परन्तु **जैन शासन तो एक द्रव्यके स्वचतुष्टयमें अन्य द्रव्यके स्वचतुष्टयकी नास्ति ही घोषित करता है**। और इस प्रकार एक द्रव्य के कार्यका कारण धर्म दूसरे द्रव्यमें परमार्थसे नहीं हो रहता है यही सिद्ध होता है।

५. आगे अपर पक्षने पण्डितप्रवर टोडरमलजी रचित मोक्षमार्ग प्रकाशकके एक कथनकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है सो जहाँ पण्डितजीने काललब्धि और होनहारके स्वतंत्र वस्तु होनेका निषेध किया है वहाँ वे क्या हैं इसका भी विधान किया है। कालद्रव्यकी विवक्षित पर्यायके साथ अन्य द्रव्योंकी विवक्षित पर्यायोंका जो सहज योग प्रतिक्षण बनता है उसीका नाम काललब्धि है। इसके सिवाय वह अन्य कुछ नहीं है। पण्डितजीने यही बात काललब्धिके विषयमें कही है। होनहार भवितव्यताका पर्यायवाची है। इसे सभी आचार्योंने एक स्वरसे स्वीकार किया है। सो किसकी किस कालमें क्या भवितव्यता या होनहार है इसका ज्ञान उस कालमें उससे होनेवाले कार्यसे ही होता है। पण्डित जी ने 'जो कार्य भया सोई होनहार' इन शब्दों द्वारा इसी तथ्यका ज्ञान कराया है। अतएव पण्डितजीके कथनसे भी यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्य स्वकालमें ही होता है।

६. आगे अपर पक्षने स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षाकी गाथा २१९ में आये हुए कालादि लब्धिका अर्थ मात्र रत्नत्रय बतला कर जो कालकी मुख्यताका निषेध किया है वह ठीक नहीं, क्योंकि व्यवहारनयसे कालादि लब्धिका अर्थ जहाँ काल, द्रव्य, क्षेत्र, भव और भाव आदि सामग्रीकी प्राप्ति होती है वहाँ निश्चयनयसे काल शब्द अपनी विवक्षित पर्यायको भी सूचित करता है। अतएव नयविवक्षासे किसी भी अर्थके ग्रहण करनेमें कोई बाधा नहीं आती। तथापि अपर पक्षने उक्त गाथाकी टीकाका जो एकान्तरूप आशय लिया है वह क्यों ठीक नहीं इसके लिए हम वह टीकावचन ही यहाँ दे देना इष्ट समझते हैं—

कालादिलब्धियुक्ताः कालद्रव्यक्षेत्रभवभावादिसामग्रीप्राप्ताः। पुनरपि कीदृक्षास्ते अर्थाः? नानाशक्तिभिः अनेकसमर्थताभिः नानाप्रकारस्वभावयुक्ताभिः संयुक्ताः। यथा जीवाः भव्यत्वादिशक्तियुक्ताः रत्नत्रयादिकाललब्धिं प्राप्य निर्वान्ति।

कालादि लब्धिमें युक्त अर्थात् काल, द्रव्य, क्षेत्र, भव और भावादिरूप सामग्रीको प्राप्त हुए वे अर्थ। फिर भी कैसे हैं वे पदार्थ ? नाना शक्तियोंसे अर्थात् नाना प्रकारके स्वभावोंसे युक्त अनेक समर्थताओंसे संयुक्त हैं। यथा—जीव भव्यत्वादि शक्तियोंसे संयुक्त होकर रत्नत्रय आदिरूप काललब्धिको प्राप्त कर मुक्त होते हैं।

स्पष्ट है कि उक्त टीकावचनसे भी प्रत्येक कार्यके स्वकालका निषेध नहीं किया जा सकता।

७. आगे अपर पक्षने पं० फूलचन्द्र शास्त्रीद्वारा लिखित तत्त्वार्थसूत्रके दो वचन उद्धृत कर अपने पक्षके समर्थन करनेका जो प्रयत्न किया है वह ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम वचन द्वारा एकान्तसे कालको व्यवहार हेतुताका निषेध किया गया है। तभी तो उक्त वचनमें निष्कर्षको सूचित करते हुए अन्तमें यह लिखा है—

'कार्यकी उत्पत्तिमें जैसे काल एक निमित्त है वैसे अन्य भी निमित्त हैं। अतः कार्यकी उत्पत्तिमें केवल कालको प्रधान कारण मानना उचित नहीं है।'

यद्यपि उक्त वचनके प्रारम्भका वाक्य कुछ भ्रमको उत्पन्न करता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु उसका व्याख्यान नाना जीवोंकी अपेक्षा करने पर आगमसे उसकी सुसंगति बैठ जाती है। वस्तुतः वह वचन तत्त्वार्थवार्तिकके 'कालानियमाच्च' का व्याख्यानमात्र है। परन्तु तत्त्वार्थवार्तिकमें जिस प्रकार वह वचन नाना जीवोंकी अपेक्षा लिखा गया है वैसा विशद स्पष्टीकरण तत्त्वार्थसूत्रके उक्त वचनमें अवश्य किया जाना चाहिए था। अपर पक्षने इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया, इसलिए इतना खुलासा करनेका हमें अवसर मिल सका इसके लिए हम अपर पक्षको धन्यवाद देते हैं।

तत्त्वार्थसूत्रका दूसरा वचन मात्र कर्मकी उत्कर्षणादि अवस्थाओंको ध्यानमें रखकर लिखा गया है, जो व्यवहारनय वचन होनेसे युक्तियुक्त है।

अतएव पं० फूलचन्द्र द्वारा रचित तत्त्वार्थसूत्रसे भी यही सिद्ध होता है कि सभी कार्य स्वकालमें ही होते हैं। पं० फूलचन्द्र शास्त्रीने कार्यके प्रति निमित्तभूत बाह्य सामग्रीकी मर्यादा क्या है इसका विस्तृतरूपसे विचार तत्त्वार्थसूत्र अ० ५ सू० ३० की टीकामें किया है। यह टीका वी० नि० सं० २४७६ के पूर्व लिखी गई थी। तभी उसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि प्रत्येक कार्यके प्रति निमित्तकी क्या मर्यादा है। इसमें उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्तका क्या तात्पर्य है यह भी स्पष्ट किया गया है। आशा है अपर पक्ष उसका अवलोकन कर वस्तुस्थिति क्या है उसे समझनेका अवश्य ही प्रयत्न करेगा।

इस प्रकार काललब्धिके आधारसे भी यही सिद्ध होता है कि सभी कार्य नियतक्रमसे ही होते हैं।

४०. दिव्यध्वनि आदि सभी कार्य नियतक्रमसे ही होते हैं

अपर पक्षने पुनः दिव्यध्वनिका प्रश्न उठाकर उस द्वारा सभी कार्य नियतक्रमसे ही होते हैं इसका खण्डन करनेका प्रयत्न किया है जो युक्ति-युक्त नहीं है। इसकी पुष्टिमें पिछले उत्तरमें हम जयधवला पु० १ पृ० ७६ का प्रमाण उपस्थित कर आये हैं। धवला पु० ९ पृ० १२०-१२१ में भी यही बात कही गई है। इन दोनों वचनोंमें दो बातोंका स्पष्ट निर्देश दृष्टिगोचर होता है। यथा—

१. प्रश्न यह है कि जिस समय भगवान्‌को केवलज्ञान हुआ उसी समय देवेन्द्रने गणधरको क्यों उपस्थित नहीं कर दिया ? इसका समाधान आचार्यने यह लिख कर नहीं किया कि इन्द्र क्षयोपशमज्ञानी था, इसलिए उस समय उसके ख्यालमें यह बात नहीं आई। किन्तु उक्त प्रश्नका समाधान यह लिख कर किया

है कि काललब्धिके अभावमें उस समय इन्द्रमें ऐसी सामर्थ्य ही नहीं थी कि वह भगवान्‌के केवलज्ञानके होनेके समय ही गौतम गणधरको लाकर उपस्थित कर देता। इससे इस बातका स्पष्टरूपसे निर्णय हो जाता है कि प्रत्येक कार्य अपने नियत समयमें ही होता है, आगे-पीछे नहीं।

२. दूसरा प्रश्न यह है कि जिस तीर्थंकरके पादमूलमें जिसने दीक्षा ली है उसे निमित्तकर ही उनकी दिव्यध्वनि क्यों खिरती है ? इसका समाधान करते हुए आचार्य लिखते हैं कि ऐसा स्वभाव ही है और स्वभाव दूसरोंके द्वारा प्रश्नके योग्य नहीं होता।

उक्त शंका—समाधानमें ये दो प्रश्न और उनके दो उत्तर अर्थगर्भ हैं। इनसे प्रथम तो यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्यके लिए निमित्त-नैमित्तिकयोग अपनी-अपनी काललब्धिके अनुसार सहज ही मिलता है। दूसरे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक कार्यका निमित्त सुनिश्चित है और वह काललब्धिके अनुसार ही विस्रसा या प्रयोगसे उपस्थित होता है। प्रयोगसे भी यदि बाह्य सामग्रीका योग मिलता है तो वह काललब्धिके अनुसार ही मिलता है, आगे-पीछे नहीं। तीसरे इससे यह भी सिद्ध होता है कि केवलज्ञान होनेपर तत्क्षण जो दिव्यध्वनि नहीं खिरी वह स्वभावसे ही नहीं खिरी। गणेन्द्रके नहीं मिलनेसे दिव्यध्वनि नहीं खिरी यह तो व्यवहार कथनमात्र है जो मात्र बाह्य सामग्रीके योगको सूचित करता है। निश्चय कथन तो यही है कि जिस कालमें जो कार्य होना होता है उसी कालमें वह होता है ऐसा वस्तु परिणमनरूप स्वभाव है। अनन्तरपूर्व पर्याययुक्त द्रव्यको उपादान कहते है इस नियमके अनुसार जिस समय दिव्यध्वनि खिरी उसके पूर्व समयमें ही भाषावर्गणाएँ उसका समर्थ उपादान हुईं। केवलज्ञान कोई दिव्यध्वनिका उपादान नहीं है। वह तो गणेन्द्रके समान निमित्तमात्र है, अतएव केवलज्ञान होनेपर दिव्यध्वनि खिरनी ही चाहिए ऐसा नियम नहीं बन सकता यह बात भी इससे सिद्ध होती है। इस प्रकार केवलज्ञानके होनेपर भी गणधरका न मिलना और दिव्यध्वनिका न खिरना ही यह सिद्ध करता है कि **जब दिव्यध्वनिके खिरनेका स्वकाल आया तब गणधरके योगपूर्वक केवलज्ञान उसके खिरनेमें निमित्त हुआ।** यहाँ अपर पक्षने शेष जिन बातोंका उल्लेख किया है उनका समुचित उत्तर पूर्वमें दिया ही गया है, अतएव उन विषयोंको यहाँ पुनः चरचा नहीं की गई है।

४१. कर्मनिर्जरा और मुक्तिका काल नियत है, अनियत नहीं

अपर पक्षने कर्मनिर्जराका काल नियत नहीं इस अभिप्रायकी पुष्टिमें तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ३ का 'कालानियमाच्च निर्जरायाः' वार्तिक उपस्थित किया है। किन्तु यह वार्तिक नाना जीवोंकी अपेक्षा निर्जराके कालके अनियमका विधान करता है। अर्थात् किसी जीवको संख्यात कालमें कर्मनिर्जरा होकर मुक्ति होती है और किसी जीवको असंख्यात कालमें कर्मनिर्जरा होकर मुक्ति होती है आदि। एक जीवकी अपेक्षा यह कर्म-निर्जराके कालके अनियमका विधान नहीं करता। इस अपेक्षासे तो जिसकी कर्मनिर्जरा आदिका जो काल नियत है उस कालमें ही कर्मनिर्जरा आदि होकर उसे मुक्तिलाभ होता है यही सिद्ध होता है। ६ माह ८ समयमें छहसौ आठ जीव मुक्तिलाभ करते हैं यह नियम इसी आधार पर किया गया है। धवला पु० १४ पृ. १४३ में आचार्य वीरसेन लिखते हैं—

सव्वकालमदीदद्धा सव्वजीवरासीए अणंतिमभागो, अण्णहा संसारिजीवाणमभावप्पसंगादो। सव्वकालमदीदकालस्स सिद्धा असंखेज्जदिभागो चेव, छम्मासमंतरिय णिव्वुइगमणणियमादो।

सर्वदा अतीत काल सब जीवराशिके अनन्तवें भागप्रमाण रहता है, अन्यथा सब जीवोंके अभाव होनेका प्रसंग आता है।

सिद्ध जीव सर्वदा अतीत कालके असंख्यातवें भागप्रमाण ही होते हैं, क्योंकि छह महीनेके अन्तरसे मोक्ष जानेका नियम है।

इससे विदित होता है कि कितने कालमें कितने जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करते हैं और कितने जीव कितने कालमें मुक्तिलाभ करते हैं यह सुनिश्चित नियम है। अतएव जिसका सम्यग्दर्शन प्राप्त करनेका जो समय है उसी समय वह सम्यग्दर्शनको प्राप्त करता है और जिसका मोक्ष जानेका जो समय है उसी समय वह मुक्तिलाभ करता है। गति–आगतिसम्बन्धी सब जीवोंकी पूरी व्यवस्था अपने-अपने उपादानके अनुसार सुनिश्चित है। उसीके अनुसार प्रत्येक कार्य होता है। इस विषयकी पुष्टिमें विशेष प्रमाण हम पहले दे आये हैं।

अपर पक्षने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकके हमारे द्वारा उपस्थित किये गये प्रमाणके विरोधमें लिखा है कि 'उक्त प्रमाणोंसे यही प्रमाणित होता है कि 'सहकारी कारणोंके सद्भाव होने पर उपादान कारण कार्यरूप परिणत होता है।' सो अपर पक्षके इस कथनसे ऐसा प्रतीत होता है कि उपादान कारण तो सदा विद्यमान है, मात्र सहकारी सामग्रीका जब योग मिलता है तब कार्य होता है। किन्तु यह बात नहीं है, क्योंकि केवलज्ञानका उपादान कारण बारहवें गुणस्थानमें अन्तिम समयवर्ती जीव है, प्रथम समयवर्ती जीव नहीं। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७० में लिखा है—

क्षीणेऽपि मोहनीयाख्ये कर्मणि प्रथमक्षणे।
यथा क्षीणकषायस्य शक्तिरन्त्यक्षणे मता॥ ८९॥
ज्ञानावृत्यादिकर्माणि हन्तुं तद्वदयोगिनः।
पर्यन्तक्षण एव स्याच्छेषकर्मक्षयेऽप्यसौ॥ ९०॥

मोहनीय कर्मके प्रथम क्षणमें क्षीण हो जाने पर भी जिस प्रकार क्षीणकषायके अन्त्य क्षणमें ज्ञानावरणादिके नाश करनेकी शक्ति मानी गई है उसी प्रकार अयोगी जिनके अन्त्य क्षणमें शेष कर्मोंके क्षयकी शक्ति मानी गयी है।

इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक आत्मा केवलज्ञानकी उत्पत्तिका उपादान कारण बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें ही होता है, प्रथम समयमें नहीं।

हम पिछले उत्तरमें तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ७१ का 'निश्चयनयाश्रयणे तु' इत्यादि वचन उद्धृत कर आये हैं। इस वचनमें मोक्षका समर्थ उपादानकारण अयोगिकेवलीके अन्तिम समयमें स्थित जीवको बतलाया गया है। अपर पक्षने भी प्रतिशंका ३ में उसे उसरूपमें स्वीकार कर लिया है। अतएव जिस प्रकार अपर पक्षने अन्तिम समयवर्ती अयोगीकेवली जीवको मोक्षका समर्थ उपादान कारण स्वीकार कर लिया है जो आगम-सम्मत है उसी प्रकार अन्तिम समयवर्ती क्षीणकषाय जीवको केवलज्ञानका समर्थ उपादान कारण उसे स्वीकार कर लेना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि बारहवें गुणस्थानका अन्तिम समयवर्ती जीव जहाँ केवलज्ञानकी उत्पत्तिका समर्थ उपादान कारण है वहीं वह ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयका प्रतिनियत निमित्त है। यह तो जीवको

अपेक्षा विचार है। कर्मोंकी अपेक्षा विचार करने पर जहाँ बारहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें स्थित ज्ञानावरणादि कर्म तेरहवें गुणस्थानके प्रथम समयमें अपनी अकर्म पर्यायके उपादान कारण है वहाँ उनकी कर्मपर्यायका व्यय केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें हेतु है। इस प्रकार इससे यही सिद्ध होता है कि लोकमें जितने भी कार्य हुए, होते हैं और होंगे उन सबकी बाह्याभ्यन्तर सामग्री सुनिश्चित है। प्रत्येक समयमें वैसा योग मिलता है और वही कार्य होता है। आचार्य कहीं उपादानकी अपेक्षा उसका निर्देश करते हैं और कहीं बाह्य सामग्रीकी अपेक्षा उसका निर्देश करते हैं। दोनों कथनोंका फलितार्थ एक ही है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें इन दोनों शैलियोंको अपनाकर विवेचन किया गया है। उदाहरणार्थ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक पृ० ५८ में समस्त कर्मोंके क्षयको मोक्षका कारण कहा है और पृ० ७१ में अयोगकेवलीके अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रयको मोक्षका कारण कहा है, सो ये दोनों ही कथन अपने-अपने स्थानमें युक्तियुक्त हैं। व्यवहारनयकी अपेक्षा विचार करने पर प्रथम कथन युक्तियुक्त प्रतीत होता है, क्योंकि समस्त कर्मोंके क्षयके साथ मोक्षकी कालप्रत्यासत्ति है, इसलिए व्यवहारनयसे यह कहा गया है कि समस्त कर्मोंके क्षयसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। तथा निश्चयनयकी अपेक्षा विचार करने पर दूसरा कथन परमार्थभूत प्रतीत होता है, क्योंकि अयोगकेवलीके अन्तिम समयमें रत्नत्रय परिणत आत्मा ही मोक्ष पर्यायको उत्पन्न करता है, समस्त कर्मोंका क्षय नहीं।

स्पष्ट है कि कर्मनिर्जरा और मोक्ष अपने-अपने नियत कालमें ही होते हैं इसकी पुष्टिमें पिछले उत्तरोंमें हम जो कुछ भी लिख आये हैं वह यथार्थ है।

अपर पक्ष एक ओर तो हमें 'कालादिसामग्रीकः' और 'कालविशेषस्य सहकारिणः' इत्यादि उल्लेखोंपर विचार करनेकी प्रेरणा करता है और दूसरी ओर कालको उदासीन कारण बतलाकर यह अभिप्राय व्यक्त करनेसे भी नहीं चूकता कि कोई भी काल किसी भी कार्यके लिए निमित्त है, अमुक काल ही अमुक कार्यके लिए निमित्त होता है ऐसा नहीं है। इसीको कहते हैं अपनी धारणाके अनुसार आगमका अर्थ करना।

आपने अदालतकी बात लिखी पर हमें तो अदालत जानेका अभ्यास नहीं है, इसलिये अदालतमें केस कैसे जीता जाता है यह सब हम नहीं जानते, उसकी रुचि भी नहीं है। हमारे सामने तो आगमके पत्र खुले हैं जिनके आधारपर हमें निर्णय करना है। उनमें अपर पक्ष जिसे प्रेरकसामग्री कहता है उसके समान कालविशेषपर भी उतना ही बल दिया गया है। यथा—

न च तेन विरुध्येत त्रैविध्यं मोक्षवर्त्मनः।
विशिष्टकालयुक्तस्य तत्त्रयस्यैव शक्तितः ॥४६॥

—तत्त्वार्थश्लोक० पृ० ६५

इस कारण मोक्षमार्ग तीन प्रकारका है यह विरोधको प्राप्त नहीं होता, क्योंकि विशिष्ट कालसे युक्त तीनरूप उसमें ही मोक्ष प्राप्त करनेकी सामर्थ्य है ॥४६॥

क्षीणकषायप्रथमसमये तदाविर्भावप्रसक्तिरपि न वाच्या, कालविशेषस्य सहकारिणोऽपेक्षणीयस्य तदा विरहात्।—तत्त्वार्थश्लोक० पृ० ७१।

क्षीणकषायके प्रथम समयमें उसके आविर्भावका प्रसंग आता है यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि उस समय अपेक्षीय सहकारी कालविशेषका अभाव है।

विद्वान् पाठक देखेंगे कि इन उल्लेखोंमें अमुक कार्य अमुक कालमें ही होता है इस तथ्यपर कितना

अधिक बल दिया है। हमें आशा है कि अपर पक्ष वस्तुस्थितिका विचार कर अपने विचारोंमें अवश्य ही परिवर्तन करेगा।

यह सच है कि काललब्धि पदद्वारा केवल कालका ही ग्रहण नहीं किया है, किन्तु अन्य सामग्रीका भी ग्रहण किया है। पर इतनेमात्रसे प्रतिनियत कार्यके प्रतिनियत कालका निषेध नहीं हो जाता। बाह्य सामग्री, जिस कार्यके साथ उसकी व्याप्ति है, उसको सूचक है और इस मायनेमें उसे निमित्तरूपसे स्वीकार करनेमें सार्थकता भी है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वह अपने व्यापार द्वारा अपनेसे सर्वथा भिन्न अन्य द्रव्यके कार्यको उत्पन्न करती है। इस दृष्टिसे यदि उसे निमित्त कहा जाता है तो उसमें निमित्तपनेका व्यवहार उपचरित या आरोपित ही होगा। तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सूत्र २० में अन्तरीक्ष, भौम, अंग, स्वर, स्वप्न, लक्षण, व्यञ्जन और छिन्न इन आठ महानिमित्तोंका निर्देश किया है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जहाँ भी अन्य सामग्रीमें 'निमित्त'शब्दका व्यवहार हुआ है वह मुख्यके सूचनके अर्थमें ही हुआ है। इसी अर्थमें अन्य सामग्रीमें निमित्त व्यवहारकी सार्थकता है ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

४२. कर्मोंका परिपाक प्रतिनियत ही होता है

अपर पक्षने शिकायत करते हुए लिखा है कि 'अनियत पर्याय सिद्ध करनेके लिए हमने अपने पत्रकमें कर्मपरिपाकके अनियत होनेका प्रमाण दिया था, आपने उसका कुछ उत्तर नहीं दिया और यह लिख कर उसे टाल दिया कि यह एक ऐसा गम्भीर प्रश्न है जिसपर इस समय लिखना उचित न होगा। प्रतीत होता है कि यह बात आपके लक्ष्यकी पोषक न होनेसे आपने ऐसा लिखकर टाल दिया है। अतः हमारा पूर्वोक्त प्रमाण अनियत पर्यायका समर्थन करता है।'

यह अपर पक्षका वक्तव्य है। हमने अपने पिछले उत्तरमें लिखा था—'रही कर्मादिकके संक्रम आदिकी बात सो ऐसा मान लेने पर कि कर्मका उदय होने पर भी उदयके विरुद्ध साधन मिलनेसे उन कर्मोंका फल नहीं मिलता यह एक ऐसा गम्भीर प्रश्न है जिस पर इस समय लिखना उचित न होगा।'

यह हमारा वक्तव्य है। अब देखना यह है कि हमने यह वक्तव्य अपर पक्षके किस कथनको ध्यानमें रख कर लिपिबद्ध किया था। आगे प्रतिशंका २ से उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है—

'अर्हन्त भगवान्के असाता वेदनीयकर्मका उदय साताररूपसे हुआ करता है। नरकमें सातावेदनीयका उदय (फल) असातावेदनीयके रूपमें होता है। देवगतिमें दुःखदायक साधन न होनेसे असातावेदनीयका उदय दुःखदायक नहीं होता।'

अपर पक्षने इस कथन द्वारा यह बतलानेका प्रयत्न किया है कि कर्मका उदय तो हो पर उसके अनुकूल बाह्य सामग्री न हो तो जीवको उसका फल नहीं भोगना पड़ता या उसके विपरीत फलकी प्राप्ति होती है। अपने इस कथनकी पुष्टिमें अपर पक्षने सातावेदनीय और असातावेदनीयके उदयको उदाहरणरूपमें उपस्थित किया है।

अपर पक्षके इस कथनसे हम यह तो नहीं समझ सके कि वह अपने इस विचारके अन्तर्गत सब कर्मोंके उदयको सम्मिलित करता है या केवल सातावेदनीय और असातावेदनीयके उदय तक ही इसे सीमित रखता है। यदि उस पक्षका उक्त कथनके आधार पर यही विचार हो कि किसी भी कर्मका उदय क्यों न हो वह तभी अपना फल दे सकता है जब उसके अनुकूल बाह्य सामग्री हो। बाह्य सामग्रीके अभावमें या तो

जीवको उसका फल नहीं भोगना पड़ता या फिर जैसी बाह्य सामग्री हो वैसा उसका फल मिलता है। तब तो यही मानना पड़ेगा कि यदि किसी जीवको गुस्सा उत्पन्न होता है तो यह नहीं माना जा सकता कि उसके क्रोध कषायका ही उदय है, मानादि कषायका उदय नहीं हैं। या जो मनुष्य पर्यायमें है उसके मनुष्य गतिका ही उदय है तिर्यञ्चादि गतिका उदय नहीं है, क्योंकि अपर पक्षके मतानुसार कार्य तो बाह्य सामग्रीके अनुसार होता है, कर्मके उदयानुसार तो होता नहीं।

यदि यह दोष प्राप्त न हो इस भयसे अपर पक्षका कहना यह हो कि यह नियम सब कर्मोंके उदयके लिए नहीं है। कुछ कर्मोंके उदयके लिए तो उक्त नियम है और कुछ कर्मोंके उदयके लिए यही नियम है कि जैसा कर्मोंका उदय होता है वैसी बाह्य सामग्री मिलती ही है। तो इस पर हमारा कहना यह है कि वे कौन कर्म हैं जिन पर उक्त नियम लागू होता है और उनसे भिन्न दूसरे कौन कर्म हैं जिन पर उक्त नियम लागू नहीं होता इसका आगमसे स्पष्टीकरण करना था। आगममें तो मात्र केवली जिनको लक्ष्य कर यह लिखा है कि उनका असातोदय सातरूपसे परिणाम जाता है। किन्तु आगममें इस प्रकारके निर्देशका कारण है।

१. प्रथम तो इसका कारण यह है कि उनके मोहनीय कर्मका सर्वथा अभाव हो गया है, और मोहनीय कर्मके अभावमें वेदनीय कर्म सुख-दुःखरूप अपना कार्य करनेमें अक्षम है। इसी तथ्यको ध्यानमें रखकर गोम्मटसार कर्मकाण्डमें कहा भी है—

घादिं व वेयणीयं मोहस्स बलेण घाददे जीवं।
इदि घादीणं मज्झे मोहस्सादिम्हि पढिदं तु ॥१९॥

वेदनीयकर्म मोहनीयके बलसे घातिया कर्मोंके समान जीवको घातता है, इसलिए घातिया कर्मोंके मध्यमें और मोहनीय कर्मके आदिमें उसका पाठ रखा है ॥१९॥

२. दूसरा इसका मुख्य कारण यह है कि क्षपकश्रेणीके प्रत्येक समयमें पाप प्रकृतियोंका अनुभाग अनन्तगुणा हीन होता हुआ सयोगकेवलीके असातावेदनीयका अनुभाग वहाँ बँधनेवाले सातावेदनीयके अनुभागसे भी अनन्तगुणा हीन रह जाता है और चूँकि वहाँ ईर्यापथ आस्रव होनेके कारण सातावेदनीयका प्रत्येक समयमें उदय है, अतः अनन्तगुणे अनुभागवाले सातावेदनीयके उदयमें अनन्तगुणे हीन अनुभागवाले असातावेदनीयका उदय अन्तर्निहित हो जाता है, इसलिए यह कहा है कि असाताका उदय सातारूप परिणम जाता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए गोम्मटसार कर्मकाण्डमें लिखा भी है—

समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।
तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि ॥२७४॥

जिस कारण केवली जिनके सातावेदनीयका बन्ध उदयस्वरूप एक समय स्थितिवाला होता है इस कारण असातावेदनीयका उदय सातारूपसे परिणम जाता है ॥२७४॥

यहाँ यह कहना युक्त नहीं कि कषायका अभाव होनेसे वहाँ सातावेदनीयमें अनुभाग सम्भव नहीं, क्योंकि कषायके सद्भावमें जितना अनुभागबन्ध होता है उतना वहाँ सम्भव न होनेसे उसका निषेध किया है। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वहाँ सातावेदनीयमें अनुभाग होता ही नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर उसकी सातावेदनीय यह संज्ञा ही नहीं बन सकती। अतएव प्रकृतमें यही समझना चाहिए कि केवली जिनके जो सातावेदनीयका बन्ध होता है वह वहाँ सत्तामें स्थित असाताके अनुभागसे अनन्तगुणे अनुभागको लिये हुए ही होता है।

हम पूर्वमें केवली जिनके साता-असातावेदनीयको निमित्तकर इन्द्रियजन्य सुख-दुख नहीं पाया जाता इसका उल्लेख कर आये हैं। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए गोम्मटसारमें लिखा भी है—

णट्ठा य राय-दोसा इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो।
तेण दु सादासादजसुह-दुक्खं णत्थि इंदियजं ॥२७३॥

जिस कारण केवली जिनके राग-द्वेष और इन्द्रियज्ञान नष्ट हो गये हैं इस कारण उनके साता-असाता-जन्य सुख-दुख और इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं पाये जाते ॥२७३॥

इस प्रकार आगम इस बातको तो स्वीकार करता है कि केवली जिनके असातोदय सातारूपसे परिणम जाता है, पर यह बात आगममें कहीं भी नहीं बतलाई है कि 'नरकमें सातावेदनीयका उदय (फल) असातावेदनीयके रूपमें होता है' और न हो यह बात ही बतलाई है कि 'देवगतिमें दुःखदायक साधन न होनेसे असातावेदनीयका उदय दुःखदायक नहीं होता।' मालूम नहीं, अपर पक्षने अपने मनमें ऐसी असत्कल्पना करके उसे कैसे लिपिबद्ध किया। बाह्य-साधन स्वयं न तो दुखरूप ही होते हैं और न सुखरूप ही। कब कौन दुखमें निमित्त हो और कब कौन सुखमें यह सब भिन्न-भिन्न जीवोंकी भिन्न-भिन्न परिस्थितिपर निर्भर करता है। महापुराण पर्व ६ में ललितांगदेव और उसकी प्रिय वल्लभा स्वयंप्रभाकी कथा आई है। उसमें बतलाया है कि ललितांगदेवकी जब छः माह आयु शेष रही तब उसकी माला म्लान हो गई, कल्पवृक्ष कांपने लगे, शरीरकी कांति क्षीण हो गई आदि। इससे वह बहुत दुखी हुआ, देखो (श्लोक १ से ८ तक)। आगे वहीं उसकी देवीकी चर्चा करते हुए लिखा है कि ललितांग देवके स्वर्गसे च्युत होनेपर वह स्वयंप्रभादेवी उसके वियोगसे चकवाके बिना चकवीको तरह बहुत ही खेद-खिन्न हुई आदि (देखो श्लोक ५० से ५२ तक)।

इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार देवोंमें इन्द्रियजन्य सुख है उसी प्रकार दुख भी है। नरकोंमें भी ऐसा ही समझना चाहिये। तत्त्वार्थवार्तिक अध्याय ३ सूत्र ३ में जो यह कहा गया है कि नारकी जीव नित्य अशुभतर लेश्या, अशुभतर परिणाम, अशुभतर देह, अशुभतर वेदना और अशुभतर विक्रियावाले होते हैं सो वहाँ आये हुए 'नित्य' शब्दका अर्थ करते हुए आचार्य अकलंकदेवने यही बतलाया है कि उनके आभीक्ष्ण्य (बहुधा) अशुभतर लेश्या आदि पाये जाते हैं। उदाहरणमें नित्य (बहुधा) हँसनेवाले देवदत्तको उपस्थित करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार देवदत्त नित्य हँसता है अर्थात् कारण मिलने पर हँसता है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिये।

इससे सिद्ध होता है कि संसारी जीवोंमें कर्मोदयके साथ जीवकी परिणतिकी बाह्य व्याप्ति है। तभी तो आचार्य कुंदकुंदने समयसार बन्धाधिकारमें यह लिखा है—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिद-सुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५३॥

जो यह मानता है कि अपने द्वारा मैं दूसरे जीवोंको दुखी सुखी करता हूँ वह मूढ़ अज्ञानी है। किन्तु जो इससे विपरीत है वह ज्ञानी है ॥२५३॥

भगवान् आचार्यने इस वचन द्वारा बाह्य द्रव्य, क्षेत्र और कालादि दूसरेमें सुख-दुखको उत्पन्न करते हैं इस बातका निषेध किया है। अपने सुख-दुखको अपने कर्मके साथ बाह्य व्याप्ति क्यों है इसका स्पष्टी-करण आचार्य कुन्दकुन्दने समयसार गाथा २५४,२५५ और २५६ में विशदरूपसे किया है। उनकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं—

सुख-दुःखे हि तावज्जीवानां स्वकर्मोदयेनैव, तदभावे तयोर्भवितुमशक्यत्वात्। स्वकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यम्, तस्य स्वपरिणामेनैवोपार्ज्यमाणत्वात्। ततो न कथञ्चनापि अन्योन्यस्य सुख-दुःखे कुर्यात्। अतः सुखित-दुःखितान् करोमि सुखित-दुःखितः क्रिये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम्।

प्रथम तो जीवोंको सुख-दुःख वास्तवमें अपने कर्मोदयसे ही होता है, क्योंकि अपने कर्मोदयके अभावमें सुख-दुःख होना अशक्य है। और अपना कर्म दूसरेके द्वारा दूसरेको नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वह अपने परिणामसे ही उपार्जित होता है, इसलिए किसी भी प्रकारसे एक दूसरेको सुख-दुःख नहीं कर सकता। इसलिए यह अध्यवसाय निश्चित अज्ञान है कि 'मैं पर जीवोंको सुखी-दुःखी करता हूँ और पर जीव मुझे सुखी-दुःखी करते हैं।

इस टीकामें 'स्वपरिणामेनैवोपार्ज्यमाणत्वात्' पद ध्यान देने योग्य है। इससे स्वाश्रितपनेका ज्ञान कराते हुए यह सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि 'जीव जैसा करता है वैसा भोगता है।' सुख-दुःखादिकी अपने-अपने कर्मोदयके साथ व्याप्तिका जो विधान आचार्यने किया है उसका हार्द क्या है यह उक्त शब्दों द्वारा सुस्पष्ट ज्ञात हो जाता है।

यहाँ यह शंका करना उचित नहीं है कि जब कि अपने परिणामोंके अनुसार जीव कर्मोंका उपार्जन करता है और उपार्जित कर्मके अनुसार फल भोगता है ऐसी अवस्थामें उसके संसारका उच्छेद कभी भी नहीं हो सकेगा, क्योंकि जभी इस जीवका कर्म और कर्मफलमें अरुचि होनेके साथ ज्ञानस्वभाव आत्माके प्रति आदर उत्पन्न होता है तभी इसके नये कर्मका बन्ध नहीं होता और सत्तामें स्थित पुराने कर्मकी क्रमशः निर्जरा होकर यह मुक्तिका पात्र बनता है।

इस प्रकार इतने विवेचनसे यह भली-भाँति सिद्ध हो जाता है कि 'नरकमें न तो सातावेदनीयका उदय (फल) असातावेदनीयके रूपमें होता है' और न ही यह कहा जा सकता है कि 'देवोंमें दुःखदायक साधन न होनेसे असातावेदनीयका उदय दुःखदायक नहीं होता।'

हमने अपने पिछले उत्तरमें अपर पक्षकी उक्त मान्यता पर विशेष विचार केवल इस अभिप्रायसे नहीं किया था कि वह हमारे संक्षिप्त उत्तरमें निहित तथ्यकी ओर ध्यान देकर अपने विचारोंमें परिवर्तन कर लेगा। किन्तु इसे वह हमारे द्वारा टालना समझकर अपने आगमविरुद्ध अभिमतकी पुष्टिमें ही इतिकर्तव्यता समझता है, इसलिए यहाँ इतना लिखना पड़ा है। वस्तुतः अपर पक्षकी ओरसे ऐसा लिखा जाना कि 'नरकमें सातावेदनीयका उदय (फल) असातावेदनीयके रूपमें होता है। देवगतिमें दुख-दायक साधन न होनेसे असातावेदनीयका उदय दुःखदायक नहीं है।' एक ऐसा गंभीर प्रश्न है जिससे पूरी कार्य-कारण-परम्परा पर तो पानी फिरता ही है। साथ ही किस कर्मके उदयमें क्या कार्य होगा ऐसा नियम न रहनेसे पूरी कार्मिक व्यवस्था ही गड़बड़ा जाती है।

अपर पक्षने जयधवला पु० १ पृ० २८९ मे 'पागभावस्स विणासो' इत्यादि वचन उद्धृत कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न तो किया कि 'जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्रागभावके विनाशके अनुकूल होगा वैसा ही उसका विनाश होगा।' आदि। परन्तु उसने इस बातका थोड़ा भी विचार नहीं किया कि जिस प्रकार उसके मतानुसार कर्मोदयसे वही कार्य होता है जिसके अनुकूल द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि होते हैं। किन्तु 'स यथा नाम' (त० सू० अ० ८ सूत्र २१) सूत्रके अनुसार जो उस कर्मकी अनुभागशक्ति है उसके अनुसार कार्य नहीं होता, तो उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिसे भी वही कार्य होगा जिसके अनुकूल अन्य

द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि होंगे। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र, काल आदिको अपना अपना कार्य करनेके लिये अन्य अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल आदि अपेक्षित होनेसे किसी भी कार्यकी उत्पत्ति ही नहीं बन सकेगी। ऐसी अवस्थामें उक्त उल्लेखसे अपर पक्ष जो अपने अभिमतकी सिद्धि करना चाहता है वह न होकर यही सिद्ध होता है कि जो जिस कार्यका प्रागभाव होता है—उसके विनाशसे वही कार्य होता है और बाह्य सामग्री भी उसके अनुकूल मिलती है।

यहाँ पं० फूलचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित तत्त्वार्थसूत्रके जिन तीन उल्लेखोंको अपर पक्षने अपने पक्षकी पुष्टिमें उपस्थित किया है उनमेंसे प्रथम उल्लेख द्वारा तो यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक द्रव्य अपना कार्य स्वयं करता है, उसमें अन्य बाह्य सामग्री निमित्त होती है। वाक्य रचना पर ध्यान दीजिये। उसमें यद्यपि व्यवहार नयकी कथनी पर बल दिया गया है पर निश्चयनयकी कथनीको भुलाया नहीं गया है।

दूसरे उल्लेखमें निधत्त और निकाचित कर्म स्वमुखसे भी उदयमें आते हैं और पर मुखसे भी उदयमें आते हैं मात्र इतना सूचित किया गया है। कर्मोंका परिपाक अनियत है यह इससे कहाँ सिद्ध होता है। प्रत्युत इससे तो यही सिद्ध होता है कि जिसका जैसा उपादान होता है उसके अनुसार ही उसका कार्य होता है। हाँ यदि आगम ग्रन्थोंमें यह लिखा होता कि ऐसे कर्मोंका स्वमुखसे ही उदय होता है और फिर बाह्य सामग्रीके बलसे उनका पर मुखसे भी उदय बतलाया गया होता तो अपर पक्षका यह कहना उचित प्रतीत होता कि इससे कर्मोंका अनियत परिपाक सिद्ध होता है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। अतः इस उल्लेखसे भी अपर पक्षके अभिमतको पुष्टि नहीं होती ऐसा यहाँ समझना चाहिये।

तीसरे उल्लेखमें आये हुए 'अनुकूल सामग्री' पद पर ध्यान दीजिए। इसमें बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकारकी सामग्रीका अन्तर्भाव हो जाता है। जिस प्रकार अकर्मरूप कर्मवर्गणाएँ अपने उपादानके अनुसार कर्मरूप परिणम जाती हैं उसी प्रकार विवक्षित कर्मरूप परिणमी कर्मप्रकृतियाँ अपने-अपने उपादानके अनुसार अन्यरूप परिणाम जाती हैं यह सब उनमें विद्यमान उपादान योग्यता पर निर्भर करता है। इसमें अनियतपनेका तो प्रश्न ही नहीं उठता। जब कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें परिणमन करता है तो वह प्रत्येक समयमें अन्य-अन्य होने ही वाला है। इससे अनियतपना कहाँ सिद्ध होता है। किन कर्मोंमें सदृश और विसदृश दोनों प्रकारका परिणमन अपने-अपने उपादानके अनुसार होता है इसी बातको संक्रमण आदि द्वारा सूचित किया गया है। अतएव तत्त्वार्थसूत्रके उक्त उल्लेख भी अपर पक्षके अभिमतकी सिद्धिमें सहायक नहीं है।

हमने अपने पिछले उत्तरमें लिखा था—'ऐसा मान लेने पर कि कर्मका उदय होने पर भी उदयके विरुद्ध साधन मिलनेसे' आदि। इस पर अपर पक्षकी जिज्ञासा है कि यह आशय हमने उसके कौनसे वाक्यका ले लिया है? समाधान यह है कि अपर पक्षने अपनी पिछली प्रतिशंकामें लिखा था—'नरकमें सातावेदनीयका उदय (फल) असातावेदनीयके रूपमें होता है। देवगतिमें दुखदायक साधन न होनेसे असातावेदनीयका उदय दुखदायक नहीं होता।'

हम समझते हैं कि अपने द्वारा पिछली प्रतिशंकामें लिखे गये उक्त वाक्योंको पढ़कर अपर पक्षको समझमें यह बात आ जायगी कि पिछले उत्तरमें इन वाक्योंको ध्यानमें रखकर हम जो कुछ भी लिख आये हैं वह फिजूल न होकर प्रदीपशिखाके समान मार्गदर्शक है।

अपर पक्ष यदि यही मानता है कि उपादान निश्चय पक्ष और निमित्त व्यवहार पक्षका मेल होने पर कार्य होता है तो फिर वह उपादान अनेक योग्यतावाला होता है इत्यादि असत्कल्पनाएँ करके उपादानको अनुपादान बनानेकी क्यों चेष्टा करता है। तब तो उसे भीतरसे यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रत्येक समयमें प्रत्येक द्रव्य अपने प्रतिनियत कार्यका प्रतिनियत उपादान है, अतएव प्रत्येक समयमें वह अन्य प्रतिनियत बाह्य सामग्रीको निमित्त कर प्रतिनियत कार्यको ही उत्पन्न करता है।

बाह्य सामग्री स्वयं अन्य द्रव्यके कार्यका यथार्थ कारण तो है नहीं, पर बाह्य व्याप्तिके आधार पर उसमें निमित्त या कर्ता आदि व्यवहार होता है, जो असद्भूत है, इसीलिए ही हम उसे अन्य द्रव्यके कार्यको अपेक्षा अकिंचित्कर कहते हैं और यह कहना हमारा ही हो यह बात नहीं है, शास्त्रकारोंने भी इसे असद्भूत अपर नाम उपचरित कहा ही है। प्रमाण पूर्वमें ही दे आये हैं। हमने यहाँ पर जो 'दोनोंका मेल होने पर कार्य होता है।' यह लिखा है सो उसका आशय अन्तर्व्याप्ति और बाह्य व्याप्तिको दिखलाना भर है, क्योंकि ऐसा ही द्रव्यगत स्वभाव है कि कार्यमें बाह्य और आभ्यन्तर उपाधिकी समग्रता होती है। आभ्यन्तर उपाधि कार्यका आत्मभूत विशेषण है और बाह्य उपाधि अनात्मभूत विशेषण है। उपाधि विशेषणका दूसरा नाम है इस तथ्यको स्पष्ट करते हुए युक्त्यनुशासनकी टीका पृ० ६५ में लिखा है—

उपाधिर्विशेषणं स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावाः परद्रव्यक्षेत्रकालभावाश्च····।

उपाधिका अर्थ विशेषण है जो स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावरूप तथा पर द्रव्य, परक्षेत्र, पर काल और पर भावरूप होती है।

इसी तथ्यको और भी स्पष्ट शब्दोंमें सूचित करते हुए अष्टसहस्री पृ० १५० में लिखा है—

यथा कार्यं बहिरन्त. स्यादुपाधिभिरनन्तविशेषणैर्विशिष्टं सर्वथा निरंशवस्तुनि सकलविशेषणाव्यवस्थितेः।

जैसे कार्य बाह्य और आभ्यन्तर उपाधियों अर्थात् अनन्त विशेषणोंसे युक्त होता है, क्योंकि सर्वथा निरंश वस्तुमें सकल विशेषणोंकी व्यवस्था नहीं बन सकती।

जिस प्रकार किसी राजाके राज्यका संचालन करते समय आभ्यन्तर उपाधि आज्ञा, ऐश्वर्य आदि और बाह्य उपाधि छत्र, चमर, सिंहासन आदि दोनों देखे जाते हैं। उनमे राज्यका संचालन छत्र, चमर और सिंहासन आदि नहीं करते। वास्तवमें राजाको योग्यतासे ही राज्यका संचालन होता है, फिर भी राज्यके संचालनमें व्यवहारसे छत्र, चमर और सिंहासन आदिको स्थान मिला हुआ है। यह एक दृष्टान्त है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिए। आभ्यन्तर उपाधि द्रव्यका आत्मभूत धर्म है, इसलिए कार्यके प्रति उसे ही निश्चय साधन कहा है। बाह्य उपाधि द्रव्यका आत्मभूत धर्म नहीं है, फिर भी कार्यके साथ उसकी बाह्य व्याप्ति नियमसे होती है, इसलिए उसे उपचरित हेतु कहा है। इससे हमारे कथनका आशय क्या है यह अपर पक्षको समझमें अच्छी तरहसे आ जायगा ऐसी आशा है।

यदि हमने दोनोंको कारण स्वीकार कर लिया या आगममें दोनोंको कारण कहा है तो इसका अर्थ यह नहीं कि दोनों यथार्थ कारण हो गये। जो उपचरित होगा वह उपचरित ही रहेगा और जो अनुपचरित है वह अनुपचरित ही रहेगा। यदि किसी बालकको अग्नि कह दिया तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह बालक यथार्थमें अग्नि हो गया। अग्नि अग्नि है और बालक बालक है। अग्नि बालक नहीं और बालक अग्नि नहीं। फिर भी तेज आदि धर्मको देख कर जिस प्रकार बालकमें अग्निका व्यवहार किया जाता है उसी प्रकार

प्रकृतमें जानना चाहिए। उपादान कारण जैसे स्वयं परिणम कर कार्यको उत्पन्न करता है उस प्रकार बाह्य सामग्री स्वयं परिणमकर उस कार्यको उत्पन्न नहीं करती। फिर भी बाह्य सामग्रीके अमुक प्रकारके परिणामके कालमें ही उपादानका अमुक प्रकारका परिणाम होता है, इसलिए बाह्य सामग्रीमें भी कारण या निमित्त धर्मका उपचार किया गया है। और यही कारण है कि उपचरितपनेकी विवक्षा किये बिना हमने बाह्य सामग्रीको भी कार्यके प्रति निमित्त कहा है।

स्पष्ट है कि हमारे और अपर पक्षके मध्य जो विचारभेद है वह बना हुआ ही है। वह तब तक समाप्त नहीं हो सकता जब तक कि अपर पक्ष बाह्य सामग्रीमें निमित्त व्यवहारको उपचरित नहीं स्वीकार कर लेता।

आगे अपर पक्षने अपनी मान्यतानुसार पुनः स्व-परप्रत्यय और स्वप्रत्यय कार्योंका प्रसंग उपस्थित कर अपनी पुरानी मान्यताओंको दुहरानेका प्रयत्न किया है। और जिन उदाहरणोंको जिस शैलीमें पहले लिपिबद्ध किया था वे उदाहरण उसी शैलीमें पुन: यहाँ लिपिबद्ध कर दिये गये हैं। किन्तु उन सबका विस्तारसे विचार हम पूर्वमें कर ही आये हैं अतः अपर पक्षके इस सब कथनको पुनरुक्त समझकर यहाँ विशेष विचार करना उचित नहीं समझते। तथ्य रूपमें इतना अवश्य निर्देश कर देते हैं कि—

१. लोकमें ऐसा एक भी कार्य नहीं होता जिसका मात्र निश्चय हेतु हो और व्यवहार हेतु न हो।

२. निश्चय उपादानके अपने कार्यके सन्मुख होने पर उसके अनुकूल बाह्य सामग्रीका योग अवश्य मिलता है।

३. किसी भी द्रव्यकी कार्यमाला किसी समय रुकती नहीं। जहाँ तेलके अभावमें मोटर रुकी ऐसा इन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वक मानससे प्रतीत होता है वहाँ मोटरकी उपादान शक्ति रुकनेकी थी, अतः तेलका अभाव उसमें हेतु हुआ ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि आगममें समर्थ या निश्चय उपादानका लक्षण करते हुए अनन्तर पूर्व पर्याययुक्त द्रव्यको ही उपादान कहा है। यदि किसीके इन्द्रियप्रत्यक्षसे उस समय मोटरमें यह समर्थ उपादानता ज्ञात नहीं होती तो ऐसा नहीं कहा जा सकता कि मोटरका उपादान तो चलनेका था पर तेल नहीं होनेसे नहीं चल सकी। प्रत्युत बाह्य सामग्री सूचक होनेसे तेलके अभावसे यही सूचित होता है कि उस समय मोटरका उपादान चलनेका न होकर स्थिर रहनेका था, इसलिए वह स्थिर हो गई और उसमें तेलका अभाव हेतु हो गया।

आचार्योंने एक यह नियम बना दिया कि बाह्य-आभ्यन्तर सामग्रीकी समग्रतामें कार्य होता है (स्वयंभूस्तोत्र श्लोक ६०)। दूसरा यह नियम बना दिया कि उपादानके कालमें ही सहकारी सामग्री होती है (त०श्लोकवार्तिक पृ. ५५)। तथा तीसरा यह नियम बना दिया कि विवक्षित अपने कार्यके करनेमें अन्त्य क्षण प्राप्तपनेका नाम ही सम्पूर्ण है (तत्त्वार्थश्लोकवा० पृ० ७०)। इससे हम जानते हैं कि यदि कोई मात्र इतना मानता है कि मात्र तेलके अभावमें मोटर नहीं चल रही है तो वह वास्तवमें कार्य-कारण परम्पराका ज्ञाता नहीं माना जा सकता, क्योंकि तेलके रहने पर भी और चालककी उसे चलानेकी इच्छा होने पर भी कभी कभी मोटर नहीं चलती। इससे सिद्ध है कि जिस समय जैसी आभ्यन्तर उपाधि होती है उस समय उसीके अनुकूल बाह्य सामग्रीका योग होकर वह कार्य होता है। कार्य-कारणपरम्पराका यह अव्यभिचारी नियम है।

अपर पक्षने तत्त्वार्थवार्तिक पृ. ६४६ का उद्धरण उपस्थित कर पुनः यह सिद्ध करनेका प्रयत्न

किया है कि सिद्ध जीवकी लोकाग्रसे आगे गति मात्र धर्मद्रव्यके न होनेसे नहीं होती। साथ ही और भी अनेक प्रकारकी बातें लिखकर प्रतिशंकाके कलेवरको बढ़ाया है।

हम पहले इस सम्बन्धमें पर्याप्त लिख आये हैं, क्योंकि अपर पक्षने इन सब विषयोंकी पत्रमें विस्तारसे चर्चा की है। अपर पक्षने अपने पक्षके समर्थनमें यहाँ तत्त्वार्थवार्तिकका जो उद्धरण उपस्थित किया है उसके पूर्वके 'स्यान्मतं' इत्यादि कथन पर यदि वह दृष्टि डाल लेता तो वहीं उसे अपनी शंकाका समाधान मिल जाता। आचार्यदेव लिखते हैं —

प्रश्न—सिद्ध शिलापर पहुँचनेके बाद चूँकि मुक्त जीवका ऊर्ध्वगमन नहीं होता अतः उष्ण स्वभावके अभावमें अग्निके अभावकी तरह मुक्त जीवका भी अभाव हो जाना चाहिए ?

उत्तर—मुक्त जीवका ऊर्ध्व ही गमन होता है तिरछा आदि गमन नहीं होता यह स्वभाव है, न कि ऊर्ध्वगमन करते ही रहना। जैसे अग्नि कभी ऊर्ध्व ज्वलन नहीं करती तब भी अग्नि बनी रहती है उसी तरह मुक्त जीवका भी लक्ष्य प्राप्तिके बाद ऊर्ध्वगमन न होने पर भी अभाव नहीं होता।

—तत्त्वार्थवार्तिक पृ० ६०४

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मुक्त जीवका उपादान ही लोकाग्रतक गमन करनेका होनेसे वहींतक उसका गमन होता है। फिर भी व्यवहार हेतुका ज्ञान करानेके लिए आचार्यने उक्त वचन लिखा, जिसे आधार बनाकर अपर पक्षने अपनी प्रतिशंकाका कलेवर पुष्ट किया है। आचार्य कहींपर व्यवहार हेतुकी मुख्यतासे कथन करते हैं और कहींपर निश्चय हेतुकी मुख्यतासे। किन्तु ऐसे कथनको नयवचन ही समझना चाहिए। तत्त्वार्थसूत्रके १०वें अध्यायमें 'धर्मास्तिकायाभावात्' सूत्र व्यवहार हेतुकी मुख्यतासे ही लिखा गया है। इसलिए जो महानुभाव उस परसे यह अर्थ फलित करते हैं कि उपादानके रहते हुए भी निमित्तके न होनेसे कार्य नहीं हुआ वे वस्तुतः कार्यकारणपरम्पराके ज्ञाता नहीं माने जा सकते।

अपर पक्ष पुरुषार्थ करनेका निर्देश तो करता है, परन्तु स्वावलम्बनको तिलांजलि देकर परावलम्बनको ही कार्य-कारणपरम्पराका मुख्य अंग बनानेका प्रयत्न करते हुए उस पक्षकी ओरसे ऐसा लिखा जाना कि 'सर्वज्ञके प्रति आस्था रखिए, उनके ज्ञान तथा वाणीपर भी आस्था रखिए' आदि, केवल पाठकोंको भ्रममें रखनामात्र प्रतीत होता है। स्वामी समन्तभद्र तो स्वयंभूस्तोत्रमें यह लिखते हैं —

यद्वस्तु बाह्यं गुण-दोषसूतेः निमित्तमाभ्यन्तरमूलहेतोः।
अध्यात्मवृत्तस्य तदंगभूतमभ्यन्तरं केवलमप्यलं ते ॥५९॥

अभ्यन्तर अर्थात् उपादान है मूल हेतु जिसका ऐसे गुण-दोषकी उत्पत्तिका जो बाह्य पदार्थ निमित्त है वह मोक्षमार्गपर आरूढ़ हुए व्यक्तिके लिए गौण है, क्योंकि हे जिन ! आपके मतमें केवल अभ्यन्तर हेतु ही कार्यसिद्धिके लिए पर्याप्त है ॥५९॥

और अपर पक्ष यह कहता है कि प्रत्येक उपादान अनेक योग्यताओंवाला होता है, इसलिए कार्य निमित्तके अनुसार होता है। अब विचार कीजिए कि जो इस प्रकारको कथनी द्वारा उपादानको अनुपादान बनाकर उसके कार्यको निमित्तोंकी मर्जीपर छोड़ देता है उसके द्वारा पुरुषार्थकी बात करना सर्वथा असंगत ही प्रतीत होती है। स्पष्ट है कि अपर पक्षका कार्य-कारणपरम्परासम्बन्धी समग्र कथन आगम विरुद्ध होनेसे ग्राह्य नहीं हो सकता।

अपर पक्षका कहना है कि 'जब तक ज्ञाता-दृष्टा नहीं बन जाते तब तक अन्तरंग-बहिरंग साधनोंको जुटाना चाहिए। सो प्रकृतमें अपर पक्षको यही तो समझना है कि जब तक जुटानेका विकल्प है तभी तक इस जीवकी ज्ञाता-दृष्टा स्वभावरूप परिणति न होकर रागरूप परिणति होती है और जिस क्षण यह जीव स्वभावसन्मुख हो अन्तरंग-बहिरंग साधनोंके जुटानेके विकल्पसे मुक्त हो जाता है उसी क्षण यह जीव अबुद्धिपूर्वक रागके सद्भावमें भी ज्ञाता-दृष्टा बन जाता है। स्वभावसे तो यह जीव ज्ञाता-दृष्टा है ही। परिणतिमें भी इसे ज्ञात-दृष्टा बनना है। किन्तु एक ओर तो जुटानेके विकल्पको उपादेय मानता रहे और दूसरी ओर मुखसे यह कहता रहे कि मैं ज्ञाता-दृष्टा बननेके मार्गपर चल रहा हूँ—इसे मोक्षमार्गका उपहास ही कहा जायगा। यदि यथार्थमें ज्ञाता-दृष्टा बननेका अन्तरंगसे भाव हुआ है तो सर्व प्रथम ज्ञाता-दृष्टा स्वभावके प्रति आदरवान् होकर ऐसे मार्गका अभ्यास करना चाहिए जिससे यह जीव जुटानेके विकल्पसे मुक्त होकर परिणतिमें भी ज्ञाता-दृष्टा बन सके। आचार्य अमृतचन्द्र समयसारकी टीकामें उस मार्गका निर्देश करते हुए लिखते हैं—

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम्।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥ २३ ॥

हे भाई। तू किसी प्रकार महत् कष्टसे अथवा मरकर भी तत्त्वका कौतूहली होकर इस शरीरादि मूर्त द्रव्यका एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ोसी बनकर आत्मानुभव कर कि जिससे सर्व पर द्रव्योंसे भिन्न विलसते हुए अपने आत्माको देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गल द्रव्यके साथ एकत्वके मोहको शीघ्र ही छोड़ देगा ॥ २३ ॥

यह स्वरूपको प्राप्त करनेका मार्ग है, अन्य सब रागके विकल्पोंका ताना-बाना है।

हमने अपने पिछले उत्तरमें उपादान और निमित्तकी विषम व्याप्तिका निषेधकर लिखा था कि प्रत्येक समयमें उपादान और निमित्तकी प्रत्येक कार्यके प्रति अन्तरंग और बहिरंग व्याप्ति बनती रहती है जिससे कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें उत्पाद-व्ययरूप अपने-अपने कार्यको करता रहता है। किन्तु अपर पक्ष इसे माननेके लिए तैयार नहीं है। उस पक्षका कहना है कि 'निमित्तके अनुकूल उपादानका समागम होगा तो कार्य अवश्य होगा और उपादानके अनुकूल निमित्तका समागम होगा तो भी कार्य अवश्य होगा।'

इसपर पृच्छा यह है कि मान लो किसी समय निमित्तके अनुकूल उपादानका समागम नहीं हुआ तो कार्य होगा या नहीं ? और इसी प्रकार किसी समय उपादानके अनुकूल निमित्तका समागम नहीं हुआ तो भी कार्य होगा या नहीं ?

अपर पक्ष यह तो कह नहीं सकता कि उस समय वह द्रव्य अपना कार्य ही नहीं करेगा, क्योंकि ऐसा मानने पर वह द्रव्य अपरिणामी हो जायगा। किन्तु जैन शासनमें किसी भी द्रव्यको अपरिणामी माना नहीं गया है। द्रव्यका लक्षण ही यह है—'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। सद्द्रव्यलक्षणम्।' त० सू० अ० ५ सू० ३० व २९।

अतएव अपर पक्षको प्रकृतमें यही स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रत्येक समयमें प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने कार्यका समर्थ उपादान है और प्रत्येक समयमें उसके अनुकूल प्रयोगसे या विस्रसा बाह्य सामग्री भी

मिलती रहती है। परीक्षामुख या दर्शन-न्यायके अन्य जिन ग्रन्थोंमें प्रतिबन्धक कारणोंके अभाव और कारणान्तरोंकी अविकलताका निर्देश किया है वह कैसी स्थितिमें कारण कार्यका अनुमापक होता है यह बतलानेके लिए किया है। जिस समय किसीके ज्ञानमें प्रतिबन्धक कारण प्रतिभासित हो रहे हैं या कारणान्तरोंकी विकलता ज्ञात हो रही है उस समय भी अपने उपादानके अनुसार उस द्रव्यने अपना कार्य किया है और जिसे दूसरा व्यक्ति प्रतिबन्धक कारण मान रहा है या कारणान्तरोंकी विकलता समझ रहा है, सम्भव है वह सब बाह्य सामग्री उस समय होनेवाले कार्यमें बाह्य हेतु हो रही हो। ज्ञानमें जो प्रतिबन्धक कारणोंका सद्भाव या कारणान्तरोंकी विकलता झलक रही है वह मनमें सोचे गये कार्यकी अपेक्षा प्रतीत हो रही है। किन्तु किसी द्रव्यने यह ठेका नहीं लिया कि दूसरे व्यक्तिकी विवक्षाके अनुसार उस समय उस कार्यका उसे उपादान होना ही चाहिए। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि जो द्रव्य जिस समय जिस कार्यको करता है उस समय वह उसका उपादान नियमसे होकर ही उसे करता है और उस कार्यके अनुकूल बाह्य सामग्री उस समय नियमसे मिलती है।

आगे अपर पक्षने अपनी प्रतिशंकामें उपस्थित किये गये तर्कोंपर हमें गम्भीरतापूर्वक विचार करनेकी सलाह देनेके बाद अपनी कल्पित उस मान्यताको पुनः दुहराया है जिसमें अपर पक्षने समर्थ या निश्चय उपादानको अनेक योग्यतावाला प्रसिद्ध करके प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति बाह्य सामग्रीके आधारपर स्वीकार की है। किन्तु अपर पक्षकी यह मान्यता असमीचीन कैसे है इसका आगमसे अच्छी तरह खुलासा हो जाता है। आगममें एक द्रव्यकी अव्यवहित पूर्वोत्तर दो पर्यायोंमें कारण-कार्यभाव स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया है।

यथा—**अनन्तरयोरेव पूर्वोत्तरक्षणयोर्हेतुफलभावस्य दृष्टत्वात्, व्यवहितयोस्तदघटनात्। —प्रमेयरत्नमाला अ० ३ सू० ५७।**

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक समर्थ उपादान अनेक योग्यतावाला न होकर प्रतिनियत योग्यतावाला ही होता है।

परीक्षामुख अध्याय तीनमें अविनाभावका लक्षण लिखते हुए बतलाया है—

सह-क्रमभावनियमोऽविनाभावः ॥१२॥

सहभाव नियम और क्रमभाव नियमको अविनाभाव कहते हैं ॥१२॥

आगे क्रमभाव नियमको दिखलाते हुए वहीं लिखा है—

पूर्वोत्तरचारिणोः कार्य-कारणयोश्च क्रमभावः ॥१४॥

पूर्वचर और उत्तरचरमें तथा कार्य और कारणमें क्रमभाव नियम होता है।

इससे विदित होता है कि कारण और कार्यमें क्रमभाव नियमरूप अविनाभाव है। और इसी आधारपर **'यदनन्तरं 'यद्भवति तत्तस्य कारणम्'**—जिसके अनन्तर जो होता है वह उसका कारण है—यह वचन सर्वत्र उपलब्ध होता है।

इस प्रकार पूर्वोक्त विवेचनसे इन तथ्योंपर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है—

१. उपादान कारण और कार्यमें क्रमभाव अविनाभाव नियम है।

२. उपादान कारण समनन्तर पूर्व पर्यायरूप होता है और कार्य समनन्तर उत्तर पर्यायरूप होता है।

३. प्रमेयरत्नमालाके पूर्वोक्त उल्लेख द्वारा पर्यायमें उपादानकारणता स्वीकार करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक उपादान कारण जिस कार्यको जन्म देता है उसी योग्यताकी अपेक्षा ही वह उपादान कारण कहलाता है।

४. उक्त कथनकी पुष्टि इससे भी होती है कि जिस प्रकार द्रव्यदृष्टिसे बाह्य सामग्री अनेक योग्यतावाली होकर भी प्रतिनियत पर्यायरूपसे ही वह अन्य द्रव्यके कार्यमें निमित्त होती है। उसी प्रकार अन्तः-सामग्री द्रव्यदृष्टिसे अनेक योग्यतावाली होकर भी प्रतिनियत पर्यायरूपसे ही वह अपने कार्यकी उत्पत्तिमें उपादान कारण होती है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अव्यवहित पूर्व क्षणवर्ती वस्तु उत्तर क्षणमें प्रतिनियत कार्यको ही उत्पन्न करती है। उस समय उसमें अनेक कार्योंको उत्पन्न करनेकी क्षमता ही नहीं होती। उसे आगममें निश्चय (यथार्थ) कर्ता इसीलिए ही स्वीकार किया गया है। परसापेक्ष कार्य होता है यह व्यवहारनयका वक्तव्य है, निश्चयनयसे तो प्रत्येक कार्य परनिरपेक्ष ही होता है, इसलिए जिस समय जो द्रव्य जिसरूप परिणमता है वह यथार्थमें अन्तःसामग्रीके बलपर ही परिणमता है। अतएव प्रकृतमें यही स्वीकार करना चाहिये कि जिस प्रकार प्रत्येक द्रव्य स्वतःसिद्ध परिणमन स्वभाववाला होता है उसी प्रकार वह किस समय किस परिणामको उत्पन्न करे यह भी उसके स्वभावमें दाखिल है, क्योंकि कर्ता, कर्म और क्रिया ये तीनों वस्तुपनेकी अपेक्षा अभिन्न हैं। उत्पादका अर्थ केवल परिणमन ही नहीं है। किन्तु उसमें परिणाम और परिणमन क्रिया दोनोंका अन्तर्भाव हो जाता है। इसी तथ्यको स्पष्ट करते हुए सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० ३० में कहा है—

चेतनास्याचेतनस्य वा द्रव्यस्य स्वां जातिमजहत उभयनिमित्तवशात् भावन्तरावाप्तिरुत्पादन-मुत्पादः मृत्पिण्डस्य घटपर्यायवत्।

अपनी जातिको न छोड़ते हुए चेतन और अचेतन द्रव्यका उभय निमित्तके वशसे भावान्तरको प्राप्त करनेका नाम उत्पाद है, जैसे मिट्टीके पिण्डको घट पर्याय।

तत्त्वार्थवार्तिकमें इसी प्रसंगसे उत्पादका यही अर्थ किया है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें इसी प्रसंगसे उत्पादका लक्षण निबद्ध करते हुए लिखा है—

स्वजात्यपरित्यागेन भावान्तरावाप्तिरुत्पादः।

अपनी जातिका त्याग किये बिना भावान्तरकी अवाप्तिका नाम उत्पाद है।

इस प्रकार पूर्वोक्त प्रमाणोंसे विदित होता है कि उत्पादमें केवल परिणमन क्रियाका ग्रहण न होकर जिस समय जिस परिणामरूप द्रव्य परिणमता है वह परिणाम भी गृहीत है।

अतएव अपर पक्षका यह कहना तो बनता नहीं कि प्रत्येक वस्तु मात्र स्वतःसिद्ध परिणमन स्वभाववाली है, उसमें किस समय क्या परिणाम उत्पन्न हो यह बाह्य सामग्रीपर अवलम्बित है।

यह हम पहले ही लिख आये हैं कि प्रत्येक द्रव्यका प्रतिविशिष्ट अन्तःसामग्री अन्तःविशेषण है और प्रतिविशिष्ट बाह्य-सामग्री बाह्य-विशेषण है, इसलिए जिस समय अन्तः-बाह्य जैसी सामग्रीका योग होता है (जो प्रति समय नियमसे होता ही है) उसके अनुरूप परिणामको उत्पन्न करना यह प्रत्येक द्रव्यका स्वतः-सिद्ध स्वभाव है। इसके लिए अष्टसहस्री पृ० १५० पर दृष्टिपात कीजिए। प्रमाण पूर्वमें ही लिपिबद्ध कर आये हैं। वस्तुतः यह इसका कारण है और यह इसका कार्य है यह व्यवहार नयका ही वक्तव्य है। पर्यायार्थिक

नयसे तो जो पर्याय जिस कालमें उत्पन्न होती है वही उसका कार्य है और वही उसका कारण है। देखो तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ३३। यथा—

पर्याय एवार्थः कार्यमस्य न द्रव्यम्, अतीतानागतयोः विनष्टानुत्पन्नत्वेन व्यवहाराभावात्। स एवैकः कार्यकारणव्यपदेशभागिति पर्यायार्थिकः।

पर्याय ही अर्थ अर्थात् प्रयोजन है जिसका, द्रव्य नहीं, क्योंकि अतीत और अनागत पर्यायें विनष्ट और अनुत्पन्न होनेसे उनका व्यवहार नहीं बनता। वही एक पर्याय कार्य-कारण व्यपदेशको प्राप्त है ऐसा जिसका मत है वह पर्यायार्थिक नय है।

अतएव अपर पक्षको अपने मतका आग्रह छोड़कर प्रकृतमें यही निर्णय करना चाहिए कि प्रत्येक समयमें प्रत्येक द्रव्य उपादान होकर अपने प्रतिनियत कार्यको ही करता है और प्रतिनियत बाह्य सामग्री उसमें नियमसे निमित्त होती है। इसमें किसी समय भी खण्ड पड़ना सम्भव नहीं।

यहाँ पर अपर पक्षने उपादान और निमित्त शब्दका निरुक्त्यर्थ लिखकर अपने अभिप्रायकी पुष्टि करनी चाही है। किन्तु आगममें निमित्त शब्द कारणके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यथा—**उभयनिमित्तवशात्।** सर्वार्थसिद्धि अ० ५ सू० ३०। इस वचन द्वारा जैसे बाह्य सामग्रीमें निमित्त शब्दका प्रयोग हुआ है उसी प्रकार प्रतिविशिष्ट अन्तःसामग्रीके अर्थमें भी शब्दका प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार श्लोकवार्तिक अ० ५ सू० ७ में भी 'निमित्त' शब्द दोनों प्रकारकी सामग्रीके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। यथा—**उभयनिमित्तापेक्षः** (पृ० ३६७), **उभयनिमित्तापेक्षत्वात्** (पृ० ३९८)। अतएव केवल निरुक्तिके बल पर बाह्य सामग्रीमें किये गये निमित्त व्यवहारको यथार्थ कारणके रूपमें ग्रहण करना उचित नहीं है। प्रकृतमें अपर पक्षको विचार इस बातका करना चाहिए कि आगममें जो उपादानको निमित्त कहा है वह किस अपेक्षासे कहा है और बाह्य सामग्रीमें जो निमित्त व्यवहार किया है वह किस अपेक्षासे किया है। तत्त्वनिर्णयका यह यथार्थ मार्ग है। यदि अपर पक्ष इस मार्गसे तत्त्वका निर्णय करे तो उसे बाह्य सामग्रीमें किये गये निमित्त व्यवहारको उपचरित या असद्भूत माननेमें आपत्ति ही न हो। फिर भी यदि अपर पक्ष 'निमित्त' शब्दके निरुक्त्यर्थके आधारसे ही प्रकृत विषयको ग्रहण करना चाहता है तो उसे इसके लिए उपादान पर ही दृष्टिपात करना चाहिए। वह प्रत्येक वस्तुके प्रत्येक परिणमनका मित्र या तेलके समान वास्तवमें स्नेहन करता ही है और उसके साथ एक कालप्रत्यासत्ति होनेसे बाह्य सामग्री भी उपचारसे उस संज्ञाको धारण करती है। इससे प्रत्येक कार्यमें उपादानका क्या स्थान है और बाह्य सामग्रीका क्या स्थान है इसका निर्णय हो जाता है। फिर भी यदि अपर पक्ष असद्भूत व्यवहारनयसे बाह्य सामग्रीको कार्यके प्रति मददगार, सहकारी या उपकारी आदि कहना चाहता है तो इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि आगममें भी इसी अभिप्रायसे बाह्य सामग्रीको उक्त शब्दों द्वारा प्रतिपादित किया ही है।

आगे अपर पक्षने पण्डितप्रवर बनारसीदासजीके 'पदस्वभाव' इत्यादि दोहेको उद्धृत कर और उसके विषयका गोम्मटसार कर्मकाण्डमें प्रतिपादित (काल आदि) विषयके साथ मिलान करते हुए अन्तमें लिखा है कि 'परन्तु जब आप द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं या सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं' इन सिद्धान्तोंके माननेवाले हैं तो कार्योत्पत्तिमें फिर इन पाँचके समवायकी आपकी दृष्टिमें क्या आवश्यकता है ? आदि।

समाधान यह है कि '**यदन्तरं यद्भवति**' सिद्धान्तके अनुसार इन पाँचका प्रत्येक समयमें युगपत् योग होता है और ऐसा योग होनेपर अनन्तर समयमें अपने उपादानके अनुरूप कार्य भी होता है, इसलिए

इन पाँचमें कारणता स्वीकार की गई है। उदाहरणार्थ जब कुशूल पर्याययुक्त मिट्टीसे घट पर्यायकी उत्पत्ति होती है तब उसमें मिट्टीका अन्वय रहता ही है, परन्तु मिट्टी जब भी घट बनेगी अपनी कुशूल पर्यायके बाद ही बनेगी। इससे पुरवा, रकावी आदि अन्य अन्य पर्यायोंकी उत्पत्ति त्रिकालमें नहीं हो सकती, इसलिए कुशूल पर्यायमें घटकी कारणता स्वीकार की गई है। कुशूलसे घट पर्यायकी उत्पत्ति होते समय मिट्टी स्वयं परिवर्तित होकर घट बनेगी, इसलिए वीर्य या पुरुषार्थमें कारणता स्वीकार की गई है। मिट्टी कुशूल पर्यायसे घट पर्यायको उत्पन्न करते समय प्रतिनियत क्रियायुक्त कुम्भकार आदिको निमित्तकर ही घट पर्यायको उत्पन्न करती है, इसलिए प्रतिनियत क्रियायुक्त कुम्भकारादिमें कारणता स्वीकार की गई है। तथा मिट्टीसे घट पर्यायकी उत्पत्ति अपने प्रतिनियत कालमें ही होगी, इसलिए प्रतिनियत कालमें कारणता स्वीकार की गई है। इस प्रकार उक्त पाँचके समवायमें प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति होती है, इसलिए उक्त पाँचोंमें कारणता स्वीकार की गई है। जैसे अपर पक्ष यह मानता है कि अपने स्वभावके अनुरूप ही उपादान होता है वैसे इसे यह भी स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रतिनियत कार्यके लिए इन पाँचका योग प्रतिनियत कालमें ही होता है, अन्यथा कोई भी द्रव्य परिणामस्वभावी नहीं बन सकता।

महापुराण पर्व ९ में वर्णित वज्रजंघ आर्यकी कथासे इस विषय पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। वज्रजंघ आर्यको दो चारणऋद्धिधारी मुनियोंको आता हुआ देखकर जातिस्मरण होता है और वह स्नेहसे प्लावित चित्त होकर पूँछता है। ज्येष्ठ मुनि संबोधित कर उसे समझाते हुए अन्तमें कहते हैं कि हे आर्य! इस समय सम्यक्त्वको ग्रहण कर, उसके ग्रहण करनेका ही यह काल है, क्योंकि **काललब्धिके बिना इस संसारमें जीवोंको सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति नहीं होती है** ॥११५॥ देशनालब्धि और काललब्धि आदि बहिरंग कारण सम्पदा तथा करणलब्धिरूप अन्तरंग कारणसामग्रीके होनेपर भव्य आत्मा विशुद्ध सम्यग्दृष्टि होता है ॥११६॥

यह महापुराणका उल्लेख है। इसमें 'भव्यात्मा' पद द्वारा स्वभावको सूचित किया गया है, 'करणलब्धि' पद द्वारा निश्चय या समर्थ उपादानको सूचित किया गया है। यह सम्यग्दर्शनके ग्रहण करनेका ही काल है और 'काललब्धि' पदों द्वारा प्रतिनियत कालको सूचित किया गया है। 'देशनालब्धि' पद द्वारा अन्य बाह्य सामग्रीको सूचित किया गया है। तथा 'गृहाण' पद द्वारा पुरुषार्थको सूचित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति स्वभाव आदि पाँचोंका समवाय होनेपर ही होती है और यतः प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समयमें अपना-अपना कार्य करता ही है, अतः प्रत्येक समयमें पाँचोंका समवाय होता रहता है यह भी इससे सिद्ध होता है। महापुरण पर्व ९ का उक्त उल्लेख इस प्रकार है—

> तद् गृहाणाद्य सम्यक्त्वं तल्लाभे काल एव ते।
> काललब्ध्या विना नार्य! तदुत्पत्तिरिहाङ्गिनाम् ॥११५॥
> देशना-कालब्ध्यादिबाह्यकारणसम्पदि।
> अन्तःकरणसामग्र्यां भव्यात्मा स्यात् विशुद्धकृत् [दृक्] ॥११६॥

हमें भरोसा है कि उक्त विवेचनसे अपर पक्षके समक्षमें यह बात अच्छी तरहसे आ जायगी कि 'पाँचोंके समवायमें प्रत्येक कार्य होता है' इस सिद्धान्तका 'द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियतक्रमसे ही होती हैं' इस सिद्धान्तके साथ तथा 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर ही होते हैं' इस सिद्धान्तके साथ

किसी प्रकारका विरोध न होकर अविरोध ही है। जहाँ 'सभी कार्य स्वकालके प्राप्त होनेपर होते हैं' यह कहा जाता है वहाँ अन्य चार कारणोंकी गौणता होकर कार्यकालकी मुख्यता रहती है और जहाँ 'द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं' यह कहा जाता है वहाँ अन्य कारणोंकी गौणता होकर समर्थ या निश्चय उपादानकी मुख्यता रहती है। अथवा 'प्रत्येक समयमें प्रतिनियत पाँचोंका समवाय नियमसे होता है और तदनुसार प्रत्येक समयमें प्रतिनियत कार्यको ही उत्पत्ति होती है' इस व्यवस्थाके अनुसार भी यह कहा जाता है कि 'द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं।' अपर पक्षको यह दृष्टिपथमें लेना चाहिए कि जिस प्रकार पंक्तिबद्ध किसी सेनाके सैनिक चलते समय क्रमभंग किये विना अपने पग उठाते और धरते हैं, अतएव उनके पग नियत क्रमसे ही उठाये जाते और रखे जाते हैं उसी प्रकार प्रत्येक द्रव्य अनादि कालसे नियत क्रमसे ही परिवर्तन करता हुआ आ रहा है। कहीं किसी द्रव्यके कभी किसी परिवर्तनमें किसी प्रकारका क्रमभंग नहीं हुआ, अतः उनका प्रत्येक समयमें प्रतिनियत ही योग मिलता है और उससे प्रतिनियत ही कार्य होता है। अनादिकालसे अब तक एक द्रव्यके जितने परिणाम हुए उतने ही दूसरे द्रव्यके हुए। ऐसी अवस्थामें सभी कार्य क्रम नियत ही होते हैं, अन्य प्रकारसे नहीं हो सकते ऐसा निर्णय यहाँ करना चाहिये।

अपर पक्ष यदि इस कार्य-कारणभावको प्रतिनियत व्यवस्थाको गोरखधन्धा समझता है तो इसमें हमें कोई आश्चर्य नहीं दिखलाई देता, क्योंकि वह सभी तथ्योंका निर्णय अपने श्रुतज्ञानके द्वारा ही करना चाहता है। प्रमेयकमलमार्तण्ड पृ० २३७ में आचार्य प्रभाचन्द्र तो यह लिखते हैं—

तत्रापि हि कारणं कार्येणानुपक्रियमाणं यावत् प्रतिनियतं कार्यमुत्पादयति तावत्सर्वं कस्मान्नो त्पादयतीति चोद्ये योग्यतैव शरणम्।

उसमें भी कार्य कारणका उपकार तो करता नहीं, अतः वह प्रतिनियत कार्यको उत्पन्न करता है तो सबको क्यों नहीं उत्पन्न करता है ऐसा प्रश्न होनेपर उत्तरस्वरूप आचार्य कहते हैं कि योग्यता ही शरण है।

इसीप्रकार आचार्य समन्तभद्रने अलंघ्यशक्तिर्भवितव्यतेयं (स्व० स्तो०) इत्यादि कारिकाद्वारा प्रत्येक कार्यके प्रति प्रतिनियत भवितव्यताको ही स्वीकार किया है।

और अपर पक्ष इन सब तथ्योंका उल्लंघनकर तथा अपने श्रुतज्ञानके बलपर प्रत्येक उपादानको अनेक योग्यतावाला बतलाकर बाह्य सामग्रीमें समर्थ यथार्थ कारणता स्वीकार करता हुआ भी उसे गोरखधन्धा नहीं समझता इसका हमें आश्चर्य है।

उपचरित कारण कौन और अनुपचरित कारण कौन? इस प्रश्नका समाधान यह है कि बाह्य सामग्री अपनेसे भिन्न अन्य द्रव्यके कार्यका वास्तविक कारण तो नहीं, फिर भी उसमें कारणता स्वीकार की गई है, इसलिए तो उसे उपचरित कारण समझना चाहिए और अन्तरंग सामग्री स्वयं कारण होकर अपनेसे अभिन्न कार्यको उत्पन्न करती है, इसलिए उसे अनुपचरित कारण जानना चाहिए। हमें आशा है कि अपर पक्ष इस आधारपर स्वभाव आदि पाँचमेंसे कौन उपचरित कारण है और कौन अनुपचरित कारण है इसका निर्णय कर लेगा।

निश्चयनय और व्यवहारनय तथा इनके विषयका स्पष्ट खुलासा प्रतिशंका ६ में आगे करनेवाले ही हैं। फिर भी समयसार गाथा २७२ की आत्मख्याति टीकाके आधारपर प्रकृतमें इतना स्पष्टीकरण कर देना पर्याप्त है कि निश्चयनय स्वके आश्रित है और असद्भूत व्यवहारनय परके आश्रित है। तथा निश्चयनयके

विषयमें भेद विवक्षा होनेपर वही (विकल्प) सद्भूत व्यवहारनय हो जाता है। असद्भूत व्यवहारनयका विषय उपचरित क्यों है और निश्चयनयका विषय अनुपचरित क्यों है यह उक्त विवेचनसे अपर पक्षकी समझमें अच्छी तरहसे आ जायगा।

हमने अपने पिछले विवेचनमें यह लिखा था कि 'प्रत्येक कार्य उक्त पाँचोंके समवायकी अपेक्षा क्रम नियत होता है, अनियत क्रमसे नहीं होता। ऐसे अनेकान्तको स्वीकार करना ही मोक्षमार्ग है।' किन्तु अपर पक्षने इसपर टिप्पणी करते हुए हमारा ध्यान समयसारकी आत्मख्याति टीकामें निर्दिष्ट अनेकान्तके लक्षणको ओर आकृष्ट किया है और साथ ही हमारे द्वारा निर्दिष्ट की गई उक्त व्यवस्था पर आश्चर्य और दु.ख भी प्रगट किया है।

इस सम्बन्धमें निवेदन यह है कि उक्त कथनमें हमने जो कुछ लिखा है वह जिनागमको लक्ष्यमें रख कर ही लिखा है। इस प्रसंगमें हमें अपर पक्षने जैन संस्कृतिका योग्यतम विद्वान् सूचित किया है, उसके लिए तो हम उस पक्षके आभारी हैं। किन्तु साथ ही यह भी संकेत कर देना चाहते हैं कि यदि अपर पक्षका पूरे जिनागम पर ध्यान गया होता तो उसे हमारे उक्त कथन पर न तो आश्चर्य ही होता और न ही दुःख प्रकट करनेका उसे अवसर आता, क्योंकि जिनागममें जहाँ (अनेकान्तको वस्तुका स्वरूप स्वीकार करते हुए) एक ही वस्तुमें उसके वस्तुत्वका प्रकाशन करनेवाला परस्पर विरोधी शक्तिद्वयका प्रकाशन अनेकान्त स्वीकार किया गया है वहाँ दूसरे प्रकारके विरोधके परिहारमें भी इस शब्दका प्रयोग हुआ है। इसके लिए तत्त्वार्थवार्तिक अ० १ सू० ५ पर दृष्टिपात कीजिए—

शंकाकार विरोध होनेसे नामादि चारका अभाव करता है। उसका कहना है कि एक शब्दार्थके नामादि चार विरुद्ध हैं। यथा—जो नाम है वह नाम ही है, स्थापना नहीं हो सकता। यदि स्थापनाको नाम कहते हो तो वह नाम नहीं होगा। यदि कहो कि तो वह स्थापना रहा आवे तो शंकाकार कहता है कि वह स्थापना नहीं हो सकता, क्योंकि वह नाम है। अतएव नामार्थ विरोध होनेसे स्थापना नहीं हो सकता ?

यह एक शंका है। भट्टाकलंकदेवने इस शंकाका कई प्रकारसे समाधान किया है। उनमेंसे एक समाधान अनेकान्तका आश्रय लेकर किया गया है। उनका वह समग्र वचन इस प्रकार है—

अनेकान्ताच्च ॥२२॥ नैतदेकान्तेन प्रतिजानीमहे—नामैव स्थापना भवतीति न वा, स्थापना वा नाम भवति नेति च। कथम् ?

मनुष्यब्राह्मणवत् ॥२३॥ यथा ब्राह्मणः स्यान्मनुष्यो ब्राह्मणस्य मनुष्यजात्यात्मकत्वात्। मनुष्यस्तु ब्राह्मणः स्यान्न वा, मनुष्यस्य ब्राह्मणजात्यादिपर्यायात्मकत्वादर्शनात्। तथा स्थापना स्यान्नाम, अकृतनाम्नः स्थापनानुपपत्तेः, नाम तु स्थापना स्यान्न वा, उभयथा दर्शनात्।

और अनेकान्त है ॥२२॥ यह हम एकान्तसे नहीं स्वीकार करते कि नाम ही स्थापना है अथवा नहीं है, अथवा स्थापना नाम है या नहीं है। कैसे ?

मनुष्य-ब्राह्मणके समान ॥२३॥ जिस प्रकार ब्राह्मण कथंचित् मनुष्य जातिस्वरूप होता है। परन्तु मनुष्य ब्राह्मण है, नहीं भी है; क्योंकि मनुष्य ब्राह्मण जाति आदि पर्यायस्वरूप नहीं भी देखा जाता है। वैसे ही स्थापना कथंचित् नाम है, क्योंकि अकृत नामवालेको स्थापना नहीं बन सकती। परन्तु नाम स्थापना है और नहीं भी है, क्योंकि दोनों प्रकारसे व्यवहार देखा जाता है।

यह तो अपर पक्ष भी स्वीकार करेगा कि नाम और स्थापना ये दोनों व्यवहार हैं, वस्तुस्वरूप नहीं। फिर भी एक वस्तुमें इन दोनोंके आश्रयसे होनेवाले व्यवहारमें आनेवाले विरोधका परिहार जैसे अनेकान्तका अवलम्बन लेकर किया गया है उसी प्रकार प्रकृतमें जानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जहाँ निश्चयनयकी अपेक्षा स्वभाव, समर्थ उपादान और पुरुषार्थका समवाय है वहाँ निश्चयनयके विषयका अविनाभावी प्रतिनियत-काल और वह बाह्य सामग्री भी है जिसमें निमित्त व्यवहार किया जाता है, अतएव इस अपेक्षासे हमारा यह कहना सर्वथा योग्य है कि 'प्रत्येक कार्य उक्त पाँचोंके समवायकी अपेक्षा क्रमनियत होता है, अनियत क्रमसे नहीं होता ऐसे अनेकान्तको स्वीकार करना ही मोक्षमार्ग है।' इसी तथ्यको पण्डितप्रवर बनारसीदासजीने इन शब्दोंमें स्वीकार किया है—

पदस्वभाव पूरव-उदय निहचे उद्यम काल।
पच्छपात मिथ्यातपथ सरवंगी शिवचाल॥

प्रत्येक द्रव्यमें ऐसी स्वाभाविक योग्यता है कि किसके बाद वह किसरूप परिणमे। उसमें ऐसी योग्यता नहीं है कि वह अपने एक परिणामके बाद दूसरे समयमें परणमनेरूप अनेक योग्यतावाला होकर सर्वथा भिन्न पर वस्तु द्वारा उनमेंसे किसी एकरूप परिणमे। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्यमें क्रमनियत अपनी योग्यता और तद्रूप परिणामकी अपेक्षा अस्ति है और परके द्वारा अनेक योग्यताओंमेंसे किसी एकरूप परिणमे इसकी सर्वथा नास्ति है। इस प्रकार वस्तुनिष्ठ अनेकान्त भी प्रत्येक द्रव्यमें घटित हो जाता है। अतएव अपर पक्षने जो हमारे उक्त कथनको ध्यानमें रखकर विरोध प्रदर्शित किया है वह उचित नहीं है ऐसा मथितार्थ भी प्रकृतमें जानना चाहिए। आशा है कि उक्त कथनसे प्रत्येक वस्तुमें अनेकान्तता कैसे घटित होती है यह अच्छी तरहसे समझमें आ जायगा।

पण्डितप्रवर बनारसीदासजीने आत्माको ध्यानमें रखकर यद्यपि 'पदस्वभाव' इत्यादि पद लिखा है, परन्तु लोकमें जितने भी कार्य होते हैं उन सबमें स्वभाव, निमित्तभूत बाह्य-सामग्री, निश्चय या समर्थ उपादान, अपनी-अपनी सामर्थ्य और प्रतिनियत काल इन पाँचका समवाय आगममें बतलाया है, तदनुसार प्रतीतिमें भी आता है। एकमात्र इसी आधारपर हमने उक्त दोहेमें प्रतिपादित विषयको वस्तु-सामान्यके कार्य-कारणभावका अंग बनाकर कथन किया है। यदि अपर पक्ष उक्त दोहेके विषयको सर्वत्र लागू नहीं करना चाहता तो न करे। परन्तु इस तथ्यको तो उसे स्वीकार करना ही पड़ेगा कि प्रत्येक कार्य इन पाँचके समवायमें होता है।

एक बात तो यह हुई। दूसरी बात यह है कि गोम्मटसार कर्मकाण्डमें काल, ईश्वर आदि एकान्तोंका कथन क्रियावादियोंके प्रसंगसे आया है तथा ईश्वर निमित्तभूत बाह्य-सामग्रीका प्रतिनिधि है और आत्मा पदद्वारा द्रव्यकी स्वशक्तिका भान होता है। यही कारण है कि हमने अपने कथनमें उक्त प्रकारसे संगति बिठलाई है जो कार्य-कारणभावको देखते हुए उचित ही है।

अपर पक्षने 'निहचे अभेद अंग' इत्यादि पदको उद्धृत कर यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि यहाँ कार्य-कारणभावका प्रसंग नहीं है किन्तु ऐसी बात नहीं है। यदि अपर पक्ष उक्त पद्यके अर्थपर सूक्ष्मतासे ध्यान दे तो उसमें उसे कार्य-कारणभावके दर्शन हो जावेंगे। 'उदै गुनकी तरंग' पदद्वारा कर्मोदयमें होनेवाली ज्ञानादि गुणोंकी पर्यायोंकी सूचना मिलती है तथा 'कालकी सी ढाल परिनाम चक्रगति है।' पद द्वारा जो जीवके परिणामोंकी चक्रगति चल रही है उसमें प्रतिनियत काल निमित्त है यह ज्ञान हुए बिना नहीं

रहता। स्पष्ट है कि 'पदस्वभाव' इत्यादि पद्यद्वारा 'इस जीवमें मोक्षमार्गकी प्रसिद्धि कैसे होती है' इसी तथ्यकी पुष्टि की गई है।

हमें प्रसन्नता है कि अपर पक्षने गोम्मटसार कर्मकाण्डमें प्रतिपादित पौरुषवाद, दैववाद, संयोगवाद और लोकवाद इन चार एकान्तोंकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। किन्तु सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्रने जिन ३६३ मतोंका कथन किया है उनसे बहिर्भूत होकर भी ये एकान्त क्रियावादियोंके ही मत हैं। हम समझते हैं कि इस तथ्यको स्वीकार करनेमें अपर पक्षको कोई विवाद न होगा। ऐसी अवस्थामें यदि हमने ईश्वर और आत्माको उपलक्षण मानकर ईश्वरके स्थानमें निमित्तभूत बाह्य-सामग्री और आत्माके स्थानपर पुरुषार्थका निर्देश किया है तो यह उचित ही किया है। **इससे बाह्य-सामग्रीके बलपर कार्यकी उत्पत्ति माननेवाले और पुरुषार्थके बलपर प्रतिनियत समयसे आगे-पीछे कार्यकी उत्पत्ति माननेवाले एकान्तवादियोंका निरसन हो जाता है।**

अपर पक्षने गोम्मटसार कर्मकाण्डके अनुसार एकान्त कालवाद आदिका निर्देश करनेके बाद जो यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि 'आपके अभिप्रायका समर्थन इन गाथाओंसे कदापि नहीं होता।' सो इस सम्बन्धमें विशेष न लिखकर मात्र इतना संकेत कर देना पर्याप्त है कि गोम्मटसार कर्मकाण्डके उक्त कथनका क्या अभिप्राय है इसकी विस्तृत चरचा हम स्वयं इसी उत्तरमें पहले कर आये हैं। उससे यह बात अपर पक्षको समझमें अच्छी तरहसे आ गई होगी कि गोम्मटसार कर्मकाण्डके उक्त उल्लेखका वही आशय जो हमने लिया है।

सब कार्योंके जितने कारण हैं उन सबका वर्गीकरण द्वारा स्वभाव आदि पाँचमें समावेश हो जाता है, इसलिए 'जावदिया वयणवहा' इस गाथा द्वारा परसमयोंका निर्देश होनेपर भी सब कार्योंके सब कारणोंको पाँच प्रकारका माननेमें कोई बाधा नहीं आती। जिसका इन पाँचमें समावेश नहीं हो सकता ऐसे कारणका निर्देश अपर पक्षने किया भी नहीं है। अतएव प्रत्येक कार्यके कारण पाँच ही प्रकारके हैं ऐसा यहाँ समझना चाहिए।

जब कि जैनदर्शन यह स्वीकार करता है कि 'जितने वचनपथ हैं उतने नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने परसमय हैं और साथ ही जब कि वह यह भी स्वीकार करता है कि पर समयोंके वचन 'सर्वथा' वचनसे युक्त होनेके कारण नियमसे मिथ्या हैं और 'कथंचित्' वचनसे युक्त होनेके कारण जैनोंके वचन समीचीन है।' ऐसी अवस्थामें इससे यही फलित होता है कि गोम्मटसार कर्मकाण्डके कथनमें आचार्यश्री नेमिचन्द्रकी यही दृष्टि रही है कि काल आदि एक एकके आश्रयसे कार्योंकी उत्पत्ति माननेवाले मिथ्यादृष्टि है और स्वभाव, प्रतिनियत बाह्य सामग्री, निश्चय उपादान, पुरुषार्थ (बल) तथा प्रतिनियत कालके समवायसे कार्योंकी उत्पत्ति माननेवाले सम्यग्दृष्टि हैं। विशेष स्पष्टीकरण हम पूर्वमें ही कर आये हैं।

१८० प्रकारके क्रियावादियोंमे यद्यपि आचार्य नेमिचन्द्रने ईश्वरवाद और आत्मवादको भी प्रमुखता दी है यह सच है। किन्तु इन दर्शनोंका प्राबल्य देखकर ही इन्हें प्रमुखता दी गई है। पर जैनदर्शनके अनुसार ईश्वरवादका अर्थ निमित्तवाद और आत्मवादका अर्थ पुरुषार्थवाद करनेपर पूरी संगति बैठ जाती है। अन्यथा उनका यह कथन नहीं बनता कि 'जितने परसमयके वचन हैं वे 'सर्वथा' पदसे युक्त होनेके कारण मिथ्या हैं और जैनोंके वचन 'कथंचित्' पदसे युक्त होनेके कारण समीचीन हैं।' उनका गोम्मटसार कर्मकाण्डका वह वचन इस प्रकार है—

परसमयाणं वयणं मिच्छं खलु होइ सव्वहा वयणा।
जेणाणं पुण वयणं सम्मं खु कहंचिवयणादो ॥८९५॥

अर्थ पूर्वमें ही दिया है।

इससे खींचातानी नहीं की गई है, किन्तु आगमका आशय ही स्पष्ट किया गया है यह स्पष्ट हो जाता है।

आगे अपर पक्षने स्वभाव, निमित्तभूत बाह्य सामग्री, नियति (निश्चय उपादान), पुरुषार्थ और प्रतिनियत काल इन पाँचको स्वीकार करके भी उनका सम्बन्ध 'पदस्वभाव' इत्यादि दोहे और गोम्मटसार कर्मकाण्डके उक्त कथनसे नहीं जोड़ना चाहा सो यह अपर पक्षकी मर्जी है कि वह इन पाँचके साथ उनका सम्बन्ध जोड़े या न जोड़े, परन्तु हमें इसमें कोई प्रत्यवाय (विरुद्धता) नहीं दिखलाई देता। विशेष खुलासा पूर्वमें ही किया है।

आगे अपर पक्षने स्वभाव आदि पाँचको कारणरूपसे स्वीकार करके भी उनका जो अर्थ किया है वह क्यों ठीक,नहीं है इसे समझनेके लिए पं० श्री कैलाशचन्द्र जी शास्त्री वाराणसीके इस कथन पर दृष्टिपात कीजिए। यह कथन उन्होंने वीर सं० २४८६ में श्री परम श्रुतप्रभावक श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमालासे प्रकाशित स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की ३२१-३२२ गाथाओं पर लिखे गये भावार्थके रूपमें लिपिबद्ध किया है, जो इस प्रकार है—

'सम्यग्दृष्टि यह जानता है कि प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत है। जिस समय जिस क्षेत्रमें जिस वस्तुकी जो पर्याय होनेवाली है वही होती है उसे कोई नहीं टाल सकता। सर्वज्ञदेव सब द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी अवस्थाओंको जानते हैं। किन्तु उनके जान लेनेसे प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत नहीं हुआ, बल्कि नियत होनेसे ही उन्होंने उन्हें उस रूपमें जाना है। जैसे, सर्वज्ञदेवने हमें बतलाया है कि प्रत्येक द्रव्यमें प्रति समय पूर्व पर्याय नष्ट होती है और उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है। अतः पूर्व पर्याय उत्तर पर्यायका उपादान कारण है और उत्तर पर्याय पूर्व पर्यायका कार्य है। इसलिये पूर्व पर्यायसे जो चाहे उत्तर पर्याय उत्पन्न नहीं हो सकती, किन्तु नियत उत्तर पर्याय ही उत्पन्न होती है। यदि ऐसा न माना जायेगा तो मिट्टीके पिण्डमें स्थास कोस पर्यायके बिना भी घट पर्याय बन जायेगी। अतः यह मानना पड़ता है कि प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नियत है। कुछ लोग इसे नियतिवाद समझ कर उसके भयसे प्रत्येक पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो नियत मानते हैं किन्तु कालको नियत नहीं मानते। उनका कहना है कि पर्यायका द्रव्य, क्षेत्र और भाव तो नियत है किन्तु काल नियत नहीं है; कालको नियत माननेसे पौरुष व्यर्थ हो जायेगा। किन्तु उनका उक्त कथन सिद्धान्त विरुद्ध है; क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र और भाव नियत होते हुए काल अनियत नहीं हो सकता। यदि कालको अनियत माना जायेगा तो काललब्धि कोई चीज ही नहीं रहेगी। फिर तो संसार परिभ्रमणका काल अर्धपुद्गल परावर्तनसे अधिक शेष रहने पर भी सम्यक्त्व प्राप्त हो जायेगा और बिना उस कालको पूरा किये ही मुक्ति हो जायगी। किन्तु यह सब बातें आगमविरुद्ध हैं। अतः कालको भी मानना ही पड़ता है। रही पौरुषकी व्यर्थताकी आशंका, सो समयसे पहले किसी कामको पूरा कर लेनेसे ही पौरुषकी सार्थकता नहीं होती। किन्तु समय पर कामका हो जाना ही पौरुषकी सार्थकताका सूचक है। उदाहरणके लिये, किसान योग्य समय पर गेहूँ बोता है और खूब श्रमपूर्वक खेती करता है। तभी समय पर पक कर गेहूँ तैयार होता है। तो क्या किसानका पौरुष व्यर्थ कहलायेगा? यदि वह पौरुष न करता तो समय पर उसकी खेती पककर तैयार न होती, अतः कालकी नियततामें पौरुषके

व्यर्थ होनेकी आशंका निर्मूल है। अतः जिस समय जिस द्रव्यकी जो पर्याय होती है वह अवश्य होगी। ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि सम्पत्तिमें हर्ष और विपत्तिमें विषाद नहीं करता, और न सम्पत्तिकी प्राप्ति तथा विपत्तिको दूर करनेके लिये देवी-देवताओंके आगे गिड़गिड़ाता फिरता है ॥३२१-३२२॥

यह श्री पं० कैलाशचन्द जीके शब्दोंमें आगमका सार है।

इस प्रकार अपर पक्षके तृतीय दौरकी प्रतिशंका पर विस्तारके साथ विचार करने पर यही सिद्ध होता है कि द्रव्योंमें होनेवाली सभी पर्यायें नियत क्रमसे ही होती हैं, अनियत क्रमसे त्रिकालमें नहीं होतीं।